दिगम्बरत्व की खोज

दिगम्बरत्व की खोज

लेखक

डॉ. रमेशचन्द जैन

प्रकाशक

अंहिसा मंदिर प्रकाशन

दिगम्बरत्व की खोज

प्रकाशक : अहिंसा मंदिर प्रकाशन
श्री राजकृष्ण जैन चेरीटेबिल ट्रस्ट
1, अंसारी रोड, दरियागंज
नई दिल्ली–110002

प्रथम संस्करण : मई 1997

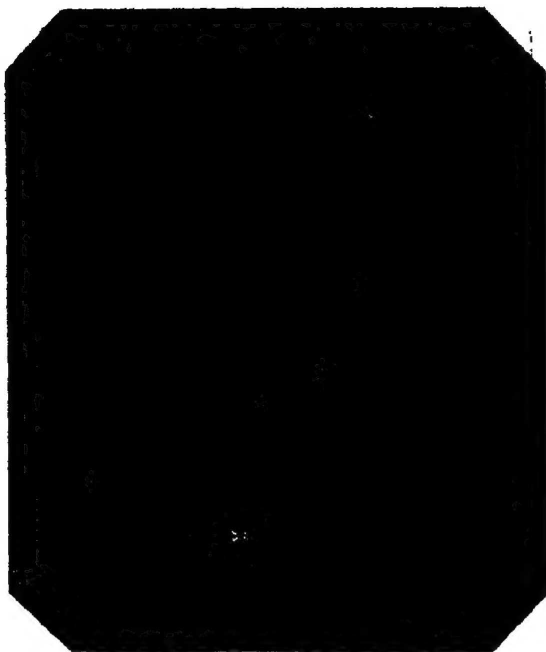
मूल्य : 100/–

मुद्रक : शकुन प्रिंटर्स, नई दिल्ली–2

"DIGAMBARATVA KI KHOJ" by Dr. Ramesh Chand Jain

First edition : May–1997 Price : 100/–

Publishers : Ahimsa Mandir Prakashan
Shri Raj Krishan Jain Charitable Trust
1, Ansari Road, Daryaganj, New Delhi-110002



समर्पण

बीसवीं सदी के महान् आध्यात्मिक सन्त, जैन समाज में व्याप्त गहन अज्ञानान्धकार के भेत्ता, तपःपूत जीवन और चर्या के द्वारा समाज को सही दिशा निर्देश करने वाले पूज्य श्री गणेशप्रसादजी वर्णी की पावन स्मृति में उन जैसे चारित्रसम्पन्न महात्माओं को, जो अहर्निश विषयों की आशा से विरक्त रहकर आत्मकल्याण में तत्पर रहते हैं, यह 'दिगम्बरत्व की खोज' कृति सादर समर्पित है।

—रमेशचन्द्र जैन

दो शब्द

दिगम्बरत्व एक श्रेष्ठ आदर्श स्थिति है। उत्कृष्ट अहिंसा की साधना के लिए दिगम्बरवृत्ति एक महत्वपूर्ण साधन है। वस्त्र आदि की ओट में मनुष्य अपनी दुर्वासना तथा तमोमयी प्रवृत्तियों को छिपाकर साधुता का कृत्रिम रूप भी दिखा सकता है। जब तक पूर्ण मनोजय और इन्द्रियजय की सामर्थ्य प्राप्त नहीं होती तथा हृदय से काम विकार का बीज दूर नहीं होता, तब तक दिगम्बर मुद्रा से जीवन समलङ्कृत नहीं किया जा सकता। गांधी जी सदृश अहिंसा के विख्यात साधक दिगम्बरत्व के प्रति अपार प्रेम और भक्ति रखते हुए भी उस विशुद्ध वृत्ति को स्वीकार करने में अपने को समर्थ अनुभव नहीं करते थे। उन्होंने कहा था– "यद्यपि मैं स्वयं नग्न नहीं हूँ, किन्तु मैं नग्नत्व से प्रेम करता हूँ। मैं चाहता हूँ कि किसी दिन दिगम्बर साधु बन जाऊँ।[1] किसी कवि ने ठीक ही कहा है–

अन्तर विषय वासना वरते बाहर लोक लाज भय भारी।
यातें परम दिगम्बर मुद्रा धर न सकें दीन संसारी।।
ऐसी दुर्द्धर नगन परीषह सहें साधु शील व्रत धारी।
निर्विकार बालकवत् निर्भय तिनके चरणों धोक हमारी।।

आचार्य कुन्दकुन्द का कहना है–

हवदि व ण हवदि बंधो मदम्हि जीवेऽध कायचेट्ठम्हि।
बंधो धुवमुवधीदो इदि समणा छड्डिया सव्वं।। प्रवचनसार

अर्थात् मुनि की कायचेष्टा के समय जीव के मृत हो जाने पर बन्ध हो अथवा नहीं हो, किन्तु परिग्रह से निश्चित रूप से बन्ध होता है, अतः श्रमणों ने समस्त परिग्रह का परित्याग किया है।

दिगम्बर अवस्था को धारण किए बिना सम्पूर्ण परिग्रह का परित्याग नहीं होता है। इसीलिए आचार्य समन्तभद्र ने स्वयम्भू स्तोत्र में कहा है–

विहाय यः सागरवारिवाससं वधूमिवेमां वसुधां वधूं सतीम्।
मुमुक्षुरिक्ष्वाकुकुलादिरात्मवान् प्रभुः प्रवव्राज सहिष्णुरच्युतः।।

अर्थात् जो मुमुक्षु थे, आत्मवान् थे और प्रभु थे ऐसे इक्ष्वाकु कुल के आदि पुरुष ने सती वधू को और उसी तरह इस सागरवारि वसना वसुधावधू को भी जो कि सुशील थी– अच्छे सुशील पुरुषों से आबाद थी, त्याग करके दीक्षा धारण की, जो सहिष्णु रहे अर्थात् सब प्रकार की बाधाओं को सहन किया और अपने व्रत से च्युत नहीं हुए, अच्युत रहे।

भगवान् आदि ने जिस परम्परा का प्रादुर्भाव किया था, पश्चाद्वर्ती समस्त तीर्थंकरों और उनके अनुयायी साधुओं ने उसे अपनाया। यह एक कठिन मार्ग है, किन्तु इसे धारण किए बिना मोक्ष का मार्ग नहीं खुलता। अतः ऐसे सन्त त्रिलोक वन्दनीय होते हैं। गुणों की खान वे दिगम्बर मुनि इस लोक और परलोक की आशा से रहित तथा राग और द्वेष दोनों से मुक्त रहते हैं। वे मन, वचन और काय तीनों को वश में करने वाले तथा मिथ्यात्व, माया और निदान (आगामी भोगों की वांछा) से रहित होते हैं। ऋद्धि, रस और सुख रूप तीन गारव को नष्ट करके वे सम्यक् श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र से विभूषित होते हैं। क्रोध, मान, माया और लोभ को वे तृण के समान भस्मसात् कर देते हैं। वे पंचमहाव्रत, पाँच समिति के धारक, आहार, भय, मैथुन और परिग्रह संज्ञाओं के विनाशक, मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग इन पाँच आस्रव द्वारों का संवर करने वाले, षट्काय के जीवों के प्रति दयावान्, सप्तभय से रहित, आठ मदों के विनाशक तथा सिद्धों के आठ गुणों में मन को संयोजित करने वाले नौ प्रकार के ब्रह्मचर्य के पालक तथा दशविध धर्म के धारी होते हैं।

दिगम्बर मुनिराजों के उपर्युक्त गुणों के अनुरागी, तीर्थभक्त साहित्य प्रचारक और उत्साही सामाजिक कार्यकर्त्ता श्री सुभाष जैन के मन में ऐसी पुस्तक को प्रकाशित करने की भावना थी, जो सम्यक् रूपेण दिगम्बर परम्परा के आधारों को तथा उसके विविध आयामों को प्रस्तुत करती। पूज्य पं. पदमचन्द्र शास्त्री (सम्पादक) अनेकान्त के माध्यम से उन्होंने इस गुरुतर भार को मुझे सोंपा। दिगम्बर मुनिराजों के कोटि कोटि गुणों का वर्णन करना मेरी शक्ति के बाहर है, फिर भी अभी तक विद्वानों ने अपनी गवेषणा से जो निष्कर्ष निकाले, जो उद्भावनायें प्रस्तुत कीं, उनका मन्थन कर और उनके विचारों को आधार बनाकर मैंने इस कृति **'दिगम्बरत्व की खोज'** के शब्दों और विचारों का ग्रंथन किया है। इस कृति में पारम्परिक जैन मान्यता, ऐतिहासिक मान्यता, वैदिक मान्यता, पुरातात्विक साक्ष्य और मूर्तिकला के आधार पर दिगम्बरत्व को उजागर करने का प्रयत्न किया है। जहाँ से जो उपादान ग्रहण किए हैं, उनका निर्देश करते हुए दिगम्बराचार्यों के साहित्यिक, राजनैतिक, सामाजिक और दार्शनिक अवदान का लेखा जोखा प्रस्तुत किया है। विषय विस्तीर्ण होते हुए भी ग्रन्थपरिमाण की व्यापकता के भय से स्थान स्थान पर लेखनी को विराम देना पड़ा। जिन ग्रन्थकारों के ग्रन्थों का इसमे उपयोग किया गया है, उनकी तालिका ग्रन्थ के अन्त में प्रस्तुत की है। वीतराग भगवान् को

कोटिशः नमन कर मैं सभी आचार्यों के प्रति श्रद्धा सुमन अर्पित करता हुआ सुधी लेखकों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। यदि इनकी रचनायें उपलब्ध न होतीं तो मेरे लिए यह लेखन संभव नहीं था, अतः मैं हृदय से उनका आभारी हूँ। आदरणीय सुभाष जैन (मालिक शकुन प्रकाशन तथा मंत्री वीर सेवा मन्दिर, दरियागंज, देहली) तथा पूज्य पं. पदमचन्द्र शास्त्री एवं उनकी धर्मपत्नी श्रीमती कमलेश कुमारी के प्रति मैं हार्दिक धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ जिनकी वात्सल्यमयी प्रेरणा इस ग्रन्थ का संबल है। पुत्री स्मिता जैन ने ग्रन्थ रचना के मध्य मेरी सुख सुविधाओं का ध्यान रखा अतः उसे हार्दिक शुभाशीष। समय और सूचनाओं के अभाव में अनेक वर्तमान दिगम्बर मुनिराजों का परिचय छूट गया, उनसे मैं मन, वचन, काय से क्षमाप्रार्थी हूँ। मेरी खोज अभी पूरी नहीं हुई है, जो विषय रह गए हैं, यदि किसी उदारचेता का ध्यान इस ओर गया तो उन विषयों पर प्रकाश डालकर अपनी अभिव्यक्ति को पूर्ण रूप देने का प्रयास करूँगा, तथापि

घनाकार करि लोक पट सकल उदधि मषि तन्तु
लिखै शारदा कलम गहि तदपि न तव गुण अन्त।

इन शब्दों के साथ मैं वन्दनीय चरण दिगम्बर मुनिराजों को बारंबार नमोऽस्तु अर्पित करता हूँ। पाठकों से सुझाव सविनय आमन्त्रित हैं। पुस्तक का प्रकाशन वीर सेवा मन्दिर, के माध्यम से अहिंसा मन्दिर प्रकाशन नई दिल्ली से हो रहा है, संस्था के वरेण्य पदाधिकारियों को हार्दिक धन्यवाद।

श्रीमत्परम गम्भीर स्याद्वादामोघ लांछनं
जीयात् त्रैलोक्य नाथस्य शासनं जिनशासनम्।।

गुरुचरणचञ्चरीक
रमेशचन्द जैन

मधुर स्मृति
श्री प्रेमचन्द जैन
११.३.१९२२ – २.१२.१९९५

धर्म और समाज हेतु समर्पित कर्मठ कार्यकर्त्ता, मुनिभक्त, निर्भीक वक्ता, दिल्ली, हरिद्वार व पिलानी में दिगम्बर जिनालयों का निर्माण और संचालन कुरुक्षेत्र जिनालय हेतु भूमि का प्रबंध, रानीला क्षेत्र पर सम्पूर्ण जल व्यवस्था, दिल्ली विश्वविद्यालय में अपने पिता श्री राजकृष्ण जैन मैमोरियल लैक्चर्स की स्थापना, मैसूर विश्वविद्यालय में छात्रवृत्ति फण्ड एवं श्री ए.एन. उपाध्ये मैमोरियल लेक्चर्स की स्थापना में सहयोग, कारागृहों में जैन साहित्य वितरण, श्रवणबेलगोला में अपनी धर्मपत्नी श्रीमती पदमावती जैन की याद में सार्वजनिक पुस्तकालय की स्थापना, मूडबिद्री में अमूल्य प्राचीन मूर्तियों की सुरक्षा हेतु भवन निर्माण में सहयोग, ताडपत्रीय प्राचीन, ग्रन्थों एवं प्राचीन प्रतिमाओं का जीर्णोद्धार एवं सुरक्षा की व्यवस्था, सराक बंधुओं के लाभार्थ कुओं का निर्माण, अपने पिता द्वारा स्थापित श्री राजकृष्ण जैन चैरिटेबिल ट्रस्ट से अनेक पुस्तकों का प्रकाशन, प्राकृत भाषा के उत्थान और उसके विद्वानों को सरकार से मान्यता प्राप्त कराना, स्वतंत्रता संग्राम में विशेष योगदान और समयसार ग्रन्थ का अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित करना।

प्रकाशकीय

जैन संस्कृति शाश्वत परम्परा से विद्यमान रही है। जैन साधु को श्रमण कहा गया है इसलिए इसे श्रमण संस्कृति कहा गया है। जैन धर्म में आत्मकल्याण हेतु अंतरंग एवं बहिरंग दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग अनिवार्य है। यही कारण है जैन साधुओं (श्रमणों) ने सदैव दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग कर आत्म-चिन्तन का मार्ग प्रशस्त किया। इसलिए जैन श्रमण/साधु दिगम्बर रूप में रहते हैं।

सभी प्राचीन ग्रन्थों में जैन साधु की दिगम्बर रूप में ही चर्चा आई है। इतिहासकारों ने भी जैन साधु के दिगम्बर स्वरूप को ही मान्यता दी है। विश्व मान्य संदर्भग्रन्थ एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका (खण्ड २५) में स्पष्ट उल्लेख है कि श्वेताम्बर अल्पकाल से ही पाए जाते हैं, जबकि दिगम्बर निश्चित रूप से ही निर्ग्रन्थ हैं जिनका वर्णन सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय, बौद्धों के धर्मग्रन्थों (पालीपिटकों) में अनेक स्थानों में आया है, इसलिए वे प्रागवैदिक काल से ही विद्यमान रहे हैं। मौर्य सम्राट अशोक और सम्प्रति द्वारा जारी राज आज्ञाओं, शिलालेखों में निर्ग्रन्थों का ही उल्लेख हुआ है। भगवान महावीर और उनके तत्कालीन अनुयायियों की विश्व विश्रुत बाह्य विशेषता थी उनके दिगम्बर रूप में विचरण करने की क्रिया और उसी से दिगम्बर शब्द बना। उनकी इस क्रिया के विरुद्ध ही गौतम बुद्ध ने अपने शिष्यों को विशेष रूप से सावधान किया था।

प्रसिद्ध यूनानी विचार तत्त्वः जिमनोसोफिस्ट से भी यही प्रकट होता है। सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य के समय (ईसा पूर्व ३२०) मेगस्थनीज ने जो भारत आया था, जिमनोसोफिस्ट शब्द का प्रयोग निर्ग्रन्थों (दिगम्बरों) के लिए ही किया था। श्री एच.एच. विल्सन ने अपनी विश्वमान्य पुस्तक "ऐसेज एण्ड लैक्चर्स ऑन दी रिलीजन आफ जैन्स" में लिखा है हिन्दुओं के प्राचीन ग्रन्थों में जैनियों को नग्न अथवा दिगम्बर शब्द से संबोधित किया गया है।"

एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका (खण्ड १०) के अनुसार मथुरा से जैन तीर्थंकरों की जो प्रतिमाऐं प्राप्त हुई हैं वे सभी कुषाण काल की हैं और वे सभी प्रतिमायें नग्न दिगम्बर हैं। श्वेतवस्त्र सहित ऋषभनाथ की जो

प्रतिमा मिली है, वह तो बहुत बाद की पांचवी शताब्दी के अंत की मानी गई है।

प्रस्तुत पुस्तक 'दिगम्बरत्व की खोज' में विद्वान लेखक डॉ. रमेशचन्द्र जैन ने विभिन्न धर्म ग्रन्थों और पुराणों के आधार पर दिगम्बरत्व की प्राचीनता सिद्ध की है। प्रमाण स्वरूप अनेकानेक संदर्भ दिए गए हैं और विभिन्न संदर्भ ग्रन्थों का विस्तृत उल्लेख किया है। इस पुस्तक से उन लोगों की वह योजनाएं विफल होंगी जो अपने को दिगम्बरों से प्राचीन प्रचारित कर उनके तीर्थों पर चालाकी से अपना अधिकार जमाने की कुचेष्टा कर रहे हैं।

प्रस्तुत पुस्तक वीर सेवा मंदिर के लिए तैयार की गई थी। परन्तु हमारे अनुरोध पर उन्होंने हमें 'अहिंसा मंदिर' से इसके प्रथम संस्करण को प्रकाशित करने का अवसर दिया है। हम वीर सेवा मंदिर के प्रति आभारी हैं। वीर सेवा मंदिर के महासचिव श्री सुभाष जैन व उपाध्यक्ष श्री गोकुलप्रसाद जैन इस पुस्तक के लेखन और प्रकाशन में अंत तक जुड़े रहे।

हमें आशा है कि यह पुस्तक विद्वानों, श्रावकों और जन साधारण के लिए अत्यंत उपयोगी सिद्ध होगी।

पं. विद्याप्रकाश, एडवोकेट — भारतभूषण जैन, एडवोकेट

डा. देशभूषण जैन — धर्मभूषण जैन, एफ.सी.ए.

(न्यासी, श्री राजकृष्ण जैन, चेरीटेबिल ट्रस्ट)

विषयानुक्रमणिका

6859

जैन साहित्य में श्रमण का स्वरूप

भारतवर्ष में प्राचीन काल से ही श्रमण और ब्राह्मण दो परम्परायें चली आ रही हैं। इनमें से ब्राह्मण परम्परा प्रमुख रूप से प्रवृत्तिमार्गी और श्रमण परम्परा निवृत्तिमार्गी है। दोनों परम्परायें अपने आपको सबसे प्राचीन सिद्ध करने का प्रयास करती हैं। जैन ग्रन्थों के अनुसार भगवान ऋषभदेव के पुत्र भरत ने ब्राह्मण वर्ण की स्थापना की।[१] पद्मचरित में ब्राह्मण की उत्पत्ति ब्रह्मा के मुख से होना निर्हेतुक सिद्ध करते हुए कहा गया है कि समस्त गुणों के वृद्धिंगत होने के कारण ऋषभदेव ब्रह्मा कहलाए और जो जन उनके भक्त हैं, वे ब्राह्मण कहे जाते हैं।[२] इस प्रकार ब्राह्मणों की परम्परा का सम्बन्ध भगवान् ऋषभदेव के पुत्र भरत से है। परवर्तीकाल में ब्राह्मणों का आधार श्रमणों से भिन्न होता गया और इस प्रकार दो धाराओं ने जन्म लिया। यही कारण है कि ब्राह्मणत्व के प्रति आदरभाव होते हुए भी जो कर्म से ब्राह्मण नहीं हैं, उनकी जैन ग्रन्थकारों ने भर्त्सना की है। आचार्य रविषेण के अनुसार ब्राह्मण वे हैं, जो अहिंसाव्रत धारण करते है, महाव्रत रूपी चोटी धारण करते हैं, ध्यान रूपी अग्नि में होम करते हैं, शान्त हैं और मुक्ति को सिद्ध करने में तत्पर रहते हैं। इसके विपरीत जो सब प्रकार के आरम्भ में प्रवृत्त हैं, निरन्तर कुशील में लीन रहते हैं तथा क्रिया हीन हैं, वे केवल ब्राह्मण नामधारी हैं, वास्तविक ब्राह्मणत्व उनमें नहीं है।[३] ऋषि, संयत, धीर, क्षान्त, दान्त और जितेन्द्रिय मुनि ही वास्तविक ब्राह्मण हैं।[४] ब्राह्मण का सम्बन्ध ब्रह्मचर्य से है। ब्रह्मचर्य धारण करने वाला ब्राह्मण कहलाता है।[५] पतंजलि ने ब्राह्मण और श्रमण इन दोनों में शाश्वतिक विरोध बतलाया है।[६] यहाँ पर दोनों परम्पराओं में से श्रमण परम्परा पर विचार किया जाता है–

श्रमण शब्द का अर्थ : श्रमण शब्द तप और खेद अर्थ वाली श्रमु धातु से ल्युट् प्रत्यय लगकर बना है। श्रमण का अर्थ है जो श्रम = तप करते हैं। सूत्रकृताङ्ग की शीलाङ्क टीका में कहा गया है कि जो शरीर को तप से खेदखिन्न करता है, वह श्रमण है [७]– श्राम्यति तपसा खिद्यत्त इति कृत्वा श्रमणो वाच्यः। अपराजित्त सूरि ने कहा है कि जिसका चित्त राग द्वेष से अबाधित होता है, वह समण (श्रमण) कहलाता है।[८]

नैरुक्तकों का कहना है– **'सममणो समण।** इति' अर्थात् समतायुक्त

जिसका मन है, वह समण है और समण के भाव को सामण्ण कहते हैं। यह समानता चारित्र है।[६]

भगवती आराधना गाथा ४७६ की टीका में कहा है— **'समणं वंदेज्ज मेधावी सुसमहिदं'** अर्थात् बुद्धिमान् को संयमी और सम्यक् रूप से समहित श्रमण की वन्दना करनी चाहिए। नियमसार गाथा ६१ की तात्पर्यवृत्ति टीका में श्रमण को परमसंयमी कहा है। जो श्रमण प्रतिक्रमणादि क्रिया को, निश्चय के चारित्र को निरन्तर करता रहता है, वह श्रमण वीतराग चारित्र में आरूढ़ है।[१०] पद्मप्रभमलधारिदेव ने उसे महामुमुक्षु तथा परम तपोधन विशेषणों से विभूषित किया है।[११]

पद्मचरित में आचार्य रविषेण ने कहा है—

परित्यज्य नृपो राज्यं श्रमणो जायते महान्।
तपसा प्राप्य सम्बन्धं तपो हि श्रम उच्यते।। पद्मचरित ६/२१२

अर्थात् राजा लोग राज्य का परित्याग कर तथा तप से सम्बन्ध जोड़कर श्रमण बन जाते हैं; क्योंकि तप ही श्रम कहा जाता है। आचार्य कुन्दकुन्द प्रवचनसार में कहते हैं—

समसत्तु बंधुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिंदसमो।
समलोट्ठु कंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो।।

अर्थात् जिसे शत्रु और बन्धुवर्ग समान है, सुख और दुःख समान हैं, प्रशंसा और निन्दा के प्रति जिसको समता है, जिसे लोष्ठ और सुवर्ण समान है तथा जीवन–मरण के प्रति जिसको समता है, वह समण (श्रमण) है।

प्राकृत समण शब्द में समताभाव की प्रधानता दिखलाई गई है। दशवैकालिककार ने श्रमण शब्द का मूल समण माना है। समण शब्द सम से निष्पन्न है। जो सभी जीवों को अपने तुल्य मानता है, वह समण है। जिस प्रकार मुझे दुःख प्रिय नहीं, उसी प्रकार सभी जीवों को दुःख प्रिय नहीं हैं, इस समता की भावना से जो स्वयं किसी प्राणी का वध नहीं करता और न दूसरों से करवाता है, वह अपनी सममति के कारण श्रमण कहलाता है।[१२] जिसके मन में समता की सुर–सरिता प्रवाहित होती है, वह न किसी पर द्वेष करता है और न किसी पर राग करता है, अपितु अपनी मनः स्थिति को सदा सम रखता है, वह समण कहलाता है।[१३] समण वह है जो पुरस्कार के पुष्पों को पाकर प्रसन्न नहीं होता और अपमान के हलाहल को देखकर खिन्न नहीं होता, अपितु सदा सम रहता है।[१४]

श्रमण को ममत्व रहित होना चाहिए। जो देहधनादिक में 'मैं यह हूँ और

यह मेरा है', इस प्रकार ममता को नहीं छोड़ता है, वह श्रामण्य को छोड़कर उन्मार्ग का आश्रय लेता है।[१५] जो मोह ग्रन्थि को नष्ट कर राग–द्वेष का क्षय कर सम सुख–दुःख होता हुआ श्रामण्य में परिणत होता है, वह अक्षय सुख को प्राप्त करता है।[१६]

श्रमण धर्म रूप हो सकता है। जो आगम में कुशल है, जिसकी मोहदृष्टि हत हो गई है जो वीतराग चारित्र में आरूढ़ हैं। उस महात्मा श्रमण को 'धर्म'[१७] मोहक्षोभविहीन आत्मपरिणाम रूप[१८] कहा है।

श्रमण को स्वपर भेद विज्ञानी होना चाहिए। जो श्रमणावस्था में सत्तासंयुक्त सविशेष पदार्थों की श्रद्धा नहीं करता, वह श्रमण नहीं है। उससे धर्म का उद्भव नहीं होता है।[१९]

मूलाचार में श्रमण का लक्षण देते हुए कहा गया है–

णिस्संगो णिरारम्भो भिक्खाचरियाण सुद्धभावो य।
एगागी झाणरदो सव्वगुणड्ढो हवे समणो।। मूलाचार १००२

जो निःसंग, निराम्भ, भिक्षाचर्या में शुद्धभाव, एकाकी, ध्यानलीन और सब गुणों से युक्त हो, वही श्रमण होता है।

नियमसार में कहा है कि समतारहित श्रमण की (पुण्यवर्द्धक) क्रियायें निष्फल हैं– वनवास, कायक्लेश रूप अनेक प्रकार का उपवास, अध्ययन, मौन आदि समतारहित श्रमण को क्या करते[२०] हैं? अर्थात् कुछ भी फल प्रदान नहीं करते।

श्रमण के संस्कृत रूप चार हो सकते हैं– समण, समनस्, श्रमण और शमन। समण का अर्थ है सब जीवों को आत्मतुला की दृष्टि से देखने वाला समता सेवी।[२१] समनस् का अर्थ है– राग–द्वेष रहित मन वाला–मध्यस्थवृत्ति वाला।[२२] ये दोनों आगम ओर निर्युक्तिकालीन निरुक्त हैं। इनका सम्बन्ध सम (सममणति और समनस्) शब्द से ही रहा है। स्थानाङ्ग वृत्ति में समन का अर्थ पवित्र मन वाला भी किया है।[२३] टीका साहित्य में समण को श्रम धातु से जोड़ा गया और उसका संस्कृत, रूप बना श्रमण। उसका अर्थ किया गया– तपस्या से श्रान्त या तपस्वी।[२४] 'शमन' का अर्थ है– दबाना अर्थात् इन्द्रिय और कषायों की वृत्ति को दबा देना। समण की व्यापक परिभाषा सूत्रकृताङ्ग में मिलती है– जो अनिश्रित, अनिदान–फलाशंसा से रहित, आदानरहित, प्राणातिपात, मृषावाद, बहिस्तात्, अदत्त मैथुन और परिग्रह। क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रेम, द्वेष और सभी आस्रवों से विरत, दान्त, द्रव्य–मुक्त होने के योग्य

और व्युत्सृष्ट—काम—शरीर के प्रति अनासक्त है, वह समण कहलाता है।[२५]

श्रमण के लिए ब्रह्मचर्य की आवश्यकता : श्रमण के लिए ब्रह्मचर्य पालन आवश्यक है। ब्रह्मचर्य से विचलित होने वाला श्रामण्य को त्याग देता है, इसलिए उसके सारे व्रत टूट जाते हैं। कोई श्रमण श्रामण्य को न भी त्यागे, किन्तु मन भोग में लगे रहने के कारण उसका ब्रह्मचर्यव्रत पीडित होता है। वह चित्त की चंचलता के कारण एषणा या ईर्या की शुद्धि नहीं कर पाता, उससे अहिंसाव्रत की पीड़ा होती है। वह इधर उधर रमणियों की तरफ देखता है, दूसरे पूछते हैं, तब झूठ बोलकर दृष्टि दोष को छिपाना चाहता है, इस प्रकार सत्यव्रत की पीड़ा होती है। तीर्थंकरों ने श्रमण के लिए स्त्रीसंग का निषेध किया है। स्त्रीसंग करने वाला उनकी आज्ञा को भंग करता है, इस प्रकार अचौर्यव्रत की पीड़ा होती है। इस तरह एक ब्रह्मचर्य व्रत पीड़ित होने से व्रत पीड़ित हो जाते हैं।[२६]

श्रामण्य का मुख्यार्थ व्रत ब्रह्मचर्य है। इन्द्रिय—विषयों को उत्तेजित करने वाले साधन श्रमण को उसकी साधना में संदिग्ध बना देते हैं।[२७] विषय में आसक्त बना हुआ श्रमण ब्रह्मचर्य के फल से सन्देह करने लग जाता है। इसका पूर्णक्रम उत्तराध्ययन में बतलाया गया है। ब्रह्मचर्य की गुप्तियों का पालन न करने वाले ब्रह्मचारी को शंका, कांक्षा और विचिकित्सा उत्पन्न होती है। चारित्र का नाश होता है, उन्माद बढ़ता है, दीर्घकालिक रोग एवं आतंक उत्पन्न होते हैं और वह केवली प्रज्ञप्त धर्म से भ्रष्ट हो जाता है।[२८]

श्रमण की अपेक्षा : श्रमण जहाँ पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और संहनन की अपेक्षा उद्यम करते हैं, वहाँ पर सिद्धि को शीघ्र ही प्राप्त कर लेते है।[२९] द्रव्य—शरीर और आहार आदि जो कि कर्मों के आने और रोकने में कारण हैं। क्षेत्र—वसतिका आदि निवास, जो कि स्त्री, पशु, नपुंसक आदि से रहित एवं वैराग्य वर्द्धन के कारणभूत स्थान हैं। काल—अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी रूप से एक होते हुए भी जो सुषमा सुषमा आदि के भेद से छह प्रकार का हो जाता है तथा शीत, उष्ण और वर्षा आदि के भेद से तीन प्रकार का भी होता है। भाव परिणाम। 'च' शब्द से अनुक्त का भी समुच्चय कर लेना, इसलिए शुद्ध चारित्र के लिए अन्य जो भी कारण हैं, उन्हें यहाँ ग्रहण कर लेना चाहिए। संहनन—हड्डियों की बन्धन और बल से उत्पन्न हुई शक्ति और वीर्यान्तिराय कर्म का क्षयोपशम विशेष।

समता, एकत्वभावना और वैराग्य आदि के आधारभूत श्रमण जिस किसी

ग्राम, वन, द्वीप, समुद्र, भोगभूमि अथवा कर्मभूमि क्षेत्र में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और संहनन शक्ति के स्वभाव को समझकर उसके अनुसार ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तपश्चरण में प्रयत्न करते हैं, वे वहीं पर शीघ्र मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। अर्थात् जिस किसी स्थान में भी मुनि यदि शरीर शुद्धि और आहार शुद्धि का आश्रय लेकर रात्रि में गमन नहीं करने रूप काल शुद्धि और असंयम आदि के परिहार रूप भाव शुद्धि का आश्रय लेकर तथा शरीर—संहनन आदि को भी समझकर चारित्र का अच्छी तरह पालन करते हैं, वे चाहे बहुज्ञानी हों, या अल्पज्ञानी, शीघ्र ही सिद्धि को पा लेते हैं। इसलिए द्रव्य बल, क्षेत्रबल, कायबल और भावबल का आश्रय लेकर तपश्चरण करना चाहिए।[30]

मन्दश्रमण : जिस प्रकार क्रूर साँप केचुली को छोड़कर विष को नहीं त्यागता है, उसी प्रकार मन्द चारित्र वाला श्रमण पंचसूना को नहीं छोड़ता है।[31] कंडणी (ऊखल), पीसणी (चक्की) चुल्ली (चूल्हा), जलकुम्भ और प्रमार्जना (बुहारी) ये पाँच सूना हैं। सदैव इनसे डरना चाहिए; क्योंकि इनसे जीव समूह मरते है।[32]

पाप श्रमण : जो श्रमण आचार्य संघ को छोड़कर एकाकी विहार करता है और उपदेश को ग्रहण नहीं करता है, वह पापश्रमण कहलाता है।[33] जो पहले शिष्यत्व न करके आचार्य होने की शीघ्रता करता है, वह ढोंढाचार्य है। वह मदोन्मत्त हाथी के समान निरंकुश भ्रमण करता है।[34] श्रमण को निद्रा जीतने का उपदेश देते हुए कहा गया है कि निद्रा नर को अचेतन कर देती है; क्योंकि सोया हुआ श्रमण सब प्रकार के प्रमादों से युक्त होता है। उत्तराध्ययन सूत्र में खा पीकर आराम से लेट जाने वाले निद्राशील श्रमण को पाप श्रमण कहा है।[35] जो मुनि विहार से परिश्रान्त हो गया हो, वृद्ध हो गया हो, रोगी हो, वह मुनि आचार्य से आज्ञा लेकर दिन में भी सो सकता है[36], अन्यथा नहीं। उत्तराध्ययन सूत्र के सत्रहवें अध्ययन में पाप श्रमण के लक्षण बतलाए हैं। इन सबका तात्पर्य यह है कि जो दर्शन, ज्ञान, चरित्र और तप का सम्यक् पालन नहीं करता वह पाप श्रमण है। मूलाचार में कहा गया है कि जैसे आम खोटे संसर्ग से नीमपने को प्राप्त हो जाता है, वैसे ही आचरण से हीन और धर्म में आलसी (मन्द संवेग) श्रमण का आश्रय न लें।[37] दुर्जन के सदृश वचन वाले, यद्वा तद्वा बोलने वाले, नगर के नाले के कचरे को धारण करते हुए के समान मुनि से सदैव डरना चाहिए।[38] जो मुनि आगम को न जानते हुए आचार्यपने को प्राप्त हो जाता है, वह अपने को नष्ट करता है, अन्यों को भी नष्ट करता है।[39] जो घोड़े की लीद के समान अन्तरंग में

निन्द्यभावना युक्त एवं बाह्य में बुगले के समान हाथ पैरों को निश्चल करके खडे हैं अर्थात् जो अन्तरंग में निन्द्य भाव सहित हैं ऐसे मुनि को बाह्य वृक्ष आदि योगों से कोई लाभ नहीं है।[४०] जो साधु क्रोधी, चंचल, आलसी, चुगलखोर, एवं गौरव और कषाय की बहुलता वाला है, वह आश्रयणीय नहीं हैं। वैयावृत्य से हीन, खोटे शास्त्र से युक्त, कुशील और वैराग्यहीन श्रमण का सुचारित्रवान् साधु आश्रय न ले।[४१]

श्रेष्ठ श्रमण : जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र तप और वीर्य इन पाँच आचारों का पालन करता है, वह श्रेष्ठ श्रमण है। उत्तराध्ययन सूत्र के पन्द्रहवें अध्ययन में श्रेष्ठ श्रमण के लक्षण दिए गए हैं। अष्ट पाहुड में **वन्दे तव सावण्णं**[४२] कहकर तप श्रमणों की वन्दना की गई है। समभाव श्रेष्ठ श्रमण का प्रथम लक्षण है। भगवती आराधना में कहा गया है कि सर्वदेश में प्रतिनिहित आत्मा द्रव्य और पर्यायों में ममता रूपी परिग्रह से रहित, प्रणय, प्रेम और राग से रहित सर्वत्र समभाव को प्राप्त होता है।[४३] जिसने वस्तु के यथार्थ स्वरूप के ज्ञान में आत्मा को प्रकर्ष रूप से निहित किया है, वह प्रतिनिहितात्मा है अर्थात् जो वस्तु स्वरूप के जानने में लीन रहता है और द्रव्य अर्थात् जीव, पुद्गल में और उनकी पर्यायों में ममता नहीं करता और जीव द्रव्य अर्थात् पुत्र, स्त्री, मित्रादि में उनकी नीरोगता, धनवत्ता आदि पर्यायों में अथवा आत्मा की देवपना, चक्रवर्तीपना, अहमिन्द्रपना आदि पर्यायों में तथा शरीर में, आहारादि में भोग के साधन में और उनकी रूप, रस, गन्ध, स्पर्श पर्यायों में प्रणय अर्थात् स्नेह, प्रेम और राग अर्थात् आसक्ति रूप परिणामों से रहित है, वह सर्वत्र समभाव अर्थात् समचित्तता को प्राप्त होता है। द्रव्य अथवा पर्याय में राग द्वेष के बिना उसके स्वरूप को ग्रहण मात्र करने की प्रवृत्ति को अर्थात् ज्ञानता को समचित्तता कहते हैं।[४४]

प्रवचन सार में ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप तथा वीर्याचार युक्त श्रमणों को नमस्कार किया गया है।[४५] टीकाकार जयसेनाचार्य ने यहाँ श्रमण से तात्पर्य श्रमण शब्द वाच्य आचार्य, उपाध्याय और साधु लिया है। सर्व विशुद्ध द्रव्य–गुण–पर्यायात्मक चिद्वस्तु में जो रागादि विकल्प से रहित निश्चल चित्तवृत्ति है, उसमें अन्तर्मूत पञ्च आचार रूप सहकारी कारण से उत्पन्न निश्चय पञ्चाचार रूप परिणत सम्यग्ज्ञान्, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य से युक्त श्रमणों की यहाँ वन्दना की गई है।[४६]

जो श्रमण सदा, ज्ञान में और दर्शनादि में प्रतिबद्ध तथा मूलगुणों में प्रयत्नशील होकर विचरण करता है। वह परिपूर्ण श्रामण्यवान् है।[४७] दर्शन,

ज्ञान और चारित्र में आरूढ़ श्रमण एकाग्रता को प्राप्त है, अतः उसके श्रामण्य परिपूर्ण है।[४८]

जो जीव यथार्थतया पदों का तथा अर्थों का निश्चय वाला होने से प्रशान्तात्मा है और अयथाचार रहित है, वह सम्पूर्ण श्रामण्य वालाजीव कर्मफल से रहित होकर इस संसार में चिरकाल तक नहीं रहता।[४९]

अन्तरात्मा और बहिरात्माश्रमण : जो अन्य के वश में नहीं है अवश है और अवश का कर्म आवश्यक है।[५०] जो परभाव को त्याग कर निर्मल स्वभाव वाले आत्मा को ध्याता है, वह वास्तव में आत्मवश है और उसे आवश्यक कर्म कहते हैं।[५१] आवश्यक रहित श्रमण चरण से प्रभ्रष्ट है।[५२] आवश्यक सहित श्रमण अन्तरात्मा है। आवश्यक रहित श्रमण बहिरात्मा है।[५३] बहिरात्मा देह, इन्द्रिय आदि में आत्मबुद्धि वाला होता है।[५४] अन्तरात्मा के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट ऐसे तीन भेद हैं, अविरत सम्यग्दृष्टि जघन्य अन्तरात्मा है, क्षीणमोह उत्कृष्ट अन्तरात्मा है और उन दो के मध्य में स्थित मध्यम अन्तरात्मा है।[५५] जो अन्तर्जल्प, बाह्य जल्प में बर्तता है, वह बहिरात्मा है जो जल्पों में नहीं बर्तता, वह अन्तरात्मा है[५६]। जो धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान में परिणत है, वह भी अन्तरात्मा है। ध्यानविहीन श्रमण बहिरात्मा है।[५७] इस लोक में साक्षात् अन्तरात्मा भगवान क्षीण कषाय हैं। वास्तव में उन भगवान क्षीणकषाय को सोलह कषायों का अभाव होने के कारण दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय कर्मरूपी योद्धाओं के दल नष्ट हुए हैं, इसलिए वे सहजचिद्विलास लक्षण अति अपूर्व आत्मा को शुद्ध निश्चय धर्मध्यान और शुद्धनिश्चय शुक्लध्यान इन दो ध्यानों द्वारा नित्य ध्याते है। इन दो ध्यानों से रहित द्रव्यलिंगधारी द्रव्यश्रमण बहिरात्मा हैं।[५८]

निवृत्ति भक्ति श्रमण : जो श्रावक अथवा श्रमण सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र की भक्ति करता है उसे निर्वृत्ति भक्ति (निर्वाण की भक्ति) है।[५९]

महाश्रमण : जिन्होंने दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय कर्मरूपी तिमिर समूह का नाश किया है और परमागम तत्त्व की भावना से उत्पन्न वीतराग सुखामृत के पान में जो उन्मुख हैं, ऐसे श्रमण वास्तव में महाश्रमण हैं।[६०] पंचास्तिकाय समयव्याख्या में '**श्रमणा हि महाश्रमणा : सर्ववीतरागा :**' उक्ति द्वारा वीतराग सर्वज्ञ को महाश्रमण कहा है।[६१]

प्रज्ञाश्रमण : जो साधु वैयावृत्यमें कुशल, विनयी, सर्वसंघ का पालक, वैरागी और जितेन्द्रिय होता है, उसे प्रज्ञा श्रमण कहा जाता है।[६२]

श्रमणों के विशिष्ट गुण : मूलाचार के अनगार भावनाधिकार में श्रमणों के विशिष्ट गुणों का विस्तृत रूप से प्रतिपादन है। वे गुण ये हैं—पंचमहाव्रत धारण[६३] समस्त आरम्भ से निवृत्ति, जिन प्रणीत धर्म में तत्परता,[६४] निर्ममत्वपना यथाजात रूप धारण करना, संस्कार रहितता[६५], संतुष्टता, चारित्र में स्थिति[६६], ग्राम में एक रात्रि तथा नगर में पाँच रात्रि निवास करना, प्रासुकविहार, विविक्त एकान्तवास[६७] धीरपना, शुक्लध्यान में रति[६८], अविकलता, गिरि कन्दराओं मे वास, अदीनमन, वीरचरित्र में रमण[६९], स्वाध्याय तथा ध्यानयुक्तता, रात्रि के प्रथम और अन्तिम प्रहर में न सोना, सूत्रार्थ का चिन्तवन, निद्रा के वशीभूत न होना[७०], पर्यकासन, वीरासन अथवा उत्कुटिकासन का प्रयोग[७१], उपाधि के भार से मुक्त होना, शरीर संस्कार न करना, वस्त्र धारण नहीं करना अकिंचनपना[७२], निरपेक्षता, वायुवत् स्वच्छन्द विहारी होना[७३], वसुधा पर विहार करते हुए किसी को पीड़ा न पहुँचाना, जीवों पर दया रखना[७४], तत्त्वज्ञता, सावद्य परिहार[७५], मन, वचन, काय की शुद्धता, पापभीरुता[७६], समारम्भ और आरम्भ का कृत, कारित और अनुमोदन से त्याग[७७], शस्त्र और दण्ड रहितता, समभाव, आत्महित चिन्तन[७८], उपशान्तता, दीनमन रहितता, उपेक्षा स्वभाव, मध्यस्थता, संकुचितकर चरण, चञ्चलता का अभाव, माया प्रपंच रहितता, कामभोगों, में विस्मयरहितता[७९], जिनगुण अनुचिन्तन, संसार महाभय चिन्तवन, गर्भवास से डरना, जन्म तथा मरण से डरना[८०], वैराग्य की भावना[८१], शरीर में निरपेक्षता, आत्मदमन[८२], बेला, तेला आदि के साथ पर गृह में भिक्षा, संयमार्थ भोजन[८३], नवकोटि से शुद्ध, दशदोषरहित, चौदह मलदोष से विशुद्ध पर गृह में पर के द्वारा दिए आहार का ग्रहण[८४], विरुद्धाहारत्याग[८५], स्वादरहित भोजन करना[८६], आम्रम्रक्षण वृत्ति[८७], लाभालाभ के विषय में समता[८८], भोजन के लिए किसी की स्तुति न करना,, अयाचकता, मौन भोजन[८९], भिक्षा मात्र से सन्तुष्टि[९०], आलोकित पान भोजन, पाणिपात्रता[९१], अप्रासुक आहार का त्याग[९२], आगमानुसार अनिन्दित भोजन[९३], निःशंकित, निर्विचिकित्सा और आत्मबल से युक्त होना, तप में तत्परता[९४], गुणगम्भीरता, तप से कृश शरीरी होना, योग का भंग न करना, दृढ़चारित्र[९५], उपवास रखना, आगम का ज्ञान, अष्टांग निमित्त का ज्ञान, बुद्धि ऋद्धि सम्पन्नता, अंग एवं पूर्वों का धारण[९६], धारण—ग्रहण सामर्थ्य, ऋद्धियुक्तता, श्रुत पारंगतता, गुणसम्पन्नता[९७], नयविशारदता, विपुल बुद्धि[९८] क्रोध, मान, गर्व और औत्सुक्य रहितता, पुण्य पाप का ज्ञातृत्व, कर चरण संवृतपना[९९], स्नेहबन्धन छेत्ता, शरीर चिकित्सा का अनौत्सुक्य, दुर्मनस्करहितता,

अनाकुलता[१००], जिनवचनौषधि[१०१], सेवन विरुद्ध क्रिया परित्याग, पूर्वभोगों का स्मरण न करना[१०२], शरीर के गुणों का चिन्तन[१०३], वाक्य शुद्धि[१०४], लौकिक कथाओं का त्याग[१०५], काय कुचेष्टा त्याग, कामोत्पादक वचन त्याग, हास्य का त्याग, परवंचना कात्याग[१०६], निर्विकारता, गम्भीरता, परलोकान्वेषण कुशलता[१०७], पापशमन[१०८], अनगार भावना के द्वरा आत्मा की भावना[१०९], शीतसहन[११०], कायक्लेश सहिष्णुता[१११], परिषहजय[११२], इन्द्रियजय[११३] तथा मनोजय[११४]।

श्रमण परम्परा में भेद : श्रमण परम्परा में मतभेद भगवान श्रषभदेव के काल से हो गया था। इस मतभेद के प्रारम्भ करने वाले चार हजार राजा थे, जो दीक्षित होकर भूख प्यास की बाधा नहीं सह सके। अतः तपश्चरण से भ्रष्ट हो गए और तरह तरह के वेष धारण कर अपनी प्राणरक्षा की। इन भ्रष्ट मुनियों में भगवान का पोता मरीचि प्रधान था। उसने मिथ्याशास्त्रों के उपदेश से मिथ्यात्व की वृद्धि की थी। योगशास्त्र, तन्त्र और सांख्य शास्त्र (कापिलम्) प्रारम्भ में उसी के द्वारा कहे गए थे।[११५] उसने कल्पना की– श्रमण मन, वचन और काया इन तीनों का दमन करते हैं, मैं इन तीनों दण्डों का दमन करने में असमर्थ हूँ, इसलिए मैं त्रिदण्ड चिन्ह को धारण करूँगा।

श्रमण इन्द्रिय मुण्ड हैं। मैं इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने में असमर्थ हूँ, इसलिए सिर को मुँडाऊँगा, केवल चोटी रखूँगा।

श्रमण अकिंचन हैं, मैं अकिंचन रहने में असमर्थ हूँ, इसलिए कुछ परिग्रह रखूँगा।

श्रमण शील से सुगन्धित हैं। मैं शील से सुगन्धित नहीं हूँ, इसलिए चन्दन आदि सुगन्धित द्रव्यों का लेप करूँगा।

श्रमण मोह से रहित हैं। मैं मोह से आच्छन्न हूँ, इसलिए छत्र धारण करूँगा।

श्रमण पादुका नहीं पहनते, किन्तु मैं नंगे पैर चलने में असमर्थ हूँ, इसलिए पादुका धारण करूँगा।

श्रमण कषाय से अकलुषित हैं, इसलिए वे दिगम्बर हैं। मैं कषाय से कलुषित हूँ, अतः गेरुए वस्त्र धारण करूँगा।

श्रमण हिंसा भीरू हैं। मैं पूर्ण हिंसा का वर्जन करने में असमर्थ हूँ, इसलिए परिमित जल से स्नान भी करूँगा और कच्चा जल पीऊँगा।

इस कल्पना के अनुसार वह परिव्राजक[११६] हो गया था। प्रवरसारोद्धार में श्रमणों के पाँच विभाग बतलाए गए हैं–

निर्ग्रन्थ : जैन मुनि

शाक्य : बौद्ध भिक्षु

तापस : जटाधारी, वनवासी, तपस्वी

गेरुक : त्रिदण्डी, परिव्राजक

आजीवक : गोसाल के शिष्य[११७]

दशवैकालिक निर्युक्ति में श्रमण के अनेक पर्यायवाची नाम बतलाएगए हैं— प्रव्रजित, अणगार, पाषण्ड। चरक, तापस, भिक्षु, परिव्राजक, श्रमण, निर्ग्रन्थ, संयत, मुक्त, तीर्ण, त्रायी, द्रव्य मुनि, क्षान्त द्रान्त, विरत, रुक्ष और तीरस्थ।[११८]

इन नामों में चरक, तापस, परिव्राजक, आदि शब्द निर्ग्रन्थों से भिन्न श्रमण सम्प्रदाय के सूचक हैं।[११९] भगवती आराधना में शिखण्डी, जटी, मुण्डी, नग्न और चीरधर साधुओं का नाम आया है। वहाँ कहा गया है कि भले ही मनुष्य शिखाधारी हो, जटाधारी हो, सिर मुडाए हो, नंगा रहता हो, या चीवर धारण किये हो, यदि वह झूठ बोलता है तो यह सब उसकी विडम्बना मात्र है[१२०]।

चारित्र क्षुद्र श्रमण : पासत्थादि को चारित्र क्षुद्र कहा गया है[१२१]। इनमें पार्श्वस्थ, अवसन्न, संसक्त, कुशील और मृगचरित्र श्रमणों का ग्रहण होता है।[१२२]

पार्श्वस्थ (पासत्थ)[१२३]— पार्श्वनाथ के अनुयायियों के लिए आगम साहित्य में पासावच्चिज्ज़ (पार्श्वापत्यीय) और पासत्थ (पार्श्वस्थ) इन दो शब्दों का उल्लेख मिलता है। यद्यपि दोनों ही शब्दों का अर्थ पार्श्व के अनुयायी हो सकता है, किन्तु हम यह देखते हैं कि जहाँ पार्श्व के अनुयायियों को सम्मानजनक रूप में प्रस्तुत करने का प्रश्न आया। वहाँ 'पासावच्चिज्ज़' शब्द का प्रयोग हुआ है[१२४] और जहाँ उन्हें हीन रूप में प्रस्तुत करने का प्रसंग, आया है, वहाँ उनके लिए पासत्थ शब्द का प्रयोग हुआ है। भगवती आराधना में पासत्थों के वर्णन के सन्दर्भ में कहा गया है कि कोई साधु इन्द्रिय रूपी चोरों और कषाय रूपी हिंसक जीवों के द्वारा पकड़े जाकर साधु संघ के मार्ग को छोड़कर साधुओं के पार्श्ववर्ती हो जाते हैं। साधु संघ के पार्श्ववर्ती होने से इन्हें पासत्थ कहते हैं[१२५]। साधु समूह के मार्ग को छोड़कर पासत्थ मुनिपने को प्राप्त हुए वे ऋद्धि गौरव, रसगौरव और सात गौरव से भरे गहन वन में पड़कर तीव्र दुःख पाते हैं[१२६]। अथवा जैसे विषैले काँटों से बिंधे हुए मनुष्य अटवी में अकेले पड़े हुए दुःख पाते हैं, वैसे ही मिथ्यात्व, माया और निदान शल्य रूपी काँटों से बींधे हुए पार्श्वस्थ मुनि दुःख पाते हैं।[१२७] पार्श्वस्थ

मुनि साधु संघ का मार्ग त्यागकर ऐसे मुनि के पास जाता है, जो चारित्र से भ्रष्ट होकर पार्श्वस्थ मुनियों का आचरण करता है।[१२८]

अपराजित सूरि ने पार्श्वस्थ का वर्णन करते हुए कहा है कि जैसे कोई मार्ग को देखते हुए भी उस मार्ग से न जाकर अन्य उसके समीपवर्ती मार्ग से जाता है, उसे पार्श्वस्थ कहते हैं। इसी प्रकार जो निरतिचार संयम का मार्ग जानते हुए भी उसमें प्रवृत्ति नहीं करता, किन्तु संयम के पार्श्ववर्ती मार्ग में चलता है, वह न तो एकान्त में असंयमी है और न निरतिचार संयमी है। उसे पार्श्वस्थ कहते हैं? शय्याधर पिण्ड को जो नित्य करता है। भोजन करने से पहले भोजन करने के पश्चात् दाता की स्तुति करता है अथवा उत्पादन और एषणा दोष से दूषित भोजन करता है। नित्य एक ही वसतिका में रहता है। एक ही संस्तर पर सोता है। एक ही क्षेत्र में सोता है। गृहस्थों के घर के भीतर बैठता है। गृहस्थों के उपकरणों का उपयोग करता है। बिना प्रतिलेखना के वस्तु को ग्रहण करता है। सुई, कैंची, नख काटने के लिए नहिनी, छुरा, कान का मैल निकालने की सींक, चर्म आदि पास में रखता है और सीना, धोना, रंगना आदि कामों में लगा रहता है, वह पार्श्वस्थ है। क्षारचूर्ण सुर्मा, नमक, घी इत्यादि बिना कारण ग्रहण करके पास में जो रखता है, वह पार्श्वस्थ है। जो रात में मनमाना सोता है, संस्तरा इच्छानुसार लम्बा चौड़ा बनाता है, वह उपकरण बकुश है। जो दिन में सोता है, वह देह बकुश है। ये भी पार्श्वस्थ हैं। जो बिना कारण पैर धोता है और तेल लगाता है तथा जो गणोपजीवि है, वह पार्श्वस्थ है। सारांश यह है कि सुखशील होने के कारण जो बिना कारण अयोग्य का सेवन करता है, वह पार्श्वस्थ है।[१२९]

मूलाचार में पार्श्वस्थादि को दर्शन, ज्ञान और चारित्र में अनियुक्त तथा मन्द संवेग वाला कहा है।[१३०] मूलाचार की वसुनन्दी कृत आचार वृत्ति में कहा गया है कि जो संयमी के गुणों के पास में रहते हैं (पार्श्वे तिष्ठन्ति) वे पार्श्वस्थ कहलाते हैं। ये मुनि वसतिका आदि से प्रतिबद्ध रहते हैं, इनमें मोह की बहुलता रहती है, ये रात–दिन उपकरणों के बनाने में लगे रहते हैं, असंयतजनों की सेवा करते हैं और संयमीजनों से दूर रहते हैं, अतः ये पार्श्वस्थ इस सार्थक नाम से कहे जाते हैं[१३१]।

व्यवहार सूत्र के प्रथम उद्देश में पार्श्वस्थ के तीन नाम दिए हैं : पार्श्वस्थ। प्रास्वस्थ और पाशत्थ। दर्शन, ज्ञान और चारित्र के पास में रहता है, किन्तु उसमें संलग्न नहीं होता, इसलिए उसे पार्श्वस्थ कहते हैं। प्र अर्थात, प्रकर्ष से ज्ञानादि में निरूद्यमी होकर रहता है, इसलिए प्रास्वस्थ कहते हैं तथा पाश

बन्धन को कहते हैं। मिथयात्व आदि बन्ध के कारण होने से पाश है, उनमें रहने से उसे पाशत्थ कहत्ते है[१३२]।

अवसन्न : इन्द्रिय और कषायरूप तीव्र परिणाम होने से सुखपूर्वक समाधि में लगा साधु तेरह प्रकार की क्रियाओं में आलसी होकर चारित्रभ्रष्ट साधुओं की क्रिया करने में लगता है, ऐसा साधु अवसन्न कहलाता है।[१३३]

अपराजित सूरि के अनुसार जैसे कोई पुरुष कीचड़ में फँस गया या मार्ग में थक गया तो उसको अवसन्न कहते हैं। उसी प्रकार जिसका चारित्र अशुद्ध होता है, वह भाव अवसन्न होता है वह उपकरण में, वसतिका में, संस्तर के शोधने में, स्वाध्याय में, विहार करने की भूमि के शोधने में, गोचरी की शुद्धता में, ईर्यासमिति आदि में, स्वाध्याय के काल का ध्यान रखने में और स्वाध्याय की समाप्ति में तत्पर नहीं रहता, छह आवश्यकों में आलस्य करता है या दूसरों की अपेक्षा चारित्र पालन करता तो अधिक है, किन्तु वचन और काय से करता है, भाव से नहीं करता। इस प्रकार चारित्र का पालन करते हुए खेद–खिन्न होता है, इससे उसे अवसन्न कहते हैं[१३४]। वसुनन्दी सिद्धान्त चक्रवर्ती ने 'ओर ें' अथवा अवसन्न मुनि को अपसंज्ञक कहा है। जिनकी संज्ञा— सम्यग्दशन आदि गुण नष्ट हो चुके हैं, वे अपसंज्ञक कहलाते हैं। ये चारित्र आदि से हीन हैं, जिनेन्द्र देव के वचनों को नहीं जानते हुए चारित्र आदि से परिभ्रष्ट हैं, तेरह प्रकार की क्रियाओं में आलसी हैं एवं जिनका मन सांसारिक सुखों में लगा हुआ है, वे अपसंज्ञक इस सार्थक नाम वाले हैं।[१३५]

संसक्त : भगवती आराधना में संसक्त मुनि के स्वरूप के विषय में कहा गया है कि इन्द्रिय और कषायों के वश में हुए कोई मुनि उन सब दोषों से संसक्त होकर उन सब अशुभस्थान रूप परिणामों को प्राप्त होते हैं।[१३६] चारित्र प्रेमियों में चारित्र प्रेमी और चारित्र से प्रेम न करने वालों में चारित्र के अप्रेमी, इस प्रकार नट की तरह जो अनेक रूप धारण करते हैं, वे संसक्त मुनि हैं। जो पञ्चेन्द्रियों के विषयों में आसक्त होते हैं, ऋद्धि गारव, सात गारव और रस गारव में लीन होते हैं, स्त्रियों के विषय में रागरूप परिणाम रखते हैं और गृहस्थजनों के प्रेमी होते हैं, वे संसक्त मुनि हैं। वे पार्श्वस्थ के संसर्ग से पार्श्वस्थ कुशील के संसर्ग से कुशील और स्वच्छन्द के सम्पर्क से स्वच्छन्द होते हैं।[१३७]

मूलाचार तात्पर्यवृत्ति में कहा गया है कि जो अच्छी तरह से असंयत गुणों में आसक्त हैं, वे संसक्त कहलाते हैं।[१३८]

कुशील : जिसका शील कुत्सित है, वह कुशील मुनि है।

शंका : यदि ऐसा है तो अवसन्न आदि भी कुशील कहलावेंगे।

समाधान : लोक में जिसका कुत्सित शील प्रकट है वह कुशील है, यह विवेक ग्रहण करना चाहिए। वह कुशील अनेक प्रकार का होता है। कोई कौतुक कुशील होता है, जो औषध लगाने की विद्या के प्रयोग द्वारा सौभाग्य के कारण राजद्वार में कौतुक दिखलाता है। कोई भूतिकर्म कुशील होता है। यहाँ भूति शब्द से भस्म, धूलि, सरसों, पुष्प, फल अथवा जल आदि से मन्त्र पढ़कर रक्षा या वशीकरण जो करता है, वह भूतिकर्म कुशील है।

कोई प्रसेनिका कुशील होता है, जो अंगुष्ठ प्रसेनिका, अक्षर प्रसेनिका, शशि प्रसेनिका, सूर्य प्रसेनिका, स्वप्न प्रसेनिका आदि विद्याओं के द्वारा लोगों का मनोरंजन करता है। कोई अप्रसेनिका कुशील होता है जो विद्या, मन्त्र और औषध प्रयोग द्वारा असंयमीजनों का इलाज करता है। कोई निमित्त कुशील होता है, जो अष्टांग निमित्तों को जानकर लोगों को इष्ट, अनिष्ट बतलाता है। जो अपनी जाति अथवा कुल बतलाकर भिक्षा आदि प्राप्त करता है, वह आजीव कुशील है। जो किसी के द्वारा सताए जाने पर दूसरे की शरण में जाता है अथवा अनाथशाला में जाकर अपना इलाज कराता है, वह भी आजीव कुशील होता है। जो विद्या प्रयोग आदि के द्वारा दूसरों का द्रव्य हरने और दम्भ प्रदर्शन करने में तत्पर रहता है, वह कक्वकुशील होता है। जो इन्द्रजाल आदि के द्वारा लोगों को आश्चर्य उत्पन्न करता है, वह कुहन कुशील है। जो वृक्ष, झाड़ी, पुष्प और फलों को उत्पन्न करके बताता है तथा गर्भस्थापना आदि करता है, वह सम्मूर्च्छना कुशील है। जो त्रस जाति के कीट आदि का, वृक्ष आदि का, पुष्प फल आदि का तथा गर्भ का विनाश करता है, उनकी हिंसा करता है, शाप देता है, वह प्रपातन कुशील है।

जो क्षेत्र सुवर्ण, चौपाये आदि परिग्रह को स्वीकार करते हैं, हरे कन्द, फल खाते हैं, कृत, कारित, अनुमोदना से युक्त भोजन, उपधि, वसतिका का सेवन करते हैं, स्त्री कथा में लीन रहते हैं, मैथुन सेवन करते हैं, आस्रव के अधिकरणों में लगे रहते हैं। वे सब कुशील हैं। जो धृष्ट, प्रमादी और विकार युक्त वेष धारण करता है, वह कुशील है।[१३९]

मूलाचार की तात्पर्यवृत्ति में कहा गया है— **कुत्सित शीलं आचरणं स्वभावो वा यस्यासौ कुशीलः'** अर्थात् कुत्सित आचरण या स्वभाव जिनका है, वे कुशील कहलाते हैं। ये क्रोधादि कषायों से कलुषित रहते हैं, व्रत, गुण और शीलों से हीन हैं तथा संघ के साधुओं की निन्दा करने में कुशल रहते हैं, अतः ये कुशील कहे जाते हैं।[१४०]

मृगचरित्र : मृग के समान अर्थात् पशु के समान जिनका चारित्र है, वे मृगचरित्र कहलाते हैं। ये आचार्यों का उपदेश नहीं मानते हैं, स्वच्छन्दचारी हैं, एकाकी विचरण करते हैं, जिन सूत्र— जिनागम में दूषण लगाते हैं, तप और श्रुत की विनय नहीं करते, धैर्य रहित होते हैं, अतः मृगचरित्र स्वैराचारी होते हैं।[१४१] भगवती आराधना में इन्हें जहाछंद (यथाच्छन्द) कहा है।[१४२] अपराजित सूरि ने इनका स्वरूप इस प्रकार कहा है—

जो बात आगम में नहीं कही है, उसे अपनी इच्छानुसार जो कहता है वह यथाच्छन्द है। जैसे वर्षा में जलधारण करना अर्थात् वृक्ष के नीचे बैठकर ध्यान लगाना असंयम है। छुरे, कैंची आदि से केश काटने की प्रशंसा करना और कहना कि केशलोंच करने से विराधना होती है। पृथ्वी पर सोने से तृणों में रहने वाले जन्तुओं में बाधा होती है। उद्दिष्ट भोजन में कोई दोष नहीं है; क्योंकि भिक्षा के लिए पूरे ग्राम में भ्रमण करने से जीवनिकाय की महती विराधना होती है। घर के पात्रों में भोजन करने से कोई दोष नहीं है, ऐसा कहना, जो हाथ में भोजन करता है, उसे परिशातन दोष लगता है, ऐसा कहना, आजकल आगमानुसार आचरण करने वाले नहीं हैं, इत्यादि कहने वाले मुनि स्वच्छन्द कहे जाते हैं।[१४३]

उपर्युक्त पासत्थादि पाँचों प्रकार के मुनियों को अपरिमित अपराध होने से पूरी दीक्षा छेदकर पुनः दीक्षा देना मूल प्रायश्चित्त है,[१४४] ऐसा अनगार धर्मामृत में कहा है।

नटश्रमण : भोगों का निदान करने वाले जिसके आभ्यन्तर में वेदना जनित राग रहता है, अतः वह परिग्रही है तथा वह मन से मैथुन कर्म में प्रवृत्त होने से अब्रह्मचारी है और मन से मैथुन से निवृत्त न होने से अविरत है। वह केवल शरीर से ब्रह्मचर्यव्रत धारण करता है, अतः वह नटश्रमण है। जैसे नट श्रमण का वेश धारण करता है, वैसे ही उसने भी श्रमण का वेश धारण किया है। भावश्रामण्य के बिना केवल शरीर से मुनि बनना व्यर्थ हैं, उसी तरह उस मुनि का मुनिपद भी व्यर्थ है।[१४५]

नामादि की अपेक्षा से श्रमण के भेद[११६] : नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव निक्षेप की अपेक्षा श्रमण चार प्रकार के होते हैं[१४६]— नाम—श्रमण मात्र को नाम श्रमण कहते हैं। लेप आदि प्रतिमाओं में श्रमण की आकृति स्थापना श्रमण है। गुणरहित वेष ग्रहण करने वाले द्रव्य श्रमण हैं और मूलगुण—उत्तरगुणों के अनुष्ठान में कुशल भावयुक्त भावश्रमण होते है।[१४७]

श्रमण के पर्यायवाची शब्द : जैन ग्रन्थों में श्रमण के अनेक पर्यायवाची

नाम मिलते हैं, जो उनकी भिन्न-भिन्न विशेषताओं को सूचित करते हैं। ये नाम हैं— संयत, ऋषि, मुनि, साधु, वीतराग, अनगार, भदन्त, दान्त, यति, श्रमण, दिगम्बर, अचेलक, निर्ग्रन्थ, मुण्ड, बहुश्रुत, भिक्षु, णाणी (ज्ञानी), असंयम, जुगुप्सक, यथाजात रूपधर, धीर, वैराग्य परायण, सर्वारम्भविमुक्त, योगी, गणी, तपोधन, समित, तपस्वी, निःसंग, क्षपक, क्षपणक, सूरि, पाणितलभोजी, उग्रतप, संयमी, संयमधर, जितेन्द्रिय, महात्मा तथा भूतिप्रज्ञ, महाव्रती, गुरु, वातवसन, विवसन, स्थविर, साधु, वातरशना, नग्न। [१४८ व १४९]

संयत : भगवती आराधना में कहा है कि जिस क्षेत्र में संयत (संजद) जन का प्रासुकविहार और सुलभ आहार हो, वह क्षेत्र देशान्तर में भ्रमण करने वाला सल्लेखना के योग्य माना है।[१५०] अपराजित सूरि के अनुसार असंयम रूप हिंसा आदि को जानकर और श्रद्धान करके उनसे जो अलग होता है अर्थात् उनका त्याग करता है, उस सम्यक्‌यत को संयत कहते हैं।[१५१] समस्त कर्मबन्धन के विनाशरूपमोक्ष के अभिलाषी संयत मरण होना भी श्रेष्ठ है। किन्तु वेदना की शान्ति के लिए अप्रासुक, अयोग्य द्रव्य का सेवन करना श्रेष्ठ नहीं है।[१५२] रत्नत्रय भावना के प्रति उद्यत संयत का वेदना अनुगमन नहीं करती, वह तो असाता को मन्द करती है। असंयम असाता वेदनीय के अनुभाग को बढ़ाता है।[१५३]

संयत को सत्संगति करना चाहिए। दुर्जन के संसर्ग से लोग संयत के भी सदोष होने की शंका करते हैं।[१५४]

प्रवचनसार में कहा गया है कि पाँच समिति युक्त, पाँच इन्द्रियों का संवर वाला, तीन गुप्ति सहित, कषायों को जीतने वला, दर्शन ज्ञान से परिपूर्ण श्रमण संयत कहा गया है।[१५५] आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है— संयमः सम्यग्दर्शनज्ञानपुरःसरं चारित्रं, चारित्रं धर्मः, धर्मः साम्यं, साम्यं मोहक्षोभविहीनः आत्मपरिणामः। ततः संयमस्य साम्यं लक्षणम्' अर्थात् संयम सम्यग्दर्शन, विज्ञान पूर्वक चारित्र है, चारित्र धर्म है, धर्म साम्य है, साम्य मोह क्षोभ से रहित आत्मपरिणाम है। इसलिए संयत का साम्य लक्षण हैं।[१५६] जिसने सूत्रों और अर्थों के पद को— अधिष्ठान को (अर्थात् ज्ञातृतत्त्व को) निश्चित किया है, जिसने कषायों का शमन किया है और जो अधिक तपवान् हैं— ऐसा जीव भी यदि लौकिकजनों के संसर्ग को नहीं छोड़ता, तो वह संयत नहीं है।[१५७] क्योंकि अग्नि की संगति में रहे हुए पानी की भाँति उसे विकार अवश्यंभावी है, इसलिए लौकिक संग सर्वथा निषेध्य ही है।[१५८]

मूलाचार में कहा गया है कि कषाय रहित होना चारित्र है। कषाय के

वश में हुआ जीव असंयत होता है। जिस काल में उपशमभाव को प्राप्त होता है उस काल में यह संयत होता है।[१५९] श्रमण यह सोचे कि प्रथम तो मेरा श्रमण रूप है, और दूसरा सभी जगह मेरा संयत संयमित होना रूप है। इसलिए सभी (आयोग्य कार्य) का मैं त्याग करता हूँ[१६०]। वसुनन्दी सिद्धान्त चक्रवर्ती ने, संयतं चरित्राद्यनुष्ठान तन्निष्ठं, कहकर संयत की चारित्र के प्रतिनिष्ठा को व्यक्त किया है[१६१]—अर्थात् जो पाँचों इन्द्रियों और कषायों को संयमित नियन्त्रित करते हैं, वे संयत हैं।[१६२]

ऋषि : 'आर्षयन्ति गमयन्ति सर्वपापानि ते ऋषयोऽथवाऽर्षयन्ति प्राप्नुवन्ति सप्तर्द्धीरिति ऋषयः''— अर्थात् जो सर्व पापों को नष्ट करते हैं अथवा सात प्रकार की ऋद्धियों को प्राप्त करते हैं, वे ऋषि कहलाते हैं[१६३]।

ऋषि, यति, मुनि ओर अनगार यह चार प्रकार का श्रमण संघ होता है।[१६४] ऋद्धि प्राप्त श्रमण ऋषि हैं। इनके चार भेद हैं— राजीर्ष, ब्रह्मर्षि, देवर्षि और परमर्षि। विक्रिया और अक्षीण ऋद्धि प्राप्त राजीर्ष हैं, बुद्धि और औषधि ऋद्धि युक्त ब्रह्मर्षि हैं, गगन गमन ऋद्धि से सम्पन्न साधु देवर्षि हैं और केवल ज्ञानी भगवान् परमर्षि हैं।[१६५]

स्वस्ति मंगल के अन्तर्गत परमर्षियों से कल्याण करने की प्रार्थना की गई है। अविनाशी, अचल और अद्भुत केवल ज्ञान के धारक देदीप्यमान मनः पर्यय ज्ञान रूप शुद्ध ज्ञान वाले तथा दिव्य अवधिज्ञान के बल से प्रबुद्ध परमर्षि हमारा कल्याण करें।

कोष्ठस्थधान्योपम, एकबीज, संभिन्नसंश्रोतृत्व और पदानुसारित्व इन चार प्रकार की बुद्धिऋद्धि को धारण करने वाले परमर्षि हमारा मंगल करें।

दिव्य मतिज्ञान के बल से दूर से ही स्पर्शन, श्रवण, आस्वादन, घ्राण और अवलोकन रूप पाँच इन्द्रियों के विषयों को धारण करने वाले परमर्षि हम लोगों का कल्याण करें।

प्रज्ञाश्रमण, प्रत्येक बुद्ध, अभिन्नदशपूर्वी, चतुर्दश पूर्वी, प्रकृष्टवादी और अष्टांगमहानिमित्त के ज्ञाता परमर्षि हमारा कल्याण करें।

जंघा, अग्निशिखा, श्रेणी, फल, जल, तन्तु, पुष्प, बीज और अंकुर पर चलने वाले चारणऋद्धि के धारक तथा आकाश में स्वच्छन्द विहार करने वाले परमर्षि हमारा कल्याण करें।

अणिमा, महिमा, लघिमा और गरिमा ऋद्धि में कुशल तथा मन, वचन और कायबल के धारक परमर्षि हमारा मंगल करें।

कामरूपित्व, वशित्व, ईशित्व, प्राकाम्य, अन्तर्धान, आप्ति तथा अप्रतिघात ऋद्धि से सम्पन्न परमर्षि हमारा क्षेम करें।

दीप्ति, तप्त, महाउग्र, घोर और महाघोर पराक्रम तप के तथा अघोर ब्रह्मचर्य ऋद्धि के धारी परमर्षि हमारा कल्याण करें।

आमर्षौषधि, सर्वौषधि, आशीविषाविष, दृष्टिविषाविष, क्ष्वेलौषधि, विडौषधि, जल्लौषधि और मलौषधि ऋद्धि के धारी परमऋषि हमारा कल्याण करें।

क्षीरस्रावी, घृतस्रावी, मधुस्रावी, अमृतस्रावी तथा अक्षीण संवास और अक्षीणमहानस ऋद्धिधारी परमऋषि हमारा मंगल करें।

मुनि : अवधि, मनः पर्यय अथवा केवल ज्ञान वाले श्रमण मुनि है[166]। आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार जो पाँच महाव्रतों से युक्त रहते हैं, पाँच इन्द्रियों के संयम का पालन करते हैं, अपेक्षा रहित हैं तथा स्वाध्याय और अध्ययन से युक्त है, वे मुनि है।[167] भगवती आराधना में कहा है कि मुनि सत्त्वभावना से उपसर्ग आने पर मोहित नहीं होता।

जिस प्रकार अनेक प्रकार की युद्ध सम्बन्धी भावना से योद्धा युद्ध में मोहित नहीं होता।[168] वर्द्धमान या हीयमान अनशन आदि तपों से अथवा सर्वथा वर्द्धमान तपों के द्वारा आहार की विधि को अल्प करता हुआ मुनि शरीर को कृश करता है।[169] वह संवर के द्वारा कर्मों का आस्रव रोकता है।[170]

मुनिशब्द की व्युत्पत्ति है— **मन्यन्ते बुध्यन्ते स्वपरार्थसिद्धिम् इति मुनयः'** अर्थात जो स्व–पर के अर्थ की सिद्धि को मानते हैं— जानते हैं, वे मुनि हैं।[171] मुनि सावद्य कार्य नहीं करते हैं। वे तृण का छेदन, वृक्ष का छेदन, हरित का छेदन और छिन्न भिन्न हुई वनस्पति का छेदन न स्वयं करते हैं और न दूसरों से कराते हैं तथा छाल, पत्ते, कोपल, कन्द–मूल का भी छेदन न करते हैं, न कराते हैं। उसी प्रकार के फल, पुष्प और बीज का घात भी न करते हैं, न कराते हैं।[172] इस प्रकार अनेक गाथाओं में मूलाचार में मुनि की विशेषतायें निरूपित हैं।

दशवैकालिक सूत्र में कहा है— नग्न, मुण्ड, दीर्घ–रोम और नख वाले तथा मैथुन से निवृत्त मुनिको विभूषा से क्या प्रयोजन है? विभूषा के द्वारा भिक्षु चिकने (दारुण) कर्म का बन्धन करता है। उससे वह दुस्तर संसार सागर में गिरता है। विभूषा में प्रवृत्त मन को तीर्थंकर विभूषा के तुल्य ही चिकने कर्मके बन्धन का हेतु मानते हैं। यह प्रचुर पाप युक्त है। यह छहकाय के त्राता मुनियों द्वारा आसेवित नहीं है। अ–दशैवकालिक ६/६४–६६

साधु : सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र की जो साधना करते हैं, वे साधु कहलाते हैं।[173] जो साधु क्रोधी, चंचल, आलसी, चुगलखोर एवं गारव

और कषाय की बहुलता वाला है, वह श्रमण आश्रय लेने योग्य नहीं है।[१७४] सुचारित्रवान् साधु वैयावृत्य से हीन, विनय से हीन, खोटे शास्त्र से युक्त, कुशील और वैराग्य से हीन श्रमण का आश्रय न ले।[१७५] साधु को भिक्षा शुद्धि का ध्यान रखना चाहिए; क्योंकि भिक्षाचर्या की विशुद्धि के होने पर व्रत, शील और गुण ठहरते हैं, इसलिए साधु भिक्षाचर्या का शोधन करके हमेशा विहार करे।[१७६] जो आहार, वचन और हृदय का शोधन करके नित्य ही आचरण करते हैं, वे ही साधु हैं। जिन शासन में ऐसे सुस्थित साधु भगवान् कहे गए हैं।[१७७] साधु का मन एकाग्र होना चाहिए। जैसे बाणकारक मनुष्य किंचित् बन्द हुए नेत्रों से बाण को सीधा–सरल बनाता है, वैसे ही साधु एकाग्रभाव से मन को रोके।[१७८]

पद्मप्रभमलधारिदेव ने नियमसार की तात्पर्यवृत्ति टीका में साधु को आसन्न भव्य जीव[१७९] तथा अत्यासन्न भव्य जीव कहा है।[१८०]

साधु को ध्यान का अभ्यास करना चाहिए। ध्यान में लीन साधु सर्व दोषों का परित्याग करते हैं, इसलिए ध्यान ही सर्व अतिचार का प्रतिक्रमण है।[१८१]

साधु व्यापार से विमुक्त, चतुर्विध आराधना में रक्त, निर्ग्रन्थ और निर्मोह होते हैं।[१८२] वे आगम चक्षु हैं।[१८३] जयसेनाचार्य ने उन्हें निश्चय रत्नत्रय के आधार से निज शुद्धात्मा का साधक कहा है।[१८४]

जो छह जीव निकाय का अच्छी तरह ज्ञान प्राप्त कर उनकी हिंसा करने, कराने और अनुमोदन करने से सर्वथा विरत होते हैं तथा अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रह— इन पाँचों में सकल दुःख –क्षय के लिए प्रयत्न करते हैं वे साधु कहलाते है।[१८५] .

दशवैकालिक की अगस्त्यसिंह चूर्णि के अनुसार नाना पिण्डरत हैं, इसलिए साधु है।[१८६] जिनदास कहते हैं— श्रमण अपने हित के लिए त्रस और स्थावर जीवों की यतना रखते है, इसलिए वे साधु हैं।[१८७] अन्यतीर्थी, सद्भावपूर्वक यतना युक्त नहीं होते। वे छहकाय की यतना को नहीं जानते। वे उद्गम, उत्पात आदि दोषों से रहित शुद्ध आहार ग्रहण नहीं करते। वे मधुकर की तरह अवधजीवी नहीं होते और न तीन गुप्तियों से युक्त होते हैं[१८८]। उदाहरण स्वरूप कई श्रमण औद्देशिक आहार में, जिसमें कि जीवों का प्रत्यक्ष घात होता है, कर्मबन्ध नहीं मानते। कई श्रमणों का जीवन सूत्र है कि भोगों की प्राप्ति होने पर उनका उपभोग करना चाहिए। ऐसे श्रमण अज्ञान रूपी महासमुद्र में डूबे हुए होते हैं, उन्हें साधु कैसे कहा जाय?[१८९] साधु वे होते हैं जो मन, वचन, काया और पाँचों इन्द्रियों का दमन करते हैं, ब्रह्मचर्य का

पालन करते हैं, कषायों को संयमित करते हैं तथा तप से युक्त होते हैं। ये साधु के सम्पूर्ण लक्षण है, इन्हीं से कोई साधु कहलाता है।[160] जिसमें ये गुण नहीं, वह साधु नहीं हो सकता। जो जिनवचन में अनुरक्त हैं, वे ही साधु हैं; क्योंकि वे निकृति रहित और चरण गुण से युक्त हैं।[161]

वीतराग : वीत– नष्ट हो गया है राग जिनका वे, वीतराग कहलाते है।[162]

अनगार : नहीं है अगार– गृह आदि जिनके वे सर्व परिग्रह से रहित मनुष्य अनगार हैं।[162] सर्वार्थसिद्धि में 'आगार्यनगारश्च' सूत्र की व्याख्या में यह प्रश्न उठाया है कि जिसके आगार नहीं है, वह अनगार है ऐसा लक्षण मानने पर जो मुनि शून्य घर और देवकुल में निवास करते हैं, वे अगारी हो जाँयगे और विषय तृष्णा का त्याग किए बिना जो किसी कारण घर को छोड़कर वन में रहने लगे हैं, वे अनगार हो जायेंगे। इसके उत्तर में कहा गया है कि यहाँ पर आगार से भावागार विवक्षित है। चारित्र मोहनीय का उदय होने पर जिसका परिणाम घर से निवृत्त नहीं है, वह भावागार कहा जाता है। वह जिसके हैं, वह वन में निवास करते हुए भी अगारी है और जिसके इस प्रकार परिणाम नहीं है, वह घर में रहते हुए भी अनगार है।

अनगार पाँच महाव्रतों का पालक होता है। वह अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का पूर्ण रूप से पालन करता है। दिगम्बर परम्परा के अनगार अपने पास केवल दो उपकरण रखते हैं— एक जीव रक्षा के लिए मयूर के पंखों से निर्मित पिच्छिका और दूसरा शौचादि के लिए कमण्डलु। शरीर से बिल्कुल नग्न रहते हैं और श्रावक के घरपर ही दिन में एक बार खड़े होकर हाथों की अंजुलि को पात्रका रूप देकर भोजन करते हैं। किन्तु श्वेताम्बर परम्परा के अनगार पाँच महाव्रतों का पालन करते हुए भी वस्त्र, पात्र रखते हैं। अनगारों की इस प्रवृत्ति भेद के कारण ही जैन सम्प्रदाय दो भागों में विभाजित हो गया और वे विभाग दिगम्बर और श्वेताम्बर कहलाए।[163] आचार्य कुन्दकुन्द से पूर्व यह विभाजन हो गया था। सूत्र पाहुड में कहा है—

जस्स परिग्गह गहणं अप्पं बहुयं च हवइ लिंगस्स।
जो गरहिउ जिणवयणे परिगह रहिओ निरायारो।।१६।।

जिसके मत में लिंग (वेष) के परिग्रह का अल्प तथा बहुत ग्रहण करना कहा है, वह मत तथा उसका श्रद्धावान् पुरुष गर्हित है, निंदा योग्य है; क्योंकि जिनवचन में परिग्रह रहित ही निरागार है।

पाँच इन्द्रियों का संवर, पाँच व्रत ये पच्चीस क्रिया के सद्भाव होने पर होते हैं। पाँच समिति और तीन गुप्ति, इस प्रकार निरागार संयमचरण चारित्र होता है।[164]

भदन्त : सर्व कल्याणों को प्राप्त हुए भदन्त कहलाते हैं।[१९५] बौद्ध परम्परा में इस शब्द का प्रयोग अधिक हुआ है।

दान्त : पाँच इन्द्रियों के निग्रह करने वाले मुनि दान्त कहलाते हैं।[१९६] उत्तराध्ययन सूत्र के अनुसार दान्त' शब्द का अर्थ है– संयम और तप से आत्मा को दमित करने वाला।[१९७]

यतिः– उपशमक और क्षपक श्रेणी पर आरोहण करने वाले यति कहलाते हैं।[१९८] यति शब्द का सामान्य मुनि के अर्थ में प्रयोग हुआ है। भगवती आराधना में कहा है कि जैसे उग्र विष वाले सर्प को घास के एक तिनके से मारने पर वह अत्यन्त रोष में आकर उस तिनके पर अपना विष वमन करके तत्काल विष रहित हो जाता है, उसी प्रकार यति भी क्रोध करके अपने रत्नत्रय का विनाश करता है और शीघ्र ही निस्सार हो जाता है।[१९९] अनगार धर्मामृत की ज्ञानदीपिका संस्कृत टीका में यत्न परायण साधु को यति कहा है।[२००] समितियों के सामान्य स्वरूप की अपेक्षा से और मार्ग आदि विशेषणों की अपेक्षा जो यति उनके पालन में तत्पर रहता है और अतिचार नहीं लगाता, वह त्रस और स्थावर जीवों से भरे हुए भी लोक में गमनादि करने पर हिंसा आदिके दोषों से लिप्त नहीं होता।[२०१]

इन्द्रियों के इष्ट और अनिष्ट विषयों में रागद्वेष करने और क्रोध आदि कषाय रूप परिणमन का त्याग करते हुए तथा समिति और गुप्तियों का पालन करते हुए साधु को चारित्र की विनय करनी चाहिए।[२०२]

दिगम्बर : दिशायें ही जिनके वस्त्र हैं, वे दिगम्बर कहलाते हैं। महर्षि बाल्मीकि ने लिखा है की श्रमण मुनि महाराजा जनक के यहाँ आहार को जाया करते थे।[२०३] संस्कृत टीकाकार भूषण अपनी टीका में श्रमण की व्याख्या करते हुए उन्हें दिगम्बर लिखते हैं– "**श्रमणाः दिगम्बरा : श्रमणा वातवसना** इति।" भर्तृहरि ने वैराग्यशतक में कहा है–

एकाकी निस्पृहः शान्तः पाणिपात्रो दिगम्बरः।
कदाशम्भो भविष्यामि कर्मनिर्मूलनक्षमः।।

अर्थात्– हे शम्भो ! मैं अकेला, इच्छा रहित, शान्त, पाणिपात्र और दिगम्बर होकर कर्मों का नाश कब कर सकूँगा?

अचेलक : वस्त्र, चर्म और वल्कलों से अथवा पत्ते आदि से शरीर को नहीं ढकना, भूषण अलंकार से और परिग्रह से रहित निर्ग्रन्थ वेष जगत में पूज्य अचेलकत्व नामक गुण है।[२०४]

प्रश्न : वस्त्र आदिको के होने में क्या दोष है?

उत्तर : ऐसा नहीं कहें, क्योंकि हिंसा, अर्जन, प्रक्षालन, याचना आदि अनेक दोष आते हैं।[२०५]

वसुनन्दी सिद्धान्त चक्रवर्ती ने **'अचेलकत्वं नाग्न्यमिति यावत्'** कहकर नग्न अवस्था का नाम अचेलकत्व बतलाया है।[२०६] इनका समावेश २२ परिषहों में होता है।[२०७]

अपराजित सूरि ने मुनियों के अपवाद का कारण होने से परिग्रह को अपवाद कहा है। जिसके अपवाद हो वह आपवादिक है, अर्थात् परिग्रह सहित लिंग वाला आपवादिक लिंगी होता है। यदि वह भक्त प्रत्याख्यान करना चाहता है तो उसे परिग्रह को त्यागकर औत्सर्गिक लिंग धारण करना होता है। इस लिंग धारण करने पर नग्न होना पड़ता है। भगवती आराधना में कहा है कि वस्त्ररहित रूप जनता में विश्वास पैदा करने वाला होता है। विषय से होने वाले शारीरिक सुख में अनादरभाव होता है। सर्वत्र स्वाधीनता होती है और परीषह को सहना होता है।[२०८] नग्न मुनि को देखकर लोग सोचते हैं—ये तो परिग्रह से रहित हैं, ये कुछ ग्रहण नहीं करते। ये पर का घात करने वाले शस्त्र आदि भी छिपाकर नहीं रख सकते। ये तो विरूप हैं। इनमें हमारी स्त्रियाँ भी राग नहीं कर सकतीं। इस प्रकार विश्वास पैदा होता है। मेरा रूप तो प्रेत के समान है। मुझे स्त्रियों को ताकने और उनके मनोहर गीतों को सुनने से क्या प्रयोजन? अथवा इस ग्लानि युक्त शरीर का उनके साथ कैसी रतिक्रीडा? इस प्रकार की भावना शारीरिक सुख में अनादर है अथवा शरीर सुख और विषय सुख में अनादर ऐसा अर्थ भी है।[२०९]

यह अचेलता जिनभगवान का प्रतिरूप है। वीर्याचार का प्रवर्त्तक है। रागादि दोषों को दूर करती है, इत्यादि बहुत से गुण अचेलता में होते हैं।[२१०]

यह अचेललिग जिनदेवों का प्रतिबिम्ब है अर्थात् जिनदेवों ने जो लिंग मुक्ति के लिए ग्रहण किया था, वही लिंग मुक्ति के अभिलाषियों के योग्य है; क्योंकि जिनदेव मुमुक्षु थे, मुक्ति का उपाय जानते थे। जो जिस वस्तु का प्रार्थी होता है और विवेकशील होता है, वह उस वस्तु के जो उपाय नहीं है, उन्हें ग्रहण नहीं करता। इसी तरह मुक्ति का इच्छुक साधु वस्त्र ग्रहण नहीं करता। वस्त्र मुक्ति का उपाय नहीं है। जो अपने को इष्ट वस्तु का उपाय होता है, उसे नियम से ग्रहण करता है। जैसे घट का अर्थी चाक आदि को अवश्य ग्रहण करता है। उसी तरह साधु भी अचेलता को ग्रहण करता है और अचेलता ज्ञान और दर्शन की तरह मुक्ति का उपाय है, यह जिन भगवान के आचरण से सिद्ध है। वीर्यान्तिराय के क्षयोपशम से उत्पन्न हुए सामर्थ्य

रूप परिणाम को वीर्य कहते हैं। उसको न छिपाते हुए रत्नत्रय के पालन करने को वीर्याचार कहते हैं; क्योंकि अचेलता के धारण से वस्त्र त्याग अशक्य है, वह हो जाता है। परिग्रह का त्याग पाँचवाँ व्रत है। शक्ति होते हुए भी यदि परिग्रह का त्याग न करे तो वह पाँचवाँ व्रत नहीं रहता। लाभ में राग होता है, लाभ न होने पर क्रोध आता है। जो प्राप्त होता है, उसमें 'यह मेरा है' यह मोह होता है, अथवा ओढ़ने, पहिनने के वस्त्रों के कोमलता, मजबूती आदि गुणों में राग होता है और कठोर स्पर्शन आदि में द्वेष होता है। वस्त्र त्याग देने पर ये रागादि दोष नहीं होते। इस प्रकार अचेलतामें महाफलदायक महान् गुण होते हैं। माँगना, दीनता आदि से रक्षा होती है और संक्लेश आदि नहीं होते।[२११]

इस प्रकार दिगम्बर साहित्य में वस्त्र त्याग रूप अचेलक धर्म की बहुत प्रशंसा की गई है। श्वेताम्बर परम्परा में आचेलक्य के विषय में विवाद है; क्योंकि उनके यहाँ साधु वस्त्र धारण करते हैं। आचारांग, सूत्र में कहा है कि भगवान महावीर प्रवजित होने से तेरह माह पश्चात् नग्न हो गए। स्थानांग में महावीर के मुख से कहलाया है— **मए समणाणं अचेलते धम्मे पण्णत्ते;** अर्थात् मैंने श्रमणों के लिए अचेलता धर्म कहा है। दशवैकालिक में भी नग्नता का उल्लेख है। उत्तराध्ययन में नग्नता को छठी परीषह कहा है, किन्तु उत्तरकालीन टीकाकारों ने अचेलता का अर्थ अल्पचेल या अल्पमूल्य चेल आदि किया सम्पूर्ण नग्नता अर्थ नहीं किया। स्थानांग सूत्र में नग्नता के अनेक लाभ बतलाए हैं। यथा—अल्प प्रतिलेखना, लाघव, विश्वासकर रूप, जिनरूपता का पालन आदि। किन्तु टीकाकार ने इसे जिनकल्पियों के साथ जोड़ दिया। वस्त्रधारण के तीन कारण कहे हैं—लज्जा निवारण, कामविकार का आच्छादन और शीत आदि परीषह का निवारण। साधु तीन वस्त्र धारण करता है। बौद्धों में भी तीन चीवर धारण का विधान है—संघाटी, उत्तरासंग और अन्तरावासक। आचारांग के अनुसार ग्रीष्मऋतु में साधु या तो एक वस्त्र रखते हैं या वस्त्र नहीं रखते।[२१२] पद्मनन्दि पञ्चविंशतिका में कहा है—

म्लाने क्षालनतः कुतः कृतजलाद्यारम्भतः संयमो।
नष्टे व्याकुलचित्तताथ महतामप्यन्यतः प्रार्थनम्।
कौपीनेऽपि हृतेपरैश्च झगिति क्रोधः समुत्पद्यते।
तिन्नत्यं शुचिरागहृच्छमवतां वस्त्रां ककुम्मण्डलम्।।१।४१

अर्थात् वस्त्र के मलिन होने पर उसके धोने के लिए पानी आदि का आरम्भ करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में संयम कैसे रह सकता है? वस्त्र के

नष्ट होने पर महान् पुरुषों का भी चित्त व्याकुलित हो जाता है और उन्हें दूसरों से वस्त्र की याचना करनी पड़ती है। दूसरों के द्वारा लँगोटी के भी चुरा लिए जाने पर तत्काल क्रोध उत्पन्न होता है। इसी से संयमी जनों का वस्त्र दिगम्बरत्व है जो नित्य पवित्र है और रागभाव को दूर करता है।

निर्ग्रन्थ– वस्त्रादि परिग्रह से रहित श्रमण को निर्ग्रन्थ कहते हैं।[२१३] अपराजित सूरि ने कहा है कि वस्त्र मात्र के त्याग से अपने को निर्ग्रन्थ मानने का अभिमान करना झूठा है। यदि कोई इतने से ही निर्ग्रन्थ हो तो पशु भी निर्ग्रन्थ कहे जाँयगे। चौदह प्रकार के आभ्यन्तर परिग्रह के त्याग से भावनैर्ग्रन्थ्य होता है। वही मुक्ति का उपाय है। भावनैर्ग्रन्थ्य का उपाय है– दश प्रकार के बाह्य परिग्रह का त्याग। वह मुमुक्षु के लिए उपयोगी है।[२१४]

वसुनन्दी सिद्धान्त चक्रवर्ती के अनुसार ग्रन्थ– संयम के विनाशक द्रव्य, उनसे रहित निर्ग्रन्थ अवस्था होती है।[२१५]

मूलाचार में कहा है कि सावद्य इन्द्रियों के योग से त्रिविध त्रिकरण शुद्ध सर्व वस्तुओं का वे पापभीरु त्याग कर देते हैं।[२१६]

निर्ग्रन्थ शब्द जैनधर्म का बहुत प्रचलित शब्द है। तपागच्छ पट्टावली के अनुसार सुधर्मा स्वामी से आठ आचार्यों तक जैनधर्म निर्ग्रन्थ धर्म के नाम से प्रचलित था।[२१७] अशोक के स्तम्भ लेख में निर्ग्रन्थ का द्योतक निघंट शब्द प्रयुक्त हुआ है।[२१८]

उत्तराध्ययन सूत्र के सोलहवें अध्ययन में कहा गया है कि जो एकान्त शयन और आसन का सेवन करता है, वह निर्ग्रन्थ है। निर्ग्रन्थ स्त्री, पशु और नपुंसक से आकीर्ण शयन और आसन का सेवन नहीं करता।[२१९] ऐसा क्यों? ऐसा पूछने पर आचार्य कहते हैं कि स्त्री, पशु और नपुंसक से आकीर्ण शयन और आसन का सेवन करने वाले ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को ब्रह्मचर्य के विषय में शंका, कांक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न होती है, अथवा उन्माद पैदा होता है अथवा दीर्घकालिक रोग और आतंक होता है, अथवा वह केवली कथित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है, इसलिए जो स्त्री, पशु और नपुंसक से आकीर्ण शयन और आसन का सेवन नहीं करता, वह निर्ग्रन्थ है।[२२०] जो केवल स्त्रियों के बीच में कथा नहीं करता, वह निर्ग्रन्थ है[२२१]। जो स्त्रियों की मनोहर और मनोरम इन्द्रियों को गड़ाकर नहीं देखता, उनके विषय में चिन्तन नहीं करता वह निर्ग्रन्थ है।[२२२] जो गृहवास में की हुई रति और क्रीडा का स्मरण नहीं करता, वह निर्ग्रन्थ है।[२२३] जो प्रणीत आहार नहीं करता,[२२४] मात्रा से अधिक खाता पीता नहीं है, शरीर को नहीं सजाता, जो शब्द रूप, रस,

गन्ध और स्पर्श में आसक्त नहीं होता,[२२५] वह निर्ग्रन्थ है।

सूत्र पाहुड में कहा गया है कि जो मुनि पंच महाव्रत युक्त हो और तीन गुप्ति संयुक्त हो, वह संयत है, संयमवान है और निर्ग्रन्थ मोक्षमार्ग है तथा वह ही प्रकट रूप से वन्दन करने योग्य है।[२२६] निर्ग्रन्थ दीक्षा छहों संहननों में होती है।[२२७] प्रव्रज्या में तिल तुषमात्र का अन्तरंग और बाह्य परिग्रह का संग्रह नहीं होता।[२२८] प्रव्रज्यायुक्त निर्ग्रन्थ उपसर्ग और परिषहों को सहन करते हैं। सदैव निर्जन स्थानपर हैं शिला, काष्ठ अथवा भूमितल पर रहते हैं। वे पशु, महिला, नपंसुक और कुशील का संग नहीं करते हैं, विकथायें नहीं करते हैं, स्वाध्याय और ध्यान में लगे रहते हैं, तप औरव्रत सहित होते हैं, संयम, सम्यक्त्व और मूलगुणों से विशुद्ध होते हैं, प्रव्रज्या के गुणों से शुद्ध होते हैं।[२२९]

आगम में निर्ग्रन्थ शब्द की व्याख्या इस प्रकार है– जो राग–द्वेष रहित होने के कारण अकेला है, बुद्ध है, निरास्रव है, संयत है, समितियों से युक्त है, सुसमाहित है, आत्मवाद को जानने वला है, विद्वान् है, बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार के स्रोत जिसके छिन्न हो गए है, जो पूजा सत्कार और लाभ का अर्थी नहीं है, केवल धर्मार्थी है, धर्मविद है, मोक्षमार्ग की ओर चल पड़ा है, साम्य का आचारण करता है, दान्त है, बन्धनमुक्त होने योग्य है और निर्मम हैं– सह निर्ग्रन्थ कहलाता है–

एत्थवि णिग्गं थे एगे एगविदू बुद्धे सछिन्न सोए सुसंजए सुसमिए सुसमाइए आत प्पवाद पत्ते विऊदु ह्वोवि सयपलिच्छिन्ने णो, पूयसक्कार लाभट्ठी धम्मट्ठी धम्मविऊणि यागपडि विण्णे समियं चरे दंते वोसट्ठकाए निग्गंथेति वच्चे।   सूत्रकृतांग १/१६/६

बौद्ध साहित्य में स्थान स्थान पर भगवान महावीर को निगण्ठनातपुत्त[२३०] (निर्ग्रन्थ ज्ञातृ पुत्र) तथा उनके अनुयायियों को निगण्ठ[२३१] (निर्ग्रन्थ) कहा गया है। इसके अनेक प्रसंग बौद्ध साहित्य में हैं–

"एक बार भन्ते जहाँ निगण्ठ नातपुत्त थे, वहाँ गया, जाकर निगण्ठ नातपुत्त से पूछा[२३२]

अस समय निगंठ नातपुत्त अभी अभी पावा में काल किए थे। उनके काल करने से निगंठों में फूट पड़ गई। वह विवाद में पड़ एक दूसरे को मुख रूपी शक्ति से चीरते हुए विहार कर रहे थे।"[२३३]

"आवुसो ! निगंठ नातपुत्त ने अभी पावा में काल किया है। उनके काल करने से निगंठमंडल, कलह, विवाद करते एक दूसरे को मुख शक्ति से छेदते

विहर रहे हैं— तू इस धर्म को नहीं जानता।"[२३४]

"ये इमे भो गोतम समण ब्राह्मणासंधिनो गणाचरियाज्ञाता यसस्सिनो तित्थकरा साधुसम्मता बहुजनस्स सेय्याचिदं निगंठो नाथपुत्तो[२३५]"

"सच्चिकनिग्गंठपुत्तो। महावनंउपसंकामि"

"निगंठ नाथपुत्त[२३६] वादेन"

मुण्ड : श्रमण के लिए मुण्डित शब्द का भी प्रयोग होता था। भगवती आराधना में कहा है—

इंदियकसायवसिगो मुंडो णग्गो य जो मलिणगत्तो।
सो चित्तकम्म समणोव्व समण रूवो असमणो हु।।१३३०।।

अर्थात् जो मुण्डित, नग्न और मलिन शरीर वाला होकर भी इन्द्रिय और कषाय के वश में होता है। वह चित्र में अंकित श्रमण के समान श्रमण रूपधारी होने पर भी श्रमण नहीं है।

लोच करने के गुणों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि लोच करने से सिर मुण्डा हो जाता है। मुण्डता के होने पर निर्विकारता होती है। उससे विकाररहित क्रियाशील होने से प्रगृहीततर चेष्टा होती है।[२३७] लीला सहित गमन, शृंगार कथा, कटाक्ष द्वारा निरीक्षण ये सब विकार हैं, जो ये सब नहीं करता, वह निर्विकार होता है और जिसकी चेष्टायें विकार रहित होती हैं, वह रत्नत्रय में उद्योग करता है।[२३८] दशवैकालिक में कहा गया है कि जब मनुष्य मुण्ड होकर अनगारवृत्ति को स्वीकार करता है, तब वह उत्कृष्ट संवारात्मक अनुत्तर धर्म का स्पर्श करता है। (४/१८)

आचारचूला मे कहा गया है—जो केशलुञ्चन करता है और जो इन्द्रियों के विषय का अपनयन करता है, उन्हें जीत लेता है, उसे मुण्ड कहा जाता है।[२३९] स्थानांग (१०/६६) में दस प्रकार के मुण्ड बतलाए हैं— १. क्रोध मुण्ड— क्रोध का अपनयन करने वाला, मानमुण्ड— मान का अपनयन करने वाला, माया मुण्ड— माया का अपनयन करने वाला, लोभमुण्ड—लोभ का अपनयन करने वाला, शिर मुण्ड— शिर के केशों का लुंचन करने वाला, श्रोत्रेन्द्रिय मुण्ड— कर्णेन्द्रिय के विकार का अपनयन करने वाला, चक्षुरिन्द्रिय मुण्ड— चक्षु इन्द्रिय के विकार का अपनयन करने वाला, घ्राण इन्द्रिय मुण्ड— घ्राण इन्द्रिय के विकार का अपनयन करने वाला, रसना इन्द्रिय मुण्ड—रसना इन्द्रिय के विकार का अपनयन करने वाला, स्पर्शन इन्द्रिय मुण्ड— स्पर्शन इन्द्रिय के विकार का अपनयन करने वाला।

अ— **मुंडे इन्द्रिय केसावणयणेण मुंडो** (दशवैकालिक अगस्त्यसिंहचूर्णि)

आगम में दस मुण्ड कहे गए है— पाँच इन्द्रिय मुण्डन, वचन मुण्डन और शरीर मुण्डन सहित हस्त, पाद एवं मनो मुण्डन[२४०]।

पाँचो ही इन्द्रियों का मुण्डन करना—खंडन करना अर्थात् विषयों के व्यापार से उन्हें अलग करना ये पाँच इन्द्रिय मुण्डन हैं। अप्रासंगिक प्रलाप रूप वचन का खण्डन करना या रोकना वचन मुण्डन है। हस्त और पाद का अप्रशस्त रूप से संकोचन नहीं करना और न फैलाना ये हस्तमुण्डन और पादमुण्डन हैं तथा मन को अप्रशस्त चिन्तन से रोकना मनो मुण्डन है। ऐसे ही शरीर का मुण्डन है।[२४१]

मनुस्मृति में कहा गया है कि वानप्रस्थी नख, श्मश्रु, केश को मुंडवा कर पात्र, दण्ड, कमण्डलु और रंगे कपड़े पहन किसी को पीड़ा न देता हुआ नियम से विचरण करे।[२४२] ऐसे ही मुण्डकों ने मुण्डकोपनिषद् की रचना की। इनके ऊपर श्रमण संस्कृति का अत्यन्त तीव्र प्रभाव था।[२४३]

बहुश्रुत : समस्त शास्त्र का पारगामी[२४४]। दशवैकालिक की हारिभद्रीय टीका में आगम वृद्ध को बहश्रुत (अ) कहा है।[२४५] जिनदास चूर्णि में आचार्य, उपाध्याय आदि को बहुश्रुत (ब) माना है।[२४६] बहुश्रुत तीन प्रकार के होते हैं— जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट; प्रकल्पाध्ययन[२४७] (निशीथ) का अध्ययन करने वाला जघन्य, चतुर्दशपूर्वों का अध्ययन करने वाला उत्कृष्ट तथा प्रकल्पाध्ययन और चतुर्दशपूर्वों के बीच का अध्ययन करने वाला मध्यम है।

भिक्षु (भिक्खु)[२४८]— भिक्षाशील साधु। मूलाचार के अनगार भावनाधिकार में कहा है कि मुनि बेला, तेला आदि करके परगृह में भिक्षावृत्ति से पारणा करते हैं, संयम के लिए भोजन करते हैं, किन्तु प्रचुर रस के लिए नहीं। मन, वचन, काय से गुणित, कृत, कारित, अनुमोदन रूप नव कोटि से शुद्ध, दशदोष से रहित, चौदह मल दोष से विशुद्ध परगृह में पर के द्वारा दिए गए आहार को पाणिपात्र में गृहण करते हैं। उद्देश, क्रीत, अज्ञात, शकित, अभिघट दोष सहित तथा आगम के विरुद्ध आहार निषिद्ध है। ऐसा आहार मुनि छोड़ देते हैं। दरिद्र, धनी या मध्यम कुलों में गृहपंक्ति, से मौनपूर्वक भ्रमण करते हैं और वे मुनि अज्ञात तथा अनुज्ञात भिक्षा को ग्रहण करते हैं। ठण्डा हो या गरम, सूखा हो या रूखा, चिकनाई सहित हो या रहित— ऐसे स्वादरहित आहार को मुनि ग्रहण करते हैं। मुनि धुरे में औंगन देने मात्र के सदृश प्राणों के धारण हेतु आहार करते हैं। आहार आदि मिल जाने पर सन्तुष्ट नहीं होते और न मिलने पर उन्मनस्क नहीं होते हैं। वे मुनि दुःख और सुख

में आकुलता रहित मध्यस्थ होते हैं। भोजन के लिए किसी की स्तुति नहीं करते हैं और न कुछ भी याचना करते हैं। वे बिना बोले मौनव्रतपूर्वक भिक्षा ग्रहण करते हैं। वे तो हर प्रकार दीनता से कलुषित वचन नहीं बोलना चाहते हैं। आहार के न मिलने पर वापिस आ जाते हैं, किन्तु मौन का भंग नहीं करते हैं। वे भोजन पकाना या पकवाना भी नहीं करते हैं और न कराते हैं। वे पकाने के आरम्भ से निवृत्त हो चुके हैं, भिक्षा मात्र से ही सन्तुष्ट रहते है। अशन अथवा पान, खाद्य या भोज्य, लेह्य या पेय इन पदार्थों का देखकर शोधकर, करपात्र में शुद्ध आहार लेते हैं। जो चलित रस रहित, प्रासुक, प्रशस्त और एषणा समिति से शुद्ध है, उसे आहार के समय पाणिपात्र से लेते है।[२४९]

मूलाचार के पिण्ड शुद्धि अधिकार तथा भगवती आराधना, अनगारधर्मामृत आदि ग्रन्थों में जैन मुनि का आहार कैसा हो, इसका विस्तृत वर्णन है।

सामान्य श्रमण के लिए भिक्षु शब्द का प्रयोग होता था। बौद्ध ग्रन्थों में साधु की भिक्षु संज्ञा प्रमुख थी। पंचास्तिकाय में कहा है जिसे सर्व द्रव्यों के प्रति राग, द्वेष या मोह नहीं है, उस समसुखदुःख भिक्षु को शुभ औरअशुभ कर्म आस्रवित नहीं होते।[२५०]

प्रवचनसार में कहा है यदि निरपेक्ष त्याग न हो तो भिक्षु के भाव की विशुद्धि नहीं होती और जो भाव में अविशुद्ध है, उसके कर्मक्षय कैसे हो सकता है[२५१]। जयसेनाचार्य ने भिक्षु को तपोधन कहा है।[२५२]

सूत्रकृतांग के अनुसार भिक्षु शब्द की व्याख्या इस प्रकार है– जो निरभिमान, विनीत, पाप– मल को धोने वाला, दान्त, बन्धनमुक्त होने योग्य, निर्मम, नाना प्रकार के परीषह और उपसर्गों से अपराजित, अध्यात्मयोगी, विशुद्ध चरित्र सम्पन्न, सावधान, स्थितात्मा, यशस्वी या विवेकशील और पदरत्तभोजी हो, वह भिक्षु कहलाता है।[२५३]

एत्थवि भिक्खू अणुन्नए विणीए नामए दंते दविए वोसट्ठकाए संविधुणीय विरूपरूवे परीसहोवसग्गे अज्झप्पजोग ससुद्धादाणे उवेट्ठिए ठिअप्पा संखाए परदत्तभोई भिक्खु खुत वच्चे। सूत्रकृतांग १।१६।३

भगवती आराधना में कहा है कि विनय से युक्त होकर स्वाध्याय करता हुआ भिक्षु पाँचों इन्द्रियों के विषयों से संवृत और तीन गुप्तियों से गुप्त एकाग्रमन होता है।[२५४] भिक्षु विश्वास पूर्वक अपने दोषों को आचार्य से कहता है।[२५५] उत्तराध्ययन सूत्र के १५ वें एवं दशैवकालिक के दसवें अध्ययन में विस्तृत रूप से भिक्षु के लक्षणों का निरूपण है।

सूत्रकृतांग में भिक्षु के १४ नाम कहे गए हैं– समण, माहण (ब्रह्मचारी

या ब्राह्मण) क्षान्त, दान्त, गुप्त, मुक्त, ऋषि, मुनि, कृती (परमार्थ पण्डित), विद्वान्, भिक्षु, रुक्ष, तीरार्थी और चरण करण पारविदु[अ]।

अ से भिक्खू परिण्णा यकम्मे परिण्णायसंगे, परिण्णवासे उवंसते समिए सहिए सया जए सेव वण्णिज्जे तं जहा समणेति वा माहणेति वा खंतेति वा, दंतेति वा, गुत्तेति वा, मुत्तेति वा, इसीति वा, इसति वा मुणीत्ति वा, कतीति वा विऊति वा, भिक्खूति वा, लूहेति वा, चरणकरण पारविउति बेमि। सूत्रकृतांग २/१/१५

णाणी (ज्ञानी) : समय सार में ज्ञानी की महिमा का खूब वर्णन किया गया है-- जो आत्मा कर्म के परिणाम को तथा नो कर्म के परिणाम को नहीं करता, किन्तु जानता है, वह ज्ञानी है।[२५६]

जो ज्ञानावरणादिक पुद्‌गल द्रव्यों के परिणाम हैं, उन्हें जो आत्मा नहीं करता, परन्तु जानता है, वह ज्ञानी है।[२५७]

क्योंकि चार प्रकार के द्रव्यास्रव ज्ञान दर्शन गुणों के द्वारा समय समय पर अनेक प्रकार का कर्म बाँधते है, इसलिए ज्ञानी तो अबंधक हैं।[२५८] क्योंकि ज्ञानगुण जघन्य ज्ञानगुण के कारण फिर से भी अन्य रूप से परिणमन करता है, इसलिए वह कर्मों का अबन्धक कहा गया है।[२५९]

अनिच्छक को अपरिग्रही कहा है और ज्ञानी धर्म को नहीं चाहता इसलिए वह धर्म का परिग्रही नहीं है, किन्तु ज्ञायक ही है।[२६०] अनिच्छक को अपरिग्रही कहा है और ज्ञानी अधर्म को, पाप को नहीं चाहता इसलिए वह अधर्म का परिग्रही नहीं है, किन्तु ज्ञायक है।[२६१] आनच्छक को अपरिग्रही कहा है और ज्ञानी भोजन को नहीं चाहता, इसलिए वह भोजन का परिग्रही नहीं है।[२६२]

जो यह मानता है कि मैं पर जीवों को मारता हूँ और पर जीव मुझे मारते हैं, वह मूढ़ है, अज्ञानी है और जो इससे विपरीत है वह ज्ञानी है।[२६३] जो जीव यह मानता है कि मैं पर जीवों को जिलाता हूँ और परजीव मुझे जिलाते हैं, वह मूढ़ है, अज्ञानी है और इससे विपरीत ज्ञानी है।[२६४]

जैसे स्फटिक मणि शुद्ध होने से रागादि रूप अपने आप परिणमता नहीं है, अन्य रक्त आदि द्रव्यों से वह रक्त आदि किया जाता है, इसी प्रकार ज्ञानी शुद्ध होने से रागादि रूप अपने आप परिणमता नहीं है, परन्तु अन्य रागादि दोषों से वह रागी आदि किया जाता है।[२६५]

ज्ञानी राग द्वेष मोह को अथवा कषाय भाव को अपने आप अपने में नहीं करता, इसलिए वह उन भावों का कारक नहीं है।[२६६]

अध : कर्म आदि जो यह पुद्‌गल द्रव्य के दोष हैं, उनको ज्ञानी कैसे

करे जो कि सदा परद्रव्य के गुण हैं। इसलिए अधःकर्म और उद्देसिक ऐसा यह पुद्गलमय द्रव्य है, वह मेरा किया कैसे हो, जो कि सदा अचेतन कहा गया है?[२६७]

अज्ञानी प्रकृति के स्वभाव में स्थित रहता हुआ कर्मफल को वेदता है और ज्ञानी तो उदय में आए हुए कर्मफल को जानता है, भोगता नहीं।[२६८] निर्वेद को प्राप्त ज्ञानी मीठे, कड़वे अनेक प्रकार के कर्मफल को जानता है, इसलिए अवेदक है।[२६९]

ज्ञानी जन निश्चय से जानते हैं कि परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है।[२७०] ज्ञानी और मुनि एकार्थक शब्द हैं। श्वेताम्बर परम्परा के जिनदास के अनुसार मुनि चार प्रकार के होते है—नाम मुनि, स्थापना मुनि, द्रव्य मुनि और भाव मुनि। उदाहरण के लिए जो रत्न आदि की परीक्षा कर सकता है वह द्रव्य मुनि है। भाव मुनि वह है जो संसार के स्वभाव—असली स्वरूप को जानता हो। इस दृष्टि से सम्यग्दृष्टि साधु और श्रावक दोनों भाव मुनि होते है।[२७१]

असंयमजुगुप्सक[२७२]— प्राणि, संयम और इन्द्रिय संयम में लगे हुए श्रमण[२७३]।

यथाजातरूपधर[२७४]— जन्म समय के रूप जैसा रूप वाला साधु।

व्यवहार से नग्नत्व, निश्चय से स्वात्म रूप यथाजात रूप होता है। इस प्रकार के रूपधारी निर्ग्रन्थ होते हैं।[२७५] ये क्रोध, मान, माया और आसक्ति से रहित होते हैं।[२७६] नाग्न्यगुप्ति को धारण करते हैं। (नाग्न्य गुप्तिं गताः— मूलाचार ७८३ आचार वृत्ति)

धीर[२७७]— धैर्य से युक्त श्रमण।

वैराग्यपरायण— वैराग्य युक्त। मूलाचार में कहा है कि वर्षों की गणना मत करो। बहुत से वैराग्यपरायण धीर श्रमण तीन रात्रि मात्र में ही सिद्ध हो गए हैं।[२७८]

सर्वारम्भनिवृत्त— असि, मषि, कृषि वाणिज्यादि समस्त आरम्भों से निवृत्त श्रमण।[२७९]

सर्वग्रन्थ मुक्त— मिथ्यात्व, वेद, कषाय, हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा इन चौदह आभ्यन्तर परिग्रहों से मुक्त।[२८०] मुनि निष्परिग्रही क्यों है? अथवा यथाजात क्यों हैं? इसके विषय में कहा गया है कि वे शरीर से निर्मम हुए मुनि आवासरहित हैं। जहाँ पर सूर्य अस्त हुआ, वहीं ठहर जाते हैं, किसी से प्रतिबद्ध नहीं हैं। वे बिजली के समान दिखते और चले जाते हैं।[२८१]

योगी : नियमसार में कहा है कि जिन कथित परमसूत्र में प्रतिक्रमणादिक की स्पष्ट परीक्षा करके मौनव्रत सहित योगी को निजकार्य नित्य साधना चाहिए।[२८२]

मूलाचार में कहा है कि पश्चिम, उत्तर, पूर्व और दक्षिण दिशाओं की वायु से सुमेरू पर्वत चलायमान नहीं होता है, इसी प्रकार अचालित योगी सतत ही ध्यान किया करते हैं।[२८३]

चारित्र पाहुड में दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनों को परम श्रद्धा से जानने की प्रेरणा दी गई है; क्योंकि इसे जानकर योगी थोड़े ही काल में निर्वाण को प्राप्त करते हैं।[२८४] मोक्षपाहुड में कहा गया है कि योगी सम्यग्ज्ञान को जानकर पुण्य तथा पाप दोनों का परिहार करता है, वह चारित्र है, जो निर्विकल्प हैं।[२८५] मन, वचन, काय से वर्षा, शीत, उष्ण तीन कालयोगों को धारण कर माया, मिथ्या और निदान इन तीन शल्यों से रहित होकर दर्शन, ज्ञान, चारित्र से मण्डित होकर राग–द्वेष से रहित योगी परमात्मा का ध्यान करता है।[२८६] जब तक मनुष्य इन्द्रियों के विषयों में प्रवर्तता है, तब तक आत्मा को नहीं जानता है, इसलिए योगी विषयों से विरक्त चित्त हुआ आत्मा को जानता है।[२८७]

गणी : जो निन्दा, प्रशंसादि में समुचित होने के कारण निश्चय, व्यवहार रूप पञ्चाचार के आचरण में प्रवीण[२८८] होने के कारण अथवा आचरण करने में और आचरण कराने में आने वाली समस्त विरति की प्रवृत्ति के समान आत्मरूप– ऐसे श्रामण्यपने के कारण जो श्रमण हैं[२८९] गुणाढ्य हैं, कुल रूप तथा वय से विशिष्ट हैं और निजपरमात्मतत्त्व की भावनासहित समचित्त श्रमणों[२९०] को जो अति इष्ट[२९१] हैं वे गणी होते हैं। आचार्य अमृतचन्द्र ने इन्हें शुद्धात्मतत्त्व के उपलब्धि के साधक आचार्य[२९२] तथा जयसेनाचार्य ने परामात्म भावना के साधक दीक्षा दायक आचार्य कहा है[२९३]।

भगवती आराधना में कहा है कि गुणों से हीन क्षुद्र मुनि आदि गण में कलह परिताप आदि दोष करें तो उसे देखकर ममत्व भाव से गणी की असमाधि हो सकती है।[२९४] क्षुल्लक, क्षुल्लिकायें और आर्यिका भी गुरु का वियोग होते देख रो पड़ते हैं तो गणधर (आचार्य) के ध्यान में विघ्न और असमाधि होती है।[२९५] खान पान और सेवा टहल में शिष्यवर्ग के प्रमाद करने पर गणपति[२९६] (आचार्य) की असमाधि हो सकती हैं, इत्यादि दोष अपने गण में समाधि करने वाले गणी के होते है।[२९७] दूसरे गण में निवास करने वाले गणी के नहीं होते हैं।[२९८]

तपोधन :– आचार्य जयसेन ने श्रमणस्तपोधनः[२९९] कहकर श्रमण और तपोधन में ऐक्य स्थापित किया है।

समित :– जो शुद्धात्मस्वरूप में भले प्रकार से परिणत हुआ है अथवा (व्यवहार से) जो ईर्या आदि पाँच समितियों से युक्त है[३००], वह समित है।

तपस्वी :– शिवार्य ने तपस्वी की महिमा के विषय में कहा है कि असंवृत्त अर्थात् अशुभयोग का विरोध न करने वाला यति महान् काल के द्वारा भी जिस कर्म की बाह्य तप के द्वारा निर्जरा नहीं करता, उस कर्म की संवृत् अर्थात् गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा और परिषहजय को करने वला तपस्वी अति स्वल्पकाल में क्षय करता है।[३०१]

आर्याजन के निषेध के सम्बन्ध में कहा है कि वृद्ध तपस्वी, बहुश्रुत और प्रमाणभूत भी साधु आर्याजन के संसर्ग से लोकापवाद का भागी होता है[३०२]।

निःसंग (णिस्संगो) :– अपरिग्रही श्रमण। शिवार्य ने कहा है कि जितने भी परिग्रह (संग) राग द्वेष को उत्पन्न करते हैं, उन परिग्रहों को छोड़ने वाला अपग्रिही साधु राग और द्वेष को निश्चय से जीतता है।[३०३]

क्षपक :– जो अपने अपराध और शरीर को त्यागने के लिए प्रवृत्त हुआ है।[३०४]

क्षपणक :– दिगम्बर आचार्य। योगीन्दुदेव ने यह शब्द दिगम्बर साधु के लिए प्रयुक्त किया है।[३०५]

तरुणउ बूढउ रूपडउ सूरउ पंडिउ दिव्वु।
खवणउ वंदउ सेवडउ मूढ़उ मण्णइ सव्व।।८३।।

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने कोष में नग्न का पर्यायवाची शब्द क्षपणक दिया है।[३०६]

पाणितल भोजी[३०७] **:** हाथपुट में आहार करने वाले।

उग्रतप : उग्रतप, महात्मा, जितेन्द्रिय संयमी, ब्रह्मचारी[३०८], भूतिप्रज्ञ[३०९] (मंगल प्रज्ञा से युक्त) आदि शब्दों का प्रयोग अन्य स्थानों के साथ उत्तराध्ययन सूत्र में हुआ है।

पंचमहाव्रत कलित[३१०] **:** पाँच महाव्रतों से युक्त साधु।

निर्यापक : जो गुणों में प्रवृत्ति करता है और दोषों से दूर रहता है, ऐसा आचारवान् आचार्य निर्यापक होता है।[३११] जो छेदद्वय में उपस्थापक हैं, वे श्रमण निर्यापक है।[३१२] संयम में २८ मूलगुण रूप भेद होते हैं, उसे छेद कहा है और खण्डन अथवा दोष को भी छेद कहा है।

आचार्य जयसेन ने निर्यापक को शिक्षागुरु और श्रुतगुरु कहा है।[३१३]

गुरु : लिंग ग्रहण के समय जो प्रव्रज्यादायक हैं, वे तपस्वियों के गुरु हैं।[३१४]

स्थविर (थेर)[३१५] : बहुत काल से प्रव्रजित।

बहुश्रुत[३१६] : सर्वशास्त्र का पारंगत[३१७] श्रमण।

अमम[३१८] : स्नेह पाश से निकले हुए[३१९]।

निर्मम[३२०] : निर्मोही[३२१]।

ब्राह्मण : (माहण) पद्मचरित में कहा गया है कि ब्राह्मण वे हैं, जो अहिंसा व्रत धारण करते हैं[३२२], महाव्रत रूपी लम्बी चोटी धारण करते हैं, ध्यान रूपी अग्नि में होम करते हैं तथा शान्त हैं और मुक्ति के सिद्ध करने में तत्पर रहते हैं।[३२३] इसके विपरीत जो सब प्रकार के आरम्भ में प्रवृत्त हैं, निरन्त कुशील में लीन रहते हैं तथा क्रिया हीन हैं[३२४] वे केवल ब्राह्मण नामधारी ही हैं, वास्तविक ब्राह्मणत्व उनमें कुछ नहीं है[३२५]। ऋषि, संयत,धीर, क्षान्त, दान्त और जितेन्द्रिय मुनि ही वास्तविक ब्राह्मण है[३२६]।

ब्रह्मचर्य धारण करने वाला ब्राह्मण कहलाता है।[३२७]

उत्तराध्ययन के २५ वें अध्ययन में ब्राह्मण के लक्षणों का निरूपण है, तदनुसार जो आने पर आसक्त नहीं होता, जाने के समय शोक नहीं करता, जो आर्य वचन में रमण करता है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।[३२८] अग्नि में तपा कर शुद्ध किए हुए और घिसे हुऐ सोने की तरह जो विशुद्ध है तथा राग, द्वेष और भय से रहित है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।[२६६] जो त्रस और स्थावर जीवों को भलीभाँति जानकर मन, वाणी और शरीर से उनकी हिंसा नहीं करता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।[३३०] जो क्रोध हास्य लोभ या भय के कारण असत्य नहीं बोलता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।[३३१] जो सचित्त या अचित्त कोई भी पदार्थ, थोड़ा या अधिक कितना ही क्यों न हो, उसके अधिकारी के दिए बिना नहीं लेता, उसे हम ब्राह्मण कहते है।[३३२] जो देव, मनुष्य और तिर्यञ्च सम्बन्धी मैथुन का मन, वचन और काय से सेवन नही करता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।[३३३] जिस प्रकार जल में उत्पन्न हुआ कमल जल से लिप्त नहीं होता, इसी प्रकार कामभोग के वातावरण में उत्पन्न हुआ जो मनुष्य उससे लिप्त नहीं होता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं[३३४]। जो लोलुप नहीं है, जो निर्दोष भिक्षा से जीवन का निर्वाह करता है, जो गृह त्यागी है, जो अकिंचन हैं, जो गृहस्थों में अनासक्त है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं[३३५]। इन तत्त्वों को अर्हत ने प्रकट किया है। इनके द्वारा जो मनुष्य स्नातक होता है, जो सब कर्मों से मुक्त होता है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं[३३६]। जिनमें

क्रोध, मान, हिंसा, झूठ, चोरी और परिग्रह है, वे ब्राह्मण जाति विहीन, विद्याविहीन और पापक्षेत्र हैं।[३३७]

वातवसन : वायु रूपी वस्त्रधारी। श्रमणाः दिगम्बराः श्रमणा वातवसना" इति निघण्टुः।।

विवसन : वस्त्र रहित मुनि। वेदान्त सूत्र की टीका में दिगम्बर जैन मुनि 'विवसन' और 'विसिच्' कहे गए हैं।[३३८]

वातरशना : आचार्य जिनसेन ने जिनसहस्रनाम में 'दिग्वासा वातरशनो निर्ग्रन्थेशो निरम्बरः' कहकर तीर्थंकर ऋषभदेव को, वातरशना बतलाया है। वातरशना का अर्थ है—'वायु जिसकी मेखला है।' तैत्तिरीय आरण्यक के अनुसार, वातरशना शब्द का अर्थ नग्न होता है। ऋग्वेद में कहा गया है—

मुनयो वातरशना पिशंगा वसते मलाः। ऋग्वेद १०/१३५/२

ऋग्वेद के दशम मण्डल के १३५ वें सूक्त के कर्ता सात वातरशना मुनि थे। यथा— १. जूति, २. वातजूति, ३. विप्रजूति, ४. वृषाणक, ५. करिक्रत, ६. एतशः, ७. ऋष्यश्रृंग, एते वातरशना मुनयः।[३३९]

नग्न (णग्गो) : भावपाहुड में कहा है कि जिन भावना से रहित नग्न चिरकाल तक दुःख पाता है, संसार सागर में भ्रमण करता है तथा बोधि को प्राप्त नहीं करता है।[३४०]

द्रव्य श्रमण और भाव श्रमण : भाव पाहुड में कहा है कि भावरहित पढ़ने सुनने से क्या होता है, अर्थात् कुछ नहीं होता है। इसलिए सागार और अनगार का कारणभूत भाव ही है।[३४१] द्रव्य से तो सब प्राणी नग्न होते हैं। नारकी और तिर्यंच तो निरन्तर नग्न रहते हैं। मनुष्य आदि भी कारण पाकर नग्न होते हैं तो भी परिणामों से अशुद्ध हैं, इसलिए भाव श्रमणपने को प्राप्त नहीं हुए।[३४२] लिंगी भाव लिंग से ही होता है, द्रव्य लिंग से लिंगी नहीं होता है, इसलिए भाव लिंग ही धारण करना द्रव्य लिंग से क्या सिद्ध होता है?[३४३] भाव लिंगी देहादि के परिग्रह तथा मान कषाय से रहित होता है और आत्मा में लीन होता है।[३४४] वह विचार करता है कि ज्ञान, दर्शन लक्षण रूप और शाश्वत अर्थात् नित्य आत्मा मेरा है, शेष भाव मुझसे बाह्य हैं, वे सब ही संयोग स्वरूप हैं, परद्रव्य हैं।[३४५]

सिद्धायतन : जिस मुनि के समीचीन अर्थ (आत्मा) सिद्ध हो गया है, जो विशुद्ध ध्यान और ज्ञान से युक्त है, मुनियों में प्रधान तथा समस्त पदार्थों को जानता है, वह सिद्धायतन है।[३४६]

चैत्यगृह :— जो मुनि बुद्ध (ज्ञानमयी आत्मा) को जानता हो, आप ज्ञानमयी

हो और पाँच महाव्रतों से शुद्ध हो, वह चैत्यगृह है।[३४७]

अर्हन्मुद्रा :– जो तप, व्रत और गुणों से शुद्ध हों, शुद्ध सम्यक्त्व को जानते हों, इस प्रकार दीक्षा और शिक्षा को देने वाले आचार्य अर्हन्मुद्रा हैं।[३४८]

जिनमुद्रा :– जो संयमसहित हो, जिसके इन्द्रियाँ वश में हों, कषायों की प्रवृत्ति न होती हो और ज्ञान को स्वरूप में लगाता हो, ऐसा मुनि ही जिनमुद्रा है।[३४९]

श्रमण धर्म के भेद :– क्षमा, मार्दव, आर्जव, लाघव, तप, संयम, आकिञ्चन्य, ब्रह्मचर्य, सत्य और त्याग ये दश धर्म है।[३५०] यहाँ लाघव से तात्पर्य लघु का भाव अर्थात् व्रतों में अतिचार नहीं लगाना है। इसी का नाम शौच है।[३५१]

गण और गच्छ :– तीन पुरुषों के समुदाय को गण और सात पुरुषों के समूह को गच्छ कहते हैं।[३५२]

श्रमणों के आचार्यादि दस भेद :– अनगार धर्मामृत में आचार्यादिदशकस्य कहकर श्रमणों के दस भेदों का निर्देश किया गया है।[३५३] ये दश भेद हैं–

आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञ।

आचार्य : सदा आचार वेत्ता हैं, सदा आचार का आचरण करते हैं और आचारों का आचरण कराते हैं, इसलिए आचार्य कहलाते है।[३५४] जिस कारण वे पाँच प्रकार के आचारों का आचरण करते हुए शोभित होते हैं, आचरित आचारों को दिखलाते हैं, इसी कारण वे आचार्य कहलाते है।[३५५]

उपाध्याय : जिनेन्द्र देव द्वारा व्याख्यात द्वादशांग को विद्वानों ने स्वाध्याय कहा है, जो उस स्वाध्याय का उपदेश देते हैं, वे इसी कारण उपाध्याय कहलाते है।[३५६] अनगार धर्मामृत की ज्ञानदीपिका पंजिका में कहा है– **मोक्षार्थं शास्त्रमुपेत्य यस्मादधीयत इति उपाध्यायः'** अर्थात् जिन मुनियों के पास जाकर साधु आत्मकल्याण के लिए अध्ययन करते हैं, वे उपाध्याय कहलाते हैं।[३५७]

तपस्वी : महोपवास आदि करने वाले तपस्वी कहलाते हैं।[३५८] आचार्य समन्तभद्र ने कहा है–

विषयाशावशातीतो निरारम्भः परिग्रहः।
ज्ञानध्यान तपोरक्तः तपस्वी स प्रशस्यते।। रत्नकरण्ड श्रावकाचार।।

विषयों की आशा से रहित, निरारम्भ, निष्परिग्रही और ज्ञान, ध्यान तथा तप में अनुरक्त को तपस्वी कहा जाता है, वही प्रशंसा के योग्य है।

शैक्ष :— शिक्षा शील।[359]

ग्लान :— जिनके शरीर में रोग है।

गण :— स्थविर साधुओं की परम्परा।

कुल :— दीक्षा देने वाले आचार्य की कुल परम्परा।

संघ :— ऋषि, यति, मुनि और अनगार रूप चार प्रकार के मुनियों का समूह।

साधु :— जिसे दीक्षा लिए बहुत समय हो गया है।[360] मूलाचार में कहा है—

णिव्वाण साधए जोए सदा जुंजंति साधवो।
सम्मासव्वेसु भूदेसु तहना ते सव्वसाधवो।।५१२

अर्थात् जो निर्वाण के साधक योग में सदा अपने को लगाते हैं, सभी जीवों के प्रति समताभावी हैं, इसलिए वे साधु कहलाते हैं।

मनोज्ञ : लोकमान्य साधु।[361]

आचार्य के गुण : आचार्य संग्रह और अनुग्रह करने में कुशल, सूत्र के अर्थ में विशारद, कीर्ति से प्रसिद्धि को प्राप्त, चरित्र में तत्पर, ग्राह्य तथा उपादेय वचन बोलने वाला होता है।[362] वह गम्भीर, दुर्धर्ष, शूर, धर्म प्रभावनाशील, भूमि, चन्द्र और समुद्र के गुणों के सदृश होता है।[363]

श्रमण निवास के अयोग्य स्थान : जहाँ आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्त्तक, स्थविर और गणधर ये पाँच आधार नहीं हैं, वहाँ नहीं रहना चाहिए।[364] शिष्यों पर अनुग्रह करने में कुशल को आचार्य, धर्म के उपदेशक को उपाध्याय, संघ की प्रवृत्ति करने वाले को प्रवर्त्तक, मर्यादा के उपदेशक को स्थविर और गण के रक्षक को गणधर कहते हैं।[365]

लौकिक श्रमण : जो जीव निर्ग्रन्थ रूप से दीक्षित होने के कारण संयम और तप संयुक्त हो तो भी यदि वह ऐहिक कार्यों सहित वर्तता हो तो लौकिक है।[366]

श्रमणाभास : संयम, तप और सूत्र से युक्त होने पर भी यदि (जीव) आत्म प्रधान जिनोक्त पदार्थों का श्रद्धान नहीं करता है, तो वह श्रमण नहीं है।[367]

आगमहीन श्रमण : आगमहीन श्रमण आत्मा को और परको नहीं जानता है। पदार्थों को नहीं जानता हुआ भिक्षु कर्मों का क्षय कैसे कर सकता है।[368]

अल्पलेपी श्रमण : यदि श्रमण आहार अथवा विहार में देश, काल, श्रम, क्षमता तथा उपधि को जानकर प्रवृत्ति करता है तो अल्पलेपी होता है।[369]

अनाहारी श्रमण : जिसका आत्मा एषणा रहित है, उसे वह भी तप है,

उसे प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करने वाले श्रमणों के अन्य भिक्षा एषणा रहित होती है, इसलिए वे श्रमण अनाहारी हैं।[३७०]

युक्ताहार विहारी श्रमण : श्रमण कषायरहित वर्तता हुआ इस लोक में निरपेक्ष और परलोक में अप्रतिबद्ध होने से युक्ताहार विहारी होता है।[३७१]

एकाग्रगत श्रमण : श्रमण एकाग्रता को प्राप्त होता है। एकाग्रता पदार्थों के निश्चयवान के होती है। पदार्थों का निश्चय आगम द्वारा होता है। अतः आगम चेष्टा मुख्य है।[३७२] दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनों में जो एक साथ आरूढ़ है, वह एकाग्रता को प्राप्त है, इसके श्रामण्य परिपूर्ण है।[३७३]

शुभोपयोगी और शुद्धोपयोगी श्रमण : समस्त पर द्रव्यों से निवृत्ति रूप से प्रवर्तमान सुविशुद्ध दर्शन ज्ञान स्वभाव आत्मतत्त्व में परिणति रूप शुद्धोपयोगी श्रमण होता है। इस भूमिका में आरोहण करने में असमर्थ शुभोपयोगी होता है।[३७४] शुभोपयोग के अन्तर्गत अर्हन्तादि के प्रति भक्ति, प्रवचनरत जीवों के प्रति वात्सल्य, श्रमणों के प्रति वन्दन, नमस्कार सहित अभ्युत्थान और अनुगमन रूप विनीत प्रवृत्ति[३७६], सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का उपदेश, शिष्यों का ग्रहण तथा पोषण, जिनेन्द्र पूजा का उपदेश[३७७], काय की विराधना से रहित चार प्रकार के श्रमण संघ का उपकार[३७८], रोग क्षुधा, तृषा अथवा श्रम से आक्रान्त श्रमण को देखकर उनकी वैयावृत्ति करना[३७९] आदि शुभोपयागी की क्रियायें है। इनको करने वाला शुभोपयोगी है।

श्रामण्यार्थी की प्रारम्भिक क्रिया : प्रवचनसार में श्रामण्यार्थी क्या करता है, उसकी क्या भावना होती है, इसका विस्तृत वर्णन है। श्रामण्यार्थी से कहा गया है कि यदि दुःखों से छुटकारा चाहते हो तो बारम्बार सिद्धों को जिनवर वृषभों (अरिहन्तों) तथा श्रमणों को प्रणाम कर श्रामण्य अंगीकार करो।[३८०]

श्रामण्यार्थी बन्धुवर्ग से पूछकर बड़ों, स्त्री और पुत्र से मुक्त हुआ ज्ञानाधार, दर्शनाचार, वीर्याचार और तपाचार को अंगीकार करके जो श्रमण हैं गुणाढ्य हैं, कुल, रूप तथा वय से विशिष्ट हैं, श्रमणों को अति इष्ट हैं, ऐसे गणी को मुझे स्वीकार करो, ऐसा कहकर प्रणत होता है और अनुगृहीत होता है; मैं दूसरों का नहीं हूँ, दूसरे मेरे नहीं हैं, इस लोक में मेरा कुछ नहीं है, ऐसा निश्चयवान् और जितेन्द्रिय होता हुआ यथाजात रूपधर होता है; जन्म के समय जैसा रूप वाला, सिर और दाढ़ी मूछ के बालों का लोंच किया हुआ शुद्ध, हिंसादि, से रहित और शारीरिक श्रृंगार से रहित, ऐसा श्रामण्य का लिंग है।

मूर्च्छा और आरम्भ रहित उपयोग और योग की शुद्धि से युक्त तथा पर की अपेक्षा से रहित ऐसा जिनेन्द्र देव द्वारा कथित लिंग है, जो कि मोक्ष का कारण है। उन दोनों लिंगों को ग्रहण करके परमगुरू को नमस्कार कर व्रत सहित क्रिया को सुनकर उपस्थित आत्मा के समीप स्थित होता हुआ वह श्रमण होता है।[३८१]

श्रमणों के मूलगुण : व्रत, समिति, इन्द्रियरोध, लोच, आवश्यक, अचेलपना, अस्नान, भूमिशयन, अदन्त धावन, खड़े खड़े भोजन और एक बार आहार ये श्रमणों के मूल गुण है।[३८२] जैन ग्रन्थों में इन मूल गुणों के विषय में अनेक स्थानों पर विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है।

चारित्र की अपेक्षा निर्ग्रन्थ श्रमणों के भेद : तत्त्वार्थ सूत्र में निर्ग्रन्थों के पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक ये पाँच भेद किए गए है।[३८३] इनमें चारित्र रूप परिणामों की अपेक्षा भेद होने पर भी नैगम और संग्रह आदि नयों की अपेक्षा सब निर्ग्रन्थ हैं।

पुलाक : जिनका मन उत्तरगुणों की भावनाओं से रहित है, जो कहीं पर और कदाचित् व्रतों में भी परि पूर्णता को नहीं प्राप्त होते हैं, वे अविशुद्ध पुलाक (तुच्छ धान्य) के समान होने से पुलाक कहे जाते हैं।

बकुश : जो निर्ग्रन्थ होते हैं, व्रतों का अखण्ड रूप से पालन करते हैं। शरीर और उपकरणों की शोभा बढ़ाने में लगे रहते हैं, परिवार से घिरे रहते हैं और विविध प्रकार के मोह से युक्त होते हैं, वे बकुश कहलाते हैं। यहाँ पर बकुश शब्द शवल (चित्र विचित्र) का पर्यायवाची है।

कुशील : कुशील दो प्रकार के होते हैं— प्रतिसेवना कुशील और कषाय कुशील। जो परिग्रह से घिरे रहते हैं, जो मूल और उत्तरगुणों से परिपूर्ण हैं, लेकिन कभी–कभी उत्तरगुणों की विराधना करते हैं, वे प्रतिसेवना कुशील कहलाते हैं। जिन्होंने अन्य कषायों के उदय को जीत लिया है और केवल संज्वलन कषाय के अधीन हैं, वे कषाय कुशील कहलाते हैं।

निर्ग्रन्थ : जिस प्रकार जल में लकड़ी से की गई रेखा अप्रकट रहती है, उसी प्रकार जिसके कर्मों का उदय अप्रकट हो और जो अन्तर्मुहूर्त बाद प्रकट होने वाले केवल ज्ञान और केवल दर्शन को प्राप्त करते हैं, वे निर्ग्रन्थ कहलाते है।

स्नातक : जिन्होंने चार घातिया कर्मों का नाश कर दिया है, ऐसे दोनों प्रकार के केवली स्नातक कहलाते हैं।[३८४]

इस प्रकार उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि श्रमण शब्द एक प्रतीक है,

जिसके अन्तर्गत मानव जाति के महानतम गुणों का समावेश होता है। श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र के समस्त गुणों को अपने में समस्त किए हुए यह शब्द और इसकी सार्थकता युगों युगों तक जीवों को आलोकित करती रहेगी।

---

१. पद्मचरित ४/६१.१२२, २. पद्मचरित ११/१६६–२०१, ३. पद्मचरित १०६/८०–८३, ४. वही १०६/८४, ५. ब्राह्मणो ब्रह्मचर्यतः ।। वही ६/२०६

६. येषां च विरोधः शाश्वतिकः (अष्टाध्यायी २/४/६) पर महाभाष्य येषां च इत्यस्यावकाशः मार्जारमूषणं श्रमण ब्राह्मणमित्यादौ ज्ञेयः।

७. सूत्रकृतांग १/१६/१ आ. शीलांककृत टीकापत्र २६३, ८. रागकोपानुपप्लुतचित्तः समण इत्युच्यते: भगवती आराधना विजयेदया टीका– १३४, ९. नैरुक्तका वदन्ति सममणो समणो इति। समणस्स भावो सामण्णं तच्च किं? समानता चारित्रं।

१०. नियमसार– १५२, ११. वही– १५२ तात्पर्यवृत्ति टीका। १२. दशवैकालिक–निर्युक्ति, गाथा १५४, १३. वही गाथा– १५५, १४. वही गाथा– १५६

१५. प्रवचन सार– १६०, १६.जो णिहदमोहगंठी रागपदोसे खवीय सामण्णे। होज्जं समसुहदुक्खो सो सोक्खयं अक्खयं लहदि।। प्रवचनसार– १९५

१७. प्रवचन सार ९२, १८. वही तत्त्वप्रदीपिका टीका,

१९. सत्तासंबद्धेदे सविसेसे जो हि णेव सामण्णे।
सद्दहदिण सो समणो तत्तो धम्मोण संभवदि।। प्रवचन सार– ९१

२०. किं काहदि वणवासो कायकिलेसो विचित्त उववासो।
अज्झयण मोणपहुदी समदारहिदस्स समणस्स।। नियमसार– १५०

२१. निर्युक्ति गाथा (दशवैकालिक) १५४
जह मम न पियं दुक्खं जाणिय एमेव सव्वजीवाणं।
नहणइ न हणावेइ य सममणई तेण सो समणो।।

२२. नत्थि य सि कोइ वेसो पिओ व सव्वेसु चेव जीवेसु
एएण होई समणो एसो अन्नो वि पज्जाओ।।
तो समणो जइ सुमणो भावेण य जइ न होइ पावमणो।
सयणे य जणे य समो समो य माणावमाणेसु।।

२३. सह मनसा शोभनेन निदानपरिणाम–पापरहितेन चचेतसा वर्त्तत इति समनसः। स्थानांग टीका पृ. २६८

२४. श्राम्यन्तीति श्रमणाः, तपस्यन्तीत्यर्थः। हारिभद्रीय टीका (दशवैकालिक) पृ. ६८

२५. एत्थवि समणे अणिस्सिए अणियाणे आदाण च, अतिवायं च,
मुसावयं च, बहिद्धं च, कोहंच, माणं च, मायं च, लोहं च, पिज्जं च,
दोसं च, इच्चेव जओ जओ आदाणं अप्पणो पद्दोस हेऊ तओ
तओ आदाणातो पुव्वं पडिविरते पाणाइवाया सियादंते दविए वोसट्ठ काए
समणेत्तिवच्चे।। सू. १/१६/२

२६. वताणं वंमव्वतपहाणाण पीला किंचिदेव विराहणमुच्छेदो वा समणभावे वा संदेहो अप्पणो परस्स वा। अप्पणो विसयविचालित चितो समणभावं छड्डेमिमा वा? इति संदेहो

परस्स एवं विहत्थाणविचारी किं पव्वतितो विडो वेसच्छण्णो? ति संसयो। सति संदेहे चागविचित्तीकितस्स सव्वमहव्वतपीला, अह उप्पव्व तति ततो बर्याच्छरी, मुसावातो अदत्तादाणमणणुण्णातो तित्थकरेहि मेहुणे विगयमावो मुच्छाए परिग्गहो वि। अगस्त्य सिंह चूर्णि (दशवैकालिक) पृ. १०२

(ख) जइ उण्णिक्खमइ तो सव्वया पीडिया भवंति, अहवि णउण्णिक्खमइ तोवि तग्गय माणसस्स भावाओ मेहुणं पीडियं भवइ, तग्गयमाणसो य एसणं न रक्खइ, तत्थ पाणाइवाय पीडा भवति, जोए माणे पुच्छिज्जइ— किं जोएसि? ताहे अवलवइ। ताहे मुसावाय पीड़ा भवति। ताओ य तित्थगरेहिं ठाणुण्णायात्ति काउं अदिण्णादाण पीडा भवइ। तासु या ममत्तं करेंतस्स परिग्गहपीड़ा भवति।

दशवैकालिक (जिनदासचूर्णि) पृ. १७१

२७. समणभावे वा संदेहो अप्पणो परस्स वा। अप्पणो विसयविचालितचित्तो समणभावं हड्डेमि मावा? इति संदेहो, परस्स एवं विहत्थाण विचारी कि पव्वइतो विडो वेसच्छण्णो? ति संसयो। दशवैकालिक— अगस्त्य सिंह चूर्णि पृ. १०२ सामण्णं नाम समणभावो। तंमि समणभावे संसयो भवइ। किं ताव सामण्णं धरेमि? उदाहु उप्पव्वयामित्ति? एवं संसयो भवइ।

२८. बंभचेरे संका वा कंखा वा विइगिच्छा वा समुपज्जिज्जा भेदंवा लभेज्जा उम्मायं वा पाउणिज्जा दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भसेज्जा। उत्तराध्ययन १६/१

२९. दव्व खेत्त कालं भावं य पडुच्च सद
जत्थ हि जददे समणो तत्थ हि सिद्धि लहु लहइ।। मूलाचार— १२२

३०. मूलाचार—टीका—८९५

३१. मूलाचार ९२७, ३२. वही— ९२८

३३. आर्यारयकुलं मुच्चाविहरदि समणोयजो दु एगागी।
ण य गेण्हदि उवदेसं पावस्समणोत्ति वुच्चदि दु।। वहीं ९६१

३४. वही ९६२, ३५. उत्तराध्ययन सूत्र १७/३

३६. अद्धाण परिस्संतो, गिलाण वुड्ढो अणुन्नवेत्ताणं।
संथारुत्तरपट्टो अत्थरण निवज्जणा लोगं।। ओघनिर्युक्ति गाथा ४१९

३७. मूलाचार— ९६३, ३८. वही— ९६४, ३९. वही— ९६५, ४०. वही— ९६६ (आचार वृत्ति)

४१. वही— ९५७—९५८, ४२. अष्ट पाहुड पृ. ७१, ४३. भगवती आराधना— १७२

४४. भगवती आराधना—विजयोदया टीका—१७२

४५. समणे य णाणदंसणचरित्ततववीरियायारे।।२।।

४६. प्रवचन सार २— जयसेनाचार्यकृत टीका।, ४७.वही— २१४,

४८. वही—२४२

४९. वही— २७२

५०. ण वसो अवसोअवसस्स कम्मवावस्सयं ति बोद्धव्वा।
जुत्ति त्ति उवाअं ति य णिरवयवो होदि णिज्जुत्ती।। नियमसार १४२

५१. वहीं १४६, ५२. वही १४८, ५३. वहीं १४९,

५४. बहिरात्मानयोर्देहकरणाद्युदितात्मधी:।। (मार्गप्रकाशि का नियमसार टीका गाथा—१४९)

५५. जघन्यमध्यमोत्कृष्ट भेदादविरतः सुद्रक् में उद्धरण।
प्रथमः क्षीण मोहोन्त्यो मध्यमो मध्यमस्तयो।।
(मार्गप्रकाशिका नियमसार टीका गाथा १४६ में उद्धरण)

५६. नियमसार १५०, ५७. वहीं १५१, ५८. वही तात्पर्यवृत्ति टीका, ५६. नियमसार १३४

६०. वही टीका १४५, ६१. पंचास्तिकाय समय व्याख्या

६२. प्रज्ञाश्रमणेन– वैयावृत्यादिकुशलेन साधुना विनयपरेण सर्वसंघप्रतिपालकेन वैरागयपरेणजितेन्द्रियेण च। अनगारधर्मामृत १६६ ज्ञानदीपिका टीका

६३. मूलाचार ७८२, ६४. वही ७८४, ६५. वही ७८३, ६६. वही ७८५, ६७. वही ६८, वही ७८८, ६६. वही ७६०, ७०. वही ७६६, ७१. वही ७६७, ७२. वही ७६८, ७३. वहीं ७६६ ७४. वहीं ८००, ७५. वहीं ८०१, ७६. वही ८०२, ७७. वहीं ८०४, ७८. वहीं ८०५, ७६. वहीं ८०६, ८०. वहीं ८०७, ८१. वही ८१०, ८२. वही ८११, ८३. वहीं ८१२, ८४. वही ८१३, ८५. वहीं ८१४, ८६. मूलाचार ८१६ ८७. वही ८१७, ८८. वही ८१८, ८६. वही ८१६, ६०. वही ८२१, ६१. वही ८२२ ६२. वही ८२४ ६३. वही ८२६ ६४. वही ८३०, ६५. वही ८३१, ६६. वही ८३३, ६७. वही ८३४, ६८. वही ८३५, ६६. वही ८३६, ८३७, १००. वही ८४२, १०१. वही ८४३, १०२. वही ८५४, १०३. वही ८५०, ८५४, १०४. वही ८५५, १०५. वही ८५६, १०६. वही ८६०, १०७. वही ८६१, १०८. वही ८६४, १०६. वही ८६३, ११०. वही ८६५, १११. वही ८६५, ८६७, ११२. वही ८६८, ११३. वही ८७५, ११४. वही ८७६,८७७, ११५. आदि पुराण १८/१६–६२

११६. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा ३४७, ३५०, ३५६

११७. निग्गंथ सक्क तावस गेरुय, आजीव पंचहा समणा।
तम्मि निग्गंथा ते जे जिण सासणभवा मुणिणो।।
सक्का या सुगयसीसा, जे जडिलाते उ तावसा गीया।
जे धाउ रत्तवत्था तिदंडिणो गेरुया ते उ।
जे गोसाल गमयमणुसरंति भन्नंति ते उ आजीवा।
समणत्तणेणभुवणे पंचवि पत्ता पसिद्धिमिमे।।

११८. पव्वइए अणगारे पासंडे चरग तावसे भिक्खू।
परिवाइए य समणे निग्गंथे संजए मुत्ते।
तिन्नेताई दविए, मुणीय खंते य दन्त विरए य।
लूहे तीरट्ठे ऽ विय हवंति समण स्स नामाइं।।
दशवैकालिक निर्युक्ति १५८.१५६

११६. मुनिनथमलः उत्तराध्ययन : एक समीक्षात्मक अध्ययन।

१२०. होदु सिहंडी व जडी मुंडी वा णग्गओ व चीरधरो।
जदि भणदि अलिय वयण विलंबणा तस्स सा सव्वा।।

१२१. पार्श्वस्थग्रहण चारित्र क्षुद्रोपहलक्षणार्थं (भगवती आराधना–विजयोदया टीका ३५६)

१२२. पार्श्वस्थादिपञ्चकं पार्श्वस्थः, अवसन्नः संसक्तः, कुशीलो, मृगचरित्रः इति।। वही ३४१, १२३. भगवती आराधना ३४१

१२४. डॉ. सागरमल जैन : अर्हत् पार्श्व और उनकी परम्परा पृ. ३७

१२५. केई गहिदा इदियचोरेहिं कसायसावदेहिं वा।
पंथ छंडिय णिज्जति साधुसत्थस्स पासम्मि।। भगं आ. १२६०

१२६. भगवती आराधना १२६१, १२७. वही १२६२, १२८. वहीं १२६२–६३
१२६. भगवती आराधना १६४४, विजयोदया टीका
१३०. पासत्थो य कुसीलो संसत्तोसण्ण मिगचरित्तो य। दसणणाणचरित्ते अणिउत्ता मदसंवेगा।। (मूलाचार ५६५)
१३१. वही आचारवृत्ति ५६५, १३२. अनगार धर्मामृत पृ. ५० पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री लिखित विशेषार्थ १३३. भगवती आराधना १२८६
१३४. भगवती आराधना १६४४ विजयोदया टीका, १३५. मूलाचार तात्पर्यवृत्ति ५६५
१३६. भगवती आराधना १३०८, १३७. वही विजयोदया टीका १६४४.
१३८. सम्यगसंयतगुणेष्वासक्तः संसक्तः ।। मूलाचार ५६५
१३६. भगवती आराधना– विजयोदया टीका–१६४४ १४०. मूलाचार– ५६५ (तात्पर्यवृत्ति)
१४१. मूलाचार ५६५ तात्पर्य वृत्ति, १४२. भगवती आराधना १६४३, १४३. मूलाचार–१६४४,
१४४. अनगार धर्मामृत ७/५५, १४५. भगवती आराधना–१२३६ विजयोदया टीका।
१४६. णामेण जहा समणो ठावणिए तह य दव्व भावेण।
णिक्खेवो वीह तहाचदुव्विहो होइ णायव्वो।। १००३ (मूलाचार)
१४७. मूलाचार १००३ तात्पर्यवृत्ति
१४८. + १४६. मूलाचार–४२६
१५०. संजद जणस्स य जम्हि फासु विहारो य सुलभवुत्तीय ।
तं श्वेत्तं विहरंतो णाहिदि सल्लेहणाजोग्गं।। भगवती आराधना १५४
१५१. असं यमान् हिंसादीन्ज्ञात्वा श्रद्धाय च तेभ्यः उपरतव्यावृत्त सम्यग्यतः संयतः इत्युच्यते तस्य संयतजनस्य। (वही १५४ विजयोदया टीका)
१५२. भगवती आराधना १६६८, १५३. वही १६०६ विजयोदया टीका,
१५४. दुज्जण संसग्गीए संकिज्जदि संजदो विदोसेण।
पाणागारे दुद्धं पियंतओ बंभणो चेव।। भगवती आराधना ३४८
१५५. पंचसमिदो तिगुत्तो पंचेदियसंवुडो जिदकसाओ।
दंसणणाण समण्णो समणो सो संजदो भणिदो।। प्रवचनसार २४०
१५६. प्रवचन सार टीका–२४१
१५७. णिच्छिदसुत्तत्थ पदोमिदकसाओ तवोधिगो चावि।
लोगिगजण संसग्गं ण चयदि जदि संजदो ण हवदि।। प्रवचनसार २६८
१५८. प्रवचनसार– तत्त्वप्रदीपिका टीका–२६८
१५६ मूलाचार–६८४, १६०. वही ६८, १६१. मूलाचार आचारवृत्ति ५६७, १६२. मूलाचार आचारवृत्ति ८८८, १६३. वही १६४. उवकुणदि जो वि णिच्चं चादुव्वण्णस्स समण संघस्स।। प्रवचनसार २४६ १६५. प्रवचनसार २४६ (तात्पर्य वृत्ति) १६६. मनुयः अवधिमनः पर्ययकेवलिनश्च।। प्रवचनसार– तात्पर्यवृत्ति–२४६ १६७. पंचमहव्वयुजत्ता पंचिंदिय संजमा णिरावेक्खा। सज्झयज्झयणजुत्ता मुणिवर वसहा णिउछच्छंति।। अष्टपाहड पृ.१४२
१६८. भगवती आराधना १६६
१६६. उल्लनीणोल्लेणेहिं य अहवा एक्कंतवड्ढमाणेहिं।
सल्लिहइ मुणी देहं आहारविधिं पयणुगिंतो।। वही २४८
१७०. सवुडकम्मासवो भवित्तु मुणी वही १८३६, १७१. मूलाचार आचारवृत्ति ८८८ १७२. मूलाचार ८०३,

१७३. सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि साधयन्तीति साधवः। मूलाचार आचारवृत्ति ८८८
१७४. मूलाचार ६५७, १७५. वही ६५८, १७६. वही १००५, १७७. वही १००६, १७८. वही ६७५,
१७९. नियमसार–तात्पर्यवृत्ति ५७
१८०. नियमसार–तात्पर्यवृत्ति ६३
१८१. झाणणिलीणो साहू परिचागं कुणइ सव्वदोसाणं।
तम्हादु झाणमेव हि सव्वदिचारस्स पडिकमणं।। नियमसार ९३
१८२. वही ७५, १८३. आगमचक्खू साहू।। प्रवचन सार २३४, १८४. साहू निश्चय रत्नत्रयाधारेण निजशुद्धात्मसाधका साधवः।। प्रवचन सार टीका २३४
१८५. प्रव्रजिताः षड्जीवनिकायपरिज्ञानेन कृतकारितादिपरिवर्जनेन च। दशवैकालिक हारिभद्रीय पृ. ६३
१८६. जेण मधुकारसमा नाणपिंडरता य तेण कारणेण। अगस्त्यचूर्णि पृ. ३४
१८७. जेण कारणेण तस थावराण जीवाणं अप्पणो य हियत्थं च भवइ तहा जयंति अतो य ते साहुणो भण्णंति। जिनदासचूर्णि (दशवैकालिक) पृ. ७०
१८८. जाति कोति भणेज्ज तित्थतरिया वि अहिंसादि गुणजुत्ता इति तेसिं पि धम्मो भविस्सति तथ्य समत्थमिदमुत्तरं— ते छक्कायजतन ण जाणंति, ण वा उग्गम उप्पायणा सुद्धं मधुकर वदणुवरोहि भुंजंति, ण वा तिहिं गुत्तीहिं गुत्ता।
१८९. जाह जइ कोई भणेज्जा परिव्वायगरत्त पआदिणो तसथावरभूतहितत्थमप्पहितत्थं च जयंता साहुणो भविस्संति, तं च णेव भवइ, जेण ते सब्भावओ ण जयंति, कहं न जयंति? तत्थ सक्काणं जं उद्दिस्स सत्तोवघातो भवइ ण तत्थ तेसिं कम्मबंधो भवइ, परिव्वायगानाम जइ किर तेसिं सद्दाइणो विसया इंदियगोयरं हव्वमागच्छंति, भणियं तेसिं इदियविसयपत्ताणं अवयोगो कायव्वो, एवंते अण्णाण महासमुद्दमोगाढा पडुप्पण्ण भारिया जीवाताणि आताबणाणि काऊण तमेव परिकिलेसावहं गिहवासं अवलंबयंति। (जिनदास चूर्णि दशवै पृ. १००)
१९०. दशवैकालिक,
१९१. ण तु सक्कादीणिं णियडि दिबहुलाणं, तम्हा जिणवयणरया साहुणो भवंति।
१९१ (अ). वीतो विनष्टोरागो येषां ते वीतरागाः।। मूलाचार–८८८ (आचारवृत्ति)
१९२. न विद्यते ऽ गारादिकं येषां ते ऽ नगारा विमुक्त सर्वसंगाः।
१९३. अनगार धर्मामृत का पं कैलाशचन्द्र शास्त्री लिखित प्रधान सम्पादकीय एवं डॉ. ज्योतिप्रसाद द्वारा लिखित प्रधान सम्पादकीय
१९४. चरित्त पाहुड–२८,
१९५. भदंताः सर्वकल्याणनि प्राप्तवन्त।। मूलाचार ८८८ (आचारवृत्ति)
१९६. दान्ताः पंचेन्द्रियाणां निग्रहपराः।। वही (अचारवृत्ति), १९७. वरं मे अप्पा दंतो संजमेण तवेण य। माह परेहि दम्मंतो बंधणेहि बहेहि य। उत्तराध्ययन सूत्र १/१६, १९८. यतय उपशमक क्षपक श्रेण्यारूढाः।। प्रवचनसार–२५० (तात्पर्यवृत्ति),
१९९. भगवती आराधना १३६२, २००. अनगार धर्मामृत ४/१७० (ज्ञानदीपिका), २०१. वही ४/१७०, २०२. वहीं ४/१७५, २०३. ब्राह्मणाः भुञ्जते नित्यं नाथवन्तश्च भुंजते। तापसा भुंजते नित्यं श्रमणाश्चैव भुञ्जते।। (बाल्मीकि रामायण १४/१२)
२०४. वत्थजिणवक्केण य अहवा पत्ताइणा असंवरणं।
णिब्भूसण णिग्गंथं अच्चेलक्कं जगदि पुज्जं।। मूलाचार ३०

२०५. मूलाचार आचारवृत्ति ३०, २०६. वही २५५, २०७. मूलाचार २५४—२५५, २०८. भगवती आराधना ८३, २०९. वही विजयोदया टीका

२१०. जिणपडिरूवं विरियायारो रागादि दोसपरिहरणं।
इच्चेवमादिबहुगा अच्चेलक्के गुणा होंति।। भगवती आराधना ८४

२११. वही विजयोदया टीका

२१२. धर्मामृत (अनगार) प्रस्तावना पृ. २० (ले. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री)

२१३. वस्त्रादि परिग्रहरहितत्वेन निर्ग्रन्थः।। प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति २६६

२१४. भगवती आराधना विजयोदया टीका ४७९

२१५. ग्रन्थेभ्य संयमविनाशक द्रव्येभ्यो निर्गत निर्ग्रन्थं बाह्याभ्यन्तर परिग्रहाभावः।। मूलाचार ३० (तात्पर्यवृत्ति)२०८ २१६. मूलाचार ८०२,

२१७. तपागच्छ पट्टावलि (पं. कल्याण विजय सम्पादित) भाग—१ पृ० २५३
श्री सुधर्मा स्वामिनो ऽ ष्टौ सूरीन यावत निर्ग्रन्थाः।।

२१८. दिल्ली टोपरा का स्तम्भ लेख. निघंटेसु पि मे कटे (.) इसमें वियापटा होहंति।

२१९. उत्तराध्ययन सूत्र १६/३, २२०. वही १६/३, २२१. वही १६/४, २२२. वही १६/७ २२३. वही ६/८, २२४. वही ६/६, २२५. वही १६/१०, २२६. वही १६/११, २२७. वही १६/१२, २२८. सूत्र पाहुड २०।

२२९. बोधपाहुड ५६—५८, २३०. मज्झिमनिकाय १/६२, २३१. महावग्ग २/१/१, २३२. दिघनिकाय १/२ २३३. दीघनिकाय ३/१०, संगीतपरियायसुत्त पृ. २८२ अनु. राहुल सांकृत्यायन, २३४. वही, २३५. मज्झिमनिकाय चूल सरोपमसुत्र २३६. मज्झिमनिकाय —महासच्चिक सुत्त (३६)

२३७. लोचकदे मुंडत्ते मुंडत्ते होई णिव्वियारत्तं।
तो णिविव्यारकरणो पगहिददरं परक्कमदि।। भगवती आराधना—८९

२३८. वही विजयोदया टीका,

२३९. दशवैकालिक—अगरत्त्यसिंहचूर्णि ५.६५

२४०. पंचवि इंदिय मुंडा वचमुंडा हत्थपायमणमुंडा।
तणुमुंडेण वि सहिया दसमुंडा वण्णिया समए। मूलाचार—१२१

२४१. वही आचारवृत्ति, २४२. ब्राह्मण तथा श्रमण संस्कृति पृ. १२६, २४३. डॉ. जगदीशदत्त दीक्षित : ब्राह्मण तथा श्रमण संस्कृति पृ. १२७, २४४. बहुश्रतं सर्वशास्त्रपारगं।। मूलाचार, २४५ बहुश्रुतम्, आगमवृद्धम दशवै० (हा.टी.पृ. २३५), ७ब. बहुसुयगहणेण आयरिय उवज्झयादीयाणगहणं— जिनदास चूर्णि (दशवै.) पृ. २८७, २४७. निशीथ पीठिका भाष्य (गाथा ४६५)

२४८. भगवती आराधना— ३६८

२४९. मूलाचार ८१२—८२३,

२५०. जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो व सव्वदव्वेसु।
णासवदि सुहं असुहं समसुहदुक्खस्स भिक्खुस्स।। पंचास्तिकाय—१४२

२५१. प्रवचनसार २२०, २५२. भिक्षोस्तपोधनस्य प्रवचनसार २२० (तात्पर्यवृत्ति)।

२५३. सूत्रकृतांग १/१६/३

२५४. भगवती आराधना १०३, २५५. वही ४६०, २५६. समयसार ७५, २५७. वही १०१, २५८. वही १७०, २५९. वही १७१, २६०. वही २१०, २६१. वही २११, २६२. वही २१२, २६३. वही २४७, २६४. वही २५० २६५. वही २७८—२७९, २६६. वही २८०, १६७. समयसार

२८६–२८८, १६८. वही–३१६, २६६. वही ३१८, २७०. वही ३२४।

२७१. मुणी विण्णाणसंपण्णो, दव्वे हिरण्णादिमुणतो, भावमुणी विदित संसार सब्भावो साधू।। दशवैकालिक (अगस्त्यसिंह चूर्णि पृ. ६६)मुणी णाम णाणित्ति वा मुणित्ति वा एगट्ठा, सो य मुणी चउव्विहो भणिओ दव्वमुणी जहा रयण परिक्खगा एवमादि, भावमुणीजहा संसार सहावजाणगा साहुणो सावगा वा, एत्थ साहूहिं आधिगारो।। जिनदास चूर्णि दशवैकालिक पृ. १६८ मुनिः भावसाधुः। दशवैकालिक (हारिभद्रीय टीका पृ. १६३)

२७२. मूलाचार–५६७, २७३ वही आचारवृत्ति।

२७४. प्रवचनसार २०४, २७५. व्यवहारेण नग्नत्वं यथाजातरूपं निश्चयेन तु स्वात्मरूपं तदित्थं भूतं यथाजातरूपं धरतीति यथाजातरूपधरः निर्ग्रन्थो जात इति।। वही तात्पर्यवृत्ति

२७६. यथाजातं जातरूपसदृशं क्रोधमानमायासंगादिरहितं।। मूलाचार ६०३ आचारवृत्ति असंयमजुगुप्सकं प्राणेन्द्रिय संयमपरं (वही आचारवृत्ति)

२७७. मूलाचार ५६७ (आचारवृत्ति), २७८. मूलाचार ६६७, २७९. सर्वारम्भेभ्योऽसिमषि कृषि वाणिज्यादि व्यापारेभ्यो निवृत्ता।। मूलाचार ७८४ (आचारवृत्ति)

२८०. सर्वग्रन्थमुक्ता मिथ्यात्ववेदकषाय हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सा इत्येतैश्चतु र्दशाभ्यन्तर ग्रन्थैः मुक्ताः। मूलाचार आचार वृत्ति ७८३, २८१. मूलाचार–७८६

२८२ नियमसार १५५, २८३. मूलाचार ८८६, २८४. चारित्त पाहुड़ ४०, २८५. मोक्षपाहुड ४२, २८६. वही ४४, २८७. वही ६६, २८८. निन्दाप्रशंसादिसमचित्तत्वेन पूर्वसूत्रोदित निश्चयव्यवहारपञ्चाचारस्याचरणाचरणप्रवीणत्वात् श्रमणम्।। प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति २०३

२८९. आचारिताचरित समस्तविरति प्रवृत्तिसमानात्मरूप श्रामण्यत्वात् श्रमणं। प्रवचनसार तत्वप्रदीपिका २०३, २९०. निज परमात्मतत्त्वभावना सहित समचित श्रमणैरन्याचार्यैः– प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति २९१, २६७. प्रवचनसार २०३, २९२. प्रवचनसार २०३ तत्त्वप्रदीपिका, २९३. वही तात्पर्यवृत्ति।

२९४. भगवती आराधना ३९२, २९५. वही ३९६, २९६. वही ३९७, २९७. वही ३९८, २९८. वही ३९९, २९९. प्रवचनसार–तात्पर्यवृत्ति २०६,

३००. समितस्य शुद्धात्मस्वरूपेसम्यगितो गतः परिणतः समितस्तस्य समितस्य, व्यवहारेणेर्यादि पञ्चसमितियुक्तस्य च। प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति।

३०१. भगवती आराधना २३६, ३०२. वही ३३३, ३०३. वही २६६, ३०४. वही ४६३ (विजयोदया टी.)

३०५. परमात्मप्रकाश पृ. १४०, ३०६. नग्नो विवाससि मागधे च क्षपणके। ३०७. भगवती आराधना २१६०, ३०८. उत्तराध्ययन सूत्र १२/२२, ३०९. वही १२/३३, ३१०. मूलाचार ५६७, ३११. भगवती आराधना विजयोदया टीका ४२६ ३१२. प्रवचनसार २१०, ३१३. निर्यापिकाः शिक्षामुखः श्रुतगुरुश्चेति भण्यते।। प्र.सा. तात्पर्यटीका २१०, ३१४. प्रवचनसार २१०, ३१५. मूलाचार १८१, ३१६. वही, ३१७. बहुश्रुतं सर्वशास्त्रपारगं।। मूलाचार १८१, ३१८. मूलाचार ७८३, ३१९. अममा, स्नेहपाशान्तनर्गताः।। वही आचारवृत्ति, ३२०. मूलाचार ७८६, ३२१. वही आचारवृत्ति।

३२२. पद्मचरित १०६/८०, ३२३. वही १०६/८१, ३२४. वही १०६/८२, ३२५. वही १०६/८३, ३३६. वही १०६/८४, ३२७. ब्राह्मणो ब्रह्मचर्यतः पद्मचरित ६/२०६, ३२८. उत्तराध्ययनसूत्र २५/२०, ३२९. वही २५/२१, ३३०. वही २५/२२, ३३१. वही २५/२३,

३३२. वही २५/२४, ३३३. वही २५/२५, ३३४. वही २५/२६, ३३५. वही २५/२७, ३३६. वही २५/३२, ३३७. वही १२/१४।

३३८. दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि पृ. ७०,

३३९. जैन साहित्य का इतिहास (पूर्वपीठिका) पृ. ११ (प्राक्कथन),

३४०. णग्गो पावइ दुक्खं णग्गो संसार सायरे भमई।
णग्गो न लहइ बोहिं जिणभावणवज्जिओ सुइरं।। भावपाहुड ६८

३४१. भावपाहुड ६६, ३४२. वही ६७।

३४३. भावपाहुड ४८, ३४४. वही ५६, ३४५. वही ५६, ३४६. बोधपाहुड ७, ३४७. वही ८, ३४८. वही १८, ३४९. वहीं १६, ३५०. मूलाचार १०२२, ३५१. वही आचारवृत्ति ३५२. मूलाचार १५३ (आचारवृत्ति)

३५३. अनगारधर्मामृत ७/७८

३५४. सदा आचारविदण्हू सदा आचरियंचरो।
आयारमायारवंतो आयरियो तेणउच्चदे।। मूलाचार ५०९

३५५. जम्हा पंचविहाचारं आचरंतो पभासदि।
आयरियाणि देसंतो आयरिमो तेण वुच्चदे।। वही ५१०

३५६. बारसंगे जिणक्खादं सज्झायं कथितं बुधे।
उवदेइ सज्झायं तेणुवज्झाउ उच्चदि। वही ५११

३५७. अनगार धर्मामृत ७/७८ (ज्ञानदीपिका)

३६१. अनगार धर्मामृत ७/७८ (ज्ञानदीपिका), ३६२. मूलाचार १५८, ३६३. वही १५६, ३६४. वही १५५, ३६५. वही १५६, ३६६. प्रवचनसार २६६, ३६७. वही २६४, ३६८. वही २३३, ३६८. वही २३१, ३७०. वही २२७, ३७१. वही २२६, ३७२. वही २३२।

३७३. प्रवचनसार २४२, ३७४. प्रवचन सार २४५ (तत्त्वप्रदीपिका), ३७५. वही २४६, ३७६. वही २४७, ३७७. वही २४८, ३७८. वही २४९, ३७९. वही २५२, ३८०. वही २०१, ३८१. वही २०२–२०७।

३८२. प्रवचनसार २०६, ३८३. 'पुलाबकुशकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातका निर्ग्रन्थाः' तत्त्वार्थसूत्र ६/४६, ३८४. तत्त्वार्थसूत्र ६/४६ (सर्वार्थसिद्धि टीका)।

सिन्धु सभ्यता और दिगम्बरत्व

मोहनजोदड़ो की खुदाई में अनेक मुहरें आदि निकली हैं। इनमें से प्लेट नं. २ की सील नं. ३, ४, ५ पर ध्यानावस्था की खड्गासन मूर्तियाँ हैं।। इनके नीचे बैल का चिन्ह है। ध्यान के मुख्य दोनों आसनों में पद्मासन का उल्लेख तो अन्य सम्प्रदाय के शास्त्रों में भी मिलता है, किन्तु खड्गासन के सम्बन्ध में यह बात देखी नहीं गई। खड्गासन का वर्णन तो खासतौर से जैन शास्त्रों में ही मिलता है। रायबहादुर प्रो. रामप्रसाद चन्दा ने भी इसको जैनियों का ही स्वीकार किया है[१]।

प्रस्तुत सीलों में उल्लिखित ध्यानस्थ मूर्तियाँ जहाँ खड्गासन में हैं, वहीं इनके नीचे भगवान, ऋषभदेव की अन्य मूर्तियों की तरह बैल का चिन्ह भी है। यह बात यहीं तक नहीं है, किन्तु सील पर स्थित मूर्तियों की आकृति आदि अन्य बातें भी भगवान ऋषभदेव की कुशाणकालीन मथुरा वाली मूर्ति से मिलती हैं। प्रो. रामप्रसाद चन्दा ने इसके सम्बन्ध में निम्नलिखित वाक्य लिखे हैं–

A standing image of Jain Rishabha in Kayotsarga posture on the slab showing four such images assignable to the second century A.D. in the curzon museum of Archaeology Mathura is reproduced in fig 12 Among the Egyptian sculptures of the time of the early dynastics there are standing statuettes with arms hanging on two sides. But though these early Egyptian statues & the archaic Greek Kourori show nearly the same pose. They lack the feeling of abandon that characterizes the standing figures onthe Indus seals and images of Jinas in the Kayotsarga posture. The name Rishabha means bull and the bull is the emblem of Jina Rishabha. The standing deity figured on seals three to five (plate II E, G.H.) with a bull in the fore ground may be the moto type of Rishabha.

Modern review Aug. 1932

अर्थात् : ईसवी सन् की दूसरी शताब्दी की मथुरा की ऋषभदेव की खड्गासन मूर्ति को जो कि चार मूर्तियों के समान है, यहाँ दिए देते हैं। मिश्र की भी प्राचीन मूर्तियाँ हैं, जिनके दोनों हाथ लटक रहे हैं। मिश्र की ये प्राचीन मूर्तियाँ और यूनान की मूर्तियाँ एक जैसी हैं, किन्तु इनमें वैराग्य की दृष्टि का जो कि मोहनजोदड़ो और मथुरा की जैन मूर्तियों में पायी जाती हैं, अभाव

है। ऋषभ का अर्थ बैल है और बैल ऋषभजिन का चिन्ह है। प्लेट नं. २ की तीन से पाँच नम्बर तक की सीलों पर खड़ी हुई मूर्तियाँ, जो कि बैल सहित हैं, ऋषभ की नकल हैं।[2]

मोहनजोदड़ो की प्लेट नं. ४४९ पर जिनेश्वर या जिनेशः लिखा है। इसके विषय में डॉ. प्राणनाथ विद्यालंकार ने लिखा है— "The names and symbols on plates annexed would appear to disclose a connecton between the old religion cults of Hindus and Jain with those of the Indus people------ It may also be noted that inscription on the Indus seal no 449 reads according to my decipherment Jines wara or Jihesah.[3]

मोहनजोदड़ो से प्राप्त एक सील का विश्लेषण आचार्य विद्यानन्द जी महाराज ने अपने लेख मोहनजोदड़ो : जैन परम्परा और प्रमाण में किया है। यह सील भारत सरकार के केन्द्रीय पुरातात्त्विक संग्रहालय में सुरक्षित है। इसका क्रमांक ६२०/१९२८–२९ है। इसमें दायीं ओर नग्न कायोत्सर्ग मुद्रा में भगवान् ऋषभदेव हैं, जिनके शिरोभाग पर एक त्रिशूल है, जो रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र) का प्रतीक है। निकट ही नतशीश हैं, उनके ज्येष्ठ पुत्र चक्रवर्ती भरत, जो उष्णीष धारण किए हुए राजसी ठाठ में हैं। वे भगवान् के चरणों में अंजलिबद्ध भक्तिपूर्वक नतमस्तक हैं। उनके पीछे वृषभ (बैल) है, जो ऋषभनाथ का चिन्ह है (पहचान) है। अधोभाग में सात प्रधान अमात्य हैं, जो तत्कालीन राजसी गणवेश में पदानुक्रम से पंक्तिबद्ध हैं। चक्रवर्ती भरत सोच रहे हैं : ऋषभनाथ का अध्यात्म वैभव और मेरा पार्थिव वैभव !! कहाँ है दोनों में कोई साम्य? वे ऐसी ऊँचाईयों पर हैं, जहाँ तक मुझ अकिंचन की कोई पहुँच नहीं है। भरत की यह निष्काम भक्ति उन्हें कमल दल पर पड़े ओस बिन्दु की भाँति निर्लिप्त बनाए हुए है। वे आकिंचन्य बोधि से धन्य हो उठे हैं

उक्त सील को जब हम तफसीलवार या विस्तार में देखते हैं, तब इसमें सात विषय दिखायी देते हैं— १. ऋषभदेव नग्न कायोत्सर्गरत योगी २. प्रणाम की मुद्रा में नतशीश भरत चक्रवर्ती ३. त्रिशूल ४. कल्पवृक्ष पुष्पावली ५. मृदुलता ६. वृषभ (बैल) ७. पंक्तिबद्ध गणवेशधारी प्रधान अमात्य।

आचार्य वीरसेन[4] की धवला टीका विमल सूरिकृत प्राकृत ग्रंथ 'पउमचरियं'[5] एवं आचार्य जिनसेन कृत आदिपुराण[6] की गाथाओं, कारिकाओं में जो वर्णन मिलते हैं, उनमें तथा उक्त सील में बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव देखा जा सकता है। इन वर्णनों के सूक्ष्मतर अध्ययन से पता चलता है कि इस तरह की कोई मुद्रा अवश्य ही व्यापक प्रचलन में रही होगी, क्योंकि

मोहनजोदड़ो की सील में अंकित आकृतियों तथा जैन साहित्य में उपलब्ध वर्णनों का यह साम्य आकस्मिक नहीं हो सकता। निश्चय ही यह एक अविच्छिन्न परम्परा की ठोस परिणति है। यदि हम पूर्वोक्त ग्रन्थों के विवरणों को सील के विवरणों से समन्वित करें तो सम्पूर्ण स्थिति की स्पष्ट व्याख्या इस प्रकार सम्भव है— पुरुदेव (ऋषभदेव) नग्न खड्गासन कायोत्सर्ग मुद्रा में अवस्थित हैं। उनके शीर्षोपरि भाग पर त्रिशूल अभिमण्डित है, यह रत्नत्रय की शिल्पाकृति है। कोमल दिव्यध्वनि के प्रतीक रूप एक लता पर्ण मुखमण्डल के पास सुशोभित है।[७] दो ऊर्ध्वग कल्पवृक्ष शाखायें पुष्प तथा फल युक्त हैं। महायोगी उससे परिवेष्टित हैं। यह भक्तिप्राप्य फल की द्योतक है। चक्रवर्ती भरत भगवान् के चरणों में अंजलिबद्ध प्रणाम मुद्रा में नतशीश हैं।[८] भरत के पीछे वृषभ है, जो भगवान् ऋषभनाथ का चिन्ह (लाच्छन) है। अधोभाग में अपने राजकीय गणवेश में सात मन्त्री हैं, जिनके पदनाम हैं— माण्डलिक राजा, ग्रामाधिपति, जनपद–अधिकारी, दुर्गाधिकारी (गृहमन्त्री), भण्डारी (कृषि एवं वित्त मन्त्री), षडंग बलाधिकारी (रक्षा मन्त्री), मित्र (परराष्ट्र मन्त्री)[९]।

श्री आर.पी. देशमुख ने अपने ग्रन्थ 'इंडस सिविलाइजेशन एण्ड हिन्दू कल्चर' में स्पष्ट शब्दों में कहा है— जैनों के पहले तीर्थंकर सिन्धु सभ्यता से ही थे। सिन्धुजनों के देव नग्न होते थे। जैन लोगों ने उस सभ्यता और संस्कृति को बनाए रखा और नग्न तीर्थंकरों की पूजा की।[१०]

डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने लिखा है— सिन्धुघाटी में भी दो नग्न मूर्तियाँ मिली हैं। इनमें से एक कायोत्सर्ग मुद्रा में स्थित पुरुषमूर्ति है। दूसरी को भी अब तक पुरुषमूर्ति कहा जाता है, किन्तु ध्यान से देखने पर ज्ञात होता है कि वह नृत्यमुद्रा में स्त्रीमूर्ति है। अभी पहली मूर्ति की पहचान किस प्रकार की जाये, यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न बना ही रहता है। अथर्ववेद के एक मन्त्र में महानग्न पुरुष और महानग्नी स्त्री के मिथुन का उल्लेख आता है—

महानग्नी महानग्नं धावन्तमनुधावति।
इमास्तदस्य गा रक्ष यममामध्यौदनम्।। अथर्व० २०/१२६/११

किन्तु जैन और जैनेतर विद्वान भी पुरुषमूर्ति की नग्नता और कायोत्सर्ग मुद्रा के आधार पर इसे ऐसी प्रतिमा समझते हैं, जिसका सम्बन्ध किसी तीर्थंकर से रहा है। सिन्धु लिपि के पढ़े बिना इस विषय में निश्चय से कुछ कहना कठिन है। किन्तु एक दूसरा प्रमाण जो सन्देह रहित है, सामने आ जाता है। वह पटना के लोहानीपुर मुहल्ले से प्राप्त एक नग्न कायोत्सर्ग मूर्ति है।

उस पर मौर्यकालीन ओप या चमक है और श्री काशी प्रसाद जायसवाल से लेकर आजतक के सभी विद्वानों ने उसे तीर्थंकर प्रतिमा ही माना है। इसका काल लगभग तीसरी शती ई.पू. है। उस दिशा में वह मूर्ति अब तक की उपलब्ध सभी बौद्ध तथा ब्राह्मण धर्म सम्बन्धी मूर्तियों से प्राचीन ठहरती है। कलिंगाधिपति खारबेल के हाथीगुम्फा शिलालेख से भी ज्ञात होता है कि कुमारी पर्वत पर जिन प्रतिमा का पूजन होता था। इन संकेतों से इंगित होता है कि जैनधर्म की यह ऐतिहासिक परम्परा और अनुश्रुति अत्यन्त प्राचीन थी।[११]

मोहनजोदड़ो की मुद्राओं पर अंकित बैल, भैंसा, गैंडा, सिंह, हाथी, मच्छ, बकरा, स्वस्तिकादि के चिन्ह ठीक वहीं है, जो जिन मूर्तियों पर मिलते हैं। दो मुद्राओं (PL CXVI NO I AND PL CXVIII NO 7) पर ऊपर की ओर छः नंगे पुरुष एक पंक्ति में खड़े हुए अंकित है। उसके नीचे वाले भाग में छुरी हाथ में लिए एक आदमी दर्शाया गया है, जिसके सामने बकरी खड़ी हुई है। बकरी के सम्मुख एक पेड़ में देवता बना हुआ अंकित है। इस दृश्य का भाव विद्वज्जन यह लगाते हैं कि वृक्ष देवता को बकरी की बलि चढ़ाई जा रही है। यह ठीक है, परन्तु ऊपर के भाग में छः नंगे योगी क्यों अकिंत किये गये हैं? और क्यों भक्त बकरी को बलि देने में झिझक रहा है? वह बलिकर्म करता हुआ क्यों नहीं दर्शाया गया? इसका यही कारण है कि ऊपर पंक्ति के नंगे योगी दिगम्बर जैन साधु हैं, जो अहिंसा धर्म के प्रतिपादक हैं— वे भक्त को पशुबलि पापकर्म बताकर रोक रहे हैं। इन योगियों की दिगम्बर कायोत्सर्ग मुद्रा उनको जैन व्यक्त कर रही है। उनकी छः संख्या भी महत्त्वसूचक है। भगवान् अरिष्टनेमि के तीर्थ में छः युगल यादव कुमारों ने दिगम्बर मुनि की दीक्षा ग्रहण की थी और वे चारणयोगी यत्र तत्र अहिंसा धर्म का प्रचार करते हुए विचरे थे। मालूम होता है, जैन कथा के चारण मुनियों को उपर्युक्त मुद्रा में अंकित दर्शाया गया है। जैनों में अहिंसा धर्म को लक्ष्य कर पशुबलि निषेधक चित्रण करने की प्रथा है। अतः यह स्पष्ट है कि मोहनजोदड़ो के इन अहिंसक लोगों में जैनकथा वार्ता का प्रभाव कार्यकारी था।[१२]

हड़प्पा से प्राप्त एक नग्न व्यक्ति का धड़ (Torso) ऋषभ जिन की मूर्ति से सम्बन्धित अनुमान किया गया है। उस धड़ मूर्ति का साम्य लोहानीपुर से प्राप्त मौर्यकालीन और शुंग कालीन मूर्तियों के धड़ से होता है। लोहानीपुर से बाद में एक मूर्ति का मुखभाग भी मिला था,

जो मौर्यकालीन है और जिनमूर्ति की मुखाकृति के अनुरूप है। यह बात डॉ. ए. बनर्जी शास्त्री ने प्रकट की थी।[१३]

---

1. *The Kayotsarga posture is peculiarly Jain. It is a posture not of sitting, but of standing. In the Adipurana, book XVIII, Kayotsarga posture is described in connection with the penances of Rishabha or Vrashabha.*
   अर्थात् कायोत्सर्ग आसन खासतौर से जैनों का है। यह बैठे हुए का आसन नहीं है, किन्तु खड़े का है। आदिपुराण अध्याय १८ में ऋषभ या वृषभ के सम्बन्ध में इसका उल्लेख मिलता है।
२. *विरोध परिहार पृ. ४२–४४,*
३. Indian History Quatrerly V.VIII
४. *षट्खण्डागम मंगलाचरण १/१/२५ (तिरयण तिसूल धारिय)*
५. *विमलसूरिः पउमचरियं ४/६८–६६। ६. आचार्य जिनसेनः आदिपुराण २४/७३–७४।*
७. *श्रीमद् अर्हद्दासः पुरुदेवचम्पू १/१ (दिव्यध्वनि मृदुललतालंकृतमुखः). ८. विमलसूरिः पउमचरियं ४/६८–६६, ६. ऋषभ सौरभ पृ. १,२,३,५, (आचार्य विद्यानंद जी का लेख – मोहनजोदड़ो : जैन परम्परा और प्रमाण।,* १०. Indian Civilization and Hindu Culture p. 364
११. *पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री : जैन साहित्य का इतिहास (पूर्व पीठिका) —डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल द्वारा लिखित प्राक्कथन पृ. १०।*
१२. *जैन एण्टीक्वेरी, भा. १४ किरण १ (जुलाई १९४८) पृ. ६ डॉ. गुस्टॉफ रॉठ ने इसकी आलोचना करके लिखा था कि इस प्रकार मुद्रा के दृश्य का वर्णन स्थापित करना बिल्कुल निराधार नहीं है। इससे प्रकट होता है कि मोहनजोदड़ो के लोगों मे एक ऐसे नग्न देवता की पूजा प्रचलित थी, जिसके साथ छः नंगे योगी रहते थे। जैन शास्त्रों में ऐसे प्रसंगों का वर्णन मिलता है, जिसके समतुल्य प्रसंग मोहन जोदड़ो में मिलते हैं, जिनका समय प्राङ् आर्यकाल ठहरता है। (वायस आव अहिंसा, भा. ५, जनवरी फरवरी १९५५ पृ. ७–३३) डॉ. कामता प्रसार जैन : जैन इतिहास पृ. ८१*
13. Both these figures (Nude Torsos) Apparcutly represeul Jain Zirthankaras *in the third century B.C.*

"The choice of a greyish buffi instead of the reddish soft Didarganj and specially the rendering of the lips delicately firm may indicate the probability of head being of a male and the possibility of its belonging to a Jaina Zirthankara.

Dr. Kamla Prasad Jain-Jain Itihas P.41

वैदिक साहित्य में दिगम्बरत्व

(वेदों में ऋषभदेव)

भगवान् ऋषभदेव भारतीय संस्कृति, सभ्यता और धर्म के पुरस्कर्ता थे। वैदिक, बौद्ध एवं जैन परम्परा में सम्मान के साथ उनका उल्लेख हुआ है। यहाँ हम उन साक्ष्यों को प्रस्तुत करेंगे, जिनके आधार पर यह सिद्ध होता है कि जैन परम्परा के समान वैदिक परम्परा में भी ऋषभदेव की महत्त्वपूर्ण प्रतिष्ठा थी। वे सबके श्रद्धा भाजन थे। उनके विषयमें कहा गया है—

असूतपूर्वा वृषभो ज्यायानिभा अस्य शुरुघः सन्तिपूर्वीः।
दिवा न पाता विदथस्यधीभिः क्षत्रं राजाना प्रदिवो दधाथे।।

ऋग्वेद ५ / ३८

जिस प्रकार जल से भरा मेघ वर्षा का मुख्य स्रोत है और जो पृथ्वी की प्यास बुझा देता है, उसी प्रकार पूर्वी और ज्ञान के प्रतिपादक वृषभ महान् हैं। उनका शासन वर दे। उनके शासन में ऋषि परम्परा से प्राप्त पूर्व का ज्ञान आत्मा के क्रोधादि शत्रुओं का विध्वंसक हो। दोनों (संसारी और मुक्त) आत्मायें अपने ही आत्मगुणों में चमकती हैं, अतः वे ही राजा हैं। वे पूर्ण ज्ञान के आगार हैं और आत्मपतन नहीं होने देते।

एक स्थान पर उन्हें पूर्वगत ज्ञान के प्रतिपादक के रूप में स्वीकार किया गया है

मखस्य ते तीवषस्य प्रजूति मियर्मि वाचममृताय भूषन् !
इन्द्र क्षितीमामास मानुषीणां विशांदेवी नामुत पूर्व यावा।।

ऋग्वेद २/३४/२

हे आत्मद्रष्टा प्रभो ! परम सुख पाने के लिए तेरी शरण आता हूँ; क्योंकि तेरा उपदेश और वाणी पूज्य और शक्तिशाली है। उनको मैं अवधारण करता हूँ। हे प्रभो ! सभी मनुष्यों और देवों में तुम्हीं पहले (पूर्व ज्ञान के प्रतिपादक हो।

आत्मा ही विकास कर परमात्मपने को प्राप्त करता है। इसी भावना को एक मन्त्र में व्यक्त किया है।

त्रिधा बद्धो वृषभो रौरवीति महादेवो मर्त्यां आविवेश।।

ऋग्वेद ४/५८/३

मन, वचन, काय तीनों योगों से बद्ध (संयत) वृषभ (ऋषभदेव) ने घोषणा की कि महादेव (परमात्मा) मर्त्यों में निवास करता है।

अनवर्विं ऋषभं, बृहस्पति वर्द्धमान व्ययर्के।। ऋग्वेद मंत्र १ सूक्त १९०

मिष्टाभाषी, ज्ञानी स्तुतियोग्य ऋषभ की पूजा सार्थक मन्त्रों द्वारा वर्द्धित करो। वे स्तोता को नहीं छोड़ते।

ऋषभं मा समानानां सपत्नानां विषा सहिम्।
हन्तारं शत्रुणां कृधि विराजं गोपतिं गवाम्।।ऋग्वेद ८/८/२४

अर्थात् ऋषभ ने कर्म शत्रुओं और इन्द्रियों पर विजय प्राप्त की[1]।

यजुर्वेद में उन्हें सूर्य के समान तेजस्वी कहा गया है—

वेदाहमेत पुरुषं महान्तमादित्य वर्णं तमसः पुरस्तात्।
तमेर्वानदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यते ऽ यनीय।।

यजुर्वेद अ. ३१ मन्त्र ८

मैंने उस महापुरुष को जाना है, जो सूर्य के समान तेजस्वी, अज्ञानादि अन्धकार से दूर है। उसी को जानकर मृत्यु से पार हुआ जा सकता है। मुक्ति के लिए अन्य कोई मार्ग नहीं है।

विद्वानों ने उपर्युक्त मन्त्र की समता आचार्य मानतुंग के निम्नलिखित पद्य से की है—

त्वामामनन्ति मुनयः परमं पुमांस।
मादित्यवर्णममलं तमसः पुरस्तात्।
त्वामेव सम्यगुपलभ्य जयन्ति मृत्युं।
नान्यः शिवः शिवपदस्य मुनीन्द्र पन्थाः।। भक्तामर स्तोत्र-२३

हे भगवान ऋषभदेव! तुम्हें मुनिजन परम पुरुष मानते हैं। तुम सूर्य के समान तेजस्वी, मलरहित और अज्ञानान्धकार से दूर हो, तुम्हें ही भली प्रकार प्राप्त कर मृत्यु पर विजय पायी जा सकती है। हे मुनीन्द्र! मुक्ति प्राप्त करने का और कई मार्ग नहीं है।

आदित्या त्वमसि आदित्य सद आसीद अस्तभ्रादद्यां वृषभोंतरिक्षं जमिमीते वरिमाणं। पृथिव्याः आसीत् विश्वा भुवनानि सम्राड्विश्वे तानि वरुणस्य व्रतानि।३० अ.३

अर्थ : तू अखण्ड पृथ्वी मण्डल का सार त्वचास्वरूप है, पृथ्वीतल का भूषण है, दिव्यज्ञान द्वारा आकाश को नापता है, ऐसे हे वृषभनाथ सम्राट् इस संसार में जगरक्षक व्रतों का प्रचार करो।

मरुत्वं तं वृषभं वावृधानमकवार दिव्यशासनमिन्द्र विश्वासाहमवसे

नूतनाय्रोग्रासदोदामिहताह्येनः ।। ३६ ।। अ. ७.३.३.११

हे यजमान लोगो ! इस यज्ञ में देवों के स्वामी, सुख सन्तानवर्द्धक, दुःखनाशक, दिव्य आज्ञाशाली, अपार ज्ञान बल दाता वृषभनाथ भगवान को आह्वान करो।

मरुत्वान् इन्द्र वृषभो रणायपि वासीमनुष्यध्वं मदाय आसिंचस्व जठरे मध्वा, ऊर्मित्वा राजासि प्रतिपत् सुतानाः।। ३८ अ. ७.३.३.११

हे वृषभदेव ! आप उत्तम पूजक को लक्ष्मी देते हो, इस कारण मैं आपको नमस्कार करता हूँ और इस यज्ञ में पूजता हूँ।

यजुर्वेद में देखिए—

ॐ नमो अर्हतो ऋषभो ॐ ऋषभः पवित्रं पुरुहूतमध्वरं यज्ञेषु नग्नं परमं महासंस्तुतं वरं शत्रुं जयत पशुरिन्द्रमोहुरिति स्वाहा। ॐ ज्ञातारमिन्द्र वृषभं वर्दान्त अमृतारमिन्द्रं हेवसुगतं सुपार्श्वमिन्द्रमाहुरिति स्वाहा। ॐ नग्नं सुवीरं दिग्वाससं ब्रह्मगर्भ सनातनं उपेमि वीरं पुरुषं महांतमादित्यवर्णं तमसः पुरस्तात् स्वाहा।

वाजस्यनु प्रसव आवभूवेमा च विश्वभुवनानि सर्वतः। स नेमिराजा परियाति विद्वान् प्रजां पुष्टिं वर्धयमानो अस्मै स्वाहा।। अ. ९ मं. २५

उपर्युक्त मन्त्र में ऋषभ, वीर, सुपार्श्व, नेमि आदि शब्द आए हैं। वीर का विशेषण नग्न, दिग्वासः (दिगम्बर) आदि है। अन्तिम पंक्तियों का भाव इस प्रकार है—

भाव यज्ञ (आत्मस्वरूप) को प्रगट करने वाले इस संसार के सब जीवों को सब प्रकार से यथार्थ रूप से कहकर जो सर्वज्ञ नेमिनाथ स्वामी प्रकट करते हैं, जिनके उपदेश से जीवों की आत्मा पुष्ट होती हे, उन नेमिनाथ तीर्थंकर के लिए आहुति समर्पित है।

सामवेद का एक उदाहरण देखिए—

अप्पा यदि मे पवमानरोदसी इमा च विश्वा भुवनानि मन्मना यूथेन निष्टा वृषभो विराजसि[२]।। ३ अ. १ खं. ११

ऋग्वेद के कुछ मन्त्रों में ऋषभ का नामोल्लेख नहीं हुआ है, पर उनकी आकृति को विशेष लक्ष्य करते हुए गरिमा व्यक्त की गई है—

त्रिणी राजना विदथे पुरूणि परिविश्वानिभूषथः सदांसि।
अपश्यमत्र मनसा जगन्वान्वते गन्धर्वा अपि वायुकेशान्।।

ऋग्वेद २/३८/६

दोनों ही राजा अपने त्रिरत्न ज्ञान में सभाओं के हित में चमकते हैं। वह सर्वथा निज ज्ञान में जागरूक व्रतों के पालक हैं, एवं वायुकेश गन्धर्वों

से वेष्टित रहते हैं। वे गन्धर्व (गणधर) उनकी शिक्षाओं को अवधारण करते हैं। हमें उनके दर्शन प्राप्त हों।

तनमर्त्यस्य देवत्वमजानमग्रे।। ऋग्वेद ३६ / १७

ऋषभ स्वयं आदि पुरुष थे, जिन्होंने सबसे पहले मर्त्यदिशा में देवत्व प्राप्त किया था।

अथर्वेद में वृषभ को बलप्रदाता माना गया है—

अहोमुचं वृषभं यज्ञियानं विराजन्तं प्रथममध्वराणाम्।

अपां न पातमश्विनं हुवे धिय इन्द्रियेण तमिन्द्रियं दत्तमोजः।।

अथर्ववेद १६/४२/४

समस्त पापों से मुक्त, अहिंसक, वृत्तियों के प्रथम राजा आदित्य स्वरूप श्री ऋषभदेव को मैं आह्वान करता हूँ। वे मुझे बुद्धि और इन्द्रियों के साथ बल प्रदान करें।

नास्य पशून् समानान् हिनस्ति। अथर्ववेद

ऋषभदेव प्रेम के राजा के रूप में विख्यात थे। उन्होंने जिन शासन की स्थापना की थी, उसमें मनुष्य व पशु सभी समान थे। पशु भी नहीं मारे जाते थे।[३]

वेदों में ऋषभदेव, सुपार्श्व, अरिष्टनेमि महावीर आदि तीर्थंकरों का उल्लेख किया गया है। इसकी पुष्टि डॉ. एस. राधाकृष्णन[४], डॉ. अलब्रेट बेवर[५], प्रो. विरूपाक्ष वाडियर[६] एवं डॉ. विमलचरण लाहा प्रभृति[७], विद्वज्जन भी करते हैं।

प्रो. विरुपाक्ष वाडियर वेदों में जैनतीर्थंकरों के उल्लेखों का कारण उपस्थित करते हुए लिखते हैं : प्रकृतिवादी मरीचि ऋषभदेव का पारिवारिक था। वेद उसके तत्त्वानुसार होने के कारण ही ऋग्वेद आदि ग्रन्थों की ख्याति उसी के ज्ञान द्वारा हुई है। फलतः मरीचि ऋषि के स्तोत्र वेद पुराण आदि ग्रन्थों में हैं और स्थान–स्थान पर जैन तीर्थंकरों का उल्लेख पाया जाता है। कोई ऐसा कारण नहीं कि हम वैदिक काल में जैनधर्म का अस्तित्व न मानें[८]।

वातरशना मुनि

ऋग्वेद में मुनियों के विशेषण रूप से 'वातरशनाः' शब्द आया है—

मनुयो वातरशनाः पिशंगा वसते मला।

वातस्यानु ध्रांजि यन्ति यद्देवासो अविक्षत।।

उन्मादता मोनेयेन वातां आ तस्थिमा वयम्।

शरीरेदस्माकं यूयं मर्तासो अभि पश्यथ।।
अन्तरिक्षेण पतति विश्वा रूपा वचाकशत्।
मुनिर्देवस्य देवस्य सौकृत्याय सखा हितः।।
वातस्याश्वो वायोः सखायो देवेषितो मुनिः।
उभौ समुद्रावा क्षेति यश्च पूर्व उतापरः।।
करिक्रलाख्य ऋषिः वायुरूपः सूर्य रूपो वा उभौ समुद्रौ अभिगच्छति।
अप्सरसां गन्धर्वाणां मृगाणां चरणे चरन्।
केशी केतस्य विद्वान्सखा स्वादुमदित्तमः ।।ऋग्वेद १०/१३६/२-६
वायुरस्मा उपामन्थत् पिनष्टि समा कुनन्नमा। केशी पात्रेण यद्रुद्रेणा पिवत सह।।

उपर्युक्त सूक्त में मुनियों को वातरशना अर्थात् नग्न इस कारण पीले वर्ण के दिखाई देने वाले बतलाया है। तैत्तिरीय आरण्यक में वातरशना शब्द आया है— वातरशना ह वा ऋषय श्रमणा ऊर्ध्वमन्थिनो बभूवुः।।

वातरशना (नग्न) ऋषि श्रमण थे। सायण ने ऊर्ध्वमान्थेनः का अर्थ ऊर्ध्वरेता किया है। अतः श्रमण नग्न और पवित्र होते थे, यह इस वाक्य का अर्थ है। सायण ने वातरशन का अर्थ नग्न न लेकर वातरशनस्य पुत्राः किया है। यथा—

"वातरशना वातरशनस्य पुत्रा मुनयोऽतीन्द्रियार्थदर्शिनो जूति वातजूति प्रभृतयः पिशंगाः पिशंगानि कपिल वर्णानि मला मलिनानि वल्कल रूपाणि वासांसि बसते आच्छादयन्ति।"

सायण के इस अर्थ को किसी भी प्राच्यविद्याविशारद ने मान्य नहीं किया है, सबने इसका अर्थनग्न[९] ही लिया है। वातरशन का अर्थ है— बात है वेष्टन जिनका।[१०]

विक्रम की नौवीं शती के जैनाचार्य जिनसेन ने अपने महापुराण में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव को वातरशन बतलाकर उसका अर्थ नग्न ही किया है—

दिग्वासा वातरशनो निर्ग्रन्थेशो निरम्बरः (जिन सहस्रनाम)

डॉ. अल्बर्ट बेबर ने 'मुनयो वातरशनाः' के विषय में लिखा है—

The Digambara appear to be the more ancient, for not only in the Rik Samhita (136-2) is mentioned of 'Wind girdled bachhanters- "Munyah vatavasanah" by they also appear to be referred in the well known accounts of Indian 'Gem-no-Sophists' of the time of Alexander the great.

-History of religions in India (Indian Antiquary Vol. 30 Jyly 1901,

अर्थात् दिगम्बर लोग (श्वे० से) बहुत प्राचीन मालूम होते है; क्योंकि

न केवल ऋक् संहिता में इनका वर्णन 'मुनयो वातवसनाः' अर्थात् पवन ही है वस्त्र जिनका ऐसे मुनि— इस तरह आया है, बल्कि सिकन्दर के समय के भारत के जैन मुनियों का जो इतिहास है, उससे भी यही प्रकट होता है।[११] श्रीमद्भागवत में वातरशन श्रमणों को आत्मविद्या विशारद, ऋषि, शान्त, संन्यासी और अमल कहकर ऊर्ध्वगमन द्वारा ब्रह्मलोक में जाने की बात कही है— **श्रमणा वातरशनाः आत्मविद्या विशारदाः।** गोविन्दराज की भूषण टीका में "श्रमण" का अर्थ दिगम्बर किया गया है और प्रमाण के लिए निघण्टु का उदाहरण दिया है— **'श्रमणाः दिगम्बराः वातरशनाः' इति निघण्टुः।।**

भारतीय संस्कृति के निष्णात विद्वान् डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार श्रमण परम्परा के कारण ब्राह्मण धर्म में वानप्रस्थ और संन्यास को प्रश्रय मिला।[१२]

तैत्तिरीय आरण्यक में कहा है—

वातरशना ह वा ऋषयः श्रमणा ऊर्ध्वमन्थिनो बभूवुस्तानृषयो ऽर्थमायंस्ते ऽनिलायमचरंस्ते ऽनुप्रविशुः कूष्माण्डानि तांस्तेष्वन्वविन्दन श्रद्धया च तपसा च। तानृषयो ऽब्रुवन कया निलायं चरथेति ते ऋषीनब्रुवन्नमोवो ऽस्तु भगवन्तो ऽस्मिन् धाम्नि केन वः सपर्यामेति तानृषयो ऽब्रुवन— पवित्रं नो ब्रूत येनोरेपसः स्यामेति त एतानि सूक्तान्यपश्यन्।[१३]

वातरशन :— श्रमण ऋषि ऊर्ध्वमन्थी (परमात्मपद की ओर उत्क्रमण करने वाले) हुए। उनके समीप इतर ऋषि प्रयोजनवश (याचनार्थ) उपस्थित हुए। उन्हें देखकर वातरशन कूष्माण्ड नामक मन्त्रवाक्यों में अन्तर्हित हो गए, तब उन्हें अन्य ऋषियों ने श्रद्धा और तप से प्राप्त कर लिया। ऋषियों ने उन वातरशन मुनियों से प्रश्न किया— किस विद्या से आप अन्तर्हित हो जाते हैं? वातरशन मुनियों ने उन्हें अपने अध्यात्म धाम से आए हुए अतिथि जानकर कहा— हे मुनि जनोः आपको नमो ऽस्तु है, हम आपकी सपर्या (सत्कार) किससे करें? ऋषियों ने कहा— हमें पवित्र आत्मविद्या का उपदेश दीजिए, जिससे हम निष्पाप हो जाँय।[१४]

केशी

ऋग्वेद में जिस प्रकरण में वातरशन मुनि का उल्लेख मिलता है, उसी में केशी की स्तुति की गयी है—

केश्यग्नि केशी विषं केशी बिभर्ति रोदसी।
केशी विश्वं स्वर्दृशे केशीदं ज्योति रुच्यते।।

अर्थात् केशी अग्नि, जल, पृथ्वी तथा स्वर्ग धारण करता है। केशी (चारों ओर) प्रकाश ही प्रकाश के दृश्य देखता है और केशी को ही ज्योति स्वरूप कहा जाता है।

यह केशी भगवान् ऋषभ का वाचक है।[95] पद्मचन्द्र कोश में ऋषभ का व्युत्पत्तिपरक अर्थ दिया है— सम्पूर्ण विद्याओं के पार जाने वाला एक मुनि।[96] ऋग्वेद के केशी सूक्त में कहा गया है— वायु की मेखला धारण करने वाले मुनि (तप से) मलिन एंव पीले हो गए हैं। वे वायु के साथ चलते और उसी दिशा में जाते हैं, जिमसें पहले कभी देवता गये हैं।

(मुनि कहते हैं) मौन के उन्माद में हम वायु के ऊपर आसीन हैं और मरणधर्मा मनुष्य केवल हमारा यही (पार्थिव) रूप देखते हैं।

(यह) मुनि वायु में उड़ता हुआ विभिन्न रूपों को देखता है, वह सभी देवताओं का अपना है और (जनता का) हित करने के लिए (सभी का) सखा स्वरूप है।

वायु रुपी अश्व में सवार वह मुनि वायु का मित्र (भी) है। दैवीय प्रेरणा से प्रेरित वह मुनि पूर्व और पश्चिम की ओर स्थित दोनों समुद्रों में रह सकता है।

अप्सराओं, गन्धर्वों तथा हरिणों के मार्ग से घूमता हुआ मन को जानने वाला यह केशी परममित्र स्वरूप है।

जब घोर वायु वातावरण का मंथन करती हुई कठोरतम वस्तु को चूर्ण करती हुई केशी के चारों ओर चल रही थी, उसने रूद्र के साथ विषपान किया।[97]

इस सूक्त के कुछ महत्त्वपूर्ण सन्दर्भ हैं। इसमें प्रयुक्त मुनिकेशी को ज्योतिस्वरूप कहा है। केशी की गणना उन मुनियों में की गयी है जो तपश्चर्या से क्षीण हो चुके हैं और देवताओं के सखा, सबके हित में प्रवृत्त तथा वायुचारी योगी हैं। यही नहीं तपश्चर्या प्रवृत्त होकर उन्होंने रुद्र की तरह या रुद्र के साथ विषपान भी किया जो स्वयं दुःख उठाकर लोक कल्याण के लिए किया गया कोई कार्य हो सकता है; क्योंकि शिव द्वारा विषपान की कथा का यही निष्कर्ष निकलता है।[98]

डॉ. मुनीशचन्द्र जोशी का कहना है कि तुलनात्मक दृष्टि से परखने पर तीर्थंकर ऋषभ के जैन परम्परा में उल्लिखित स्वरूप पर ऋग्वेद के इस सूक्त में वर्णित केशी की विशेषतायें घटित हो सकी है, यद्यपि वेद का वर्णन बहुत अधिक स्पष्ट नहीं है।[99] जैन ग्रन्थों को देखने पर इस सूक्त के सन्दर्भ

में कोई अस्पष्टता नहीं रहती है, क्योंकि दिगम्बर जैन मुनि आज भी नग्न रहते हैं। इसीलिए उन्हें दिग्वासा, वातरसना, निर्ग्रन्थेश, निरम्बर आदि शब्दों से कहा जाता है। प्राचीन काल में तप के फलस्वरूप ऐसे मुनियों में से किन्हीं को चारण ऋद्धि हो जाती थी और वे वायुमार्ग से आकाश में विचरण करते थे। जैन पुराणों में ऐसे अनेक मुनियों के आगमन के प्रसंग प्राप्त होते हैं। मुनि को वचनगुप्ति पालन करने का उपदेश दिया गया है, अतः वे प्रायः मौन ही रहते हैं। आवश्यकता पड़ने पर हित, मित और प्रिय वचन बोलते हैं, उसी प्रकार जैनमुनि सबको हितोपदेश देते हुए वर्षावास को छोड़कर बिना किसी के साथ आसक्ति रखे हुए गमन करते हैं, अतः उन्हें निःसंग कहा गया है। वे देह के प्रति निर्ममत्व रहते हैं। उनके इसी व्यवहार को ही इस रूप में व्यक्त किया गया है कि उन्होंने रुद्र के साथ विषपान किया।

पं. परमानन्द शास्त्री का कहना है कि केशी का अर्थ केशवाला जटाधारी होता है। सिंह भी अपनी केशर के द्वारा केशरी कहलाता है। ऋग्वेद के केशी और वातरशना मुनि और भागवत पुराण के उल्लिखित 'वातरशना श्रमण' एवं उनके अधिनायक ऋषभ की तुलना द्रष्टव्य है। दोनों एक ही सम्प्रदाय के वाचक हैं। जैनकला में ऋषभदेव की अनेक प्राचीन मूर्तियाँ जटाधारी मिलती हैं। तिलोयपण्णत्ती में लिखा है— उस गंगाकूट के ऊपर जटारूप मुकुट से सुशोभित आदि जिनेन्द्र की प्रतिमायें हैं। उन प्रतिमाओं का मानों अभिषेक करने के लिए ही गंगा उन प्रतिमाओं के ऊपर अवतीर्ण हुई है, जैसा कि उसकी निम्न गाथा से प्रकट है—

आदि जिण पडिमाओताओ जडमउड सेहरिलताओ।
पडिवोवरम्मि गंगा आभिसित्तुमण्ण व सा पडदि।।

रविषेण के पद्मचरित (३/२८८) में वतोद्धृता जटास्तस्य रेजुराकुलमूर्तयः और हरिवंशपुराण (६/२०४) में सप्रलम्बजटाभार भ्राजिष्णु राबभौ। रुढ प्रारोहशाखाग्रो यथा न्यग्रोध पादपः।।६/२०४ उल्लिखित किया है। अपभ्रंश भाषा के सुकुमाल चरिउ में भी निम्न रूप से उल्लेख पाया जाता है।

पढमजिणवरुणविविभावेण,
जडमउड विहूसिउ विसय विष्टु मयणारिणासणु।
अमरासुर णरथुय चलणु।
सत्ततच्चणवपयत्थ णवणयहि पयासणु।
लोयालोयपयासयरु जसु उप्पण्णउणाणु।
सो पणवेप्पिणु रिसहजिणु अक्खय सोक्ख णिहाणु।

जटा, केश, केसर ये सब एक ही अर्थ के वाचक हैं। जटासटा केसरयोः' इति मेदिनी। इस सब कथनपर से उक्त अर्थ की पुष्टि होती है।

केशी और ऋषभ एक ही हैं। ऋग्वेद की एक ऋचा में दोनों का एक साथ उल्लेख हुआ है और वह इस प्रकार है--

ककर्दवे ऋषभो युक्त असीद् अवावचीत् सर्राथरस्य केशी,
दुधर्युक्तस्य द्रवतः सहानस ऋच्छन्ति मा निष्पदो मुद्गलानीम्।।

ऋग्वेद १०/१०२/६

इस सूक्त की ऋचा की प्रस्तावना में निरुक्त में 'मुद्गलस्य हृता गाव आदि श्लोक उद्धृत किए गए हैं कि मुद्गल ऋषि की गायों को चोर चुरा ले गए थे। उन्हें लौटाने के लिए ऋषि ने केशी ऋषभ को अपना सारथी बनाया, जिसके वचन मात्र से वे गायें आगे न भागकर पीछे की ओर लौट पड़ी। इस ऋचा का भाष्य करते हुए सायणाचार्य ने केशी और वृषभ का वाच्यार्थ पृथक् बतलाया है, किन्तु प्रकारान्तर से उसे स्वीकृत भी किया है-- अथवा अस्य सारथि, सहायभूतः केशी प्रकृष्ट केशी वृषभः अवाचीत् भ्रशमशब्दयत्" इत्यादि।

मुद्गल ऋषि के सारथी (विद्वान नेता) केशी वृषभ जो शत्रुओं का विनाश करने के लिए नियुक्त थे, उनकी वाणी निकली, जिसके फलस्वरूप मुद्गल ऋषि गौवें (इन्द्रियाँ) जुते हुए दुर्द्धर रथ (शरीर) के साथ दौड़ रही थीं, वे निश्चल होकर मौद्गलानी (मुद्गल की स्वात्मवृत्ति) की ओर लौट पड़ीं अर्थात् मुद्गल ऋषि की इन्द्रियाँ जो स्वरूप से पराङ्मुख हो अन्य विषयों की ओर भाग रहीं थीं, वे उनके योगयुक्त ज्ञानी नेता केशी वृषभ के धर्मोपदेश को सुनकर अन्तर्मुखी हो गयीं अपने स्वरूप में प्रविष्ट हो गयीं।[20]

ऋषभदेव की प्राचीन प्रतिमायें प्रायः जटाजूट से युक्त मिलती हैं। राजस्थान में 'ऋषभदेव' नामक स्थान पर भगवान् ऋषभदेव की जटाजूट से युक्त सातिशय प्रतिमा विराजमान है, जो वहाँ के आदिवासियों, सामान्य हिन्दू जनता, श्वेताम्बर एवं दिगम्बर सभी में बड़े आदर के साथ पूजी जाती है। केसर (जटाजूट) युक्त होने के कारण इसे केसरियानाथ कहने लगे और केसर चढ़ाने की परम्परा चल पड़ी। इसी प्रकार मध्यप्रदेश के कुण्डलपुर स्थान में भगवान् ऋषभदेव की जटाओं के भार से सुशोभित बृहत्काय पद्मासन प्रतिमा है, यह भी सातिशय है। इसी प्रकार अन्य प्राचीन ऋषभ प्रतिमायें भी जटाभार से युक्त प्राप्त होती हैं। किसी अन्य तीर्थंकर की जटाओं का वर्णन किसी ग्रन्थ में नहीं मिलता। ऋषभदेव के तपस्यारत रूप में जटाओं

का होना अपवाद है। यही कारण है कि ऋषभदेव के अतिरिक्त अन्य किसी तीर्थंकर मूर्ति के सिर पर जटाभार नहीं मिलता।[२१]

श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार भगवान, ऋषभदेव जब मुनि बने तब उन्होंने चार मुष्टि केशलोंच किया, जब कि सामान्य परम्परा पाँचमुष्टि केशलोंच करने की है। भगवान केशलोंच कर रहे थे, दोनों पार्श्वभागों का केशलोंच करना बाकी था, तब देवराज शक्रेन्द्र ने भगवान से प्रार्थना की– इतनी रमणीय केशराशि को इसी प्रकार रहने दें। भगवान ने उसकी बात मानी और उसे वैसे ही रहने दिया। इसीलिए भगवान ऋषभ की मूर्ति के कन्धों पर आज भी केशों की बल्लरिका की जाती है। घुँघराले और कन्धों तक लटकते हुए बाल उनकी प्रतिमा के प्रतीक हैं।[२२]

केशी नाम जैन परम्परा में प्रचलित रहा। भगवान् महावीर के समय पार्श्वनाथ के सम्प्रदाय के एक आचार्य का नाम केशीकुमार था, जिनका कि गौतम गणधर के साथ संवाद हुआ था। यह बात उत्तराध्ययन सूत्र के तेईसवें अध्ययन से प्रकट है। इस प्रकार ऋग्वेद में उल्लिखित वातरशना (दिगम्बर) मुनियों के निर्ग्रन्थ साधुओं तथा उन मुनियों के नायक केशी मुनि का ऋषभदेव के साथ एकीकरण हो जाने से जैनधर्म की– प्राचीन परम्परा पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। इस आधार पर जैन धर्म अपने प्राचीन रूप में ई. पूर्व १५०० में प्रचलित मानना अनुचित न होगा।[२३]

व्रात्य

व्रात्य किसी जातिविशेष का नाम नहीं है। जो निजी जीवनचर्या में व्रतों का कठोरता से पालन करते थे, उन्हें व्रात्य कहा जाता था। ये आर्यों के भारत आगमन से पूर्व के भारतीय थे। उन व्रात्यों से वैदिक आर्यों को संघर्ष करना पड़ा। कीकट देश में उन्हें युद्ध में सफलता नहीं मिली। कीकट देश के राजा पुमगंद के गोधन तथा अन्य ऐश्वर्य को हरने के लिए इन्द्र को प्रोत्साहित तथा उनका आह्वान किया गया, किन्तु फिर भी उन्हें सफलता नहीं मिली। वस्तुतः व्रात्य यज्ञ विरोधी थे। व्रतों तथा आत्मसाधना में उनका दृढ़ विश्वास था। उनकी दिनचर्या कठिन थी। इन व्रात्यों की बस्तियाँ आर्यों से चारों ओर घिरी हुई थीं। जब आर्य लोग इन व्रात्यों के सम्पर्क में आए तो उन्होंने इनके आध्यात्मिक ज्ञान, साधना तथा उच्च मान्यताओं को देखा, समझा तो इनकी प्रशंसा की और इनसे प्रभावित भी हुए। अथर्ववेद में व्रात्य सूक्त का वर्णन विस्तार से लभ्य है। वहाँ व्रात्य के विषय में कहा गया है कि जो देहधारी आत्मायें हैं, जिन्होंने आत्मा को देह से ढका है, इस प्रकार

के जीवसमूह समस्त प्राणधारी चैतन्य सृष्टि के स्वामी हैं, वे व्रात्य कहलाते हैं। वात्यों ने तप के द्वारा आत्म–साक्षात्कार किया[२४]–

व्रात्यं आसीदीयमान एक स प्रजापतिं समैरयत् (१)
स प्रजापतिः सुवर्णमात्मन्नपश्यत्त प्राजनयत् (२)
तदेक भभवत्तल्ललामभभवत्तन्महद्भवत्त ज्जयेष्ठमभवत्त
दब्रह्माभवत्ततपोऽभवत्तत्सत्यमभवत्तेन प्राजायत (३)
सो ऽ वर्धत स महानभवत्स महादेवो ऽ भवत् (४)
स देवनामीशां पर्येत्स ईशानोऽभवत् (५)
स एकव्रात्योऽभवत्स धनुरादत्ततदेवेन्द्रधनुः (६)
नीलमस्योदरं लोहितं पृष्ठम् (७)
नीलेनेवाप्रियं भ्रातव्यं प्रोणोति लोहितेन
द्विवत्तैविध्यतीति ब्रह्मवादिनो वदन्ति ।। (८)

(अथर्ववेद काण्ड। ५ सूक्त१

अर्थात् व्रात्य या समूहों का हित करने वाला समूहपति सबका प्रेरक था। उसने प्रजापति को उत्तम प्रेरणा दी।

उस प्रजापति ने अपने को उत्तम तेजवर्ण से युक्त देखा। उसने सबको उत्पन्न किया।

वह एक हो गया, वह विलक्षण हो गया, वह बडा हुआ, वह श्रेष्ठ हुआ, वह ब्रह्मत्व को प्राप्त हुआ। वह तपोमय हो गया। तत्पश्चात् उससे सत्य प्रकट हुआ। फिर वह बढ़ गया। वह महान् बन गया। महादेव के पद को प्राप्त हुआ। वह (फिर) सभी देवताओं का अधिष्ठाता बना, वही बाद में ईशान बन गया। और अन्त में व्रात्य पद पर आसीन हुआ। उसने धनुष धारण किया, वही इन्द्रधनुष बन गया, जिसका पेट नीला और पीठ लाल रंग की है।

वह नीले भाग से अप्रियों का उन्मूलन करता है और लाल भाग से द्वेष करने वालों का विनाश करता है।

इस सूक्त में यह भी कहा गया है कि व्रात्य के अनुगामी श्येता, प्रजापति नैषध, सप्तर्षि राजा सोम आदि हैं। जो व्रात्य का उपहास करता है, सोम आदि उससे नाराज हो जाते हैं। वेदों में सोम को ब्राह्मणों का राजा कहा है और सप्तर्षि सात प्राचीन ऋषियों तथा सात तारों के प्रतीक माने जाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि व्रात्य देवता नहीं था, वह मनुष्य था। उसने तप किया और विराट व्यक्तित्व की उपलब्धि की।[२५]

अथर्ववेद में उल्लिखित व्रात्य के उपर्युक्त विशेषण भगवान् ऋषभदेव पर

घटित होते हैं, ऋषभदेव आप्त पुरुष थे। आचार्य समन्तभद्र ने आप्त को उच्छिन्न दोष, सर्वज्ञ और आगमेश बतलाया है। इससे उसमें वीतरागता, सर्वज्ञता और हितोपदेशित्व रूप गुण प्रकट होता है। हितोपदेशी होने से व्रात्य को समूहों का हित करने वाला ठीक ही कहा है। समन्तभद्राचार्य ने ऋषभदेव को प्रजापति भी कहा है; क्योंकि उन्होंने प्रजाओं को कृषि आदि कर्मों की शिक्षा दी। तपश्चर्या के फलस्वरूप जब उन्हें केवल ज्ञान की उपलब्धि हो गयी तो वह ब्रह्मत्व या आत्मत्व को प्राप्त हो गये, उन्हें सत्य का साक्षात्कार हो गया। सत्य के साक्षात्कार से वे महान् बन गए। उन्हें महादेव के रूप में जाना गया। अनन्तर वे सभी देवताओं के अधिष्ठाता बन गए। देवों ने उनके ज्ञानकल्याणक की पूजा की। उनके समवसरण में बैठकर श्रद्धापूर्वक उपदेशामृत का पान किया। उन्होंने अनेकान्त रूप धनुष धारण किया। उस अनेकान्त रूप धनुष से अप्रिय सर्वथा एकान्तवाद का उन्मूलन हुआ और उसके आत्मतेज रूप लाल रंग से द्वेषियों का विनाश हुआ।

व्रात्य रूप ऋषभ के अनुगामी अनेक राजा (प्रजापति) हुए। मन्वादि सात ऋषि जो चारण ऋद्धिधारी हुए हैं, वे उसके अनुगामी थे। सोम अर्थात् राजा सोमप्रभ ने तपः काल में आहारदान देकर उनके प्रति अत्याधिक श्रद्धा और भक्ति प्रदर्शित की। जो भगवान ऋषभ का उपहास करता है, राजा सोम उस पर कुपित होते हैं।

सोम का अर्थ यदि चन्द्रमा लिया जाय तो भगवान् ऋषभदेव के समवसरण में सूर्य, चन्द्र और सप्तऋषि आदि ज्योतिषी देव विराजमान होकर धर्मोपदेश सुनते हैं। इस प्रकार तप से ऋषभदेव ने विराट व्यक्तित्व की उपलब्धि की।

व्रात्य सूक्त का दूसरा अंश इस प्रकार है—

स सतत्सुरमुर्ध्वोतिष्ठत् ते देवा अब्रुवन व्रात्य
किं नु तिष्ठासीर्ति (१)।
सो ऽ ब्रवीदासन्द्रीं मे संभरन्त्विति (२)
तस्मै व्रात्याय आसन्दीं सुभमरन् (३)
तस्या ग्रीष्मश्चवसन्तश्च द्वौषादावास्ताश्रच्च वर्षाश्च द्वौ (४)
बृहच्चरथंतरंचा ऽ नूच्ये ऽ आसता यज्ञाययज्ञियं च वामदेव्य ति रश्चये(५)
ऋचः प्राच श्चस्तन्तवो यतूषितिर्यन्चः (६)
वेद आस्तरणं ब्रह्मोपबर्हणम् सामासाद उद्‌गीथे ऽ पश्रयः (७-८)
तामासन्दी व्रात्य आरोहत् (९)

अर्थात् वह वर्ष भर खड़ा रहा। उससे देवताओं ने कहा— हे व्रात्य तू क्यों खड़ा है। उसने उत्तर दिया मेरे लिए बैठने का आसन लाओ। तब वे उस महाव्रती के लिए बैठने की चौकी लाए। उस चौकी के ग्रीष्म, बसन्त शरद और वर्षा ये चार पंख थे। बृहत् और रथन्तर ये दोनों पार्श्व के फलक थे और यज्ञायज्ञिय तथा वामदेव्य ये दोनों फलक थे। ऋग्वेद एवं यजुर्वेद के मन्त्र बीच के बुने हुए तन्तु थे। वेद उसका बिछौना था। ब्रह्म उसका ओढ़ना था। साम उसका गद्दा तथा उद्गीथ उसका तकिया था। ऐसी रम्य चौकी पर वह व्रात्य चढ़ा।

भगवान् ऋषभदेव जैन मान्यता के अनुसार प्रव्रज्या ग्रहण करने के बाद छः मास तक कायोत्सर्ग रूप में सीधे खड़े रहे और छः माह तक आहार के लिए विचरण करते रहे। इस तरह एक वर्ष तक खड़ा रहना पड़ा। अन्य विशेषण उपर्युक्त सूक्त में प्रतीक रूप में दिए गए हैं। दिगम्बर रहने के कारण ग्रीष्मादि ऋतुयें ही उनके आसन का पाया थीं। मार्ग ही उस चौकी के फलक थे; क्योंकि जैन मुनि का वर्षावास के अतिरिक्त अन्य समय में एक स्थान पर अधिक दिनों तक रहना निषिद्ध है। वेद ज्ञानराशि को कहते हैं। ज्ञानराशि ही उनके बैठने हेतु तन्तु थी तथा ज्ञान रूपी बिछोने को वे प्रयोग करते थे, उनहोंने निद्रा पर विजय प्राप्त कर ली थी, अतः ज्ञान ही उनका बिछौना था।

अथर्ववेद के सूक्त (३० वें १५.१.१५) में व्रात्य को सप्त प्राणाः सप्तय अपानाः सप्तव्याना अर्थात् सात अपान तथा सात व्यान आदि विशेषणों से सम्बोधित किया है। सूक्तकार ने स्वयं इनकी व्याख्या भी वहीं दी है और उसमें परिलक्षित होती है महायोगी की ब्रह्माण्ड अन्तश्चेतना। विवरण इस प्रकार है[२६]—

उस व्रात्य का जो पहिला प्राण है वह यह ऊर्ध्व नामक अग्नि है। उस व्रात्य का जो द्वितीय प्राण है, वह प्रौढ़ नामक यह आदित्य है। उस व्रात्य का जो तृतीय प्राण है, वह अभ्यूढ नामक यह चन्द्र है। उस व्रात्य का जो चतुर्थ प्राण है वह योनि नामक आप है। उस व्रात्य का जो छठा प्राण है, वह प्रिय नामक पशु है। उस व्रात्य का जो सातवाँ प्राण है, वे अपरिमित नामक प्रजा हैं। इस व्रात्य का जो पहिला अपान है वह पौर्णमासी है। उस व्रात्य का जो द्वितीय अपान है, वह अष्टका है, उस व्रात्य का जो तृतीय अपान है, वह अमावस्या है, उस व्रात्य का जो चतुर्थ अपान है, वह श्रद्धा है। उस व्रात्य का जो पञ्चंम अपान है, वह दीक्षा है। उस व्रात्य का जो छठा अपान

है, वह यज्ञ है। उस व्रात्य का जो सातवाँ अपान है वह दक्षिण है। उस व्रात्य का जो पहिला व्यान है वह यह पृथ्वी है, उस व्रात्य का जो द्वितीय व्यान है, वह अन्तरिक्ष है, उस व्रात्य का जो तृतीय व्यान है, वह द्यौ है, उस व्रात्य का जो चतुर्थ व्यान है, वह नक्षत्र हैं, उस व्रात्य का जो पाचवाँ व्यान है वे ऋतुयें है, उस व्रात्य को जो षष्ठ व्यान है, वे ऋतुओं में उत्पन्न होनेवाले पदार्थ हैं। उस व्रात्य का जो सातवाँ व्यान है, वह संवत्सर है। उस व्रात्य के समान अर्थ को सब देव घेरते है, अनुकूल होते हैं। संवत्सर को निश्चित रूप से ये ऋतु अनुकूलता से व्यापते हैं। व्रात्य को भी घेरते हैं। उस व्रात्य के जो भाव आदित्य में प्रविष्ट होते हैं, अमावस्या और पौर्णमासी में भी वे ही होते हैं। उस व्रात्य का इन सबका अमरपन एक आहुति ही है।

व्रात्य के विषय में उपर्युक्त वर्णन प्रतीकात्मक है। इसमें आत्मतत्व की व्यापकता का निदर्शन है। आत्मा ज्ञान की अपेक्षा ज्ञेय प्रमाण है। ज्ञेय में सभी वस्तुयें अन्तर्भूत होती हैं। अथवा जब केवली मोक्ष के सम्मुख होते हैं तो समुद्घात अवस्था में उनकी आत्मा के प्रदेश समस्त लोक में फैल जाते हैं। इसी प्रकार के सर्वव्यापकत्व की यहाँ प्रतीकात्मक व्याख्या की गयी है।

अथर्ववेद का १५ के दूसरे सूक्त में एक वाक्यांश इस प्रकार है— 'सुवर्णमात्मन्नपश्यत् तत् प्राजनयत्' इस वाक्य में सुवर्ण के स्थान में हिरण्यगर्भ बदलकर शेष सम्पूर्ण वाक्य लगभग इसी रूप में व्रात्य अनुश्रुति से सम्बद्ध श्वेताश्वतर उपनिषद् में इस प्रकार दुहराया है— **'यो देवानां प्रभवश्च उद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षि हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वम्।'** यहाँ हिरण्यगर्भ शब्द उल्लेखनीय है। जैन शास्त्रों में तो ऋषभदेव को हिरण्यगर्भ कहा है और उनके शरीर का वर्ण सुवर्ण के समान बतलाया है।[२७]

व्रात्य शब्द व्रत या ब्रात से बना है। जैनधर्म में व्रतों का जो महत्त्व है, वह आज भी किसी ब्राह्मणेतर धर्म में नहीं है। व्रात्य का अर्थ घुमक्कड़ होता है अर्थात् जो एक जगह स्थिर होकर न रहता हो। 'वज्जि' शब्द भी ब्रज् या वर्ज् धातु से बना प्रतीत होता है और वर्ज् का अर्थ है त्यागना। अतः ब्रात और ब्रज का अर्थ समान है और व्रत तथा बर्ज् का अर्थ समान है। दोनों का अर्थ त्याग है। ब्रात का अर्थ है घुमक्कड़ और व्रज का अर्थ है चलना। व्रज् से ही परिव्राजक शब्द बना जो साधु के अर्थ में व्यवहृत हुआ।[२८] उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि व्रात्य भ्रमणशील साधु थे। अतः प्राचीन व्रात्य लोग यदि उत्तर काल में वज्जि कहे जाते लगे हों तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।[२९]

सामवेद के ताण्ड्य ब्राह्मण व लाट्यायन, कात्यायन एवं आपस्तम्बीय श्रौत सूत्रों में व्रात्यस्तोमविधि द्वारा उन्हें शुद्ध कर वैदिक परम्परा में सम्मिलित करने का वर्णन है। ये व्रात्य वैदिक विधि से अदीक्षित व संस्कारहीन थे। वे अदुरुक्त वाक्य को दुरुक्त रीति से वैदिक व संस्कृत नहीं, किन्तु अपने समय की प्राकृत भाषा में बोलते थे। वे ज्याह्रद (प्रत्यंचारहित धनुष) धारण करते थे। मनुस्मृति (अध्याय–१०) में लिच्छवि, नाथ, मल्ल आदि क्षत्रिय जातियों को व्रात्यों में गिनाया है। ये सब जातियाँ जैनधर्मानुयायी थीं। इन सब उल्लेखों पर सूक्ष्मता से विचार करने से इसमें सन्देह नहीं रहता कि ये व्रात्य श्रमण परम्परा के साधु व गृहस्थ थे, जो वेद विरोधी होने से वैदिक अनुयायियों के कोपभाजन हुए हैं। जैनधर्म के मुख्य पाँच अहिंसादि नियमों को व्रत कहा है। उन्हें ग्रहण करने वाले श्रावक देशविरत या अणुव्रती और मुनि महाव्रती कहलाते हैं। जो विधिवत् व्रत ग्रहण नहीं करते तथापि धर्म में श्रद्धा रखते हैं, वे अविरत सम्यग्दृष्टि कहे जाते हैं। इसी प्रकार के व्रत धारी व्रात्य कहे गए प्रतीत होते हैं, क्योंकि वे हिंसात्मक यज्ञविधियों के नियम से त्यागी होते हैं। इसीलिए उपनिषदों में कहीं कहीं उनकी प्रशंसा भी पायी जाती है। जैसे प्रश्नोपनिषद् में कहा गया है– 'व्रात्यस्त्वं प्राणैक ऋषिरत्ता विश्वस्य सत्पतिः' (२/११)। शांकर भाष्य में व्रात्य का अर्थ स्वभावत एवं शुद्ध इत्यभिप्रायः' किया गया है।[३०] तैत्तरीय ब्राह्मण में कहा गया है कि जिसके कुल में पिता, पितामह आदि ने सुरापान नहीं किया, वह व्रात्य है।[३१]

अथर्ववेद में मागधों का व्रात्यों के साथ निकट सम्बन्ध बतलाया है। अतः व्रात्यों को मगध का वासी माना जाता है। श्री काशी प्रसाद जायसवाल के अनुसार लिच्छवि पाटलिपुत्र के सामने मुजफ्फरपुर जिले में राज्य करते थे। वे व्रात्य अर्थात् अब्राह्मण क्षत्रिय कहलाते थे। वे गणतन्त्र राज्य के स्वामी थे। उनके अपने पूजा स्थान थे, उनकी अवैदिक पूजाविधि थी, उनके अपने धार्मिक गुरु थे। वे जैनधर्म और बौद्धधर्म के आश्रयदाता थे। उनमें महावीर का जन्म हुआ। मनु ने उन्हें पतित बतलाया है।[३२]

हिरण्यगर्भ

ऋग्वेद के दशम मण्डल में १२१ वाँ सूक्त हिरण्यगर्भ के विषय में है, जिसकी कुछ ऋचायें इस प्रकार हैं–

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक असीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम।।१।।

हिरण्यगर्भ सबसे प्रथम उत्पन्न हुआ, वह जन्म से ही उत्पन्न प्राणियों

का अकेला स्वामी था। उसने पृथ्वी, आकाश तथा इन सबको धारण किया। किस देवता का हम हवि से पूजन करें?

'सायण ने हिरण्यगर्भ की व्युत्पत्ति दी है— हिरण्मयस्याण्डस्य गर्भभूतः प्रजापतिर्हिरण्यगर्भः। यद्वा हिरण्मयो ऽ ण्डो गर्भवद्यस्योदरे वर्तते सो ऽ सौ सूत्रात्मा हिरण्यगर्भ इत्युच्यते।' अर्थात्— हिरण्यमय अण्डे का गर्भभूत प्रजापति हिरण्यगर्भ है अथवा हिरण्यमय अण्डा जिसके उदर में गर्भ की तरह है, वह सूत्रात्मा हिरण्यगर्भ कहा जाता है।

यः आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।
यस्यच्छयामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम।।२

जो प्राण देने वाला है, बल देने वाला है, जिसकी आज्ञा सभी मानते हैं, जिसकी आज्ञा देवता भी मानते हैं। जिसकी छाया अमृत है, जिसकी छाया मृत्यु है। किस देवता का हम हवि से पूजन करें।

यः प्राणतो निभिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम।।३।।

जो अपनी महानता से श्वास लेनेवाले तथा पलक मारने वाले जंगमों का अकेला राजा हुआ है, जो इस दो पैर वाले तथा चार पैर वाले का शासन करता है। किस देवता का हम हवि से पूजन करें।

यस्य इमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया समाहुः।
यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम।।४

जिसकी महिमा ये पर्वत तथा नदियों सहित समुद्र कहते हैं, जिसकी ये दिशायें व उपदिशायें बाहू हैं। किस देवता का हम हवि से पूजन करें।

येनद्यौरुग्रा पृथिवी च दृळ्हा येन स्वः स्तभितं येननाकः।
यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम।।५।।

जिसके द्वारा द्युलोक शक्तिशाली है तथा पृथिवी स्थिर है, जिसके द्वारा प्रकाश लोक स्थिर है तथा जिसके द्वारा सूर्य रुका है, जो अन्तरिक्ष में लोगों को नाप रहा है। किस देवता का हम लोग हवि से पूजन करें।

यं क्रन्दसी अवसा तस्तभाने अभ्यैक्षेतां मनसा रेजमाने।
यत्राधिसूर उदितो विभाति कस्मै देवाय हविषा विधेम।।६।।

(प्राणियों की) रक्षा के लिए स्थिर किये गए आकाश तथा पृथ्वी चमकते हुए मन से जिसे देखते हैं, जहाँ पर उदय हुआ सूर्य चमकता है। किस देवता का हम हवि से पूजन करें।

प्रजापते न त्वत् एतानि अन्यः विश्वा जातानि।
परि ता बभूव यत् ऽ कामाः ते जुहुमः तत् नः।
अस्तु वयम् स्याम पतयः रयीणाम् ।।१०।।

ओ प्रजापति, तुमसे भिन्न ये जितने जीव हैं, वे तुमको चारों तरफ से व्याप्त नहीं कर सकते; जिस कामना से हम तुम्हें हवि प्रदान करते हैं, वह हमारी इच्छा पूरी हो। हम धन के स्वामी बनें।

यहाँ हिरण्यगर्भ को प्रजापति कहा है। जैन परम्परा भगवान ऋषभदेव को प्रजापति मानती है। स्वयम्भू स्तोत्र में कहा है—

प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषूः
शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः।
प्रबुद्धतत्त्वः पुनरद्भुतोदयो
ममत्वतो निर्विविदे विदांवरः।।२।।

अर्थात् जिन्होंने प्रथम प्रजापति के रूप में देश काल और प्रजा परिस्थिति के तत्त्वों को अच्छी तरह से जानकर जीने की इच्छा रखने वाले प्रजाजनों को सबसे पहले कृषि आदि कर्मों में शिक्षित किया और फिर हेयोपादेय तत्त्व का विशेष ज्ञान प्राप्त करके आश्चर्यकारी उदय को प्राप्त होते हुए; जो ममत्व से ही विरक्त हो गए और इस तरह जो तत्त्वेत्ताओं में श्रेष्ठ हुए (वे नाभिनन्दन ऋषभदेव मेरे अन्तःकरण को पवित्र करें[३३]।)

आदिपुराण में कहा है—

युगादि ब्रह्मणा तेन यदित्थं स कृतो युगः। ततः कृतयुगं नाम्नातं पुराणविदोविदुः। आषाढमासबहुल प्रतिपद्दिवसे कृती। कृत्वा कृतयुगारम्भं प्राजापत्यमुपेयिवान् ।।

आदिपुराण १६/१८९-१९०

चुँकि युग के आदि ब्रह्मा भगवान वृषभदेव ने इस प्रकार कर्मयुग का आरम्भ किया था, इसलिए पुराण के जानने वाले उन्हें कृतयुग के नाम से जानते हैं।

कृतकृत्य भगवान् वृषभदेव आषाढ़ मास के कृष्णपक्ष की प्रतिपदा के दिन कृतयुग का प्रारम्भ करके प्राजापत्य (प्रजापतिपने) को प्राप्त हुए थे अर्थात् प्रजापति कहलाने लगे थे।

आदिपुराण के पच्चीसवें पर्व में भी वृषभदेव को प्रजापति कहा गया है—अनन्तदीप्तिर्ज्ञानात्मा स्वयंबुद्धः प्रजापतिः।। २५/११३

जन समूह के रक्षक होने से ऋषभदेव को प्रजापति कहा जाता है।

प्रजापति के साथ उन्हें हिरण्यगर्भ भी कहा गया है—

हिरण्यगर्भः श्री गर्भः प्रभूतविभवोऽभवः ।। आदिपुराण २५/११८

जब ऋषभदेव गर्भ में थे, तब पृथिवी सुवर्णमय हो गयी थी और आकाश से कुबेर ने भी सुवर्ण की वृष्टि की थी, इसलिए वे हिरण्यगर्भ कहे जाते हैं।[३४] आदिपुराण के पञ्चदश पर्व में भी कहा है—

हिरण्यगर्भस्त्वं धाता जगतां त्वं स्वभूरसि।। आ.पु. १५/५७

महाभारत शान्तिपर्व अध्याय ३४६ में हिरण्यगर्भ को योग का वक्ता बतलाया है[३५]। यथा—

हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः।

जैन परम्परा में ऋषभदेव को योगमार्ग का प्रवर्त्तक बतलाया है। श्रीमद्भागवत में कहा गया है—भगवान ऋषभदेव ने योगियों के करने योग्य आचरण दिखलाने के लिए ही अनेक चर्याओं का आचरण किया क्योंकि वह स्वयं भगवान् मोक्ष के स्वामी एवं परम महत् थे।[३६]

नाथ सम्प्रदाय जिसमें कि यौगिक क्रियाओं की प्रधानता है आदिनाथ को नाथों में प्रथम स्वीकार करता है।[३७] जैन ऋषभदेव को आदिनाथ के नाम से पुकारते हैं। आदिपुराण में उन्हें योगिराट्[३८], परमयोगी[३९], परमयोगीन्द्र[४०] इत्यादि नामों से विभूषित किया गया है।

हिरण्यगर्भ का जो वर्णन ऊपर प्रतिपादित किया गया है, वह सब लक्षणिक रूप से भगवान् ऋषभदेव पर घटित होता है। भगवान ऋषभदेव हिरण्यगर्भ कहलाए, इसके अनेक प्रमाण हैं।

पं. आशाधर के जिनसहस्रनाम (६६) की **श्रुतसागरी टीका में हिरण्यगर्भ** का अर्थ बताते हुए कहा गया— **गर्भागमनाप्त् पूर्वमपि षण्मासान् रत्नैरुपलक्षिता सुवर्णवृष्टिर्भवति तेन हिरण्यगर्भः** अर्थात् ऋषभदेव के गर्भ में आने से छह माह पूर्व रत्नों के साथ सुवर्ण की वृष्टि होने लगी, अतः उन्हें हिरण्यगर्भ कहते हैं।

आचार्य नेमिचन्द्र ने अपने प्रतिष्ठातिलक में तीर्थंकर ऋषभदेव की माता की वन्दना करते हुए कहा है—"अपने पुण्य से उत्पन्न रत्न समूह की वृष्टि से संसार को तृप्त करने वाले हिरण्यगर्भ को अपने गर्भ में धारण करने वाली आपकी कौन वन्दना नहीं करता—

"स्वपुण्योद्भूत रत्नौघवृष्टितर्पितभूतलम्।
हिरण्यगर्भं गर्भे त्वां दधानां को न वन्दते[४१]।।

नवीं शताब्दी के प्रसिद्ध नाटककार हस्तिमल्ल ने सुभद्रा नाटिका में सुन्दर काव्य शैली में हिरण्यगर्भ का वर्णन विजयार्द्ध पर्वत के वर्णन के प्रसंग में इस प्रकार किया है—

"हिरण्यगर्भ प्रथमाभिषेक कल्याण पीठस्य तयेति शोभाम्।
क्षीरोद पूरस्नापितस्य गौरो रूप्याचलोऽ यंकनकाचलस्य।।

अर्थात रजतवर्ण का यह रूप्याचल (विजयार्द्ध पर्वत) उस कनकाचल (मेरुपर्वत) की शोभा को धारण कर रहा है, जो कि हिरण्यगर्भ (ऋषभदेव) के प्रथम अभिषेक की मंडल पीठिका बनकर क्षीरसागर के जल से स्नपित हो रहा है[४२]।

यति

यति शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में १६ स्थानों पर हुआ है, किन्तु इनमें से १५ स्थलों पर यति शब्द का अर्थ प्राप्त करना, गमन करता ही मिलता है। केवल एक स्थान पर यति शब्द मुनि शब्द के अर्थ की समानता को दिखलाता है। इस मन्त्र में कण्व मेधतिथि ऋषि इन्द्र से याचना करता है कि हे शोभमान इन्द्र ! मैं पहले से ही तुमसे लाभ की याचना करता हूँ, जिससे तुम अयाज्ञिक यतियों से धन लेकर भृगु महर्षि के लिए धन प्रदान करो तथा कर्मो को नियमित रुप से पालन करने वाले अंगिरस यतियों के लिए धन प्रदान करो।[४३] ताण्ड्य में यतियों को इन्द्र का शत्रु कहा गया है। मुण्डकोपनिषद् में यतयः क्षीणदोषाः कहा गया।[४४] याज्ञवल्क्य ने यति को बाह्य तथा आन्तरिक शान्ति से युक्त दायें हाथ में तीन दण्डों को लिए हुए, बायें हाथ में सोदक कमण्डलु को धारण करने का विधान किया है। गौतम ने हिंसा तथा अनुग्रह रहित को यति कहा है। बोधायन स्मृति में भी दायें हाथ में सोदक कमण्डलु तथा बायें में तीन दण्डों को लेने वाला कहा है।[४५] रामायण में 'यतीनां ब्राह्मचारिणा' कहकर यतियों[४६] के संयमित जीवन का बोध कराया है।[४७] यतियों को कर्म न करने की भी दशा का अंकन प्राप्त होता है; क्योंकि पारदर्शी यतिगण कर्म नहीं करते। वे अलिंग, धर्मज्ञ, अव्यक्त लिगं होकर विचरण करें, ऐसा कहा है। इन अन्तः पुरुषों के अन्तर्गत ज्योति है। ऐसी अग्नि जिसके हृदय में है, वह चैतन्यात्म ज्योति से द्योतित होता है।[४८]

यति शब्द जैन परम्परा में बड़ा पूज्य है। आदिपुराण के पच्चीसवें पर्व में जिनेन्द्र भगवान के नामों में यति शब्द भी दिया है।[४९] विषय कषायों से उपरत को यति कहा जाता है। धनञ्जय कृत नाममाला में मुनि के १२ नाम बतलाए गए है, उनमें एक यति भी है।[५०] इसके अमरकीर्तिविरचित भाष्य में कहा गया है—

यतिः यो देहमात्रारामः सम्यग्विद्यानौलाभेन तृष्णा सरित्तरणाय योगाय शुक्लध्यान धर्मध्यानाय यतते स यतिः

अर्थात देह मात्र में रहता हुआ जो सम्यक् विद्या के लाभ से तृष्णा रूपी

नदी को पार करने हेतु योग अर्थात् शुक्लध्यान और धर्म ध्यान के लिए यत्न करता है, उसे यति कहते हैं। यशस्तिलक चम्पू में कहा गया है—

"यः पापपाशनाशाय यतते स यतिर्भवेत्।।"

अर्थात् जो पाप का नाश करने के लिए यत्न करता है। वह यति होता है।[५२]

प्रवचनसार में 'जदीणं = यतीनां कहकर यतियों का निर्देश किया है।[५२] इसकी व्याख्या में आचार्य जयसेन ने कहा है—

जदीणं—जितेन्द्रियत्वेन शुद्धात्मस्वरूपे यत्नपराणां गणधरदेवादियतीनाम्।।

जहाँ यतियों से तात्पर्य जितेन्द्रियता होने से शुद्धात्मस्वरूप में यत्न करने में तत्पर गणधरदेवादि यतियों से हैं।

चारित्रसार में कहा है—

यतयः उपशमक्षपक श्रेण्यारूढा भण्यन्ते'।।४६/४

जो उपशम श्रेणी वा क्षपक श्रेणी में विराजमान हैं, उन्हें यति कहते हैं।

अन्यत्र चारित्र में यत्न करने वाले को यतिकहा गया है[५३]। किसी समय जैनधर्म यतिधर्म के नाम से भी कहा जाता था।[५४] ये यती ऐसे परिव्राजक थे, जिनके विचार अवैदिक थे—

"यतयो नाम नियमशीला असुर्याः प्रजा...... यद्वात्र यतिशब्देन वेदान्तार्थविचार शून्याः परिव्राजका विवक्षिताः-सायण भाष्य।

"यतयः यजनविरोधिजनाः[५५]"—सायण, पंचविंश ब्राह्मण १३-४७; (८-१-४)

वेदों में ऋषियों, मुनियों और यतियों के बीच तालमेल पाया जाता है, किन्तु कुछ ही पश्चात् यतियों के प्रति वैदिक परम्परा में महान् रोष उत्पन्न होने के प्रमाण हमें ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलते हैं, जहाँ इन्द्र द्वारा यतियों को शालिवृकों (शृगालों व कुत्तों) द्वारा नुचवाए जाने का उल्लेख मिलता है (तैत्तरीय संहिता २, ४, ९, २, ६, २, ७, ५ ताण्ड्य ब्राह्मण १४, २, २८, १८, १, ९) किन्तु इन्द्र के इस कार्य को देवों ने उचित नहीं समझा और उन्होंने इसके लिए इन्द्र का बहिष्कार भी किया। (ऐतरेय ब्राह्मण ७/२८) ताण्ड्य ब्राह्मण के टीकाकारों ने यतियों का अर्थ किया है— वेदाविरुद्धनियमोपेत कर्मविरोधि जन, ज्योतिष्टोमादि अकृत्वा प्रकारान्तरेणः वर्तमान आदि।

भगवद्गीता में ऋषियों, मुनियों और यतियों का स्वरूप भी बतलाया है और उन्हें समान रूप से योगसाधना में प्रवृत्त माना है। यहाँ मुनि को इन्द्रिय और मन का संयम करने वाला, इच्छा, भय व क्रोधरहित मोक्षपरायण व सदा मुक्त के समान माना है[५६] और यति को का

म–क्रोध रहित, संयत चित्त व वीतराग कहा है। इन्हें जीवित रहते हुए और मरने के पश्चात् भी दोनों अवस्थाओं में ब्रह्मनिर्वाण[५७] अर्थात् मोक्ष प्राप्त हुआ रहता है। आचार्य शंकर ने यति का अर्थ यत्नशील सन्यासी किया है।[५८]

श्री मद्भागवत में यतिधर्म का प्रतिपादन[५९] हुआ है, तदनुसार यति शरीर के अन्य सभी वस्तुओं को त्याग दे[६०] (देहमात्रावशेषितः)। वह एक ग्राम में केवल एक रात्रि ठहरने का नियम लेकर कुछ इच्छा न रखता हुआ पृथिवी पर स्वच्छन्द विचरे। यदि वस्त्र धारण करना चाहे तो केवल कौपीन भर पहने और जब तक कोई विशेष अपत्ति न आवे, तब तक दण्ड तथा आश्रम के चिन्ह के अतिरिक्त और कोई वस्तु धारण न करे। सब प्राणियों का सुहृत्, शान्त तथा नारायण परायण हो भिक्षु किसी का आश्रय न ले ओर आत्माराम भाव से अकेला विचरण करे। सब आत्मदर्शी यति सुषुप्ति तथा जागृति की सन्धि में आत्मस्वरूप का साक्षात्कार करके बन्धन तथा मोक्ष केवल माया मात्र हैं, वास्तव में उनका कुछ अस्तित्व नहीं है–ऐसा समझकर सर्वत्र परब्रह्मस्वरूप आत्मा का ही दर्शन करे। शरीर को अवश्य प्राप्तव्य मृत्यु अथवा अध्रुव जीवन का अभिनन्दन न करे, अपितु सभी प्राणियों की उत्पत्ति तथा नाश के कारण रूपी काल की प्रतीक्षा करता रहे। असत् शास्त्रों में प्रीति न करे, न किसी आजीविका का आश्रय ले। विवाद के लिए होने वाले तर्कों को सर्वथा त्याग दे, किसी पक्षविशेष को स्वीकार न करे। शिष्यमण्डली न जुटावे, बहुतेरे ग्रन्थों को अभ्यास न करे, शास्त्रों की व्याख्या न करे और न आरम्भों का आरम्भ करें। शान्त तथा समचित्त यति के लिए आश्रम प्रायः धर्माचरण के लिए नहीं है, अतः अपनी इच्छानुसार उसे रखे या छोड़ दे।

बाह्य चिन्ह से रहित किन्तु आत्मानुसन्धान में संलग्न ज्ञानी बुद्धिमान् होकर भी अन्य मनुष्यों के समक्ष उन्मत्त तथा बालक की भाँति और विद्वान् होकर भी गूँगे के समान अपने को जतलावे।[६१]

आचार्य कुन्दकुन्द ने यतनशील के लिए प्रयत (पयदो[६२]) शब्द दिया है। जो श्रमण सदा ज्ञान में और दर्शनादि में प्रतिबद्ध तथा मूलगुणों में प्रयत (प्रयत्नशील) विचरण करता है, वह परिपूर्ण श्रामण्यवान् है। श्रमण के शयन, आसन, स्थान, गमन इत्यादि में जो अप्रयतचर्या है, वह सदा हिंसा मानी गयी है।[६३] जीव मरे या जिये अप्रयत आचार वाले के हिंसा निश्चित है। प्रयत के, समितिवान के हिंसामात्र से बन्ध नहीं है।[६४] अप्रयत आचार वाला श्रमण छहों काय सम्बन्धी बध का करने वाला मानने में–कहने में आया है। यदि सदा प्रयत रूप से आचारण करे तो जल में कमल की भाँति निर्लेप कहा

गया है।[६५]

अर्हन्

आचार्य बिनोवा भावे का कहना है कि ऋग्वेद में भगवान की प्रार्थना में कहा गया है—'अर्हन्निदं दयसे विश्वमभ्वम्[६६]' अर्थात् हे अर्हन् तुम इस तुच्छ दुनियाँ पर दया करते हो। इसमें अर्हत् और दया दोनों जैनों के प्यारे शब्द हैं। मेरी तो मान्यता है कि जितनी वैदिक संस्कृति प्राचीन है, शायद उतनी ही जैन संस्कृति प्राचीन है।[६७]

आचार्य बिनोबा भावे ने जिस सूक्त की ओर संकेत किया है। प्रतिष्ठातिलक के कर्त्ता आचार्य नेमिचन्द्र उससे प्रभावित हैं। वे अर्हन्त के गुणों का वर्णन करते हुए कहते हैं—

अर्हत् बिभर्षि मोहारिविध्वंसिनय सायकान्।
अनेकान्त द्योतिनिबधि प्रमाणोदारधनुः च।।
ततस्त्वमेवदेवा ऽ सि युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्।
दृष्टेष्टवाधितेष्टाः, स्युः सर्वथैकान्तवादिनः।।
अर्हन्निष्कमिवात्मानं बहिरन्तर्मलक्षयम्।
विश्वरूपं च विश्वार्थे वेदितं लभसे सदा।।
अर्हन्निदं च दयसे विश्वमभ्यंतराश्रयम्।
नृसुरासुरसंघातं मोक्षमार्गोपदेशनात्।।
ब्रह्मासुरजयी चान्यो देश रुद्रस्त्वदस्ति।

आचार्य नेमिचन्द्र : प्रतिष्ठातिलक ३७४.७८

हे अर्हन् ! आप मोह शत्रु को नष्ट करने वाले 'नय' रूपी बाणों को धारण करते हो तथा अनेकान्त को प्रकाशित करने वाले निर्बाध प्रमाण रूप विशाल धनुष के धारक हो। युक्ति एवं शास्त्र से अविरुद्ध वचन होने के कारण आप ही हमारे आराध्य देव हो। सर्वथा एकान्तवादी हमारे देवता नहीं हो सकते; क्योंकि उनका उपदेश प्रत्यक्ष एवं अनुमान से बाधित है।

'हे अर्हन् ! आप ऐसी आत्मा को धारण करते हो जो निष्क अर्थात् आभूषण या रत्न की तरह प्रकाशमान् है, बाह्य और अन्तःमल से रहित है और जो समस्त विश्व के पदार्थों को एक साथ जानता है। हे अर्हन् ! आप मनुष्य, सुर एवं असुर सभी को मोक्षमार्ग का उपदेश देते हो अतः विश्व पर दया भाव से परिपूर्ण हो। आपसे अन्य कोई और ब्रह्म अथवा असुर को जीतने वाला बलवान् देवता नहीं है।[६८]

वराहमिहिर ने कहा है कि अर्हन्तदेव की मूर्ति दिगम्बर, तरुण और रूपवान् बनानी चाहिए—

दिम्वासास्तरूणो रूप वांशच कार्यो ऽ ईर्ता देवः[६९]।

जैनदर्शन में व्यक्ति अपने कर्मों का विनाश कर स्वयं परमात्मा बन जाता है। उस परमात्मा की दो अवस्थायें हैं— एक शरीर सहित जीवनमुक्त अवस्था और दूसरी शरीर रहित देह मुक्त अवस्था। पहली अवस्था को यहाँ अर्हन्त और दूसरी अवस्था को सिद्ध कहा जाता है। अर्हन्त भी दो प्रकार के होते हैं— तीर्थंकर व सामान्य। विशेष पुण्य सहित अर्हन्त जिनके कि कल्याणक महोत्सव मनाये जाते हैं, तीर्थंकर कहलाते हैं और शेष सर्व सामान्य अर्हन्त कहलाते हैं। केवल ज्ञान और सर्वज्ञत्व युक्त होने के कारण इन्हें केवली भी कहते हैं।[७०] जो नमस्कार करने योग्य हैं, पूजा के योग्य है और देवों में उत्तम हैं, वे अर्हन्त है।[७१] वन्दना और नमस्कार के योग्य है, पूजा और सत्कार के योग्य है, मोक्ष जाने के योग्य हैं, इस कारण से अर्हन्त कहे जाते हैं।[७२] । अरि अर्थात् मोहकर्म, रज अर्थात् ज्ञानावरण व दर्शनावरण कर्म और अन्तराय कर्म इन चार के हनन करने वाले हैं। इसलिए 'अरि' का प्रथमाक्षर 'अ', रज का प्रथमाक्षर 'र' लेकर उसके आगे हनन का वाचक हन्त शब्द जोड़ देने पर अर्हन्त बनता है।[७३] क्रोध, मान, माया, लोभ इन कषायों को जीत लेने के कारण जिन हैं और कर्म शत्रुओं व संसार के नाशक होने के कारण अर्हन्त कहलाते हैं[७४]। धवला में कहा गया है कि अतिशय पूजा के योग्य होने से अर्हन्त संज्ञा प्राप्त होती है।[७५] द्रव्य संग्रह टीका में कहा गया है— **पञ्चमहाकल्याण रूपां पूजामर्हति योग्यो भवति तेन कारणेन अर्हन् भण्यते।**

— (द्रव्य सं.टी. ५०/२११/१)

पंचमहाकल्याण रूप पूजा के योग्य होता है, इस कारण अर्हन् कहलाता है। बोधपाहुड के अनुसार— **जरवाहिजम्ममरणं चउगइगमणं च पुण्णपावं च। हंतूण दोसकम्मे हुउणाणमयं च अरहंतो**'— अर्थात् जरा और व्याधि, जन्म —मरण, चतुर्गति गमन, पुण्य और पाप इन दोषों को उपजाने वाले कर्मों का विनाश कर केवलज्ञानमयी जो होता है वह अरंहत है।[७६]

धवला में अन्यत्र कहा है— "**खविदधादिकम्मा केवलणाणेण दिठ्ठसव्वट्ठा अरहंता णाम। अधवा णिट्ठविदट्ठकम्माणं घाइद घादिकम्माणं च अरहंतेत्ति सण्णा, अरिहणणं पदिदोण्हं भेदाभावादो**[७७]— जिन्होंने घातिया कर्मों को नष्ट कर केवल ज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण पदार्थों को देख लिया है, वे अरहन्त है।। अथवा आठों कर्मों को दूर कर देने वाले और घातिया कर्मों को नष्ट कर देने वालों का नाम अरहन्त है; क्योंकि कर्मशत्रु के विनाश के प्रति दोनों में कोई भेद नहीं है। (अर्थात् अर्हन्त व सिद्ध जिन दोनों ही अरहन्त हैं)

अर्हन्तों द्वारा प्रतिपादित धर्म आर्हत मत कहलाता था। विष्णुपुराण के अनुसार असुर लोग आर्हत धर्म को मानने वाले थे। उनको मायामोह नामक किसी व्यक्ति विशेष ने आर्हत् धर्म में दीक्षित किया था।[७८] आर्हत् मत के मानने वाले सामवेद, यजुर्वेद और ऋग्वेद में श्रद्धा नहीं रखते थे।[७९] वे यज्ञ और पशुबलि में भी विश्वास नहीं रखते[८०] थे। अहिंसा धर्म में उनका पूर्ण विश्वास था।[८१] वे श्राद्ध और कर्मकाण्ड का विरोध करते थे।[८२] मायामोह ने अनेकान्तवाद का भी प्ररूपण किया था।[८३]

वायुपुराण[८४], श्रीमद्भागवत[८५], पद्मपुराण[८६], विष्णुपुराण[८७], स्कन्दपुराण[८८], शिवपुराण[८९], मत्स्यपुराण[९०] और देवीभागवत[९१] में भी अर्हत् मत का उल्लेख है।

आचार्य ज्ञानसागर महाराज ने अपने दयोदय नामक चम्पू काव्य में ऋग्वेद में अर्हन् के उल्लेख सम्बन्धी कुछ अन्य उद्धरण दिए हैं[९२]–

"अर्हन्ता ये सुदानवो नरो असामि शवसः।

प्रयज्ञं यज्ञियेभ्यो दिवो अर्चा मरुद्भ्यः[९३]।।" ऋग्वेद ५/५२-५

अर्हन्त भगवान् सब बातों के जानने वाले, सर्वज्ञ और अनन्त दान के देने वाले होते हैं। उनके पुजारियों की पूजा देवलोग भी करते हैं।

"तावृधन्तावनुद्यून्मर्ता यदेववदभा। अर्हन्ता चित् पुरोदधे ऽ शेव देवा वर्वते[९४]।" ऋग्वेद ५/५

समुद्र सरीखे क्षोभरहित होने वाले श्री अरहन्त भगवान से शिक्षा पाकर ही देव लोग पवित्र बनते हैं।

"इमं स्तोममर्हते जातवेदसे रथमिव समहेमा मनीषया भद्राहिनः प्रर्मातरस्य ससद्यग्ने सख्ये मारिषा मावयं तव[९५]।।" ऋग्वेद म. ५ सूक्त ५२-५

हे अर्हन् आप विधाता हैं, अपनी चतुरता से इस भूमण्डल को रथ की तरह चलाते हैं। आपका मत हम लोगों के कल्याण के लिए हो, हम लोग मित्र के समान आपका संसर्ग सदा चाहते हैं।

"इडितो ऽग्ने मनसानो अर्हन्देवा, न्यक्षि, मानुष्यात् पूर्वो अद्य। स आवह मरुतां शर्धो अच्युतमिन्द्रं नरोवर्हिषदं यजध्वं[९६]।।"

हे अग्निदेव इस वेदी पर सब मनुष्यों से पहले अर्हन्त की ही पूजा करो, उनके दर्शन करो, फिर उनका आह्वान करो। पवनदेव और अच्युतेन्द्र देवादि की भाँति उनकी पूजा करो।

इसी प्रकार कुछ अन्य उदाहरण हैं–

द्वे नप्तु देववतः शते गोर्द्धा रथा वधू मन्ता सुदासः।

अर्हन्नम्ने पै जवनस्य दानं होतेव सद्म मर्ये मिरेभन्।।

ऋग्वेद ७/२/१८

कुत्रचिद्यम्य समृतीरण्वानरो नृषदने। अर्हन्तश्चिद्यमन्धते सञ्जानयन्ति जन्तवः। वही ५/१/७

वैदिक पद्मपुराण के प्रथम सृष्टि खण्ड में आर्हत धर्म सम्बन्धी कथा इस प्रकार दी है—

एक स्थान पर दैत्य तप करते थे। वहाँ दिगम्बर योगी का वेष धारण कर माया मोह पहुँचा और बोला— दैत्यों! तुम यह तप किसलिए करते हो? दानवों ने कहा— परलोक में सुख प्राप्ति के लिए। तब मायामोह बोला— यदि मुक्ति चाहते हो तो आर्हत धर्म धारण करो। यह मुक्ति का द्वार है। मायामोह के समझाने पर दैत्यों ने वैदिक धर्म छोड़कर आर्हत धर्म धारण किया[६३]।

दुर्वासा ऋषिकृत महिम्नस्तोत्र में कहा है—

तद्दर्शन मुख्यशक्तिरिति च त्वं ब्रह्मकर्मेश्वरी।
कर्त्तार्हन् पुरुषो हरिश्च सविता बुद्धः शिवस्त्वं गुरुः।।[६४]

यहाँ भगवान की अर्हन् कहकर स्तुति की है।

हनुमन्नाटक में कहा है—

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनः।
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्त्तेति नैयायिकाः।।
अर्हन्नित्यथ जैन शासनरत्ताः कर्मेतिमीमांसकाः।
सो ऽ यं नो, विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः।।

यहाँ छहों मत में एक ही ईश्वर को भिन्न–भिन्न नामों से कहा गया है। इनमें एक नाम अर्हन्त भी है।

नाग पुराण में कहा है—

अकारादिहकारान्त मूर्द्धाधोरेफसंयुतम्।
नादविन्दुकलाक्रान्त चन्द्रमण्डलसन्निभम्।।१।।
एतद्देवि परं तत्त्वं यो विजानाति तत्त्वतः।
संसारबन्धनं छित्वा स गच्छेत्परमां गतिम्।।२।।

अर्थ जिसका प्रथम अक्षर अ और अन्तिम अक्षर ह है और जिसके ऊपर आधा रेफ तथा चन्द्रविन्दु विराजमान है, ऐसे 'अर्हं' को जो कोई सच्चे रूप से जान लेता है, वह संसार बन्धन को काटकर परमगति को चला जाता है।

यहाँ अर्हं को परमतत्त्व कहा है तथा इसके जानने से परमगति की प्राप्ति कही गयी है।

नागपुराण में अन्यत्र कहा है—

दर्शाभर्योजितैर्विप्रैः यत्फलं जायते कृते।

मुनेरर्हत्सुभक्तस्य तत्फलं जायते कलौ।।[६५]

अर्थात् कृत युग में दश विप्रों को भोजन कराने का जितना फल होता है, उतना फल कलियुग में अर्हत्भक्त मुनि को भोजन कराने का होता है।

मुद्राराक्षस नाटक में क्षपणक (दिगम्बर जैन मुनि) कहता है—

सासणमलिहन्ताणं पडिवज्जह मोहवाहिवेज्जाणं।

जे मुउत्त मात्त कडुअं पच्छा पत्थं उवदिसन्ति।। मुद्राराक्षस ४/१८

मोह रूपी रोग को नाश करने के लिए वैद्य के समान अर्हन्तों की आज्ञा का पालन करो जो क्षण भर के लिए कटु, किन्तु बाद में हितकारी उपदेश करते हैं।

मेदिनी कोष में स्पष्ट लिखा है—

जिनो ऽ र्हन्ति च बुद्धे च पुंसि स्यात्त्रिषु जित्वरे[६६]**।**

अर्थात् पुल्लिंग में जिनशब्द अर्हन्त यानी जैनधर्म चलाने वाले और 'बुद्ध' बौद्धमत के संस्थापक के लिए आता है तथा जीतने वाले के लिए जिनशब्द तीनों लिंगों में प्रयुक्त होता है।

सिद्धान्त कौमुदी के रचयिता भट्टोजिदीक्षित 'जिन' शब्द का अर्थ "जिनो ऽ र्हन् अर्हन्त ही करते हैं।

अवधूत अथवा आजगरवृत्ति

भागवतपुराण के पञ्चम स्कन्ध के अध्याय ५ में भगवान् ऋषभदेव को अवधूत वृत्ति[६७] तथा आजगर वृत्ति[६८] धारी कहा है। भागवत में अवधूत का बहुत सुन्दर निरूपण हुआ है। कुछ बातों को छोड़कर अधिकांश चर्या जैन मुनि की चर्या से मिलती जुलती है। इस अवधूत चर्या पर जैन प्रभाव स्पष्ट है। जिस के मूल ऋषभदेव हैं। भागवत के सप्तम स्कन्ध में आजगर वृत्ति धारी मुनिका प्रह्लाद से संवाद है। प्रह्लाद के द्वारा मुनि चर्या के विषय में जिज्ञासा करने पर मुनि ने उत्तर दिया कि मधुमक्षिका तथा अजगर ये दो हमारे गुरु है। इन्हीं से शिक्षा लेकर हमने वैराग्य तथा सन्तोष पाया है।[६९] मधु की तरह कठिनाई से जुटाए हुए धन को भी दूसरे लोग धनस्वामी को मारकर बलात् छीन लेते हैं— इस तरह मधुमक्षिका से मैंने भोगों से सदा विरक्त रहना सीखा है। मैं अजगर की भाँति निश्चेष्ट भाव से पड़े रहकर

दैववश जो मिल जाता है, उसी में सन्तुष्ट रहता है। कभी कुछ नहीं मिलता, तब भी बहुत दिनों तक पड़ा रहता हूँ। मैं कभी थोड़ा खाता हूँ, कभी बहुत अधिक, कभी सुस्वादु कभी स्वादहीन, कभी अनेक गुणों से युक्त, कभी एकदम गुणहीन, कभी श्रद्धापूर्वक लाया और कभी निरादरपूर्वक मिला अन्न ही खा लेता हूँ। विभिन्न स्वभाव वाले मनुष्यों में किसी की निन्दा और स्तुति नहीं करता। मैं कभी नहा धो, शरीर में चन्दन लगा, सुन्दर वस्त्र तथा माला आदि पहन रथ, हाथी तथा घोड़े पर चलता और कभी पिशाच की तरह दिगम्बर विचरण करता हूँ।[१००] मैं सदैव प्राणियों की मंगल कामना करता हूँ।[१०१]

उन मुनीश्वर के मुख से परमहंसों का धर्म[१०२] सुनकर दैत्यपति प्रह्लाद ने उनकी पूजा की। श्रीमद्भागवत के एकादशस्कन्ध के सातवें, आठवें और नौवें अध्याय में जो अवधूतचर्या का विशद प्रतिपादन हुआ है, वह यति धर्म का सार है। पूरे भागवत में इतना सुन्दर उपदेश अत्यन्त दुर्लभ है। संन्यासधर्म को जानने के इच्छुक लोगों को यह अवश्य पढ़ना चाहिए। यहाँ अवधूत ने पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, कपोत, अजगर, समुद्र पतंग, मधुमक्षिका, हाथी, शहद ले जाने वाला, हरिण, मीन, पिंगला, वेश्या, कुररपक्षी, बालक, कुमारी, बाण बनाने वाला, सर्प, मकड़ी और भृंग कीट को गुरु बनाया गया है।[१०३]

जैनग्रन्थ मूलाचार में आचार्य को भूमि, चन्द्र और समुद्र के सदृश बतलाया है।[१०४] भावगत में कहा है—

भूतों से प्रेरित कोई प्राणी यदि किसी तरह कष्ट पहुँचाए तो भी विद्वान् अपने मार्ग से विचलित न हो, यह मैंने पृथ्वी से सीखा था।[१०५] अलक्ष्यगति काल के प्रभाव से घटने, बढ़ने वाली चन्द्रमा की कलाओं के सदृश जन्म से मृत्यु पर्यन्त सारी अवस्थायें शरीर की होती हैं, आत्मा की नहीं। अग्नि की शिखा जैसे निरन्तर क्षण क्षण में उत्पन्न तथा विलीन होती रहती है। किन्तु उसमें कोई भेद प्रतीत नहीं होता, वैसे ही जल प्रवाह के समान वेगवान् काल के द्वारा भूतों की उत्पत्ति तथा नाश क्षण क्षण में होते ही रहते हैं, किन्तु अज्ञानवश वे दिखलायी नहीं पड़ते हैं; यह मैंने चन्द्रमा से सीखा है।[१०६] मुनि को निस्तरंग, समुद्र के समान शान्त, गम्भीर, अगम्य, अभेद्य, अनन्तपार और क्षोभरहित होकर रहना चाहिए। जैसे नदियों के कारण समुद्र नहीं बढ़ता और न गर्मी में घटता ही है, उसी प्रकार नारायण परायण योगी को भी पदार्थों को मिलने से प्रसन्न और न मिलने से उदास नहीं होना चाहिए।[१०७] मूलाचार की आचारवृत्ति में आचार्य को क्षमा गुण में पृथ्वी, सौम्य गुण में चन्द्रमा और निर्मलता में समुद्र के समान बतलाया है।[१०८] चरित्र भक्ति में आचार्य

को चारित्र रूपी समुद्र से गम्भीर बतलाया है।[१०९]

जैन ग्रन्थों में भिक्षावृत्ति के पाँच नामों का उल्लेख मिलता है—उदराग्नि प्रशमन, अक्षमृक्षण, गोचरी, श्वभ्रपूरण और भ्रामरी।[११०] जैसे भ्रमर बगीचे के अनेक सुगन्धित फूलों की गन्ध लेता हुआ फूलों को रंचमात्र भी खराब नहीं करता है, उसी प्रकार साधु भोजन ग्रहण करता हुआ दाता को किञ्चिन्मात्र भी बाधा नहीं पहुँचाता है, इसे भ्रामरी वृत्ति कहते हैं।[१११] भागवत में कहा है कि भिक्षुक का कर्त्तव्य है कि गृहस्थों को कोई कष्ट न देते हुए मधुकरी वृत्ति का आश्रय ले और जितने से निर्वाह हो जाय उतना ही अन्य कई घरों से माँगकर खा ले।[११२] यति का कर्त्तव्य है कि मधुमक्षिका की तरह भिक्षा में से सायंकाल अथवा दूसरे दिन के लिए संचय करके न रखे। अपने हाथ और उदर को ही पात्र बनाये यानी जितना हाथ में आए और पेट में समा सके उतना ही अन्न ले—अधिक नहीं। नहीं तो अपने सञ्चित मधु के साथ जैसे मधुमक्षिकायें नष्ट हो जाती हैं, वैसे ही भिक्षुक भी संग्रह करने पर उस संग्रहीत पदार्थ के साथ नष्ट हो जायगा।[११३] जैनाचार में मुनिके २८ मूलगुणों में एक भक्त अर्थात् एक बार आहार ग्रहण करने का विधान है। साधु दूसरे के घर में नवकोटि आदि से विशुद्ध आहार अपने पाणिपात्र में श्रावक आदि दूसरे के द्वारा दिया हुआ ग्रहण करते हैं।[११४]

श्री शुभचन्द्राचार्य कृत ज्ञानार्णव में एक पद्य है—

मीना मृत्युं प्रयाता रसनवशमिता दन्तिनः स्पर्शरुद्धाः।
बद्धास्ते वारिबन्धे ज्वलनमुपगताः पत्रिणश्चाक्षिदोषात्।।
भृङ्गाः गन्धोद्धताशाः प्रलयमुपगताः गीतलोलाः कुरङ्.गाः
कालव्यालेन दष्टास्तदपि तनुभृतामिन्द्रियार्थेषु रागः।। ज्ञानार्णव २०/३५

अर्थात् रसना इन्द्रिय के वश मत्स्य अपने गले को छिदाकर मृत्यु को प्राप्त हुए और हस्ती स्पर्श इन्द्रिय के वशीभूत हो गढे में बाँधे गए तथा नेत्र इन्द्रिय के विषय दोष से पतङ्ग दीपकादि की ज्वाला में जल कर मरण को प्राप्त हुए और भ्रमर नासिका इन्द्रिय के वशीभूत होकर सुगन्ध से मुग्ध हो नाश को प्राप्त हुए, इसी प्रकार हरिण कभी गीत (राग) के लोलुप हो कर्ण इन्द्रिय के विषय से काल रूप सर्प से मारे गए; ऐसे एक एक इन्द्रिय के विषय से उक्त जीवन नष्ट होते देखते हैं तो भी संसारी जीवों की इन्द्रियविषयों में प्रीति होती है, यह बड़ा खेद अथवा आश्चर्य है।

उपर्युक्त उदाहरणों में से भ्रमर को छोड़ शेष सब उदाहरण इसी संदर्भ में भागवत में अवधूतचर्या के प्रसंङ्ग में दिए गए हैं। भ्रमर का उदाहरण भी दिया गया है, किन्तु उसका हेतु दूसरा है। अन्यत्र जैन मुनि को वायु के

समान निःसंग तथा अग्नि के समान तेजस्वी भी बतलाया है।

भागवतकार का कहना है कि मनुष्यों को जो जो वस्तुयें अत्यन्त प्रिय होती हैं, उनका सञ्चय ही उनके दुःख का कारण होता है। ऐसा समझकर जो अकिञ्चन भाव से रहता है, वह अनन्त सुख पाता है। एक कुरर पक्षी अपनी चोंच से मांस लिए जा रहा था, तब बिना मांस वाले दूसरे बलवान् पक्षियों ने उसे बहुत मारा। तब उसने वह मांस छोड़कर ही शान्ति पायी।[११५] आचार्य पूज्यपाद ने कहा है कि मैं अकिञ्चन हूँ, ऐसा मानकर रहो, तुम त्रैलोक्याधिपति होगे। परमात्मा का रहस्य योगिगम्य है।[११६] ज्ञानर्णव में एक पद्य है—स्वजातीयैरपि प्राणी सद्योऽभिद्रूयते धनी।

यथा ऽत्र सामिषः पक्षी पक्षिभिर्बद्धमण्डलैः।। ज्ञानार्णव १६/३७

अर्थात् जिस प्रकार किसी पक्षी के पास मांस का खण्ड हो ता वह अन्यान्य मांसभक्षी पक्षियों से पीड़ित व दुःखी किया जाता है, उसी प्रकार धनाढ्य पुरुष भी अपने जाति वालों से दुःखित व पीड़ित किया जाता है। भागवतकार का कहना है कि संसार में दो ही व्यक्ति निश्चिन्त तथा परमानन्द पूर्ण रहते हैं। एक तो भोला—भाला निश्चेष्ट बालक, और दूसरा महात्मा[११७] प्रवचनसार में श्रवण करे जधजादरूवधरो 'यथा जात रूपधर' कहा है, अर्थात् जन्म समय बालक जैसा निष्परिग्रही ओर निश्छल होता है, वैसा ही मुनि को होना चाहिए। आचार्य जयसेनने यथाजात रूप के दो अर्थ किए है— व्यवहार से नग्नत्व तथा निश्चय से स्वात्मरूप। इस प्रकार के रूप को जो धरता है। वह यथाजातरूपधर निर्ग्रन्थ होता है।[११८]

भागवत में कहा है कि मुनि को चाहिए कि वह सर्प की भाँति अकेला विचरण करे, प्रमाद न करे, गुफा आदि में रहे, अलक्ष्यमाण आचरण वाला मुनि अकेला तथा अल्पभाषी हो। गृहाराम्भ अति दुःख के लिए होता है, उसका कोई फल नहीं रहता है; क्योंकि शरीर तो अनित्य है। सर्प परकृत वेश्म में सुख प्राप्त करता है। जैन ग्रन्थों में भी मुनि आचार्य की आज्ञा से एकलविहार कर सकता है, वह प्रयतचर्या वाला होता है तथा वचन गुप्ति का पालन करने वाला होता है। वह शून्यागार और विमोचितावास में रह सकता है। भाव से वह अनगारी होता है।[१२०]

इस प्रकार भगवत महापुराण में प्रतिपादित अवधूतचर्या जैन साधु के आचार से साम्य रखती है। भागवत कारने कृतयुग या सतयुग की प्रशंसा की है; क्योंकि उसमें प्रायः लोग श्रमण होते हैं— कृते प्रवर्तते धर्मश्चतुष्पात्तज्जनैर्धृतः सत्यं दया तपो दानमिति पादा विभोर्नृप।।

सन्तुष्टाः करुणा मैत्राः शान्ता दान्तास्तितिक्षवः। आत्मारामः समदृशः प्रायशः श्रमणा जनः।। भा.पु. १२/३/१८.१९

मुनि

मुनि का साक्षात् सम्बन्ध तीव्र तपश्चरण के साथ है। जो व्यक्ति शून्यागार में निवास करता है और जो चलते चलते[१२१] सायंकाल हो जाने वाले स्थान पर ही टिक जाय। वही मुनि नाम से अभिहित किया जाता है।[१२२] मुनि शब्द मन् धातु से बना है।[१२३] इसकी व्युत्पत्ति है— मनुते जानातियः समुनिः। शंख स्मृति में कहा गया है—

शून्यागारनिकेतः स्याद् यत्र सायंगृहोमुनिः।। शंखस्मृति ७/६

तत्त्वार्थसूत्र में अचौर्य व्रत की पाँच भावनाओं में एक भावना शून्यागार वास कही गयी है।[१२४] शून्यागार वास से तात्पर्य अकलंकदेव ने पर्वत की गुफा, वृक्ष की खोह (कोटर) आदि में निवास करना बतलाया है।[१२५]

गीता में मुनि का लक्षण इस प्रकार बतलाया है—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः। वीतरागभयक्रोधः स्थिति धीर्मुनिरुच्यते।।

अर्थात् दुःखों से उद्विग्न न होने वाला, सुखों में स्पृहा से रहित, राग, भय तथा क्रोध से उन्मुक्त होने वाला तथा स्थिर बुद्धि वाला व्यक्ति मुनि कहलाता है।

भागवत पुराण में ऋषभ वर्णन

श्रीमद्भागवत के अनुसार वातरशना श्रमणों के धर्म का प्रवर्तन ऋषभदेव ने किया। डॉ. हर्मन जैकोबी ने स्पष्टतः लिखा है कि जैन परम्परा सर्वसम्मति से एकमतेन ऋषभ को प्रथम तीर्थंकर अर्थात् आदि संस्थापक मानती है। इस पुष्ट परम्परा में ऐतिहासिकता हो सकती है।[१२६] विद्वान् अब इस बात को मानते हैं कि ऋषभदेव उस अहिंसा परम्परा के आदि जनक थे, जिसके सूत्र प्राग्वैदिक हैं। प्राग्वैदिक परम्परा के प्रभाव से अहिंसा धर्म और अहिंसक यज्ञ की कल्पना भारत में बुद्ध से पहले ही फैल चुकी थी और उसके मूल प्रवर्त्तक घोरआंगिरस और ऋषभदेव थे।[१२७] श्रीमद्भावगत में कहा है—

नित्यानुभूतनिजलाभमनिवृत्ततृष्ण, श्रेयस्य तद्रचनया चिरसुप्तबुद्धेः।
लोकस्य यः करूणायाभयमात्तलोकमाख्यन्नमो भगवते ऋषभाय तस्मै।।६।१९

जो बार-बार अनुभव में आने योग्य इन सांसरिक विषयभोगों में अभिलाषा रहित हो चुका था और चिरकाल से सोई हुई बुद्धि वाले अर्थात् भूले हुए दुनियाँ के जन समूह पर जिसका वचन के द्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता, ऐसी अपनी दयावृत्ति द्वारा जिसने लोगों को कल्याण के मार्ग में लगाया था,

उन भगवान ऋषभदेव के लिए नमस्कार हो।

नाभेरसा वृषभः आस सुदेवसूनुर्यो वैचचार समदृग्योगचर्याम्।
यत्पार्महंस्यमृषयः पदमामनन्ति स्वस्थः प्रशान्तकरणः परिमुक्तसंगः[१२८]॥ २०

श्री ऋषभदेव महाराज नाभिराज के पुत्र हो गए हैं, जिन्होंने कि साम्यवाद को अपनाकर शत्रु–मित्र, तृण–कञ्चन तथा वन और नगर में एक सी बुद्धि रखते हुए उत्तम से उत्तम योगाभ्यास किया, जिस योगाभ्यास को ऋषि लोग **परमहंस अवस्था कहते हैं।** उस अवस्था को धारण कर वे ऋषभदेव भगवान् स्वस्थ, इन्द्रिय विजयी और परिग्रह रहित हो गए।

वैदिक परम्परा मे परमहंस साधु की बड़ी महिमा गायी गई है। जाबालोपिनिषद् में लिखा है—

जो एक भोले बालक के समान निर्विकार नग्न रूप का धारक हो, जिसके मन में मायाचार आदि की ग्रन्थि न हो, बाह्य में जिसके पास कोई परिग्रह न हो। जो उसी प्रसिद्ध ब्रह्म मार्ग में सदा तत्पर रहता हो, पवित्र मन वाला हो, केवल प्राण सन्धारण के लिए निश्चित समय में जाकर बिना किसी पात्र के अपने उदर रूप पात्र में ही भिक्षा भोजन करने वाला हो, भोजन मिले तो ठीक और न मिले तो कोई खेद नहीं, इस प्रकार के सम विचार का धारक हो, शून्यागार-सूना-मुक्त मकान, देवस्थान, घास की कुटी, वृक्षमूल, नदी-पुलिन, गिरि, गिरि-कन्दरा आदि में विश्राम करने वाला हो, सांसारिक बातों में ममता रहित हो, निर्विकल्प निस्तब्ध ध्यान में तल्लीन होने वाला हो, अन्तरात्मा पर जिसका पूर्ण विश्वास हो, खोटे कर्मों को काटने में तत्पर हो, संन्यास पूर्वक अपने शरीर को त्याग देने के लिए तैयार हो, वह परमहंस होता है[अ]। आगे भागवत में लिखा है—

वर्हिषि तस्मिन्नेव विष्णुभगवान् परमर्षिभिः प्रसादतो नाभेः प्रियचिकीर्षया तदवरोधायने मेरुदेव्यां धर्मान्दिशतुकामो वातरशनानां श्रवणानामृषीणामूर्ध्वमन्थिन्या शुक्लया तन्वाऽवततार (श्री मद्भागवताध्याय ५/३/२०)

उसी समय में विष्णु भगवान् महर्षि लोगों के द्वारा प्रसन्न हो जाने से नाभिराजा की इच्छाको पूरी करने की इच्छा से उसके अन्तःपुर में मेरुदेवी की कुक्षि में, वायु ही हैं वस्त्र जिनके या वायु ही है करधनी जिनके, ऐसे दिगम्बर महर्षियों के धर्म को प्रकट करने की इच्छा से खूब ऊँची और श्वेतवर्ण वाली शरीरलता को देखकर अवतरित हुए।

जैन ग्रन्थों में भगवान् ऋषभदेव के पिता का नाम तो नाभि ही है, किन्तु माता का नाम मेरुदेवी नहीं, मरुदेवी है। शब्द साम्य दर्शनीय है। मेरुदेवी का अर्थ स्पष्ट है— मेरु की देवी अर्थात् मर्यादा की देवी। वैसे भी भागवतकार ने मेरुदेवी को मेरु की पुत्री बतलाया है। उत्तराध्ययन आदि जैन सूत्रों में भी भगवान् ऋषभदेव को अचेलक दिगम्बर निर्ग्रन्थ बताया है और श्रमण

धर्म का आदि प्रवर्त्तक। उक्त धारणा में भागवत और जैन शास्त्र एक स्वर हैं। यह कितना ऐतिहासिक अद्भुत साम्य है। भागवतकार शुक महर्षि की पवित्र वाणी से भी ऋषभदेव का श्रमणधर्म का प्रवर्तक होना स्वतः सिद्ध है।[११६]

श्रीमद्भावगत पुराण में विष्णु के चौबीस अवतारों का उल्लेख है, जिनमें से श्री ऋषभदेव के रूप में आठवाँ अवतार माना गया है, जो कि जैनधर्म के प्रवर्तक थे।[१३०]

तैत्तिरीय आरण्यक[१३१] में वर्णन आता है कि वातरशना श्रमण मुनि जो ब्रह्म पद की ओर उत्क्रमण करने वाले हुए, उनके पास बहुत से ऋषि प्रयोजन वश आए एवं उन्होंने कई प्रश्न पूछे। मुनि ने उन्हें निलय में आया हुआ अतिथि मानकर पवित्र आत्मविद्या का उपदेश दिया। स्पष्ट है कि श्रमण मुनि आत्मविद्या में निष्णात थे, जब कि वैदिक ऋषि को आत्मविद्या का इतना ज्ञान नहीं था।[१३२]

श्रीमद्भावगत में महर्षि शुकदेव ने राजा परीक्षित को उपदेश दिया है—

कृते प्रवर्तते धर्मश्चतुष्पान्तजनैर्धृतिः।
सत्यं दया तपो दानमिति पादावियोर्नृपः।।
संतुष्टा करुणा मैत्री शान्ता दान्तस्तितिक्षवः।
आत्माराम समदृश प्रायशः श्रमणा जनाः।। (श्रीमद्भावगत १२/३/१८-१६)

अर्थात् सत्ययुग के चार चरण होते हैं— सत्य, दया, तप और ज्ञान। इस धर्म को उस समय लोग निष्ठापूर्वक धारण करते हैं। सतयुग में प्रायः श्रमण ही सन्तुष्ट, करुणाशील, मैत्री परायण, शान्त, इन्द्रियजयी, सहनशील तथा आत्मा में रमण करने वाले समदृष्टि होते हैं।

भगवान ऋषभ यद्यपि परम आत्मतन्त्र आत्मलीन होने के कारण स्वयं सर्वदा ही सब प्रकारके द्वन्द्वों से रहित थे, वे केवल आनन्दानुभूति स्वरूप साक्षात ईश्वर ही थे, तथापि साधारण लोगों के समान कर्म करते हुए उन्होंने अपने समय के अनुसार प्राप्त धर्म कर्त्तव्य का आचरण करके लौकिक कर्म के उस तत्त्व को न जानने वाले अज्ञानी लोगों को उसकी शिक्षा दी।[१३३]

उनके पास परिग्रह के रूप में शरीर मात्र था। यह शरीर असत् पदार्थों का घर है। कोई डराए, ऊपर थूके, पत्थर फेंके, मूत्र–विष्टा फेंके, वे इन सबकी ओर ध्यान नहीं देते थे।[१३४]

ऋषभदेव को बिना चाहे आकाश में उड़ना, मन के समान सर्वत्र अन्तर्धान, परकाया प्रवेश और दूरदर्शन आदि सिद्धियाँ प्राप्त थीं, किन्तु उनको उसकी कुछ भी परवाह न थी।

भगवान श्री ऋषभदेव लोकपाल शिरोमणि होकर भी सब ऐश्वर्यों को तृणतुल्य त्यागकर अकेले अवधूत वेश धारण कर विचरण करने लगे। देखने में एक सिड़ी जान पड़ते थे। सिवाय ज्ञानियों के मूढ़जन उनके प्रभाव और

ऐश्वर्य का अनुभव नहीं कर सकते थे। यद्यपि वह जीवमुक्त थे, तो भी योगियों को किस प्रकार शरीर त्याग करना चाहिए, उसकी शिक्षा देने के लिए उन्होंने अपना स्थूल शरीर त्यागने की इच्छा की। जैसे कुम्भकार का चाक घुमाकर छोड़ देने पर भी थोड़ी देर तक घूमा करता है, वैसे ही लिंग शरीर त्याग देने पर भी योगमाया की वासना द्वारा भगवान ऋषभदेव का स्थूल शरीर संस्कारवश भ्रमण करता हुआ कोक, बैक, कुटक और दक्षिण कर्नाटक देशों में शान्तिपूर्वक प्राप्त हुआ। वहाँ कुटकाचल के उपवन में सीड़ियों की तरह बड़ी जटा छिटकाए, ऋषभदेव जी नंग धडंग विचरण करने लगे।[१३५]

भागवत् पुराण में यह भी लिखा है कि श्री ऋषभदेव के इस चरित्र को सुनकर कोक, बैक, व कुटक का राजा अर्हत कलियुग में अपनी इच्छा से उसी धर्म का प्रवर्तन करेगा।[१३६]

भागवत में वर्णित है कि जनता युवराज श्री ऋषभदेव को अत्यधिक स्नेह करती थी। उनके प्रति उसमें अत्यधिक श्रद्धा थी। उस पर युवराज ऋषभदेव का बहुत अधिक प्रभाव है, यह अनुभव करके महाराजा नाभिराय धर्ममर्यादा की रक्षा हेतु अपने पुत्र युवराज श्री ऋषभदेव के विशाल बदरिकाश्रम में पत्नी मरुदेवी सहित तप करने चले गए। वहाँ वे बड़े प्रसन्नचित्त और मनोयोगपूर्वक घोर तप करते रहे और वहीं से जीवनमुक्त भी हुए।[१३७]

महात्मा ऋषभदेव जी की तपस्या के बल से उनकी विष्टा में भी ऐसी गन्ध हो गयी थी जो कि दस योजन तक चारों ओर वायु को सुगन्धित कर देती थी।[१३८]

अन्य वैदिक पुराणों में ऋषभ वर्णन

विष्णुपुराण में ऋषभदेव सम्बन्धी वृत्त का इस प्रकार उल्लेख हुआ है— जम्बूद्वीप के राजा आग्नीध्र के राजपति तुल्य नौ पुत्र हुए। उनके नाम नाभि, किंपुरुष, हरिवर्ष, इलावृत, रम्य, हिरण्यवान, कुरु, भद्रश्व और केतुमाल थे। आग्नीध्र ने दक्षिण की ओर का हिमवर्ष नाभि को प्रदान किया। किंपुरुष को हेमकूट वर्ष और हरिवर्ष को नैषधवर्ष दिया। मध्य में मेरु पर्वतयुक्त इलावृत वर्ष इलावृत को तथा नीलाचल समीपस्थ वर्ष रम्य को दिया। उसका उत्तरवर्ती श्वेत वर्ष हिरण्यवान् को और शृंगवान पर्वत के उत्तर वाला वर्ष कुरु को दिया। मेरु के पूर्व वाला वर्ष भद्राश्व को और गंधमादन वर्ष केतुमाल को प्रदान किया। राजा आग्नीध्र ने अपने पुत्रों को इन वर्षों का राज्य दिया और स्वयं तप करने शालग्राम नाम अत्यन्त पुनीत क्षेत्र को चले गए। किम्पुरुषादि जो आठ वर्ष हैं, उनमें सुख की इतनी अधिकता है कि बिना किसी प्रकार का यत्न किए, स्वभाव से ही सब भोग सिद्धियों की प्राप्ति होती है। उनमें किसी प्रकार के विपर्यय अथवा वृद्धावस्था या मृत्यु आदि का डर उपस्थित नहीं होता। वहाँ

धर्म-अधर्म, श्रेष्ठ, मध्यम या अधर्म का भेद नहीं है तथा उनमें कभी युग परिवर्तनादि भी नहीं होता। महात्मा नाभि हिम नामक वर्ष के स्वामी थे, उनकी पत्नी मेरुदेवी से अत्यन्त कान्तिवाला ऋषभ नामक एक पुत्र हुआ। ऋषभ के सौ पुत्र हुए, जिनमे भरत सबसे बड़े थे। पुलहाश्रम में रहकर ऋषभदेव ने वानप्रस्थ पालनपूर्वक दृढ़ तपस्या और यज्ञों के अनुष्ठान किए। वे घोर तप के कारण अत्यन्त सूख गए और उनकी रक्तवाहिनी नाड़ियाँ स्पष्ट दिखाई देने लगीं। अन्त में नग्नावस्था में अपने मुख में पत्थर की एक वाटिका रखकर जीवन त्याग दिया। ऋषभदेव ने वनगमन करते समय अपना राज्य भरत को दिया। तभी से यह हिमवर्ष भारतवर्ष कहा जाने लगा।[१३६]

विष्णु पुराण में दिगम्बरत्व का सन्दर्भ

विष्णुपुराण तृतीय अंश के १८ वें अध्याय में मायामोहरूपधारी विष्णु ने असुरों को जो उपदेश दिया, वह जैन धर्म से मिलता जुलता है। विष्णु ने मायामोह के रूप में स्वयं नग्न रूप धारण किया-

ततो दिगम्बरो मुण्डो बर्हिपिच्छधरो द्विजः।
मायामोहो ऽ सुरान् श्लक्ष्णमिदवचनमब्रवीत्।। वि.पु.अं. ३/१८/२

तब उस मयूर पंख धारण करने वाले नग्न एवं मुड़े हुए बाल वाले मायोमोह ने उन असुरों से अत्यन्त मीठे वचनों में कहा-

धर्मायेतदधर्मा सदेतन्न सदित्यपि।। वि. पुराण अं. ३/१८/८
विमुक्तये त्विदं नैतद्विमुक्तिं सम्प्रयच्छति।
परमार्थो ऽ यमत्यर्थं परमार्थो न चाव्ययम्।।
कार्यमतेदकार्यं च नैतदेवं स्फुटं त्विदम्।
दिग्वाससामयं धर्मो धर्मो ऽ यं बहुवाससाम्।।
इत्यनेकान्तवादेन मायामोहेन नैकधा।
तेन दर्शयता दैत्यस्स्वधर्मं त्याजिता द्विज
अर्हततं महाधर्म मायामोहेनते यतः।
प्रोक्तास्तमाश्रिता धर्ममार्हतास्तेन तेऽभवन्।। वही ३/१८/६-१२

यह धर्ममय है, यह अधर्म उपाय है, यह सत् है, यह असत् है, यह मोक्षकारक है, यह मोक्ष प्राप्ति में बाधक है, यह परमार्थ है, यह परमार्थ के विपरीत है, यह कर्त्तव्य नहीं है, यह कर्त्तव्य है, यह ऐसा है, यह ऐसा नहीं है, यह दिगम्बरों का धर्म है, यह वस्त्रधारियों का धर्म है। इस प्रकार अनेकान्तवाद से मायामोह ने उन दैत्यों को उनके धर्म से विमुख कर दिया।

मायामेह ने दैत्यों से कहा कि आप इसी महाधर्म का आदर कीजिए। इसलिए वे दैत्य उस धर्म के मानने वाले होने से आर्हत कहे जाने लगे।

उन्होंने परस्पर में यह कहा— हिंसा में ही धर्म है यह कथन युक्ति संगत नहीं है और अग्नि में हवि झोंकने से फल की प्राप्ति होगी— यह अज्ञानियों की ही बात है।[१४०]

यदि यज्ञ में बलि होने वाले पशु को स्वर्ग मिलता है तो यजमान अपने पिता का बलिदान करके उसे स्वर्ग क्यों नहीं प्राप्त करा देता।[१४१] यदि किसी और के भोजन करने से कोई तृप्त हो सकता है, तो विदेश जाने के समय भोजन सामग्री साथ ले जाने का परिश्रम ही क्यों किया जाय?[१४२]

विष्णु पुराण से यह भी प्रकट है कि नग्न (श्रमण अथवा दिगम्बर) वेदत्रयी का परित्याग किए हुए थे—

ततो मैत्रेय तन्मार्गवर्तिनो ये ऽ भवञ्जनाः।

नग्नास्ते तैर्यतस्त्यक्तं त्रयी संवरणं तथा ।। वि.पु. ३/१८/३५

उस समय से मायामोह द्वारा प्रवर्तित मार्ग के अनुयायी ही नग्न कहे जाने लगे; क्योंकि उन्होंने वेदत्रयी रूपी वस्त्र का परित्याग कर दिया था।

मार्कण्डेय पुराण में ऋषभवर्णन

आग्नीध्र के पुत्र नाभि के ऋषभ नामक पुत्र हुआ। ऋषभ के पुत्र भरत हुए। ऋषभ ने अपने पुत्र भरत को राज्य देकर संन्यास ग्रहण कर लिया। इन महाभाग ने पुलहाश्रम में निवास पूर्वक तप किया था। हिम नामक दक्षिण वर्ष को उनके पिता ने भरत को दिया था। इसलिए उन्हीं के नाम पर भारतवर्ष हुआ है। भरत के एक पुत्र हुआ, जिसका नाम सुमति था। भरत ने भी सुमति को राज्य देकर वन गमन किया। इस प्रकार इनके पौत्रों तथा प्रियव्रत के पुत्रों ने स्वायम्भुव मन्वन्तर में इस सप्तद्वीपा पृथिवी का निरन्तर भोग किया।[१४३]

कूर्मपुराण में ऋषभवर्णन

हिमाह्वयं तु यद्वर्षं नाभेरासीन्महात्मनः।

तस्यर्षभो ऽ भवत्पुत्रो मेरुदेव्यां महाद्युतिः।। ३७

ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताग्रजः।

सो ऽभिषिच्यर्षभः पुत्रं भरतं पृथिवीपतिः।।३८

कूर्म पुराण अध्याय ४१ पृ. ६१

महात्मा नाभि का जो हिमाह्व नामक वर्ष था, उनके मेरुदेवी से

महाद्युतिमान् ऋषभ नामक पुत्र हुआ। ऋषभ से भरत उत्पन्न हुआ, जो कि सौ वीर पुत्रों में अग्रज था। उस राजा ने अपने पुत्र भरत का अभिषेक किया।

अग्नि पुराण में ऋषभ वर्णन

जरामृत्युर्भयं नास्ति धर्माधर्मौ युगादिकम्।
नाधर्मं मध्यमं तुल्या हिमादेशात्तु नाभितः।। १०
ऋषभो मरुदेव्यां च ऋषभात् भरतो ऽ भवत्।
ऋषभो ऽ दत्त श्री पुत्रे शाल्य ग्रामे हरिं गतः।। ११
भरताद् भारतवर्षं भरता सुमतिस्त्वभूत्।। १२

अग्निपुराण अ. १० पृ. ६२

वायुपुराण में ऋषभ वर्णन

नाभिस्त्वजनयत्पुत्रं मरुदेव्यां महाद्युतिः।
ऋषभं पर्थिवश्रेष्ठं सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम्।।५०
ऋषभाद् भरतो जज्ञेवीरः पुत्र शताग्रजः।
सो ऽ भिषि च्याप्य भरतः पुत्रं प्राव्राज्यमास्थितः।। ५१
हिमाह्वं दक्षिणं वर्षं भरताय न्यवेदयत्।
तस्माद् भारतं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधः।। ५२

—वायुपुराण पूर्वार्द्ध अध्याय ३३ पृ. ५१

ब्रह्माण्ड पुराण में ऋषभवर्णन

नाभिस्त्वजनयत्पुत्रं मरुदेव्यां महाद्युतिम्।। ५९।।
ऋषभं पार्थिवश्रेष्ठं सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम्।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताग्रजः।। ६०
सो ऽ भिषिच्यर्षभः पुत्र महाप्राव्राज्यमास्थितः।
हिमाह्वं दक्षिणं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः।। ६१
ब्रह्माण्डपुराण पूर्वार्द्ध अनुषंग पाद अध्याय १४ पृ. २४

वाराह पुराण में ऋषभवर्णन

नाभेर्मेरुदेव्यां पुत्रमजनयत् ऋषभनामानं तस्य भरतो।
पुत्रश्च तावदग्रजः तस्य भरतस्य पिता ऋषभः
हिमाद्रेर्दक्षिणं वर्षं महद् भारतं नाम शशास।।

वाराह पुराण अ. ७४ पृ. ४९

लिंग पुराण में ऋषभवर्णन

अत्र नाभेः सर्गं कथयामि
नाभेर्निसर्गं वक्ष्यामि हिमांके ऽ स्मिन्निबोधत।

नाभिस्त्वजनयत्पुत्रं मरुदेव्यां महामतिः।। १९।।
ऋषभः पार्थिव श्रेष्ठ सर्व क्षत्रस्य पूजितं।।
ऋषभाद्भरतो जज्ञे वीरः पुत्र शताग्रजः।। २०।।
सो ऽ भिषिच्याप्य ऋषभो भरतं पुत्र वत्सलः।
ज्ञानवैराग्यमाश्रित्य जितेन्द्रिय महोरगान्।। २१
सर्वात्मनात्मनिष्ठाप्य परमात्मा नमीश्वरम्।
नग्ने जटो निराहारो चीरी ध्वांतगतो हिसः।।२२
निराशस्त्यक्तसन्देहः शैवमाप परं पदम्।
हिमाद्रे दक्षिणं वर्षं भरताय न्यवेदयत्।। २३।।
तस्मात्तु भारतं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः।।

लिंग पुराण अ. ४७ पृ. ६८

मनुस्मृति में ऋषभवर्णन

कुलादिबीजं सर्वेषां प्रथमो विमलवाहनः। चक्षुष्मान् यशस्वी वाभिचन्द्रोऽथ प्रसेनजित्। मरुदेवी चनाभिश्च भरते कुलसत्तमाः। अष्टमो मरुदेव्यां तु नाभेजात उरुक्रमः।। दर्शयन् वर्त्म वीराणां सुरासुरनमस्कृतः। नीतित्रितयकर्त्ता यो युगादौप्रथमो जिनः।।[१४४]

यहाँ विमलवाहनादिक मनु कहे गए हैं, ये जैनों में कुलकर कहे गए है। प्रथम जिन ऋषभ को यहाँ युग की आदि में मार्गदर्शक और सुरासुर पूजित कहा है।

शिवपुराण में ऋषभवर्णन

कैलाशे पर्वते रम्ये वृषभोऽयं जिनेश्वरः। चकार स्वावतारं च सर्वज्ञः सर्वगः शिवः।।[१४५]

अर्थात् केवलज्ञान द्वारा सर्वव्यापी कल्याण स्वरूप सर्वज्ञाता इन ऋषभनाथ जिनेश्वर ने रमणीक कैलाश पर्वत पर अवतरण किया।

स्कन्द पुराण में ऋषभवर्णन

स्पृष्ट्वा शत्रुञ्जयं तीर्थं नत्वा रैवतकाचलम्।
स्नात्वा गजपदे कुण्डे पुनर्जन्म न विद्यते।।
सर्वज्ञः सर्वदर्शी च सर्वदेवनमस्कृतः।
छत्रत्रयाभिसंयुक्तां पूज्यां मूर्तिमसौ वहन्।।
आदित्यप्रमुखा सर्वे बद्धाञ्जलय ईद्रशं।
ध्यायन्ति भावतो नित्यं यदङ्घ्रियुगनीरजम्।।
परमात्मानमात्मानं लसत्केवलनिर्मलम्।
निरञ्जनं निराकारं ऋषभन्तु महाऋषिम्[१४६]।।

अर्थात् शत्रुञ्जय तीर्थ का स्पर्श करके, गिरनार पर्वत को नमस्कार करके

और गजपन्था के कुण्ड में स्नान कर लेने पर फिर जन्म नहीं लेना पड़ता है, यानी मुक्ति हो जाती है। ऋषभनाथ सर्वज्ञाता, सर्वदृष्टा और समस्त देवों से पूजित है। उस निरञ्जन, निराकार, परमात्मा, केवलज्ञानी, तीन छत्र युक्त, पूज्यमूर्तिधारक, महाऋषि ऋषभनाथ के चरण युगल का हाथ जोड़कर हृदय से आदित्य आदि सुर नर ध्यान करते हैं।

नागपुराण में ऋषभवर्णन

अष्टषष्ठिषु तीर्थेषु यात्रायां यत्फलं भवेत्।
आदिनाथस्य देवसय स्मरणेना ऽ पि तद्भवेत्[१४७]।।

जो फल ६८ तीर्थों की यात्रा करने से होता है, वह फल आदिनाथ भगवान् के स्मरण करने से होता है।

ऋषभदेव का ही दूसरा नाम आदिनाथ है।

नारदीयपुराण में ऋषभवतार का वर्णन

हंसायमत्स्य रूपाय वराह तनुधारिणे।
नृसिंहाय धृवेज्याय सांख्ययोगेश्वराय च।।५३
चतुसनापकूर्माय पृथवेस्व सुखात्मने।
नाभेयाय जगद्धात्रे विध्रत्रैंतकराय च।।५४
भार्गवेन्द्राय रामाय राघवाय परायच।
कृष्णाय वेदकर्त्रेच बुद्धकल्किस्वरूपिणे।।५५

नारदीय पुराण, अवतार वर्णन

अन्य तीर्थंकरों का वैदिक साहित्य में उल्लेख

तीर्थंकर ऋषभदेव, अजितनाथ एवं २२ वे तीर्थंकर अरिष्टेनेमि का उल्लेख यजुर्वेद में मिलता है।[१४८]

तीर्थंकर नमि जैनों के इक्कीसवें तीर्थंकर थे। वे मिथिला के राजा थे। उन्हें हिन्दू पुरणों में जनक का पूर्वज माना गया है। नमि की प्रव्रज्या का एक सुन्दर वर्णन हमें उत्तराध्ययन सूत्र के नौवें अध्याय में मिलता है और यहाँ उन्हीं के द्वारा वे वाक्य कहे गए हैं, जो वैदिक व बौद्ध परम्परा के संस्कृत व पालि साहित्य में गूँजते हुए पाए जाते हैं तथा जो भारतीय अध्यात्म सम्बन्धी निष्काम कर्म व अनासक्ति भावना के प्रकाशन के लिये सर्वोत्कृष्ट वचन रूपसे जहाँ तहाँ उद्धृत किए जाते हैं।[१४९] वे वचन हैं—

सुहं वसामो जीवामो जेसिं मों णत्थि किंचण।
मिहिलाए डज्झमणीए ण मे डज्झइ किंचण।। उत्त. ९/१४
सुसुरां वत जीवाम येसं नो नत्थि किंचन।
मिथिलाए दह्यमानाय न मे किंचि अदह्यथ।।

(पालि-महाजनक जातक)

मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे किंचन दह्यते (महाभारत, शान्तिपर्व)

नमि की इसी आसक्ति के कारण उनके उत्तराधिकारी तथा उनकावंश एवं देश विदेह कहलाया।

तीर्थंकर अरिष्टनेमि यादवों की एक शाखा में जन्मे तथा पशुहिंसा के दृश्य से व्याकुल होकर विरक्त हुए तथा तप करके गिरनार पर्वत (ऊर्जायन्तगिरि) पर निर्वाण को प्राप्त हुए। सौराष्ट्र (जहाँ गिरनार पर्वत है) में गौ तथा पशुशाला का अस्तित्व अरिष्टनेमि (नेमिनाथ) की विरिक्ति के कारण को द्योतित करती है।[१५०] तीर्थंकर अरिष्टनेमि वासुदेव कृष्ण के चचेरे भाई थे। वैदिक परम्परा में ऋषि अंगिरस ने कृष्ण को आत्मयज्ञ की शिक्षा दी। एक मत यह है कि अंगिरस तीर्थंकर अरिष्टनेमि का ही अपर नाम था। उपदेश की मूल भावना से अनुमान होता है कि वह एक जैन मुनि का दिया हुआ उपदेश हो।[१५१]

यजुर्वेद में कहा है—

ॐ नमो अर्हतो ऋषभाय

ॐ ऋषभपवित्रं पुरुहूतमध्वरं यज्ञेषु नग्नं परमं माहसंस्तुतं वरं शत्रुं जयन्तं पशुरिंद्रमाहुतिरिति स्वाहा। ॐ त्रातारमिंद्रं ऋषभं वदन्ति। अमृतारमिंद्रं हवे सुगतं सुपार्श्वमिंद्र हवे शक्रमजितं तद्वर्द्धमान पुरुहूत मिंद्रमाहुरिति स्वाहा। ॐ नग्नं सुधीरं दिग्वाससं ब्रह्मगर्भ सनातनं उपैमि वीरं पुरुहमर्हतमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् स्वाहा। ॐ स्वस्तिन इन्द्रोवृद्धश्रवा स्वस्तिनः पूषा विश्ववेदाः स्वस्तिनस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमि स्वस्तिनो वृहस्पतिर्दधातु। दीर्घायुस्त्वा युवलायुर्वा शुभजातायु ॐ रक्ष रक्ष अरिष्टनेमिः स्वाहा। वामदेव शान्त्यर्थमनुविधीयते सो ऽ स्माकं अरिष्टनेमिः स्वाहा।

इसमें ऋषभ, सुपार्श्व और अरिष्टनेमि नामों का प्रयोग किया गया है। अरिष्टनेमि के विषय में स्पष्ट लिखा है कि सूर्य, इन्द्र और बृहस्पति की तरह भगवान् अरिष्टनेमि भी हम सबका कल्याण करें।

ऋग्वेद में कहा है—

ॐ त्रैलोक्यप्रतिष्ठितान् चतुर्विंशति तीर्थंकरान् ऋषभाद्यान वर्द्धमानान्तान् सिद्धान् शरणं प्रपद्ये। ॐ पवित्रं नग्नमुपविस्पृसामहे एषां नग्नं येषां जातं येषां वीरं सुवीरं इत्यादि।

प्रभास पुराण में कहा है कि कलिकाल में नेमिनाथ के दर्शन से करोड़ों यज्ञ करने का फल होता है—

भवस्य पश्चिमे भागे वामनेन तपः कृतम्।
पद्मासनसमासीनः श्याममूर्तिर्दिगम्बरः।
नेमिनाथः शिवेत्येवं नामचक्रे ऽ स्य वामनः।।२।।

यहाँ वामन को पद्मासन दिगम्बर नेमिनाथ का दर्शन हुआ कहा गया है तथा उन्हें ही शिव कहा है।

प्रभास पुराण में अन्यत्र कहा है—

रैवताद्रौ जिनो नेमिर्युगादिर्विमलाचले।
ऋषीणामश्रमादेव मुक्तिमार्गस्य कारणम्[१५२]।। १।।

यहाँ नेमिनाथ को जिनसंज्ञा कही है। उनके स्थान को ऋषि का आश्रम तथा मुक्ति का कारण कहा है तथा युगादि के स्थान को भी ऐसा ही कहा है।

वैशम्पायन सहस्रनाम में कहा है—

'कालनेमिर्म्महावीरः शूरः शौरिर्जिनेश्वरः।'

यहाँ कालेनेमि और महावीर को जिनेश्वर कहा है।

ऋग्वेद के १० वें मण्डल में सूक्त १७८ का प्रथम मन्त्र इस प्रकार है—

त्यमूषुवाजिनं देवजूतं सहावानं तरुतारं रथानाम्।
अरिष्टनेमिं पृतनाजमाशुं स्वस्तये तार्क्ष्यमिहाहुवेम।। ऋग्वेद १०/१७८/१

बलवान् देवों के द्वारा पररूप से जाने गए या देवों के समान प्रीति को प्राप्त हुए प्राणियों को तारने वाले, सेनाओं के विजेता उस प्रसिद्ध तार्क्ष्य अरिष्टनेमि को आत्मकल्याण के लिए आह्वानन करते हैं।

अथर्ववेद में कहा है—

तवारथं वयमद्याहुवेमस्तो मरश्विना सुविताय नव्यम्।
अरिष्टनेमिं परिधामियानं विधामेषं वृजनं जीरदानम्।।

अथर्ववेद का २० अध्याय ६ सू. १४३ मं. १०

यजुर्वेद का एक मन्त्र है—

वाजस्यनु प्रसव आवभूवेमार्चाविश्वा भुवानानि सर्वतः।
स नेमिराजा परियाति विद्वान् प्रजां पुष्टिं वर्द्धयमानो अस्मै स्वाहा।।

यजुर्वेद अ. ६ मं. २५

स्कन्ध पुराण में नेमिनाथ को शिव के रूप में स्पष्ट रूप में स्मरण किया गया है—

मनो ऽ भीष्टार्थ सिद्ध्यर्थं ततः सिद्धिमवाप्तवान्।
नेमिनाथ शिवेत्येवं नामचक्रेश वामनः।। अ. १६ श्लो. ६६

महाभारत में श्री नेमिनाथ का उल्लेख निम्न प्रकार मिलता है–

रेवताद्रौ जिनो नेमिर्युगादि विमलाचले

ऋषीणां आश्रमोदर्मुक्तिमार्गस्य कारणम्[१५२]।।

महाभारत में भगवान अरिष्टनेमि ने सगर को जो उपदेश दिया, वह निम्न प्रकार है–

जब युधिष्ठिर ने भीम से पूछा कि आसक्ति से कोई राजा कैसे छूटे तो उन्होंने उत्तर में कहा कि राजा सगर के प्रश्न करने पर अरिष्टनेमि ने जो उत्तर दिया था, वह प्राचीन इतिहास तुम्हें सुनाता हूँ। सगर ने पूछा कि ब्रह्मन्! श्रेय प्राप्ति का सर्वोत्तम उपाय क्या है? क्या करने से मनुष्य को इस लोक में ही परम सुख (मोक्ष) की प्राप्ति हो सकती है? इस पर समस्त वेत्ताओं में श्रेष्ठ तार्क्ष्य (अरिटनेमि) ने उत्तम उपदेश दिया। सगर ! संसार में मोक्ष का ही सुख वास्तविक सुख है, परन्तु जो धन और धान्य के उपार्जन में व्यग्र तथा पुत्र और पशुओं में आसक्त हो रहा है, उस मूर्ख मनुष्य को उसका यथार्थ ज्ञान नहीं होता। जिसकी बुद्धि विषयों में आसक्त है, उसका मन अशान्त होता है। ऐसे पुरुष की चिकित्सा करनी कठिन है। स्नेह बन्धन में बंधे हुए अज्ञानी को मोक्ष नहीं हो सकता। अब मैं तुम्हें स्नेह के बन्धनों का परिचय देता हूँ, सुनो। तुम न्यायपूर्वक इन्द्रियों के विषयों का अनुभव करके उनसे अलग हो जाओ और-आनन्द के साथ विचरते रहो। इस बात की परवाह मत करो कि सन्तान हुई या नहीं? इन्द्रियों का विषयों के प्रति जो कोतूहल है, उसे मिटाकर मुक्त की भाँति विचरो और दैवेच्छा से जो भी लौकिक पदार्थ प्राप्त हो, उनमें समान भाव रखो, राग–द्वेष न करो। मुक्त पुरुष सुखी होते हैं और संसार में निर्भय होकर विचरते हैं किन्तु जिनका चित्त विषयों में आसक्त है वे चीटियों और कीड़ों की तरह आहार का संग्रह करते करते ही नष्ट हो जाते हैं। अतः जो आसक्ति से रहित हैं, वे ही इस संसार में सुखी है। आसक्त मनुष्यों का तो नाश ही होता है। यदि तुम्हारी बुद्धि मोक्ष में लगी हुई है तो तुम्हें स्वजनों के लिए ऐसी चिन्ता नहीं करना चाहिए कि ये मेरे बिना कैसे रहेंगे? प्राणी स्वयं जन्म लेता है, स्वयं बढ़ता और स्वयं ही सुख, दुःख तथा मृत्यु को प्राप्त होता है। मनुष्य पूर्व जन्म के कर्मों के अनुसार ही भोजन, वस्त्र तथा अपने माता पिता के द्वारा संग्रह किया हुआ धन प्राप्त करते हैं। संसार में जो कुछ मिलता है, वह पूर्वकृत कर्मों के फल के अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं है। भूमण्डल के समस्त जीव अपने कर्मों से सुरक्षित होकर जगत में विचरते हैं और विध ाता ने उनके प्रारब्ध के अनुसार जो भोग नियत कर दिया है, उसे प्राप्त

करते हैं। जो स्वयं ही मिट्टी का लोंदा, परतन्त्र तथा स्थिर है, वह स्वजनों की रक्षा और पोषण करने का अभिमान क्यों करता है? तुम देखते हो और बचाने का भारी से भारी यत्न भी करते हो तो भी जब मौत तुम्हारे स्वजन को मारे बिना नहीं छोड़ती तो तुम्हारी क्या ताकत है, इस बात पर स्वयं विचार करो। तुम्हारे ये सगे सम्बन्धी जीवित रहें और इनके भरण पोषण का कार्य समाप्त नहीं हुआ हो, तब भी तुम एक दिन उन्हें छोड़कर मर जाओगे अथवा जब कोई स्वजन मरकर इस लोक से चला जायेगा, उस समय वहाँ वह सुखी होगा या दुःखी, इस बात को तो तुम जान नहीं सकोगे। अतः इस पर स्वयं विचार करो। तुम मर जाओ या जीवित रहो। तुम्हारे कुटुम्ब का प्रत्येक मनुष्य अपने अपने कर्म का ही फल भोगेगा। ऐसा जानकर तुम्हें अपने कल्याण में लग जाना चाहिए। संसार में कौन किसका है? इसका भली भाँति विचार करे। दृढ़ निश्चय के साथ अपने मन को मोक्ष में लगा दो।

जिसने क्षुधा, पिपासा, क्रोध, लोभ, मोह आदि भावों पर विजय पा ली है, उस सत्व सम्पन्न पुरुष को ही मुक्त समझना चाहिए। जो मोहवश प्रमाद के कारण जुआ, मद्यपान, स्त्रीसंसर्ग तथा मृगया आदि में प्रवृत्त नहीं होता, वह भी मुक्त ही है। जो सदा योग युक्त होकर स्त्री में भी आत्मदृष्टि ही रखता है, उसे भोग्य बुद्धि से नहीं देखता, वही यथार्थ मुक्त है। जो प्राणियों के जन्म, मृत्यु और कर्मों के तत्वों को ठीक ठीक जानता है, वह भी उससंसार में मुक्त ही है। जो हजारों और करोड़ों गाड़ी अन्न में से एक प्रस्थ को ही पेट भरने के लिए पर्याप्त समझता है तथा बड़े से बड़े महल में भी मात्र बिछोने भर की जगह को ही अपने लिए आवश्यक मानता है, वह मुक्त हो जाता है। जो थोड़े से लाभ में सन्तुष्ट रहता है, जिसे माया के अद्भुत भाव छू नहीं सकत, जिसके लिए पलंग और भूमि की शय्या एक ही है, जो रेशमी वस्त्र, कुश के बने कपड़े, ऊनी वस्त्र और बल्कल को समान भावों से देखता है, संसार को पंचभौतिक समझता है तथा जिसके लिए सुख, दुःख, लाभ, हानि, जय–पराजय, इच्छा–द्वेष और भय–उद्वेग बराबर हैं, वह सर्वथा मुक्त ही है। जो इस देह को रक्त, मल, मूत्र तथा बहुत से दोषों का खजाना समझता है और इसबात को नहीं भूलता कि बुढ़ापा आने पर झुरियाँ पड़ जायेंगी, बाल पक जावेंगे, देह दुबला, पतला एवं सौन्दर्यहीन हो जाएगा, कमर भी झुक जायेगी, पुरुषार्थ नष्ट हो जायगा, आँखों से सूझ नहीं पड़ेगा, कान बहरे हो जाँयगे और प्राण शक्ति क्षीण हो जाएगी, वह पुरुष मोक्ष प्राप्त करता है।

ऋषि, देवता और असुर सब इस लोक से परलोक चले गए, हजारों प्रभावशाली राजाओं को पृथ्वी छोड़कर जाना पड़ा है— इस बात को जो सदा याद रखता है, वह मुक्त हो जाता है।[५३]

योगवाशिष्ठ में शान्ति प्राप्ति हेतु जिनेन्द्र भगवान का अनुकरण करने की भावना व्यक्त करते हुए राम कहते हैं—

नाहं रामो न मे वाञ्छा भावेषु च न मे मनः।

शान्तिमासितुमिच्छामि, स्वात्मनीव जिनो यथा।।

अर्थात् मैं राम नहीं हूँ, न मेरी कोई इच्छा है, पदार्थों में मेरा मन नहीं है, मैं तो अपनी आत्मा में शान्तिपूर्वक बैठना चाहता हूँ, जैसे जिनेन्द्र भगवान् अपनी आत्मा में शान्तिपूर्वक बैठते हैं।

यजुर्वेद में कहा है

आतिथ्यरूपं मासरं महावीरस्य नग्नहु। रूपामुपास— दामेतत्ति थौ रात्रीः सुरासुताः।। अ.१६/म. १४

अतिथिस्वरूप पूज्य, मासोपवासी, नग्नस्वरूप महावीर तीर्थंकर की उपासना करो, जिससे कि संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय रूपतीन अज्ञान और धनमद शरीरमद, विद्यामद की उत्पत्ति नहीं होती है।

विष्णु

जैनों में रक्षाबन्धन पर्व के प्रसंग में विष्णुकुमार मुनि की कथा अत्यधिक प्रसिद्ध है। अकम्पनाचार्यादि सात सौ मुनियों पर उपद्रव करने के लिए बलि ने जहाँ मुनि ध्यानस्थ थे, वहाँ घोर हिंसात्मक यज्ञ करना आरम्भ कर दिया। यज्ञ के दूषित धूम से प्रभावित मुनियों के प्राण संकट में पड़ गए। इस उपसर्ग का निवारण करने के लिए विष्णुकुमार मुनि वामन का वेष धारण कर आए और उन्होंने बलि से तीन डग भूमि दान स्वरूप मांगी। बलि द्वारा याचना स्वीकार कर लिए जाने पर उन्होंने विक्रिया ऋद्धि से अपना शरीर बढ़ा लिया और पहला पैर सुमेरु पर रखा,दूसरा मानुषोत्तर पर्वत पर रखा, उन्हें तीसरा पैर रखने को जगह नहीं मिली तो बलि से उन्होंने तीसरा पैर रखने हेतु स्थान माँगा। भयभीत बलि ने तीसरा पैर अपनी पीठ पर रखने के लिए कहा। तीसरा पैर बलि की पीठ रखते ही भार के कारण बलि चीत्कार कर उठा। लोक में सर्वत्र खलबली मच गयी। सबकी प्रार्थना पर विष्णुकुमार मुनि ने अपनी ऋद्धि का संकोच किया। बलि आदि सभी ने महाराज से क्षमा याचना की। इस प्रकार मुनियों का उपसर्ग दूर हुआ। विष्णुकुमार द्वारा तीन

कदमों में समस्त पृथ्वी को नाप लेने का वर्णन ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के १५४ वें सूक्त में हुआ है—

विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्र वोचं।
यः पार्थिवानि विममे रजांसि।।
यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं
विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः।।१।।

अर्थात् शीघ्र ही मैं विष्णु के वीरतापूर्ण कार्यों का वर्णन करूँगा, जिस विशाल गति वाले ने तीन कदमों से चलकर पृथ्वी सम्बन्धी लोकों को नापा; जिसने पवित्र आत्माओं के लिए ऊँचे मिलन स्थान का निर्माण किया।

प्र तद्विष्णु स्तवते वीर्येण।
मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः।
यस्योरुषु त्रिषु विक्रमेष्व्
अधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा।।२

विष्णु अपने उस वीरता पूर्ण कार्य के लिए स्तुत किया जाता है, जिस प्रकार पर्वत पर रहने वाला तथा अपनी इच्छानुकूल विचरण करने वाला भयानक पशु। (वह विष्णु) जिसके विशाल तीन कदमों में सम्पूर्ण प्राणी निवास करते है।

प्र विष्णवे शूषमेतु मन्म
गिरिक्षित उरुगायाय वृष्णे।
य इदं दीर्घं प्रयतं सधस्थम्
एको विममे त्रिभिरित्पदेभिः।।३।।

(मेरी) शक्तिशाली प्रार्थना ऊँचे लोक में निवास करने वाले, विशाल कदमों वाले, इच्छाओं की पूर्ति करने वाले विष्णु के पास जावे, जिसने इस बड़े अतिविस्तृत (पवित्रात्माओं के) मिलन स्थान को अकेले तीन पदों से ही नापा था।

यस्य त्री पूर्णा मधुना पदान्य्,
अक्षीयमाणा स्वधयामदन्ति।
य उ त्रिधातु पृथिवीमुतद्याम्
एको दाधार भुवनानिविश्वा।। ४।।

कभी समाप्त न होने वाले, जिनके मधुपूर्ण तीन कदम (मनुष्यों को) अपनी शक्ति से आनन्दित करते हैं। जो अकेले ही जल तथा तीनों धातुओं— पृथ्वी, आकाश तथा सम्पूर्ण लोकों को धारण करता है।

विष्णु कुमार अपने कार्य से लोगों में इतने आकृष्ट हो गए कि उनके लोक को प्राप्त करने की सभी इच्छा करने लगे—

तस्य प्रियमभि पाथो अश्यां
नरो यत्र देवयवो मदन्ति।
उरुक्रमस्य स हि बन्धुरित्था
विष्णो पदे परमे मध्व उत्सः।। ५।।

इस (विष्णु) के उस प्रिय लोक को मैं प्राप्त करूँ, जहाँ पर देवताओं के इच्छुक मनुष्य आनन्द करते हैं। विशाल गति वाले विष्णु के श्रेष्ठ लोक में एक मधु का सरोवर है। इस प्रकार निश्चित ही वह सबका मित्र है।

ता वां[१५४] वास्तुन्युश्मसि गमध्यै,
यत्र गावो[१५५] भूरिशृंगा अयासः।
अत्राह तदुरुगायस्यवृष्णः।
परमं पदमवभाति भूरि।। ६।।

तुम दोनों को उन स्थान पर जाने के लिए मैं इच्छा करता हूँ, जहाँ पर बहुत प्रकाश वाली, हमेशा गतिशील रहने वाली किरणें हैं। यहीं पर विशाल गति वाले, इच्छाओं की पूर्ति करने वाले (विष्णु) का उस प्रकार का परम धाम नीचे (हमारी तरफ) अत्याधिक रूप से प्रकाशित हो रहा हैं

श्रीमद्भागवत महापुराण में भी वामनावतार के प्रसंग में विष्णु द्वारा तीन पग मात्र भूमि माँगे जाने का वर्णन है।[१५६] किन्तु यहाँ इस बात का समाधान नहीं होता कि जब बलि अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न करा रहा था तो यज्ञ कर्म से प्रसन्न होने वाले वेदपरम्परा मान्य विष्णु को उसका यज्ञ सह्य क्यों नहीं हुआ और क्यों उन्होंने उससे पदत्रय भूमि माँगी। यहाँ यह कहा गया कि लक्ष्मी के रहते ऐसा कौन है, जो स्व स्वरूप को जान सके, अतः मोहस्वरूपा राजलक्ष्मी से भ्रष्ट कर ठीक ही किया,[१५७] किन्तु इस कथन से तो अश्वमेध यज्ञ की निरर्थकता ही सिद्ध होती है। इससे यह द्योतित होता है कि यह विष्णु मूल रूप में मुनि परम्परा का अनुगामी रहा होगा, जहाँ सब कुछ त्याग दिया जाता है। बाद में इस विष्णु को अवतार रूप में स्वीकृत कर लिया गया।

जैन साहित्य में विष्णुकुमार मुनि की कथा अनेक ग्रन्थों में आई है। यहाँ भट्टारक प्रभाचन्द्र कृत आराधना कथा प्रबन्ध के अनुसार कथा दी जा रही है—

अवन्ती देश की उज्जयिनी नगरी में राजा श्रीवर्मा, रानी श्रीमती तथा बलि, बृहस्पति, प्रह्लाद और नमुचि ये चार मन्त्री थे। एक बार समस्त श्रुत को धारण करने वाले दिव्यज्ञानी सात सौ मुनियों से युक्त अकम्पनाचार्य आकर उपवन में ठहर गए। समस्त संघ को निषेध कर दिया कि राजादिक के आने पर भी किसी से बातचीत नहीं करना है, नहीं तो समस्त संघ का नाश होगा। धवलगृह पर स्थित राजा ने हाथ में पूजा की सामग्री लिए नगरी के लोगों को जाते हुए देखकर मन्त्रियों से पूछा– ये लोग असमय में यात्रा के– लिए कहाँ जा रहे है। उन मन्त्रियों ने कहा– बहुत से दिगम्बर मुनि बाहर उद्यान में आए हैं, वहाँ पर यह लोग जा रहे हैं। हम भी उनके दर्शन के लिए जाँयेगे, ऐसा कहकर राजा भी चार मन्त्रियों के साथ गया। प्रत्येक मुनि की सभी ने वन्दना की, किसी ने भी आशीर्वाद नहीं दिया। दिव्य अनुष्ठान के कारण अत्यन्त निस्पृह हो विराजमान हैं, यह सोचकर राजा के लौटने पर दुष्ट अभिप्राय वाले मन्त्रियों ने उपहास किया। ये मूर्ख हैं, बैल कुछ भी नहीं जानते हैं, अतः दम्भ से मौनपूर्वक बैठे हैं। इस प्रकार बोलते हुए जब वे आगे जा रहे थे तब आगे चर्या कर आते हुए श्रुतसागर मुनि को देखकर कहा– यह तरुण बैल पूरा पेट भरे हुए आ रहा है। यह सुनकर उन मुनि ने राजा के आगे मन्त्रियों को अनेकान्तवाद से जीत लिया और आकर अकम्पनचार्य से बात कही। अकम्पनाचार्य ने कहा– तुमने समस्त संघ को मार डाला। यदि शास्त्रार्थ के स्थान पर जाकर रात्रि में तुम एकाकी ठहरते हो तब संघ का जीना और तुम्हारी वृद्धि होती है। अनन्तर श्रुतसागर मुनि वहाँ जाकर कायोत्सर्ग पूर्वक खड़े हो गए। अत्यन्त लज्जित कुछ मन्त्रियों ने रात्रि में संघ को मारने के लिए जाते हुए उन एक मुनि को देखकर– 'जिसने तिरस्कार किया, उसे मारना चाहिए, ऐसा विचार कर उसके वध के लिए एक साथ चारों ने तलवार निकाल ली। जिसका आसन कम्पायमान हुआ था ऐसी नगर देवी ने उसी प्रकार उनको कीलित्त कर दिया। प्रातःकाल उन्हें उसी स्थिति में सब लोगों ने देखा। रुष्ट हुए राजा ने कुल परम्परा से आगत हैं, ऐसा सोचकर नहीं मारा, गधे पर चढ़ाना आदि कराकर देश से निकाल दिया।

कुरुजांगल देश के हस्तिनापुर नगर में राजा पद्मरथ, रानी लक्ष्मीमती तथा एक पुत्र पद्म और दूसरा विष्णु था। एक बार पद्म को राज्य देकर महापद्म विष्णु के साथ श्रुतसागरचन्द्राचार्य के समीप मुनि हो गए। वे बलि

प्रभृति आकर पद्मराज के मन्त्री हो गए। कुम्भपुर नगर का राजा सिंहबल दुर्ग के बल से पद्म के मण्डल पर उपद्रव करता था। उसे पकड़ने की चिन्ता से पद्म को दुर्बल देखकर बलि ने कहा— देव ! दुर्बलता का क्या कारण है? राजा ने (दुर्बलता के कारण) कहा। उसे सुनकर आदेश माँगकर वहाँ जाकर बुद्धि के माहात्म्य से दुर्ग तोड़कर सिंहबल को पकड़कर वापिस आकर इसे पद्म को समर्पित कर दिया, देव ! यह सिंहबल है। राजा ने सन्तुष्ट होकर कहा— वाञ्छित वर माँगिए। बलि ने कहा— जब प्रार्थना करूँगा, तब दीजिए। अनन्तर कुछ दिनों में विहार करते हुए वे अकम्पनाचार्य आदि सात सौ मुनि वहाँ आए। नगर में क्षोभ होने से बलि प्रभृति मन्त्रियों ने भय के कारण सोचा। राजा इनका भक्त है, ऐसा विचार कर भय के कारण उनको मारने के लिए पद्म से पहले ही प्रार्थना की कि हम लोगों को सात दिन के लिए राज्य दीजिए। अनन्तर वह सात दिनों के लिए राज्य देकर अन्तःपुर में प्रवेश कर स्थित हुआ। बलि ने आतापन गिरि पर कायोत्सर्ग पूर्वक स्थित मुनियों को चारों ओर से घेरकर मण्डल बनाकर यज्ञ करना आरम्भ कर दिया। छोड़े हुये सकोरे, बकरे आदि जीवों के कलेवरों तथा धुयें से मुनियों को मारने के लिए उपसर्ग किया। मुनि आभ्यन्तर और बाह्य दो प्रकार के संन्यास पूर्वक स्थित हो गए। अनन्तर मिथिला नगरी में आधी रातमें बाहर निकले हुए श्रुतसागरचन्द्र आचार्य ने आकाशमें श्रवण नक्षत्र को काँपते हुए देखकर अवधि ज्ञान से जानकर कहा— महामुनियों के ऊपर घोर उपसर्ग है, उसे सुनकर पुष्पदन्त नामक विद्याधर क्षुल्लक ने पूछा— भगवान् ! कहाँ, किन मुनियों के ऊपर उपसर्ग है? हस्तिनापुर में अकम्पनाचार्यादि मुनियों पर उपसर्ग है। वह उपसर्ग कैसे नष्ट होगा? धरणिभूषण पर्वत पर विष्णुकुमार मुनि विक्रिया ऋद्धि से सम्पन्न होकर बैठे हैं, वह नाश करेंगे। यह सुनकर उनके समीप जाकर क्षुल्लक ने विष्णु कुमार से जब सारा वृतान्त कहा— तब मुझे क्या विक्रिया ऋद्धि है? ऐसा सोचकर उसकी परीक्षा के लिए हाथ फैला दिया। वह हाथ पर्वत को भेदकर दूर चला गया। अनन्तर उसका निर्णय कर वहाँ जाकर पद्मराज से कहा— क्या तुमने मुनियों के ऊपर उपसर्ग कराया है? आपके कुल में किसी ने भी ऐसा नहीं किया। उसने कहा— कया करूँ? पहले इसे वर दिया था। अनन्तर विष्णुकुमार मुनि ने बौने ब्राह्मण का रूप धारण कर दिव्यध्वनि से प्रार्थना की। बलि ने कहा— तुम्हें क्या दें? विष्णुकुमार मुनि ने कहा— तीन पग भूमि दजिए। भूताविष्ट ब्राह्मण ! अन्य कुछ बहुत माँगो,

इस प्रकार लोगों के द्वारा बार बार कहे जाने पर भी वही माँगने लगे। हाथ में जल लेकर देने की विधि से तीन पैर भूमि देने पर विष्णुकुमार ने एक पैर मेरु पर रखा दूसरा पैर मानुषोत्तर पर्वत पर, तीसरे पैर से देवविमान आदि को क्षुभित कर बलि की पीठ पर वह पैर रखकर बलि को बाँधकर उपसर्ग निवारण कर दिया। अनन्तर वे चारों मन्त्री और पद्म भय से आकर विष्णुकुमार मुनि और अकम्पनाचार्यादि के पैरों में गिर गए। वे मन्त्री श्रावक हो गए। व्यन्तर देवों ने विष्णुकुमार के चरणों की पूजा के लिए सुघोष नामक तीन वीणायें दी।[१५८]

उपनिषदों में दिगम्बरत्व के उल्लेख

आचार्य ज्ञानसागर महाराज ने दयोदय चम्पू में दिगम्बरत्व सम्बन्धी उपनिषदों के उद्धरण दिए हैं— नारद पारिव्राजकोपनिषद् में लिखा है कि मुनि दो प्रकार का होता हैं। एक तो वह जो कोपीन मात्र धारण करता है। दूसरा वह जो बिल्कुल नग्न होता है, जो ध्यान में तत्पर रहता है और यही ज्ञानवान् योगी परमात्म अवस्था को प्राप्त कर सकता है।[१५९]

मैत्रेयोपनिषद के तीसरे अध्याय के उन्नीसवें सूत्र में भी लिखा है कि देश, काल की अपेक्षा न करके मैं दिगम्बर सुखी हो रहा हूँ[१६०]

संन्यासोपनिषद् में कहा है—

सब कुछ छोड़कर देहमात्र को धारण करते हुए दिगम्बर बन जावे, तत्काल के पैदा हुए बालक सरीखा निर्विकार हो जावे तथा संन्यास लेकर तत्काल के पैदा हुए बालक सरीखा होता है वही ज्ञान वैराग्यशाली होता है।[१६१]

वैदिक पद्मपुराण में दिगम्बर साधु की चर्चा—

वैदिक पद्मपुराण में राजा वेन की राजसभा में दिगम्बर साधु के प्रवेश की चर्चा इस प्रकार की गयी है—

पुरुषः कश्चिदायातश्छद्मलिंगधरस्तदा। नग्नरूपो महाकायः शिरोमुण्डोमहाप्रभः।।६ ,
मार्जनी शिखिपत्राणां कक्षायां सहि धारयन्। गृहीतं पानपात्रं तु नालिकेरमयं करे।। ७।।
पठमानोह्यसच्छास्त्रं वेदधर्म विदूषकम्। यत्र वेनो महाराजस्तत्रायातस्त्वरोन्वितः।। ८।।
सभायां तस्य वेनस्य प्रविवेश स पापवान्। तं दृष्टवा समनुप्राप्त वेनः तदा ऽ करोत्।। ९।।

पद्मपुराण भूमिखण्ड—प्रकरण ३७

तब कोई छद्म वेश धारण करने वाला पुरुष आया। वह नग्न रूप, महाकाय था, उसका सिर मुँडा हुआ था। वह महाप्रभायुक्त था। वह अपने

बगल में मयूरपंख की पिच्छी धारण किए हुए था। वह अपने हाथ में नारियल का बना कमण्डलु लिए था। वेदधर्म के दूषक असत् शास्त्र को पढ़ रहा था। वह शीघ्र ही वहाँ आया जहाँ महाराज वेन थे। उस पापी ने वेन की सभा में प्रवेश किया। उसे देखकर वेन ने उसकी अगवानी की।

आगे यह भी कथन है कि राजा वेन ने उससे अपनी कुछ जिज्ञासाओं का समाधान प्राप्त किया। इसके फलस्वरूप राजा वेन जैन धर्मी हो गया। इससे यह बात सिद्ध होती है कि जैन साधु का प्रवेश राजघरानों में निराबाध होता था और कोई कोई राजा लोग भी अपनी शंकाओं का समाधान प्राप्त कर जैनधर्म अंगीकार कर लेते थे।

बाल्मीकि रामायण में श्रमण

बाल्मीकि रामायण में ब्राह्मण, श्रमण और तापसों का पृथक् पृथक् उल्लेख किया गया है।[१६२] राम को जिस शबरी ने बेर खिलाए थे, उसे भी श्रमणा कहा गया है।[१६३] रामायण बालकांड सर्ग १४ श्लो.२२ में दशरथ का श्रमणों को भोजन देना लिखा है—

ब्राह्मणाः भुञ्जते नित्यं नाथवतश्चभुञ्जते
तापसा भुञ्जते चापि श्रमणाश्चैव भुञ्जते।।

श्रमण शब्द का अर्थ भूषण टीका में दिगम्बर किया है।

पञ्चतन्त्र में क्षपणक का उल्लेख

पञ्चतन्त्र (अपरीक्षित कारकम्) में पद्मनिधि नामक क्षपणक का उल्लेख हुआ है।[१६४] नापित ने क्षपणकों को नग्नकाः कहा है।[१६५] उनके विहार का क्षपणक विहार[१६६] के रुप में उल्लेख हुआ है। जिनेन्द्र की स्तुति में यहाँ दो पद्य कहे गए हैं—

जयन्ति ते जिनायेषां केवल ज्ञानशालिनाम्।
आजन्मनः स्मरोत्पत्तौ मानसेनोषरायितम्।। १२
सा जिह्वा या जिनं स्तौति तच्चित्तं यज्जिने रतम्।
तावेव च करौ श्लाघ्यौ यौ तत्पूजा करौ करौ।। १३।।

वे जिन जयशील होते हैं। केवल ज्ञान से विशिष्ट जिनका मन जन्म से ही कामदेव की उत्पत्ति के लिए ऊषर भूमिवत् बन चुका है।

जिह्वा वही है जो जिनेन्द्र भगवान का स्तवन करती है। जो जिनेन्द्र पर अनुरक्त रहता है, वही चित्त कहा जाता है। जो हाथ जिनेन्द्र पुजा करने वाले हैं, वही हाथ प्रशंसनीय हैं।

जब क्षपणक को नापित ने अपने घर आने का निमन्त्रण दिया तो उसने उत्तर दिया— **भोः श्रावक ! धर्मज्ञो ऽपि किमेवं वदसि। किं वयं ब्राह्मण**

समानाः। यत् आमन्त्रणं करोषि। वयं तत्काल परिचर्यया भ्रमन्तो भक्तिभाजं श्रावकमालोक्य तस्य गृहे गच्छामः। तेन कृच्छ्रादभ्यर्थितास्तदगृहे प्राणधारण मात्रामशन क्रियां कुर्मः तद्गम्यताम्। नैवं भूयो ऽपि वाच्यम।[१६७]

अर्थात् हे श्रावक ! धर्मज्ञ होकर भी ऐसा क्यों कहते हो, क्या हम लोग ब्राह्मण जैसे हैं, जो कि हमें निमन्त्रण दे रहे हो, सदैव हम लोग घूमते हुए उस समय की उपासना से भक्तिमान् श्रावक को देखकर उसके घर जाते हैं और उसके द्वारा बड़े प्रयत्नपूर्वक प्रार्थित होकर ही उसके घर में केवल प्राणाधारण मात्र के लिए भोजनाविधि करते हैं, इसलिए जाइए, फिर कभी ऐसा न कहना।

उपर्युक्त चर्या आज भी नग्न दिगम्बर साधुओं में पायी जाती है। किञ्चित् लोभाकृष्ट किसी दिगम्बर साधु के लिए यहाँ कहा गया है—

एकाकी गृहसन्त्यक्तः पाणिपात्रो दिगम्बरः
सोऽपि संवाह्यते लोके तृष्णया पश्य कौतुकम्।। १५।।
जीर्यन्ते जीर्यतः केशाः दन्ताः जीर्यन्ति जीर्यतः।
चक्षुः श्रोत्रे च जीर्येते, तृष्णैका तरुणायते।। १६।।

एकाकी, गृहत्यागी, पाणिपात्री और दिगम्बर साधु भी लोक में तृष्णा के द्वारा आकृष्ट कर लिया जाता है, यह आश्चर्य देखो। वृद्धजन के केश श्वेत हो जाते हैं, दाँत भी जीर्ण शीर्ण तथा शिथिल हो जाते हैं, नेत्र और कान भी जीर्ण हो जाते है, किन्तु एक तृष्णा तरुण हो जाती है।

बाणभट्ट की कृतियों में दिगम्बर साधुओं का उल्लेख

बाणभट्ट (सातवीं शताब्दी ई. का पूर्वार्द्ध) ने अपनी कृति कादम्बरी में क्षपणकों का उल्लेख किया है। शबरों के वर्णन में वे कहते हैं—

कैश्चित्क्षपणकैरिवमयूरपिच्छधारिभिः[१६८]

अर्थात् कोई शबर क्षपणकों के समान मयूर पंख को धारण किए हुए थे। इसकी टीका में भानुचन्द्रगणि कहते हैं—

क्षपणकैरिव दिगम्बरैरिव मयूराणां बर्हणां पिच्छानि छदानि धारयन्तीत्येंव शीला धारिणस्तैः।

यहाँ क्षपणक से तातपर्य दिगम्बर मुनि से है। दिगम्बर साधु मयूरपिच्छी अपने साथ रखते हैं।

हर्षचरित में जैनों के लिए आर्हत शब्द का प्रयोग किया है—

जैनैः आर्हतैः पाशुपतैः पाराशारिभिः। हर्षचरित पृ. १३६

बाण ने मयूरपिच्छ रखने वालों को क्षपणक और नग्नाटक कहा है—

'शिक्षित क्षपणक वृत्तय इव मयूरपिच्छचयान् उच्चिन्वन्तः' हर्षचरित पृ. १०४

अभिमुखमाजगामशिखिपिच्छलाञ्छनो नग्नाटकः —हर्षचरित पृ. ३२७

यहाँ इस प्रकार के साधु को 'बहलमलपटलमलिनिततनुः' बतलाया है; क्योंकि दिगम्बर जैन मुनि स्नान नहीं करते हैं।

मुद्राराक्षस में क्षपणक का उल्लेख

विशाखदत्त कृत मुद्राराक्षस में क्षपणक का उल्लेख किया गया है।[१६६] यहाँ कहा गया है कि हमारा सहाध्यायी इन्दुवर्मा नामक ब्राह्मण है। वह शुक्राचार्य प्रणीत दण्डनीति और ६४ अंगों वाले ज्योतिष शास्त्र में परमप्रवीणता को प्राप्त है। क्षपणक वेश को धारण करने वाले उसको मैंने नन्दवंश के वध की प्रतिज्ञा के पश्चात् ही कुसुमपुर लाकर नन्द के सभी मन्त्रियों के साथ उसकी मित्रता करा दी थी और विशेषतः उसमें राक्षस को विश्वास उत्पन्न हो गया है। उससे बहुत बड़े प्रयोजन की सिद्धि होगी।

इससे यह तात्पर्य ध्वनित होता है कि नग्न साधुओं का राजसभा आदि में निराबाध प्रवेश था और राजमन्त्री तक उनका सम्मान करते थे।

मुद्राराक्षस के पञ्चम अंक का एक प्रकरण यहाँ दृष्टव्य है—

क्षपणक— मैं अर्हन्तों को प्रणाम करता हूँ जो बुद्धि की गम्भीरता के कारण संसार में लोकोत्तर मार्गों से सिद्धि को प्राप्त करते हैं।

सिद्धार्थक— भदन्त, मैं नमस्कार करता हूँ।

क्षपणक— श्रावक, धर्म की सिद्धि हो। श्रावक, जाने की तैयारी में कृत निश्चय के समान तुमको देखता हूँ।

सिद्धार्थक— भदन्त, कैसे जानते हैं?

क्षपणक— श्रावक ! इसमें जानने की क्या बात है? यह तुम्हारे मार्ग को बताने में कुशल शकुन और हाथ में विद्यमान लेख सूचित कर रहा है।

सिद्धार्थक— भदन्त ने जान लिया। विदेश को जा रहा हूँ। अतः भदन्त बताइये आज का दिन कैसा है?

क्षपणक— श्रावक (पहले ही) मुण्डित सिर वाले तुम नक्षत्रों को पूछते हो।

सिद्धार्थक— भदन्त, इस समय भी क्या बिगड़ा है? बताओ, यदि जाने के अनुकूल दिन होगा तो जाऊँगा।

क्षपणक— श्रावक, इस समय मलयकेतु के शिविर में जाना अनुकूल नहीं होगा।

सिद्धार्थक— भदन्त, बताओ यह कैसे?

क्षपणक— श्रावक, सुनो। पहले तो इस शिविर में मनुष्य का बिना रोक–टोक के जाना और आना था। सम्प्रति यहाँ से कुसुमपुर के पास आ जाने पर किसी को भी मुद्रा से मुद्रित हुए बाहर जाने अथवा अन्दर आने के लिए अनुमति नहीं दी जाती है तो यदि भागुरायण की मुद्रा से मुद्रित

हो, तब तो निश्चिन्त होकर जाओ, अन्यथा ठहरो (कहीं ऐसा न हो कि) शिविर के अधिकारियों के द्वारा हाथ पैर बाँधे हुए (तुम) राजकुल में प्रवेश न करा दिए जाओ।

(आवेग के साथ)

सिद्धार्थक (क्या भदन्त) यह नहीं जानते हैं (कि मैं) अमात्य राक्षस के पास रहने वाला हूँ, इसलिए बिना मुद्रा से मुद्रित भी बाहर जाते हुए मुझको रोकने की किसकी शक्ति है?

क्षपणक— राक्षस के हो अथवा पिशाच के हो, किन्तु बिना मुद्रा से मुद्रित व्यक्ति का यहाँ से बाहर निकलने का कोई उपाय नहीं है।

सिद्धार्थक— श्रावक जाओ। तुम्हारी कार्यसिद्धि हो। मैं भी भागुरायण से मुद्रा माँगता हूँ। (गूढ़ आशय है कि मैं अभीष्ट प्रयोजन के लिए मुद्रा के बहाने भागुरायण के पास जाऊँगा।

(इस प्रकार दोनों निकल गए)

क्षपणक को कुछ टीकाकारों ने बौद्धभिक्षु बतलाया है। किन्तु अरहन्त, श्रावक तथा क्षपणक शब्द जैन परम्परा से सम्बद्ध हैं। बौद्धों के यहाँ श्रावक को उपासक कहा जाता है। बौद्धों के यहाँ कहीं श्रावक शब्द आया भी है तो उसे जैनों से उधार लिया हुआ ही समझना चाहिए।

महाभारत में क्षपणक का उल्लेख

महाभारत के आदिपर्व में एक स्थान पर शेषनाग नग्न क्षपणक वेष में उत्तंक के कुण्डल चुरा ले जाता है—

साधयामस्तावदित्युक्त्वा प्रातिष्ठतोत्तंकस्तेकुण्डले गृहीत्वा सोऽपश्यदथ पथि नग्नं क्षपणकमागच्छन्तं मुहुर्मुहुर्द्दश्यमानमद्दश्यमानं च। अथोत्तंकस्ते कुण्डले संन्यस्य भूमावुदकार्थं प्रचक्रमे। एतस्मिन्नन्तरे स क्षपणकस्त्वरमारणस्य अपसृतय मे कुण्डलेगृहीत्वा प्राद्रवत्।।

मैं यत्न से जाऊँगा, ऐसा कहकर उत्तंक उन कुण्उलों को लेकर चल दिया। उसने रास्ते में **नग्न क्षपणक** को आते देखा। इसके पश्चात् उत्तंक उन कुण्डलों को पृथ्वी पर रखकर पानी पीने के लिए गया। इस अवसर पर वह क्षपणक शीघ्र आकर कुण्डल लेकर भाग गया।

कुसुमाञ्जलि का उल्लेख

कुसुमाञ्जलि ग्रन्थ के रचयिता अपने ग्रन्थ के १६ वें पृष्ठ पर लिखते हैं—

"निरावरणा इति दिगम्बराः"

अर्थात् वस्त्र रहित यानी नग्न रूप दिगम्बर होते हैं।

जयन्त भट्ट का उल्लेख

न्यायमञ्जरी ग्रन्थ के कर्त्ता जयन्तभट्ट ग्रन्थ के १६७ वें पृष्ठ पर लिखते हैं— **"क्रिया तु विचित्रा प्रत्यागमं भवतु नाम भस्मजटा परिग्रहो दंडकमंडलुग्रहणं रक्त पट धारणं वा दिगम्बरता वा ऽ वलम्ब्यतां कोऽत्र विरोधः।"**

अर्थात् क्रिया अनेक प्रकार की होती है। शरीर में भस्म लगाना, शिर पर जटा रखना अथवा दण्ड, कमण्डलु का रखना या लाल कपड़े का पहनना अथवा दिगम्बरपने का (नग्न रूप का) अवलम्ब ग्रहण करो, इसमें क्या विरोध है?

तैत्तिरीय आरण्यक का उल्लेख

तैत्तिरीय आरण्यक के १० वें प्रपिटक के ६३ वें अनुवाक में लिखा है—

"कंथाकौपीनोत्तरासंगादीनां त्यागिनो यथाजातरूपधरा निर्ग्रन्था निष्परिग्रहाः" इति संवर्तश्रुतिः।

अर्थात् कंथा (ठंड को दूर करने का कपड़ा), कौपीन (लँगोट) उत्तरासंग (चादर) आदि वस्त्रों के त्यागी, उत्पन्न हुए बच्चे के समान नग्न रूप धारण करने वाले, समस्त परिग्रह से रहित निर्ग्रन्थ साधु होते हैं।

भर्तृहरि द्वारा दिगम्बर साधु की प्रशंसा

भर्तृहरि ने अपने वैराग्य शतक में दिगम्बर साधु की प्रशंसा की है—

एकाकी निस्पृहः शान्तः पाणिपात्रो दिगम्बरः।
कदाहं सम्भविष्यामि कर्मनिर्मूलनक्षमः।। ६६।।

अर्थात् मैं एकाकी, निस्पृह, शान्त और कर्मों का नाश करने में समर्थ पाणिपात्र (हाथ ही जिसके पात्र हैं) दिगम्बर मुनि कब होऊँगा?

पाणिः पात्रं पवित्रं भ्रमण परिगतं भैक्षमक्षय्यमन्नं
विस्तीर्णं वस्त्रमाशादशकममलिनं तल्पमस्वल्पमुर्वी।
येषां निः संगतांगीकरण परिणतिः स्वात्मसन्तोषिणस्ते।
धन्याः संन्यस्तदैन्यव्यतिकरनिकराः कर्म निमूलयन्ति।। वैराग्यशतक-५०

जिनके हाथ रूपी पवित्र पात्र हैं, जो सदा भ्रमण करते हैं, जिन्हें भिक्षा में अक्षय अन्न मिलता है, जिनके दिशा रूपी लम्बे चौड़े वस्त्र हैं, परिग्रहत्याग रूप जिनकी परिणति रहती है, अपने आत्मा में ही जिन्हें सन्तोष रहता है और जो कर्मों का नाश करते रहते हैं, ऐसे दीनता रूपी दुःखसमूह से रहित महात्माओं को धन्य है।

शय्या शैलशिला गृहं गिरिगुहा वस्त्रं तरूणां त्वचः।
सारंगाः सुहृदो ननु क्षितिरुहां वृत्तिः फलैः कोमलैः।
येषां निर्झरम्बुपानमुचितं रत्यैव विद्यांङ्गना

मन्ये ते परमेश्वराः शिरसि यैर्बद्धो न सेवाञ्जलिः।। वैराग्यशतक-६३

पर्वतीय शिला जिनकी शय्या है, पर्वत की गुफा जिनका घर है, वृक्षों की छाल जिनका बस्त्र है, हिरण जिनके मित्र हैं, वृक्षों के कोमल फल जिनकी वृत्ति है, जिनका झरनों का जल पेय है, विद्या रूपी स्त्री से जिन्हें रति है तथा जिन्होंने सेवा रूपी अञ्जली नहीं बाँधी है, मैं उन्हें परमेश्वर मानता हूँ।

विक्रम की सभा के नवरत्नों में क्षपणक का उल्लेख

धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंह शंकुवेतालभट्टघटखर्परकालिदासाः।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य[१७०]।

यहाँ विक्रम की सभा के नवरत्नों में क्षपणक को गिनाया है, किन्तु उसका नाम नहीं लिखा। श्री सतीशचन्द्र विद्याभूषण ने इन्हें जैनाचार्य सिद्धसेन माना है।[१७१]

वेदान्तसूत्र के शांकरभाष्य का उल्लेख

वेदान्तसूत्र[१७२] के शांकर भाष्य में द्वितीय अध्याय, दूसरा पाद ३३ वें सूत्र नैकस्मिन्नसंभवात् की टीका में यों लिखा है—

"निरस्तः सुगतसमयः विवसनसमय इदानीं निरस्यते। सप्त चैषां पदार्थाः सम्मता जीवाजीवास्रव बन्ध संवर निर्जरा मोक्षा नाम।

अर्थात् बौद्धमत का खण्डन किया। अब वस्त्र रहित दिगम्बरों (विवसन समय) का मत खण्डित किया जाता है। इनके सिद्धान्त में जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं।

महाभारत में अर्जुन को कृष्ण महाराज समझाते हुए कहते हैं—

आरोहत्स्वरथे पार्थ गाण्डीवं च करे कुरु।
निर्जिता मेदिनी मध्ये निर्ग्रन्थो यस्य सम्मुखे

अर्थात् हे अर्जुन ! तुम हाथ में धनुष लेकर रथ के ऊपर चढ़ो; क्योंकि इस पृथ्वी पर इन्द्रियविजेता निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधु जिनके सामने हैं, उसकी उन साधुओं के दर्शन से निश्चित रूप से विजय होगी।

---

१. श्री भँवरीलाल बाकलीवाल स्मारिका में उद्धृत पृ. २८८

२. उपर्युक्त उदाहरण पं. अजितकुमार जैन शास्त्री की पुस्तक सत्यार्थ दर्पण से उद्धृत किए गए हैं।

3. ऋषभ सौरभ (१९९२) पृ. १५, ४. Indian Philosphy Vol. I p. 287] ५. Indian Anyiquary vol 3. P. 90] ६. जैन पथ प्रदर्शक (आगरा) भा. ३ अं. ३ पृ. १०६, ७. Historical gleanings P. 78

८. अजैन विद्वानों की सम्मतियाँ पृ. ३।

९. वैदिक इण्डेक्स में वातरशन शब्द।

१०. जैन साहित्य का इतिहास पूर्वपीठिका पृ. ८९–९०।

११. विरोध परिहार पृ. ४६, १२. महावीर जयन्ती स्मारिका (जयपुर) १९६२ पृ. ३/३५
१३. तैत्तरीय आरयण्क–२ प्रपाठक–७ अनुवाक १–२, १४. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा भाग–४ में मुनि श्री विद्यानन्द जी के आद्य मिताक्षर में उद्धृत।
१५. ऋषभ सौरभ पृ. २३ (युवाचार्य महाप्रज्ञ का लेख), १६. पद्मचन्द्र कोश पृ. ४६४। १. ऋषभदेव (पु.) ऋष+अभक् = जाना, दिव = अव् (सम्पूर्ण विद्याओं में पार जाने वाला एक मुनि) २. जैनों का पहला तीर्थंकर।, १७. ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त १३६।
१८. ऋषभ सौरभ १९९२ (डॉ. मुनीशचन्द्र जोशी का लेख) पृ. ६५, ६६, १९, वही पृ. ६६।
२०. श्री भँवरीलाल बाकलीवाल स्मारिका पृ. ३२१–३२२ (पृ. परमानन्द शास्त्री का लेख)
२१. पं. बलभद्र जैन : भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ तृ. भाग पृ. १६०
२२ ऋषभ सौरभ पृ. २३ (युवाचार्य महाप्रज्ञ का लेख : भवागन ऋषभ : व्यापक व्यक्तित्व)
२३. भारती संस्कृति में जैनधर्म का योगदान पृ. १७ (ले. डॉ. हीरालाल जैन)
२४. डॉ. जगदीशदत्त दीक्षित ब्राह्मण तथा श्रमण संस्कृति का दार्शनिक विवेचन (पृ. ७५–७६)
२५. ऋषभ सौरभ १९९२ पृ. ६६–६७
२६. श्रवभ सौरभ १९९२ पृ. ६७ (डॉ. मुनीशचन्द्र जोशी का लेख)
२७ पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री : जैन साहित्य का इतिहास पूर्व पीठिका पृ. ११३
२८. पं. कैलाश चन्द्र शास्त्री : जैन साहित्य का इति. पू. पी. पृ. ११६, २९. वही पृ. ११७
३०. भारतीय संस्कृति के विकास में जैन धर्म का योगदान पृ. १८–१९
३१. ब्राह्मण तथा श्रमण संस्कृति का दार्शनिक विवेचन पृ. ७८
३२. Modern Review 1929 P. 499
३३. पुनातु चेतो मम नाभिनन्दनो।। स्वयम्भू स्तोत्र ५
३४. सैषा हिरण्यमयी वृष्टिः धनेशेन निपातिता।
विभोर्हिरण्यगर्भत्वमिव बोधयितुं जगत्।। आदि पु. १२/९५
३५. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री : जैन साहित्य का इतिहास पूर्व पीठिका पृ. १२०।
३६. भागवतपुराण स्कन्ध ५ अ. ५–६
३७. आदिनाथ : सर्वेषां नाथानां प्रथमः ततो नाथ सम्प्रदायः प्रवृत्तः इति नाथसम्प्रदायिनो वदन्ति।। हठयोगप्रदीपिका टीका–१–५, ३८. आदि पुराण २०/१८९। ३९. वही २५/८५, ४०. वही २५/९२।
४१. नेमिचन्द्र, प्रतिष्ठातिलक ८/२, ४२. आस्था और चिन्तन पृ. १०७ (डॉ. हरीन्द्रभूषण जैन का लेख), ४३. ब्राह्मण तथा श्रमण संस्कृति का दार्शनिक विवेचन पृ. ११९। ४४. वही।
४५. ब्राह्मण तथा श्रमण संस्कृति का दार्शनिक विवेचन पृ. १२७–१२८।, ४६. वही पृ. १२९।
४७. तस्मात् कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः। तस्मादलिंगो धर्मज्ञोऽव्यक्तलिंगः।
४८. तदस्मिन्नन्तः पुरुषे ज्योति।। छा. ३/१३/७, ४९. प्रज्ञा पारमितः प्राज्ञो यतिर्नियमितेन्द्रियः।। आदि पुराण २५/२१३, ५०. ऋषिर्मुनिर्यतिर्भिक्षुस्तापसः संशितो व्रती। तपस्वी संयमी योगी वर्णी साधुश्च पातु वः।। नाममाला–३ ५१. नाममाला भाष्य ३ में उद्धृत, ५२. प्रवचनसार १८९।
५३. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष भाग ३ पृ. ३७०, ५४. इन्द्रस्तुराषाणा मित्रो वृत्रं यो जघान

· यतिर्न। विभेद बलं भृगुर्नं ससाहे शत्रून् मदे सोमस्य— अथर्व. २–५–३)। ५५. श्री सुनहरीलाल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ पृ. २३६। ५६.भगवद्गीता ५/२८, ५७. भगवद्गीता ५/२६, ८/११ भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान पृ. १८। ५८. यतयो यत्नशीलाः संन्यासिनो— भगवद्गीता ८/११ शांकर भाष्य

५६. श्रीमद्भागवत ७/१३, ६०. कल्पस्त्वेवं परिव्रज्य देहमात्रावशेषितः। ग्रामैकरात्रविधिना निरपेक्षश्चरेन्महीम्।। वही ७/१३/१। ६१. वही ७/३/२–१०।

६२. प्रवचनसार २१४, ६३. वही २१६, ६४. वही २१७, ६५. वही २१८,

६६. अर्हन् बिभर्षि सायकानि धन्वार्हन्निष्कं यजतं विश्वरूपम्।
अर्हन्निदं दयसे विश्वमभ्वं न वा ओजीयो रुद्र त्वदन्यदस्ति।। ऋग्वेद २/४/३३/१०

६७. पण्डित बाबूलाल जैन जमादार अभिनन्दन ग्रन्थ पृ. ३२५।

६८. अनेकान्त वर्ष २८ (१९७५ ई.) डॉ. हरीन्द्रभूषण जैन का लेख— भारतीय संस्कृति मेंअरहन्त की प्रतिष्ठा पृ. १७–१८। ६९. वराहमिहिर संहिता ४५/५८

७०. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश पृ. १३६,

७१. अरिहंति णमोक्कारं अरिहा पूजा सुरुत्तमा लोए। मूलाचार ५०५

७२. अरिहंति वंदणणमस्साणि अरिहंति पूयसक्कारं।
अरिहंति सिद्धिगमणं अरहंता तेण उच्चंति।। वही ५६२

७३. रजहंता अरिहंति य अरहंता तेण उच्चदे।। वही ५०५,

७४. जिद कोहमाणमाया जिदलोहा तेण तेजिणा होंति हंता अरिं च जम्मं अरहंता तेण वुच्चंति।। वही ५६१, ७५. अतिशय पूजार्हत्वाद्वार्हन्तः।। धवला १/१/१, १/४४/६

७६. बो.पा. ३०, ७७. धवला ८/३, ४१/८९। ७८. विष्णु पुराण ३/१८/२। ७९. वही ३/१८/१३–१४।

८०. विष्णु पुराण ३/१८/२७, ८१. वही ३/१८/२५, ८२. वही ३/१८/२८–२९, ८३. वही ३/१८/८–११, ८४. वायु पुराण १०४/१६, ८४. श्रीमद्भागवत ५/३/२० ८६. पद्मपुराण १३/३५० ८७. विष्णुपुराण १७–१८ अध्याय ८८. स्कन्द पुराण ३६, ३७, ३८ अध्याय। ८९. शिवपुराण ५/४–५, ९०. मत्स्यपुराण २४/४३–४९, ९१, देवी भागवत ४/१३/५४–५७, ९२. दयोदय पृ. २६ पर उद्धृत

९३. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री : जैन साहित्य का इतिहास पूर्व पीठिका पृ. १७६

९४. मोक्षमार्ग प्रकाशक में उद्धृत

९५. मोक्षमार्ग प्रकाशक— पाँचवें अधिकार में उद्धृत, ९६. पं. अजितकुमार जैन शास्त्री : सत्यार्थदर्पण पृ. ८६

९७. जडान्धमूकवधिरपिशाचोन्मादकवदवधूतवेषोऽभिभाष्यमाणो ऽ पि जनानां गृहीतमौनव्रतस्तूष्णीं बभूव।। श्री मद्भागवत ५/५/२९, ९८. वही ५/५/३२, ९९. वही ७/१३/३४, १००. जैनमुनि दिगम्बर ही रहते हैं। १०१. श्रीमद्भागवत ७/१३/३५–४२,

१०२. वैदिक परम्परा में परमहंस नग्न दिगम्बर साधु को कहते हैं।

१०३. श्रीमद्भागवत ११/७/३३–३४, १०४. मूलाचार १५९

१०५. श्रीमद्भागवत ११/७/३७, १०६. वही ११/७/४८–४९, १०७. वही ११/८/५–६, १०८. मूलाचार–आचारवृत्ति १५९, १०९. गुरवः पान्तु वो नित्यं ज्ञानदर्शननायकाः। चारित्रार्णवगम्भीराः मोक्षमार्गोपदेशकाः।। ११०. उदग्गिय समण मक्खमक्खण–गोयार

सम्पूरण भमरं। गाऊण तप्पयारे णिच्चेवं भुञ्जदे भिक्खू।। रयणसार १०८, चारित्रसार ७८, तत्त्वार्थवार्तिक ६/६/१६, १११. श्रमण का भिक्षाधर्म (मिलापचन्द रतनलाल कटारिया का लेख)। दशवैकालिक १/२–३, ११२. स्तोकं स्तोकं ग्रसेद् ग्रासं देहा वर्तेत यावता। गृहान्नहिंसन्नातिष्ठेद् वृत्तिं माधुकरीं मुनिः, भागवत ११/८/६, ११३. श्रीमद्भागवत ११/८/११.१२, १०४. मूलाचार ६/४५

११५. श्रीमद्भागवत ११/६/१–२,

११६. अकिञ्चनो ऽ हं इति आस्व त्रैलोक्याधिपतिर्भवते।
योगिगम्यं तव प्रोक्तं रहस्यं परमात्मनः।।

११७. द्वावेव चिन्तया मुक्तौ परमानन्द आप्लुतौ। यो विमुग्धो जड़ो बालो यो गुणेभ्यः परंगतः।। भागवत ११/६/४, ११८. प्रवचनसार २०४, २०५। ११६. जधजादरूव धरो यथाजातरूपधरः, व्यवहारेण नग्नत्वं यथाजातरूपं, निश्चयेन तु स्वात्मरूपं तदित्थं भूतं यथाजातरूपं धरतीति यथाजातरूपधरः निर्ग्रन्थो जात इत्यर्थः। प्रवचनसार–२०४ (जयसेनाचार्य कृतटीका।, १२०. एकचार्यनिकेतः स्यादप्रमत्तो गुहाशयः। अलक्ष्यमाणआचारैर्मुनिरेको ऽ ल्पभाषणः। गृहारम्भो ऽ ति दुःखाय विफलश्चाध्रुवात्मनः। १२१. सर्पः परकृतं वेश्म प्रविश्य सुखमेधते।। श्रीमद्भागवत महापुराण ११/६/१४–१५ यत्र सायंकालस्तत्रैव गृहंयस्य स यत्र 'सायंगृह' इत्येकं पदं। नीलकण्ठी वनपर्व १२/११ ,

१२२. बलदेव उपाध्यायः पुराणविमर्श पृ. ४३, १२३. मन्धातोः 'मनेरुच्च' इति। उणादि सूत्रेण इन् प्रत्ययः। अकारस्य उच्चेति मुनिः।, १२४. शून्यागारविमोचितावास परोपरोधाकरण भैक्ष्य शुद्धि सधर्मा ऽ विसंवादाः पञ्च।। तत्त्वार्थ सूत्र ७/६, १२५. शून्यागारेषु गिरिगुहातरुकोटरादिष्वावासः।। तत्त्वार्थवार्तिक ७/६ की व्याख्या

१२६. Dr. Hereman Jacobi, Indian Antiquary Vol. IX P. 163

127. Acharya Shree Tulasi : Pre-Vedic existstnce of Sramana tradition. Paper read of XXIV International Congress of orientalist, New Delhi, 4 th January, 1964

128. दयोदय पृ. ३० पर उद्धृत।

अ. यथाजातरूपधरो निर्ग्रन्थो निष्परिग्रहस्तद् ब्रह्ममार्गे सम्यक् सम्पन्नः शुद्धमानसः प्राधसन्धारणार्थं यथोक्तकाले विमुक्तो भैक्षमाचरन्नुदरपात्रेण लाभालाभयो समोभूत्वा शून्यागार देवगृह कूटवल्मीकवृक्ष मूलकुलाल शालाग्निहोत्रगृहनदीपुलिनगिरि कुहरकन्दर कोटर निर्जनस्थण्डिलेषु तेष्वनिकेतन वास्य प्रयत्नो निर्मल शुक्लध्यानपराणो ऽ ध्यात्म निष्ठो ऽ शुभकर्मनिमूर्लनपरः संन्यासेन देहत्यागं करोति स परमहंसो नामेति।।

जाबालोपनिषद् पृ. २६० सूत्र ६

१२६. ऋषभ सौरभ १६६२ पृ. १० (उपाध्याय अमरमुनि का लेख भगवान् ऋषभदेव महर्षि शुकदेव की दृष्टि में)

१३०. अनेकान्त वर्ष २८ १६७५ ई., १३१. तै.आ. (२ प्रपाठक, ६ अनुवाक १–२)

१३२. महावीर जयन्ती स्मारिका (जयपुर) १६६०

१३३. भगवान ऋषभसंज्ञ आत्मतन्त्रः स्वयं नित्यनिवृत्ताऽन र्थपरम्पर केवलानन्दानुभव ईश्वर एवं विपरीतवत्कर्माण ऽ मृतावरोधेन गृहेषु लोकं नियमयत् ११५/४/११५, यद

यच्छीषणयाऽचरितं तत् तदनुवर्तते लोकः।। वही ५/४/!४

१३४. श्रीमद्भागवत ५/४/४२, १३५. वही स्कन्ध ५ अध्याय ५–६, १३६. अहिंसा वाणी मार्च अप्रैल १६६०

१३७. भागवत पुराण ५/४/५,

१३८. एतस्य महात्मनो महनीयस्यर्षभदेवस्य तपस्या माहात्म्यात्दशयोजन पर्यन्त सुगन्धदायी पुरीषः समभूदिति च कथितमस्ति यत् तस्य हयः पुरीष सुरभि सौगन्ध यवायुस्तं देशं दशयोजन समन्तात्सुरभि चकार।। दयोदय पृ. ३१ पर उद्धृत

१३६. विष्णुपुराण प्रथम अंश प्रथम अध्याय श्लो. १२५–३२

१४०. नैत युक्तिसं वाक्यं हिंसा धर्माय चेष्यते। हवींष्यनलदग्धानि फलायेत्यर्भकोदितम्।। वि.पु. ३/१८/२५

१४१. निहतस्य पशोर्यज्ञे स्वर्ग प्राप्तिर्यदीष्यते।
स्वपिता यजमानेन किन्नु तस्मान्न हन्यते।। वि.पु. ३/१८/२७

१४२. तृप्तये जायते पुंसो भुक्तमन्येन चेत्ततः। कुर्याच्छ्राद्धं श्रमायान्नं न वहेयुः प्रवासिनः। वि.पु. ३/१८/२८

१४३. आग्नीध्रसूनोर्नाभिस्तु ऋषभो ऽ भवत्सुतो द्विज।। ३८
ऋषभाद्भरतो जज्ञे वीरपुत्र शताद्वरः।
सोऽभिषिच्यर्षभः पुत्रं महाप्राव्राज्यमास्थितः।। ३६
तपस्तेपेमहाभागः पुलहाश्रम संश्रयः।
हिमाह्न दक्षिणं वर्षं भरताय पिता ददौ।। ४०
तस्मात्त भारतं वर्षं तस्यनाम्नामहात्मनः।
भरतस्यान्वभूत्पुत्रः सुमतिनमिधारकः।। ४१
तस्मिन्नाज्यंसमावेश्य भरतो ऽ पि वनं ययौ
एतेषां पुत्रपौत्रैस्तु सप्तद्वीपा वसुन्धरा।। ४२
प्रियव्रतस्य पुत्रैस्तुभुक्तः स्वायम्भुवे चे ऽ न्तरे। (मार्कण्डेय पुराण ४५/३८–४३)

१४४. मोक्षमार्ग प्राकशक– पंचम अधिकार में उद्धृत।

१४५. सत्यार्थ दर्पण पृ. ६१ पर उद्धृत।

१४६. पं. अजितकुमार जैन शास्त्री : सत्यार्थदर्पण पृ. ६३ पर उद्धृत।

१४७. वही पृ. ६३

१४८. भारतीय दर्शन पृ. २६४ (ले. डॉ. राधाकृष्णन्), १४६. डॉ. हीरालाल : भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान पृ. १६, १५०. प्राग् ऐतिहासिक जैन परम्परा पृ. ५ (ले. डॉ. धर्मचन्द्र जैन) १५१. धर्मानन्द कौशाम्बी : भारतीय संस्कृति एवं अहिंसा पृ. ६८।

१५२. उपर्युक्त (यजुर्वेद से प्रभासपुराण) तक के उद्धरण मोक्षमार्ग प्रकाशक में उद्धृत हैं।

१५३. महाभारत, शान्तिपर्व (गीता प्रेस) पृ. १३८४–१३८६, (डॉ. कामताप्रसाद जैन द्वारा लिखित जैन धर्म परिचय ट्रेक्ट में पृ. ११–१४ पर उद्धृत)

१५४. सायण ने वां का अर्थ यजमान और उसकी पत्नी माना है।

१५५. रॉथ ने गावः का अर्थ तारे किया है।

१५६. तस्मात् त्वत्तोमहीमीषद् वृणे ऽ हं वरदर्षभान्। पदानि त्रीणि दैत्येन्द्र सम्मितानि पदा

मम।। (श्रीमद्भागवत महापुराण ८/१६/१६), १५७. वही ८/२२/१६–१७

१५८. आराधना कथा प्रबन्ध (अनु. डॉ. रमेशचन्द्र जैन) पृ. ५६, ६५

१५९. मुनिः कोपीनवासास्यान्नग्नो वा ध्यानतत्परः।
एवं ज्ञानपरो योगी ब्रह्मभूयाय कल्पते।। दयोदय पृ. २४ पद उद्धृत

१६०. देशकालविमुक्तोऽस्मि दिगम्बरसुखोऽस्म्यहमित्यादि।

१६१. देहमात्रावशिष्टो दिगम्बर आदि। जातरूपधरो भूत्वा इत्यादि। सन्यस्य जातरूपधरो भवति स ज्ञानवैराग्य संन्यासीत्यादि च।। दयोदय पृ. २५ में उद्धृत

१६२. वाल्मीकि रामायण (सर्ग १८ पृ. २८),

१६३. स चास्य कथयामास शबरी धर्मचारिणीम, श्रमणाधर्मनिपुणा मभिगच्छति राघवः।। वाल्मीकि रामायण १/१/५६–५७

१६४. अथ तस्य स्वप्ने पद्मनिधिः क्षपणकरूपी कश्चन गत्वा प्रोवाच। पृ. ६ (पञ्चतन्त्र) आम्रान्तरे च यथार्निर्दिष्टः क्षपणकः सहसा प्रादुर्भूवः पृ. १० (वही)

१६५. नूनमेते सर्वे ऽ पि नग्नकाः शिरसि दण्डहताः काञ्चनमया भवन्ति।। वही पृ. ११

१६६. क्षपणकविहारं गत्वा जिनेन्द्रस्य प्रदक्षिणत्रयं विधाय।। वही पृ. ११, १६७. वही पृ. १५

१६८. कादम्बरी पृ. ११३

१६९. अस्ति चास्माकं सहाध्यायीमित्रमिन्दुशर्मा नाम ब्राह्मणः। स चौशनस्यां दण्डनीत्यां चतुः षष्ट्यंग ज्योतिः शास्त्रे च परं प्रावीण्यमुपगतः। स मया क्षपणकलिंगधारी नन्दवंश वध प्रतिज्ञानन्तरमेव कुसुमपुरभुपनीय सर्वनन्दामात्यैः सह सख्यं ग्राहितो विशेषतश्च तस्मिन्राक्षसः समुत्पन्नविश्रम्भः। तेनेदानीं महत्प्रयोजनमनुष्ठेयं भविष्यति।।

१७०. ज्योतिर्विदाभरण, १७१. जैन साहित्य का इतिहास पूर्व पीठिका पृ. ४७६

१७२. वेदान्त सूत्र (शांकर भाष्य २/२/३३)

मुस्लिम मत में दिगम्बरत्व

मुसलमानों में ऐसे दरवेश हुए जो दिगम्बरत्व के हिमायती थे। तुर्किस्तान में अब्दुल नामक दरवेश मादरजात नंगे रहकर अपनी साधना में लीन रहते हुए बताए गए हैं[1]।

'इस्लाम के महान् सूफी तत्त्वेत्ता और सुप्रसिद्ध मनस्वी' नामक ग्रन्थ के रचयिता श्री जलालुद्दीन रूमी दिगम्बरत्व का खुलासा उपदेश निम्नप्रकार से देते हैं।

१. गुफ्तमस्तेऐमहतब बगुजारख.............. अज विहरना के तयाँ बुरदन गरव (जिल्द २ सफा २६२)

२. जामा, पोशां रा नजर परगाज रास्तजामै अरियांरा तजल्वी जेबर अस्त (जिल्द २ सफा ३८२)

३. याज अरियानान बयकसू बाज ख या ५ ईशां फारिग व बेजामा शव।

४. वरनमी तानी कि कुल अरियाँ शबी–जामा कम कुनता रह और सतरबीं (जिल्द २ सफा ३८३)

इनका उर्दू में अनुवाद 'इल्हामें मन्जूम' नामक पुस्तक में इस प्रकार दिया गया है–

१. मस्त बोला, महतब, कर काम जा जोगा, क्या नंगे से तू अहदेवर आ।

२. है नजर धोबी पै जामे पोश की है तजल्ली जेवर अरियातनी।

३. या विरहनों से ही यकसू वाकई या हो उनकी तरह बेजामै अरबी।

४. मुतलक न अरिया जो हो सकता नहीं कपड़े कम, यह है कि औसत के करीं।

भाव स्पष्ट है कि कोई तार्किक मस्त दरवेश से आ उलझा। उसने सीधे से कह दिया कि जा अपना काम कर, तू नंगे के समाने टिक नहीं सकता। वस्त्रधारी को हमेशा धोबी की फिकर लगी रहती है, किन्तु नंगे तन की शोभा दैवी प्रकाश है। बस या तो तू नंगे दरवेशों से कोई सरोकार न रख अथवा उनकी तरह आजाद और नंगा हो जा और यदि तू एकदम सारे कपड़े नहीं उतार सकता तो कम से कम कपड़े पहन और तू मध्यमार्ग को ग्रहण कर।

सरमद बादशाह औरंगजेब दिल्ली होकर गुजरा। उसके हजारों नंगे शिष्य भारत भर में बिखरे पड़े थे। वह मूल में कजहान (आरमेनिया) का रहने

वाला एक ईसाई व्यापारी था। विज्ञान और विद्या का भी वह विद्वान् था। अरबी अच्छी जानता था। व्यापार के निमित्त वह भारत आया। इस्लाम के साही दरवेशों की संगति में पड़कर वह मुसलमान हो गया। मस्त नंगा वह शहरों और गलियों में फिरता था। वह अध्यात्मवाद का प्रचारक था। घूमता घूमता दिल्ली जा डटा। शाहजहाँ का अन्त समय था। उसका बड़ा लड़का दाराशिकोह उसका भक्त हो गया। सरमद आनन्द के साथ अपने मत का प्रचार करता रहा। उस समय फ्रांस से आये हुए डॉ. बर्नियर ने खुद उसे अपनी आँखों से नंगा दिल्ली की गलियों में घूमते हुए देखा था, किन्तु जब दारा को मारकर औरंगजेब बादशाह हुआ तो सरमद की आजादी में अड़ंगा पड़ गया। एक मुल्ला ने उसकी नग्नता के अपराध में उसे फाँसी पर चढ़ाने की सलाह औरंगजेब को दी, किन्तु औरंगजेब ने नग्नता को दण्ड की वस्तु न समझा और सरमद से कपड़े पहनने की दरख्वास्त की। इसके उत्तर में सरमद ने कहा—

"आँकसकि तुरा कुलाह सुल्ताजी दाद,
मारा हम ओ असबाब परेशानी दाद,
पेशानीद लबास हरकरा ऐबे दीद,
वे ऐबारा लबास अर्यानी दाद"

यानी जिसने तुमको बादशाही ताज दिया, उसी ने हमको परेशानी का सामान दिया। जिस किसी में ऐब पाया, उसको लिबास पहनाया और जिसमें ऐब नहीं पाया, उसको नंगेपन का लिबास दिया। बादशाह इस रुबाई को सुनकर चुप रह गया। लेकिन सरमद उसके क्रोध से बच नहीं पाया। वह फिर अपराधी बनकर लाया गया। अपराध सिर्फ यह था कि वह कलमा आधा पढ़ता है जिसके माने होते हैं कि कोई खुदा नहीं है। इस अपराध का दण्ड उसे फाँसी मिली। वह वेदान्त की बातें करता शहीद हो गया। उसे फाँसी देने का एक कारण यह भी था कि वह दारा का दोस्त था। सरमद की तरह न जाने कितने मुसलमान दरवेश हो गुजरे हैं। बादशाह ने उसे मात्र नग्न रहने के कारण सजा न दी, यह इस बात का द्योतक है कि वह नग्नता को बुरी चीज नहीं समझता था। उस समय भारत में हजारों नंगे फकीर थे। ये दरवेश अपने नंगे तन में भारी भारी जंजीरें लपेटकर बड़े लम्बे लम्बे तीर्थटन किया करते थे।

ईसाई मत तथा दिगम्बरत्व

बाईबिल में कहा गया है—

उसने अपने वस्त्र उतार डाले और सैमुयल मे समक्ष ऐसी ही घोषणा की और उस सारे दिन तथा रात वह नंगा रहा (सैमयुल १६/२४)। अमोज़ का पुत्र ईसाईया अपने प्रभु की आज्ञा से नंगा हुआ और नंगे पैर से वह विचरने लगा। (ईसाईया २०/२)। उस समय कितने ही ईसाई साधु दिगम्बर वेष में रह भी चुके हैं। इससे सिद्ध होता है कि बाईबिल में भी मुमुक्षु को दिगम्बर मुनि होना श्रेष्ठ बतलाया है।

यहूदी लोगों की पुस्तक The ascension of Isaiah (P. 32) में लिखा है कि—

Those who believe in the ascension into heaven with drew and settled on the mountain they were all prophets (saints) and they had nothing with them and were naked.

अर्थात् वह जो मुक्ति की प्राप्ति में श्रद्धा रखते थे, एकान्त में पर्वत पर आ जमें......... वे सब सन्त थे। उनके पास कुछ नहीं था और वे नंगे थे। अपॉसल पीटर ने नग्न रहने की आवश्यकता और विशेषता को निम्न शब्दों में बड़े अच्छे ढंग से Clementine homilies में दर्शा दिया हैं कि—

for we who have chosen future the things in so far as we possess more goods than these whether they be clothing or any other thing possess sins because we ought not to have anything to all of us possessions are sins.

अर्थात्— क्योंकि हमने भविष्य की चीजों को चुन लिया है, यहाँ तक कि हम उनसे ज्यादा सामान रखते हैं, चाहे वे फिर कपड़े हों या कोई दूसरी चीज, पाप को रखे हुए है; क्योंकि हमें कुछ भी पास नहीं रखना चाहिए। हम सबके लिए परिग्रह पाप है।

---

1. *The higher saints of Islam called Abdal generally went about perfectly called naked as described by miss becy M. Garnet in her excellent account of the lives of muslim Dervishes. Mysticism in Turkey (NJP. 10)*

बौद्ध साहित्य और दिगम्बरत्व

जैन और बौद्ध दोनों धर्मों का प्रारम्भ से ही गहरा सम्बन्ध रहा है। श्रमण परम्परा के प्रतिनिधि धर्म होने के कारण वैदिक धर्म से शास्त्रार्थ के समय दोनों के मन्तव्य प्रायः एक रहते थे; क्योंकि हिंसामय यज्ञों में विश्वास, सृष्टिकर्त्ता ईश्वर की मान्यता आदि अनेक वैदिक मत के विरुद्ध दोनों धर्मों को लोहा लेना पड़ा। गौतम बुद्ध ने घरसे निकलने के बाद ६ वर्ष तक विभिन्न प्रकार के साधना मार्ग अंगीकार किए, जिनमें एक अचेलक (दिगम्बर) मार्ग भी था, यह जैन मुनि की चर्या का अंग था। मज्झिमनिकाय के महासीहनादसुत्त में सारिपुत्त से अपने पुराने जीवन के विषय में बुद्ध स्वयं कहते हैं[1] कि मैं वस्त्र रहित रहा। मैंने आहार अपने हाथ से किया (अर्थात् पाणि पात्री रहा), न लाया हुआ भोजन किया, न बर्तन में खाया, न थाली में खाया, न घर की ड्योढ़ी में खाया, न खिड़की से लिया, न मूसल कूटने के स्थान पर लिया, न दो आदमियों के एक साथ खा रहे स्थान से लिया, न गर्भिणी स्त्री से लिया, न मलिन स्थान से लिया, न वहाँ से लिया जहाँ कुत्ता पास खड़ा था, न वहाँ से लिया जहाँ मक्खियाँ भिनभिना रही थीं। न मछली, न मांस, न मदिरा, न सड़ा मांड खाया, न तुष का मैला पानी पिया। मैंने एक घर से भोजन किया, सो भी एक ग्रास लिया या मैंने दो घरों से भोजन लिया सो दो ग्रास लिया। इस तरह मैंने सात घरों से लिया सो भी सात ग्रास। एक घर से एक ग्रास लिया। मैंने कभी एक दिन में एक बार कभी दो दिन में एक बार, कभी सात दिन में एक बार लिया, कभी पन्द्रह दिन भोजन नहीं किया, मैंने मस्तक, दाढ़ी व मूंछ के केशों का लोंच किया। इस केशलोंच की क्रिया को जारी रखा। मैं एक बूँद पानी पर भी दयावान था। क्षुद्र प्राणी की भी हिंसा मुझसे न हो जावे ऐसा सावधान था।

इस तरह कभी तप्तायमान, कभी शीत सहता हुआ भयानक वन में नग्न रहता था, न आग तापता था। मुनि अवस्था में ध्यान में लीन रहता था।

उपर्युक्त सभी क्रियायें दिगम्बर मुनि की चर्या से मिलती है। आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है—

वदसमिदिंदियरोधो लोचावस्सयमचेलमण्हाणं।
ठिदिसयणमदंतवणं ठिदिभोयणमेगभत्तं च।।

एदे खलु मूलगुणा समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता।

तेसु पमत्तो समणो छेदोवट्ठावगो भणिदो। प्रवचनसार-२०८, २०९

पाँच व्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रियों का निरोध केशलोंच, छह आवश्यक, अचेलपना, स्नान नहीं करना, भूमि पर शयन करना, दातुन नहीं करना, खड़े खड़े आहार लेना, एक बार आहार लेना ये मूल गुण श्रमणों के जिनवरों ने कहे हैं, उनमें प्रमादी हुआ श्रमण छेदोपस्थापक कहा है।

अचेलक का लक्षण कहा है–

वत्थाजिणवक्केण्ण य अहवा पत्ताइणा असंवरणं।

णिब्भूसण णिग्गंथं अच्चेलक्कं जगदि पुज्जं।। मूलाचार

भावार्थ– वस्त्र, चर्म, वल्कल, पत्ते आदि से शरीर को न ढकना, आभूषण न होना सो निर्ग्रन्थ अचेलक जगत् पूज्य है।

अंजलि पुडेण ठिच्चा कुड्डाइविवज्जणेण समपायं। पडिसुद्धे भूमितिये आसणं ठिदिभोयणं णाम।। ३४

अपने हाथों से खड़े होकर दीवालादि के सहारे को छोड़कर पैरों को सम रखते हुए शुद्ध भूमि में भोजन करना स्थिति भोजन है।

जावदियं उद्देसो पासंडोत्ति य हवे समुद्देसो।

समणोत्ति य आदेसो णिग्गंथो त्ति य हवे समादेसो।। मूलाचार

किसी साधु, श्रमण या निर्ग्रन्थ को उद्देश्य करके बनाया हुआ भोजन उद्दिष्ट है, उसे साधु नहीं लेते।

गौतम बुद्ध ने ऐसा आहार नहीं किया।

उज्जु तिहिं सत्तहिं व घरेहिं जदि आगदं तु आचिण्णं।

परदो वा तेहिं भवे तव्विवरीदं अणाचिण्णं।।

पंक्ति रूप तीन या सात घरों से लाया हुआ भोजन साधु को देने पर ग्रहण योग्य है। उससे अधिक का लाया नहीं। ऐसा ही गौतम बुद्ध ने किया था, सात घर तक का ग्रास लिया था।

गर्भिणी स्त्री के हाथ का भोजन साधु नहीं लेते। गौतम बुद्ध ने भी नहीं लिया था–

अतिबाला अतिबुड्ढा घासत्ती गब्भिणी व अंधलिया।

अंतरिदा व णिसण्णा उच्चत्था अहव णीचत्था।। मूलाचार

अति बाला, अति वृद्धा, भोजन करती, गर्भिणी, अन्धी, भीत की आड़ में बैठी हुई, ऊँची या नीची बैठी हुई के हाथ का भोजन साधु न ले।

गौतम बुद्ध ने खिड़की से या डयोढ़ी से भोजन नहीं लिया था, तुस का

मैला पानी गौतम बुद्ध ने नहीं लिया। इसी का निषेध मूलाचार में है। जैसे—

तिलतंडुलउसणोदय चणोदय तुसोदयं अविद्धत्थं।

अण्णं तहाविहं वा अपरिणदं णेव गेण्हिज्जो।। मूलाचार

तिल का धोवन, तंदुल का धोवन, गर्म जल, चने का धोवन, तुस का धोवन, जिसका वर्ण, गंध, रस, स्पर्शन बदला हो, वह न लेवे, यदि वर्णादि बदल जावे तो लेवे।

बच्चे को दूध पिलाने वाली के हाथ का भोजन गौतम बुद्ध ने न लिया, ऐसा ही निषेध मूलाचार में है—

लेवणमज्जणकम्मं पियमाणं दारयं च णिक्खविय।

एवं विहादिया पुण दाणं जदि दिंति दायगा दोसा।।

भावार्थ— लीपती हुई का, स्नान करती हुई का, बच्चे को दूध पिलाती हुई उसे छोड़कर दान देने वाली का, इत्यादिक दातार से भोजन लेना दायक दोष है।

असणंजदि वा पाणं खज्जं भोजं च लिज्ज पेज्जं वा।-

पडिलेहिऊण सुद्धं भुंजंति पाणिपत्तेसु।। मूलाचार

भात आदि अशन, दूध, जलादि पान, खाद्य, भोज्य, लेह्य और पेय भोजन को देखकर साधु पाणिपात्र में खाते हैं।

इस तरह जैन ग्रन्थों से सिद्ध दिगम्बर साधु का आचरण गौतम बुद्ध ने पालन किया।[2]

बौद्ध साहित्य में निगंठों का उल्लेख

बौद्ध साहित्य में निगंठनातपुत्त (निर्ग्रंथ ज्ञातृ पुत्र) भगवान महावीर तथा उनके अनुयायी निगंठों (निर्ग्रन्थों) का बहुत उल्लेख हुआ है, जबकि प्राचीन ग्रन्थों में बुद्ध तथा उनके अनुयायियों के उल्लेख बहुत कम हैं। इसका कारण यह है कि बुद्ध के समय निर्ग्रन्थ श्रमणों का बहुत बड़ा और प्रभावशाली सम्प्रदाय था। इस सम्प्रदाय के अपने सिद्धान्त और आचारसंहिता थी, जो भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा से प्राप्त थी।

अंगुत्तरनिकाय में निर्ग्रन्थों के नग्न रूप को लक्षित करके ही उन्हें अह्रीक कहा गया है।[3] प्रो. जैकोबी ने मज्झिमनिकाय में वर्तमान एक विवाद का उल्लेख किया है। यह विवाद बुद्ध तथा सच्चक के बीच हुआ था। सच्चक का पिता निर्ग्रन्थ था, किन्तु सच्चक स्वयं निर्ग्रन्थ नहीं था; क्योंकि उसने गर्वोक्ति की है कि मैंने नातपुत्त को विवाद में पराजित किया है।[4] इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय बुद्ध से पूर्व था। अंगुत्तरनिकाय[5] में उल्लेख है कि वप्प नाम का एक शाक्य निर्ग्रन्थों का श्रावक था। इसी

सूत्र की अट्ठकथा में निर्देशित है कि यह वप्प बुद्ध का चाचा था। इससे भी निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय के बुद्ध से पूर्व होने की सूचना प्राप्त होती है।

सीह (सिंह) नामका लिच्छवि सेनापति निगंठ नातपुत्त का अनुयायी था। एक बार अनेक लिच्छवियों के साथ जब वह बुद्ध से मिला तो उनके उपदेशों से बहुत प्रभावित हुआ। उसने बुद्ध और उनके शिष्यों को घर आमन्त्रित किया और सामिष भोजन कराया। इस पर निगंठों ने उसकी कटु आलोचना की। इस अवसर पर बुद्ध ने भिक्षुओं के मांस खाने पर प्रतिबंध लगा दिया। राजकुमार अभय बिंबसार का पुत्र था।[६] मज्झिमनिकाय के अनुसार वह निगंठनातपुत्त का अनुयायी था।[७] दीर्घनिकाय के पासादिक सुत्तन्त में कहा गया है कि जब निगंठनातपुत्त का निर्वाण हो गया तो निर्ग्रन्थमुनि आपस में झगड़ने लगे। उनके इस झगड़े को देखकर श्वेत वस्त्रधारी गृही श्रावक बड़े दुःखी हुए।[८]

असिबंधक पुत्त सुत्त (अंगुत्तर निकाय २/४/५) तथा संयुत्तनिकाय (४०/१/६) में कहा है— एक समय कोसल में चारिका करते हुए बड़े भारी भिक्षु संघ के साथ भगवान जहाँ नालन्दा है, वहाँ पहुँचे। उस समय बड़ी भारी निगंठों की परिषद् के साथ निगंठ नातपुत्त नालन्दा में ही वास करते थे।

देवदहसुत्त (मज्झिमनिकाय ३/१/१) में कहा है— उन निगंठों ने मुझसे कहा—

निगंठनातपुत्त सर्वज्ञ, सर्वदर्शी अखिल ज्ञान, दर्शन को जानते हैं।

निगंठधर्म भारत से बाहर भी फैला था। महावंश में कहा गया है—

वासितो व सदा आसी एकवीसति राजसु।
तं निस्वान पलायंतं निगंठो गिरि नामको।।
पलायति महाकाल सीहलो ति मुसं रवि।
तं सुतान महाराजा सिद्दे मम मनोरथे।।
बिहार एत्थ कारस्सं इच्चेव चिंतईतदा।
दाठिकं दमिलं हत्वा सयं रज्जं अकारई।।
ततो निग्गंठारामं तं विद्धं सेवा महीपतिः।
विहार कारई तस्स द्वादस्स परिवेणिकं।।

अर्थात् इक्कीसवें राजकुमार सिलोन के अनुराधापुर में राज्य करते थे। गिरि नामके किसी निर्ग्रन्थ ने किसी को भागते देखकर जोर से कहा कि महाकाल सिंहल भागे जा रहे हैं। यह सुनकर महाराजा सिंहल ने ऐसा मन

में विचार किया कि यदि मेरा मनोरथ सिद्ध हो गया तो यहीं विहार बनवाऊँगा। दाठिक दमिल को मारकर स्वयं राज्य करने लगा, तब उसने निर्ग्रन्थों का स्थान विध्वंस करके बारह प्रवीण का विहार बनवाया।

यह बात ईसा से दूसरी शताब्दी पूर्व की कही जाती है। इससे यह बात सिद्ध है कि सीलोन में किसी समय जैन थे[9]।

जैन साहित्य में अनेक ऐसी कथायें हैं, जहाँ जैन व्यापारियों का भारत से बाहर जाकर व्यापार करने का उल्लेख मिलता है।

डॉ. यकोबी ने अपने लेख 'महावीर और उनके पूर्वज' में लिखा है कि छह तीर्थंकरों के सम्बन्ध में जेम्स डी. अल्विस ने अपने एक निबन्ध में लिखा था कि ऐसा प्रकट होता है कि **दिगम्बर साधुओं का एक प्राचीन सम्प्रदाय माना जाता था तथा सभी विपक्षी तीर्थिक अपने सिद्धान्तों में अथवा धार्मिक क्रियाओं में जैनधर्म के प्रभाव को अपनाए हुए थे। मक्खलि गोसाल नंगा रहता था। पूरण कस्सप ने यह सोचकर कि दिगम्बर रहने से मेरी प्रतिष्ठा रहेगी, वस्त्र धारण करना स्वीकार नहीं किया।** अजितकेशकम्बली वृक्षों में जीव मानता था और जो वृक्ष काटता था, उसे दोषी करार देता था। प्रक्रुध कात्यायन पानी में जीव मानता था। इस तरह उस समयके चार तीर्थिक जैन धर्म के सिद्धान्तों से प्रभावित थे। इससे प्रकट होता है कि महावीर के समय जैनाचार और विचार अवश्य ही प्रवर्तित थे। अतः निर्ग्रन्थ महावीर से बहुत पहले चले आते थे।[10] बुद्ध संघ के भिक्षु वस्त्रविहीन भी रहते थे, यह इस बात से प्रकट है कि महाराज प्रसेनजित के कोषाध्यक्ष मृगार के पुत्र पूर्णवर्द्धन की स्त्री विशाखा ने एक बार कहा था— भगवान्! बरसात के दिनों में वस्त्रविहीन भिक्षुओं को बड़ा कष्ट होता है और उनको वस्त्रविहीन अवस्था में देखकर लोगों के चित्त में ग्लानि उत्पन्न होती है। इस कारण मैं चाहती हूँ कि संघ को वस्त्रदान किया करुँ।[11] बुद्ध ने अनुमति प्रदान कर दी।

जैसे जैसे बौद्ध संघ का विकास होता गया, वैसे वैसे बौद्ध भिक्षु, भिक्षुणियों और उपासकों की आवश्यकतानुरूप नियमोपनियामों की व्यवस्था होती गयी। बौद्ध विनय सम्बन्धी नियमों का भारतीय संन्यासियों के नियमों के सन्दर्भ में तुलनात्मक अध्ययन की अपेक्षा है। इस दिशा में अभी बहुत कम कार्य हुआ है। जैनाचार से बौद्ध विनय की तुलना अधिक उपयोगी होगी; क्योंकि बुद्ध और महावीर दोनों की परम्पराओं का मूलस्रोत भागवान पार्श्वनाथ की परम्परा है।

बौद्ध विद्वान् धर्मानन्द कौशाम्बी ने अपनी पुस्तक **'पार्श्वनाथ का चातुर्याम**

धर्म' में यह धारणा व्यक्त की है कि भगवान् बुद्ध ने पार्श्वनाथ की परम्परा को अवश्य स्वीकार किया था, भले ही ऐसा थोड़े समय के लिए हुआ हो। वहीं उन्होंने केशलुंचन आदि की साधनायें कीं और चातुर्याम का मर्म पाया।

डॉ. राधाकुमुद मुकर्जी का कहना है कि वास्तविक बात यह ज्ञात होती है कि बुद्ध ने पहले आत्मानुभव के लिए उसकाल में प्रचलित दोनों साधनाओं का अभ्यास किया, आलार और उद्रक के निर्देशानुसार ब्राह्मण मार्ग का और तब जैन मार्ग का और बाद में अपने स्वतन्त्र साधना मार्ग का विकास किया।[१२] वे मगध जनपद के सैनिक सन्निवेश उरुवेला नामक स्थान में गए और वहाँ नदी और ग्राम के समीप, जहाँ भिक्षा की सुविधा थी, रहकर उच्चतर ज्ञान के लिए प्रयत्न करने लगे। इस प्रयत्न का रूप उत्तरोत्तर कठोर होता हुआ तप था, जिसका जैनधर्म में उपदेश है, जिसके करने से उनका शरीर अस्थिपंजर और त्वचामात्र रह गया। उन्होंने श्वास–प्रश्वास और भोजन दोनों का नियमन किया एवं मूँग, कुलथी, मटर, हरेणुका अपने अञ्जलिपुट की मात्रा भर स्वल्प यूष लेकर निर्वाह करने लगे।[१३]

दिगम्बर ग्रन्थ दर्शनसार में जो कि देवसेनाचार्य (८वीं शती) द्वारा प्रणीत है, बतलाया है कि श्री पार्श्वनाथ के तीर्थ में सरयू के किनारे पलाशनगर में पिहितास्रव के शिष्य महाश्रुति बुद्धकीर्तिमुनि हुए। कुछ समय पश्चात् वह मत्स्यमांस खाने लगे और रक्त वस्त्र पहिनकर अपने एकान्तमत का प्रचार करने लगे। उनका कहना था कि जैसे फल, दही, दूध, शर्करा में जीव नहीं है, उसी प्रकार मांस में जीव नहीं है। अतः मांस की वाच्छा करने वाला या खाने वाला पापिष्ठ नहीं है।[१४]

श्रीमती राइस डेविड्स का कहना है— "बुद्ध ने अपनी खोज का प्रारम्भ पाँच परिव्राजकों के साथ किया, जो पंचवर्गीय भिक्षु कहलाते थे। उनके नाम थे— आज्ञाकौण्डिन्य, अश्वजित्, वाष्प, महानाम और भद्रिक। उन्होंने नैतिक और मानसिक जीवन में बुद्ध की बहुत प्रकार सहायता की। उन्होंने तप करना आरम्भ किया, जिसका वैशाली के जैनों में बहुत प्रचार था। वे समकालीन सिद्धान्तों की भी चर्चा करते रहते थे। उन्होंने निर्ग्रन्थों से प्रकृति और कर्म के विषय में, आलार और उद्रक से ध्यान के विषय में एवं सांख्य से संसार विषयक ब्राह्मणेतर विचारों की पद्धति को लिया, जिसकी मथुरा या तक्षशिला में आचार्य कपिल ने सर्वप्रथम शिक्षा दी थी ओर बहुत सी बातों का वे पारस्परिक विचार करते थे। इस सामग्री में से गढ़कर गौतम ने अपना नया मार्ग निकाला।[१५]

अंगुत्तर निकाय (६/६/५७) से ज्ञात होता है कि आनन्द ने बुद्ध से कहा कि पूरणकस्सप ने छह अभिजातियों का निरूपण किया है— कृष्ण अभिजाति, नील अभिजाति, लोहित अभिजाति, हरिद्र अभिजाति, शुक्ल अभिजाति और परम शुक्ल अभिजाति।

पूरण कस्सप ने कृष्ण अभिजाति में कसाई, आखेटक, लुब्धक, मत्स्य घातक, चोर, लुण्टाक, कारागृहिक और इस प्रकार के अन्य क्रूर कमन्तिक लोगों को गिनाया है।

नील अभिजाति में कण्टकवृत्तिक भिक्षुक और अन्य कर्मवादी क्रियावादी लोगों को गिनाया है।

लोहित अभिजाति मे एक शाटक (एक वस्त्रधारी) निर्ग्रन्थों को गिनाया है।

हरिद्र अभिजाति में श्वेतवस्त्र धारी गृहस्थ अचेलक श्रावकों को गिनाया है।

शुक्ल अभिजाति में आजीवक और उनके अनुयायियों को गिनाया है।

परम शुक्ल अभिजाति में नन्द, वत्स, कृश–सांकृत्य और मक्खलि गोशाल को गिनाया है[१६]।

तीसरी लोहित अभिजाति में निगंठा एकशाटका ऐसा पाठ है। डॉ. हेर ने अपने अंग्रेजी अनुवाद में उसका अर्थ जैन और कौपीन (एक वस्त्र) धारी लोग किया है।[१७] डॉ. वाशम[१८], डॉ. हर्नले[१९] और आचार्य बुद्धघोष[२०] ने इसका अर्थ एक वस्त्र पहनने वाले निर्ग्रन्थ किया है। ये क्षुल्लक या ऐलक श्रेणी के हो सकते हैं।

चतुर्थ हरिद्र अभिजाति में 'गिही ओदातवसना अचेलक सावका' ऐसा पाठ है। डॉ. हेर के अनुसार इसका अर्थ है— श्वेत वस्त्रधारी गृहस्थ और नग्न साधुओं के अनुयायी।[२१]

एक बार महात्मा बुद्ध राजगृह के वेलुवन कलन्दक निवाप में विहार कर रहे थे। दूसरे मतावलम्बी श्रावक देवपुत्र, असम, सहली, निंक, आकोटक, बेटम्बरी और माणव गामिय रात बीतने पर वेलुवन को चमत्कृत करते हुए भगवान् के पास गए और अभिवादन कर एक ओर खड़े हो गए।

निंक देवपुत्र ने निगण्ठ नातपुत्त की स्मृति में कहा— वे पापों से घृणा करने वाले, चतुर, भिक्षु, चार यामों से सुसंवृत हैं। दृष्ट व श्रुत का आख्यान करते हैं। उनमें क्या पाप का अवकाश हो सकता है?

आकोटक देवपुत्र ने नाना तैर्थिकों की स्तुति में कहा— पकुध कात्यायन,

निगण्ठ नातपुत्त, मक्खलि गोसाल, पूरण कस्सप आदि श्रामण्य पर्याय में रमण करने वाले गणनायक हैं, सत्पुरुषों से ये कैसे दूर जा सकते हैं।

वेटम्बरी देवपुत्र ने आकोटक देवपुत्र का प्रतिरोध करते हुए कहा— हुआ हुआ कर रोने वाला तुच्छ सियार सिंह के सदृश नहीं हो सकता। नग्न, असत्यवादी ये गणाचार्य जिनके चलने में सन्देह किया जा सकता है, सज्जनों के सदृश कभी नहीं हो सकते।[२२]

अंगुत्तर निकाय में कहा है— भिक्षुओ! एक आदमी अपने को तपाने वाला, अपने को कष्ट देने में लगा रहने वाला कैसे होता है? भिक्षुओ! एक आदमी नग्न होता है, शिष्टाचार शून्य, हाथ चाटने वाला, भदन्त आयें कहने पर न आने वाला, भदन्त खड़े रहें, कहने पर खड़ा न रहने वाला, लाया हुआ न खाने वाला, उद्देश्य से बनाया हुआ न खाने वाला और निमन्त्रण भी न स्वीकार करने वाला होता है। वह न घड़े में से दिया हुआ लेता है, न ऊखल में से दिया हुआ लेता है, न किवाड़ की ओट से दिया हुआ लेता है, न मोड़े के बीच में आ जाने से दिया हुआ, न डण्डे के बीच में पड़ जाने से लेता है, न मूसल के बीच में आ जाने से लेता है, न बच्चे को दूध पिलाती हुई का दिया लेता है, न पुरुष के पास गयी हुई का लेता है, न संग्रह किए हुए अन्न में से पकाया हुआ लेता है, न जहाँ कुत्ता खड़ा हो, वहाँ से लेता है, न जहाँ मक्खियाँ उड़ती हों, वहाँ से लेता है, वह न मछली खाता है, न माँस खाता है, न सुरा पीता है, न मेरय (एक प्रकार की शराब) पीता है, न चावल का पानी पीता है। वह या तो एक ही कौर खाने वाला एक ही घर से लेकर खाने वाला होता है या दो ही कौर खाने वाला दो घरों से लेकर खाने वाला होता है या सात कौर खाने वाला सात घरो से लेकर खाता है। वह केश दाढ़ी का लुचंन करने वाला भी होता है। वह बैठने का त्याग कर निरन्तर खड़ा ही रहने वाला भी होता है। वह उकडूँ बैठकर प्रयत्न करने वाला होता है। वह काँटों की शय्या पर सोने वाला भी होता है[२३]।

उपर्युक्त वर्णन में निर्ग्रन्थों का नाम नहीं है, किन्तु आचार निर्ग्रन्थों का वर्णित है।

लंका के राजा पाण्डुकामयने चण्डाल ग्राम की पूर्वोत्तर दिशा में चण्डालों के लिए एक नीचा श्मसान बनाया। श्मसान के उत्तर में ग्रामणी वापी तक अनेक तपस्वियों के लिए आश्रम बनवाए। उसी श्मसान के पूर्व में राजा ने जोतिय निगण्ठ के लिए घर बनवाया। उसी स्थान पर गिरिनामक निगण्ठ तथा अन्य भी अनेक मतों के बहुत सारे श्रमण रहते थे। वहीं राजा ने कुम्भड

निगण्ठ के लिए एक देवालय बनवाया, जो उसके नाम से ही विश्रुत हुआ[२४]।

इस समुल्लेख से यह झलक मिलती है कि निर्ग्रन्थ धर्म समुद्रों पार विदेशों में भी गया था। पाण्डुकाभय (ई. पू. ३७०–३००) राजा सम्राट् अशोक से भी लगभग १०० वर्ष पूर्व हुआ था।[२५]

राजगृह में एक सम्यग्दृष्टि बालक और एक मिथ्यादृष्टि बालक रहता था। जब वे गुल्ली डण्डा खेलते तो सम्यग्दृष्टि बालक कहता— नमो बुद्धस्स और मिथ्यादृष्टि बालक कहता— 'नमो अरहन्तानं।' जीत सदा सम्यग्दृष्टि बालक की होती। मिथ्यादृष्टि बालक के मन में भी बुद्ध के प्रति श्रद्धा जगी, वह भी नमो बुद्धस्स कहने लगा।[२६]

जैनों में णमो अरहंताणं आज भी कहा जाता है। सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि शब्द के प्रयोग दोनों परम्पराओं में प्रचलित है। दोनों में स्वमतानुयायियों के लिए सम्यग्दृष्टि और परमतानुयायियों के लिए मिथ्यादृष्टि कहा जाता है।

राजगृह में एक ब्राह्मण रहता था। वह सारिपुत्र का मामा था। सारिपुत्र स्थविर ने एक बार अपने मामा से पूछा— विप्रवर ! कोई पुण्य कर्म करते हो?

"भन्ते ! ब्रह्मलोक जाने के लिए प्रतिमास एक सहस्र मुद्रायें व्यय कर निर्ग्रन्थों को दान देता हूँ।"

सारिपुत्र ब्राह्मण को साथ लेकर बुद्ध के पास आये। ब्राह्मण से कहा— ब्रह्मलोक जाने का मार्ग बुद्ध से पूछो। ब्राह्मण ने वैसा ही किया। भगवान् ने कहा— "इस प्रकार के सौ वर्ष तक दिए गए दान से भी मेरे भिक्षुओं को मुहूर्तमात्र प्रसन्नचित्त से देखना या कुड़छी भर भिक्षा देना श्रेष्ठ है।[२७]

यद्यपि निर्ग्रन्थ इस प्रकार का दान स्वीकार नहीं करते हैं, किन्तु सारिपुत्त का मामा निर्ग्रन्थों का भक्त था, यह जानकारी इससे अवश्य होती है।

जिन श्रावक : एक बार बुद्ध श्रावस्ती में विहार कर रहे थे, वे भिक्षुओं को आमन्त्रित कर बोले— भिक्षुओं ! मैं प्रव्रजित हो वैशाली गया। वहाँ अपने तीन सौ शिष्यों के साथ आराड़ कालाम रहते थे। मैं उनके पास गया। वे अपने जिन श्रावकों को कहते— त्याग करो, त्याग करो।' जिन श्रावक कहते— हम त्याग करते हैं, हम त्याग करते हैं।

मैंने आराड़–कालाम से कहा— मैं भी आपका शिष्य होना चाहता हूँ। उन्होंने कहा— जैसा तुम चाहते हो, वैसा करो। मैं शिष्य रूप में वहाँ रहने लगा। जो उन्होंने सिखलाया, वह मैंने सीखा। मेरी मेधा से वे प्रभावित हुए।

उन्होंने कहा— 'जो मैं जानता हूँ, वही यह गौतम जानता है। अच्छा हो गौतम! हम दोनों मिलकर संघ का संचालन करें। इस तरह कह उन्होंने मुझे सम्मानित पद दिया।

मुझे लगा— इतना सा ज्ञान पाप–नाश के लिए पर्याप्त नहीं है। मुझे और गवेषणा करनी चाहिए। यह सोच मैं राजगृह आया। वहाँ अपने सात सौ शिष्यों के परिवार से उद्रक रामपुत्र रहते थे। वे भी अपने जिन श्रावकों को वैसा ही कहते थे। मैं भी उनका शिष्य बना। उनसे भी मैंने बहुत कुछ सीखा। उन्होंने भी मुझे सम्मानित पद दिया। पर मुझे लगा— इतना ज्ञान भी पाप क्षय के लिए पर्याप्त नहीं है। मुझे और अन्वेषण करना चाहिए। यह सोच मैं वहाँ से भी चल पड़ा।[२८]

यहाँ जिन श्रावक शब्द का प्रयोग आराड़ कालाम, उद्द रामपुत्र व उनके अनुयायियों का निगण्ठ धर्मी होना सूचित करता है। यह प्रकरण महावस्तु ग्रन्थ का है, जो महायान का प्रमुख ग्रन्थ है। महायान के त्रिपिटक पालि में न होकर संस्कृत में हैं। पालि त्रिपिटकों में जिस अभिप्राय से निगण्ठ शब्द आता है, उसी अर्थ में यहाँ जिन श्रावक शब्द आया है। इस प्रसंग से तो विशेष रूप से स्पष्ट होता ही है कि बुद्ध ने जिन श्रावकों के साथ रहकर बहुत कुछ सीखा व पाया।

ज्योतिर्विद् निगण्ठ

गंगा नदी के किनारे एक ब्रह्मचारी निगण्ठ रहता था। उसके ५०० अनुयायी थे। वह ज्योतिर्मण्डल का ज्ञाता था। वह ग्रहों और नक्षत्रों के उदयास्त देखकर भविष्य बतलाता था। एक दिन गंगा नदी के किनारे अपने अनुयायियों के साथ वह भाग्य सम्बन्धी चर्चा कर रहा था। उस चर्चा प्रसंग में प्रश्न उठा— भाग्य कहते किसे हैं? उन्हें परस्पर के संताप से कोई सन्तोषजनक समाधान नहीं मिला। तब वे बोधिवृक्ष के पास आये और उन्होंने तथागत से यह प्रश्न पूछा। तथागत को कुछ ही समय पूर्व यहाँ बोधिलाभ हुआ था। शास्ता ने संयम, साधना आदि गुणों का कथन किया और कहा— इन्हें जो धारण किए रहता है, वह भाग्यशाली है। शास्ता के उत्तर से सब प्रभावित हुए और शास्ता के पास प्रव्रजित हुए।[२६]

यह घटना यह व्यक्त करती है कि बुद्ध के बोधिलाभ से पूर्व भी निगण्ठ लोग बड़े बड़े समुदायों में विद्यमान थे। जैन कथा साहित्य में ऐसे प्रसंग बहुत अल्प है, जिनमें बौद्ध भिक्षु निगण्ठ शासन में प्रवेश करते हैं, जबकि बौद्ध कथा साहित्य में प्रस्तुत प्रकार के कथा प्रसंगों की बहुलता है। इससे

निगण्ठों की पूर्ववर्तिता स्पष्टतः व्यक्त होती है। बुद्ध से महावीर के ज्येष्ठ होने का भी यह एक स्पष्ट आधार बनता है।[30]

धूलि-धूसरित निगण्ठ : उत्तरवर्ती प्रदेश में उस समय ५०० ब्राह्मण रहते थे। उन्होंने सोचा, गंगा के किनारे एक निगण्ठ साधु रहता है। वह तपस्वी है, अपने शरीर को धूलि धूसरित रखता है। ज्ञान प्राप्ति के लिए हमें उसके पास चलना चाहिए। वे वहाँ से चले। घने जंगल में वे प्यासे हो गए। प्यास से पीड़ित हो क्रन्दन करने लगे। उस वनके एक वृक्ष से एक भूत प्रकट हुआ। उसने सबको पानी पिलाया। ब्राह्मणों के सम्मुख उसने बुद्ध की प्रशंसा की। वे ब्राह्मण निगण्ठ के पास न जाकर बुद्ध के पास श्रावस्ती आ गए। बुद्ध ने कहा— नंगे रहने से, जटा रखने से, धूल धूसरित होने से, उपवास करने से, भूमि पर सोने से किसी का कल्याण नहीं होगा। कल्याण तो आत्म गुणों के विकास से होता है। यह सब सुनकर ५०० ब्राह्मण बौद्ध बन गए।[31]

निगण्ठों में विवाद : भगवान् बुद्ध एक समय शाक्य देश में वेधञ्ञा नामक शाक्यों के आम्र वन प्रासाद में विहार कर रहे थे। निगण्ठ नातपुत्त की कुछ ही समय पूर्व पावा में मृत्यु हुई थी। उनकी मृत्यु के अनन्तर ही निगण्ठों में फूट हो गयी, दो पक्ष हो गए, लड़ाई चल रही थी और कलह हो रहा था। एक दूसरे को वचन वाणों से बींधते हुए विचार कर रहे थे— तुम इस धर्म विनय को नहीं जानते, मैं इस धर्म—विनय को जानता हूँ। तुम भला इस धर्म विनय को क्या जानोगे? तुम मिथ्या प्रतिपन्न हो, मैं सम्यक् प्रतिपन्न हूँ, मेरा कहना सार्थक है, तुम्हारा कहना निरर्थक है। जो बात पहले कहनी चाहिए थी, वह तुमने पीछे कही। तुम्हारा विवाद बिना विचार का उल्टा है। तुमने वाद रोपा है, तुम निग्रह स्थान में आ गये। तुम इस आक्षेप से बचने के लिए यत्न करो, यदि शक्ति है तो सुलझाओ। मानों निगण्ठों में युद्ध हो रहा था।

निगण्ठ नातपुत्त के श्वेतवस्त्रधारी गृहस्थ शिष्य भी नात पुत्रीय निगण्ठों में वैसे ही विरक्त चित्त हो रहे थे, जैसे नातपुत्त के दुराख्यात, दुष्प्रवेदित, अनैर्याणिक, अन—उपशम—संर्वतनिक, अ—सम्यक् सम्बुद्ध प्रवेदित, प्रतिष्ठा रहित, भिन्नस्तूप, आश्रय रहित धर्म में अन्यमनस्क, खिन्न और विरक्त हो रहे थे।

चुन्द समणुद्देस पावा में वर्षावास कर सामगाम में आयुष्मान् आनन्द के पास गये और उन्हें निगण्ठनात पुत्त की मृत्यु तथा निगण्ठों में परिव्याप्त फूट की विस्तृत सूचना दी। आयुष्मान् आनन्द बोले— आवुस चुन्द ! यह कथा भेंट रूप है। हम भगवान् के पास चलें और उनसे यह निवेदन करें।

आयुष्मान् आनन्द और चुन्द समणुदेस भगवान् के पास आए। अभिवादन कर दोनो ही एक ओर बैठ गए। आयुष्मान् आनन्द ने भगवान् से निवेदन किया— भन्ते ! चुन्द समणुदेस ऐसा कह रहे हैं कि निगण्ठ नातपुत्त अभी अभी (कुछ दिन पूर्व ही) मृत्यु को प्राप्त हुए हैं। उनके संघ में भयंकर विग्रह हो रहा है। सभी श्रमण एक दूसरे पर आक्षेप प्रत्याक्षेप कर रहे हैं। भन्ते ! मुझे भी ऐसा अनुभव होता है कि भगवान् के बाद संघ में कहीं ऐसा विग्रह उत्पन्न न हो जाय। यह विवाद बहुत जनों के अहित के लिए, बहुत जनों के असुख के लिए, बहुत जनों के अनर्थ के लिए; देव मनुष्यों के अहित और दुःख के लिए होगा।

भगवान् बुद्ध ने कहा— चुन्द ! जहाँ शास्ता सम्यक् सम्बुद्ध नहीं होता, धर्म दुराख्यात होता है वहाँ क्या नहीं हो सकता? अतः चुन्द ! जिस धर्म को मैंने साक्षात्कार तुम्हें उपदेश किया है, उसे सभी मिल जुलकर ठीक समझें, विवाद न करें।[३२]

महावीर निर्वाण के तत्काल बाद निर्ग्रन्थों में इस प्रकार का विवाद उत्पन्न हुआ हो, ऐसा जैन ग्रन्थों में कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता? सम्भवतः यह उस समय की घटना है, जब दिगम्बर श्वेताम्बर विवाद सामने आ गया था, किन्तु यह महावीर निर्वाण के कई सौ वर्ष बाद की घटना है। उस समय नग्न साधुओं का ही निगण्ठों के रूप में बोध होता था। श्वेताम्बर सम्प्रदाय का तब उदय हो गया होगा, उनके श्वेत वस्त्रधारी साधुओं को देखकर ही सम्भवतः बौद्धों ने उन्हें निगण्ठ नातपुत्त के श्वेतवस्त्रधारी गृहस्थ शिष्य समझा। अन्यत्र इस प्रकार के श्वेतवस्त्रधारी गृहस्थों का उल्लेख जैन साहित्य में प्राप्त नहीं होता है। दिगम्बर परम्परा वस्त्रधारी को गृहस्थ ही मानती है।

इस प्रकार बौद्ध साहित्य में निगण्ठों का उल्लेख अनेक स्थानों पर पाया जाता है। स्व. डॉ. हर्मन जैकोबी ने जैन सूत्रों की अपनी प्रस्तावना में लिखा है— "इस बात से अब सब सहमत हैं कि नातपुत्त जो महावीर अथवा वर्द्धमान के नाम से प्रसिद्ध हैं, बुद्ध के समकालीन थे। बौद्ध ग्रन्थों में मिलने वाले उल्लेख हमारे इस विचार को दृढ़ करते हैं कि नातपुत्त से पहले भी निर्ग्रन्थों का जो आज जैन अथवा आर्हत के नाम से अधिक प्रसिद्ध हैं, अस्तित्व था। जब बौद्ध धर्म उत्पन्न हुआ, तब निर्ग्रन्थों का सम्प्रदाय एक बड़े सम्प्रदाय के रूप में गिना जाता होगा। बौद्ध पिटकों में कुछ निर्ग्रन्थों का बुद्ध और उनके शिष्यों के विरोधी के रूप में और कुछ का बुद्ध का अनुयायी बन जाने के रूप में वर्णन आता है। उसके ऊपर से हम उक्त अनुमान कर सकते हैं।

इसके विपरीत इन ग्रन्थों में किसी भी स्थान पर ऐसा कोई उल्लेख या सूचक वाक्य देखने में नहीं आता कि निर्ग्रन्थों का सम्प्रदाय एक नवीन सम्प्रदाय है और नातपुत्त उसके संस्थापक हैं। इसके ऊपर से हम अनुमान कर सकते हैं कि बुद्ध के जन्म से पहले अति प्राचीन काल से निर्ग्रन्थों का अस्तित्व चला आता है।[३३]

अचेलक के रूप में उल्लेख

बौद्धशास्त्रों में जैन मुनियों का उल्लेख 'अचेलक' रूप में हुआ मिलता है। जैसे— "पाटिक पुत्त अचेलो" अचेलक पाटिक पुत्र, यह जैन साधु थे।[३४] चीनी त्रिपिटक में भी जैन साधु अचेलक नाम से उल्लिखित हुए है।[३५] बौद्ध टीकाकारबुद्धघोष "अचेलक" का तात्पर्य नग्न से लेते हैं।

अह्रीक के रूप में उल्लेख

अह्रीक शब्द का प्रयोग अजैन ग्रन्थकारों ने दिगम्बर मुनियों के प्रति घृणाभाव का प्रदर्शन करने के लिए किया है, जैसा बौद्धों के दाठावंश में है।[३६]

इमे अहिरिका सव्वे सद्धादिगुणवज्जिता।
थद्धा सठा च पुप्पञ्जा सग्गमोक्ख विवन्धका।। ८८

बौद्ध नैयायिक कमलशील ने भी जैन का अह्रीक नाम से उल्लेख किया है। (अह्रीकाश्चोदयन्ति–तत्त्वसंग्रह पृ. ४८६)

बौद्ध भिक्षुओं का नग्नत्व के प्रति आकर्षण

एक बौद्ध भिक्षु ने महात्मा बुद्ध के पास नंगे हो आकर कहा कि भगवान् ने संयमी पुरुष की बहुत प्रशंसा की है, जिसने पापों को धो डाला है और कषायों को जीत लिया है तथा जो दयालु, विनयी और साहसी है। हे भगवन्! यह नग्नता कई प्रकार से संयम और सन्तोष को उत्पन्न करने में कारण भूत है— इससे पाप मिटता है, कषाय दबती है, दयाभाव बढ़ता है तथा विनय और उत्साह आता है। प्रभो ! यह अच्छा हो, यदि आप भी नग्न रहने की आज्ञा दें। बुद्ध ने उत्तर में कहा कि भिक्षुओं के लिए यह उचित न होगा— एक श्रमण के लिए यह अयोग्य है। इसलिए इसका पालन नहीं करना चाहिए। हे मूर्ख ! तित्थियों की तरह तू भी नग्न कैसे होगा? हे मूर्ख इससे नये लोग भी दीक्षित न होंगे।[३६]

तात्पर्य यह है कि बुद्ध को भय था कि यदि बौद्ध भिक्षु नग्न रहने लगेंगे तो जैन साधु और बौद्ध भिक्षुओं में बाह्य रूप में कुछ अन्तर नहीं रह जायगा।

नेपाल में गूढ़ और तान्त्रिक नाम की एक बौद्धधर्म की शाखा है। मि. हाग्सन ने लिखा है कि इस शाखा में नग्न यति रहा करते हैं।[३८]

एक तीर्थिक नग्न हो गया। लोग उसके लिए बहुत से वस्त्र लाए, किन्तु उनको उसने स्वीकार नहीं किया। उसने यही सोचा कि यदि मैं वस्त्र स्वीकार करता हूँ तो संसार में मेरी अधिक प्रतिष्ठा नहीं होगी। वह कहने लगा कि लाज रक्षण के लिए ही वस्त्र धारण किया जाता है और लज्जा ही पाप का कारण है। हम अर्हत् हैं, इसिलए विषय वासना से अलिप्त होने के कारण हमें लज्जा की कुछ भी परवाह नहीं है। इसका यह कथन सुनकर बड़ी प्रसन्नता से वहाँ इसके पाँच सौ शिष्य बन गए, बल्कि जंबूद्वीप में इसी को लोग सच्चा बुद्ध कहने लगे।[३६]

बुद्ध और निर्ग्रन्थों का संवाद

मज्झिमनिकाय के चूलदुक्खक्खन्ध सुत्त में बुद्ध और निर्ग्रन्थों का संवाद आया है। उसका सारांश इस प्रकार है—

राजगृह में कुछ निर्ग्रन्थ खड़े खड़े तपश्चर्या कर रहे थे। भगवान् बुद्ध उनके पास जाकर बोले— बन्धुओ ! आप अपने शरीर को इस प्रकार कष्ट क्यों देते हैं? उन्होंने कहा, "निर्ग्रन्थ नाथ पुत्त सर्वज्ञ हैं। वे कहते हैं कि चलते हुए, खड़े रहते हुए, सोते हुए या जागते हुए हर स्थिति में मेरी ज्ञानदृष्टि कायम रहती है। वे हमें उपदेश देते हैं कि हे निर्ग्रन्थों ! तुमने पूर्वजन्म में जो पाप किया है, उसे इस प्रकार के देहदण्डन से जीर्ण करो और इस जन्म में मन, वचन और शरीर से कोई भी पाप मत करो। इस प्रकार तप से पूर्वजन्म के पाप का नाश होगा और नया पाप न करने से अगले जन्म में कर्मक्षय होगा। इससे सारा दुःख नष्ट होगा। उसकी यह बात हमें प्रिय लगती है।" भगवान् बोले— हे निर्ग्रन्थों ! क्या आप जानते हैं कि पूर्वजन्म में आप थे या नहीं?

निर्ग्रन्थ— हम नहीं जानते।

भगवान्— क्या आपको यह मालूम है कि आपके कितने दुःख का नाश हुआ और कि कितना शेष है?

निर्ग्रन्थ— वह भी हमें मालूम नहीं।

भगवान्— यदि ये बातें आपको ज्ञात नहीं हैं तो क्या इसका यह अर्थ नहीं होगा कि आप पिछले जन्म में बहेलियों की तरह क्रूर कर्मा थे और इस जन्म में उन पापों का नाश करने के लिए तपश्चर्या करते हैं।

निर्ग्रन्थ— आयुष्मन, गौतम ! सुख से सुख प्राप्त नहीं होता, दुःख से ही सुख प्राप्त होता है। सुख से सुख प्राप्त हुआ होता तो बिम्बसार राजा को आयुष्मान् गौतम की अपेक्षा अधिक सुख मिला होता?

भगवान्— हे निग्रन्थो ! आपने बिना सोचे समझे यह बात कही है। यहाँ मैं आपसे इतना ही पूछूँगा कि क्या बिंबसार राजा सात दिन तक सीधे बैठकर एक भी शब्द मुँह से निकाले बिना एकान्त सुख का अनुभव कर सकेगा? सात दिन की बात जाने दीजिए, क्या वह एक दिन के लिए भी ऐसे सुख का अनुभव कर सकता है?

निर्ग्रन्थ— आयुष्मान् ! उसके लिए सम्भव नहीं है।

भगवान्— मैं तो एक दिन ही नहीं, बल्कि सात दिन तक इस प्रकार के सुख का अनुभव कर सकता हूँ। मैं आपसे पूछता हूँ कि बिम्बसार राजा अपने वैभव से अधिक सुखी है या मैं?

निर्ग्रन्थ— यदि ऐसा है तो आयुष्मान् गौतम ही बिम्बसार राजा से अधिक सुखी है।[४०]

बौद्ध मत की विशेषता बतलाने के लिए यह संवाद रचा गया है, फिर भी उससे जैनों का यह मत द्योतित होता है कि तप के द्वारा पूर्व कर्मों का क्षय किया जा सकता है।

चार संवरों की चर्चा

दीर्घानकाय सामञ्ञफल सुत्त में चार संवरों की चर्चा आयी है। अजातशत्रु ने निगण्ठ नाथ पुत्त से पूछा क्या श्रामण्य का फल भी इसी जन्म में बतलाया जा सकता है?

ऐसा कहने पर निगण्ठनाथपुत्त ने यह उत्तर दिया— महाराज ! निगण्ठ चार प्रकार के संवरों से संवृत (आच्छादित, संयत) रहता है। महाराज ! निगण्ठ चार प्रकार के संवरों से कैसे संवृत रहता है? महाराज (१) निगण्ठ (निर्ग्रन्थ) जल के व्यवहार का वारण करता है, (जिसमें जल के जीव न मारे जावें) (२) सभी पापों का वारण करता है (३) सभी पापों का वारण न करने से धुत पाप होता है (४) सभी पापों के वारण करने में लगा रहता है। महाराज ! निगण्ठ इस प्रकार चार संवरों से संवृत रहता है। महाराज ! क्योंकि निगण्ठ इन चार प्रकार के संवरों से संवृत रहता है, इसीलिए वह निर्ग्रन्थ, गतात्मा (=अनिच्छुक) यतात्मा (=संयमी) और स्थितात्मा कहलाता है।

भन्ते ! प्रत्यक्ष श्रामण्य फल के पूछे जाने पर निगण्ठनाथपुत्त ने चार संवरों का वर्णन किया। भन्ते ! जैसे पूछे आम, जवाब दे कटहल, पूछे कटहल, जवाब दे आम, ऐसे ही भन्ते ! निगण्ठनाथपुत्त ने चार संवरों का वर्णन किया। भन्ते! तब मेरे मन में यह हुआ— कैसे मुझ जैसा (कोई राजा) अपने राज्य में बसने वालें किसी श्रमण या ब्राह्मण को देश से निकाल दे। न बढ़ाई, न निन्दा

करके खिन्न हो, कोई खिन्न बात भी न कहकर उस (कही हुई) बात को न स्वीकार कर और न उसका ख्यालकर आसन से उठकर चल दिया।[४१]

यहाँ चातुर्याम संवर का जो वर्णन किया गया है, वह भ्रामक है। यथार्थ में उस समय पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म अधिक प्रसिद्धि को प्राप्त था। अहिंसा, सत्य अस्तेय और अपरिग्रह इन चार यामों का उपदेश भगवान् पार्श्वनाथ ने दिया था। उसमें भगवान् महावीर ने ब्रह्मचर्य जोड़कर पञ्चमहाव्रत का रूप दे दिया। बौद्धों के उल्लेख से ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय पञ्च महाव्रत प्रसिद्धि में न आकर चातुर्याम धर्म अधिक प्रसिद्ध था, जिसका सामञ्ञफल सुत्त में अन्यथा निरूपण किया गया है।

अचेल कस्सप का कथानक

एक बार महात्मा बुद्ध उजुञ्ञा के पास कण्णकत्थल मिगदाय में विहार करते थे। तब अचेल (नंगा) काश्यप जहाँ भगवान थे, वहाँ गया। जाकर उसने भगवान् से कुशल समाचार पूछा और कहा– हे गौतम ! ऐसा सुना है कि श्रमण गौतम सभी तपश्चरणों की निन्दा करता है, सभी तपश्चरणों की कठोरता को बिल्कुल बुरा और अनुचित बतलाता है। जो ऐसा कहते हैं,क्या वह आपके प्रति ठीक कहने वाले हैं?

इसके उत्तर में बुद्ध ने जो उत्तर दिया, उसका अभिप्राय यह है कि सभी तपस्यायें निन्द्य नहीं हैं। काश्यप ! जो नंगा रहता है, आचार–विचार को छोड़ देता है। वह शील–सम्पत्ति, चित्त सम्पत्ति और प्रज्ञा सम्पत्ति की भावना नहीं कर पाता और वह उनका साक्षात्कार भी नहीं कर पाता। अतः वह श्रामण्य और ब्राह्मण्य से बिल्कुल दूर है। काश्यप ! जब भिक्षु वैर और द्रोह से रहित होकर मैत्री भावना करता है। चित्त मलों के क्षय होने से निर्मल चित्त की मुक्ति और प्रज्ञा की मुक्ति को इसी जन्म में स्वयं जानकर साक्षात् कर प्राप्त कर विहार करता है। काश्यप ! (यथार्थ में वही भिक्षु श्रमण या ब्राह्मण कहलाता है।[४२] अन्त में अचेल काश्यप ने भगवान् के पास प्रव्रज्या पायी, उप सम्पदा पाई। वे अर्हतों में से एक हुए।[४३]

इसके अतिरिक्त दीघ निकाय में अचेल कोरखत्तिय[४४], अचेल कोरमट्टक[४५] और अचेल पथिक[४६] पुत्र की कथा कही गयी हैं। ये कथायें अचेल साधुओं की छवि को धूमिल करने के लिए मनगढंत कल्पना के आधार पर कही गयी हैं। उदाहरणार्थ कहा गया है कि अचेल कोरमट्टक ने सात व्रत ग्रहण किए थे–

१. जीवन भर नंगा रहूँगा, वस्त्र धारण नहीं करूँगा। २. जीवन भर

ब्रह्मचारी रहूँगा, मैथुन धर्म का सेवन नहीं करूँगा। ३. जीवन भर मांस खाकर और सुरा पीकर ही रहूँगा, भात, दाल नहीं खाऊँगा। ४. वैशाली में पूरब की ओर उदयन नामक चैत्य के आगे न जाऊँगा। ५. दक्षिण में गोतमक नामक चैत्य के आगे नहीं जाऊँगा। ६. पश्चिम में सप्ताम्रक नामक चैत्य के आगे नहीं जाऊँगा। ७. उत्तर में बहुपुत्रक नामक चैत्य के आगे न जाऊँगा।

उपर्युक्त प्रतिज्ञाओं में किसी अचेल साधु के द्वारा तीसरे प्रकार की प्रतिज्ञा लेना असम्भव है। साधु की तो बात ही क्या सामान्य जैन श्रावक भी अष्टमूल गुण धारण करता है, जिसमें मद्य, मांस, मधु का त्याग अनिवार्य होता है।

इस प्रकार की बातें अचेल साधुओं का मखौल उड़ाने के लिए कहीं गयी हैं।[४७]

तप के उल्लेख

राजगृह के चारों ओर जो पहाड़ियाँ है, उनपर निर्ग्रन्थ आदि श्रमण तपश्चर्या करते थे, ऐसा उल्लेख अनेक स्थानों पर मिलता है। बोधिसत्व को तपश्चर्या के लिए ये रूक्ष पर्वत पसन्द नहीं आए। उन्हें उरुवेला का रम्य प्रदेश पसन्द आया।[४८] जैन ग्रन्थों से ऐसा ज्ञात होता है कि बुद्धकालीन जैनों के चौबीसवें तीर्थंकर महावीर स्वामी (जिन्हें निर्ग्रन्थ नाथपुत्त कहते थे) और मक्शलिगोसाल ने छः बरस तक एक साथ रहकर तपश्चर्या की थी।[४९] आजीविकों के (नियति, संगति और स्वभाव रूप) दर्शन की अपेक्षा निग्रन्थों की चातुर्याम संवरवाद विशेष पसन्द आया हो तो उसमें कोई आश्चर्य नहीं; क्योंकि उससे और तपश्चर्या से पिछले जन्म में किए हुए पाप को धोया जा सकता था और एक ही जन्म में मोक्ष की प्राप्ति हो सकती थी।[५०]

क्या बुद्ध अक्रियावादी थे?

एक बार बुद्ध भगवान् वैशाली के पास महावन में रहते थे। उस समय कुछ प्रसिद्ध लिच्छवी राजा अपने संस्थागार में जमा हो गए थे। वहाँ बुद्ध के विषय में बातें निकलीं। उनमें से लगभग सभी बुद्ध, धर्म और संघ की स्तुति करने लगे। यह सुनकर सिंह सेनापति को बुद्ध दर्शन की इच्छा हुई। वह निर्ग्रन्थों का उपासक होने के कारण अपने मुख्य गुरु नाथपुत्त से मिला और बोला— "भदन्त, मैं श्रमण गौतम से मिलना चाहता हूँ।

नाथपुत्त बोले— हे सिंह! तुम क्रियावादी हो, फिर तुम अक्रियावादी गौतम से क्यों मिलना चाहते हो?

अपने गुरु का यह वचन सुनकर सिंह सेनापति ने बुद्धदर्शन के लिए जाने का विचार छोड़ दिया। फिर एक दो बार उसने लिच्छवियों के संस्थागार

में बुद्ध, धर्म और संघ की स्तुति सुनी। तथापि नाथपुत्त के कहने से बुद्ध दर्शन के लिए जाने का विचार उसे फिर स्थगित करना पड़ा। अन्त में नाथपुत्त से पूछे बिना सिंह ने बुद्ध से भेंट करने का निश्चय किया और अपने दल–बल सहित महावन में जाकर वह भगवान् को नमस्कार कर एक ओर बैठ गया और भगवान् से बोला "भदन्त ! क्या यह सच है कि आप अक्रियावादी हैं और श्रावकों को अक्रियावाद सिखाते हैं?

भगवान् बोले, "एक पर्याय ऐसा है कि जिससे सत्यवादी मनुष्य यह कह सकें कि श्रमण गौतम अक्रियावादी हैं। वह पर्याय कौन सा है? हे सिंह मैं कायुदश्चरित, वाग्दुश्चरित और मनोदुश्चरित की अक्रिया का उपदेश देता हूँ।"

'हे सिंह, दुसरा भी एक पर्याय है, जिससे सत्यवादी मनुष्य यह कह सके कि श्रमण गौतम क्रियावादी है। वह कौन सा पर्याय है? मैं कायसुचरित, वाक्यसुचरित और मनः सुचरित की क्रिया का उपदेश देता हूँ।'

"और भी एक पर्याय है, जिससे सत्यवादी मनुष्य मुझे उच्छेदवादी कह सकता है। वह पर्याय कौन सा है? मैं लोभ, द्वेष और मोह के विनाश का उपदेश देता हूँ।

"और हे सिंह, ऐसा भी एक पर्याय है कि जिससे सत्यवादी मनुष्य मुझे तपस्वी कह सके। वह पर्याय कौन सा है? हे सिंह, मैं कहता हूँ कि पापकारक अकुश अधर्मों को तपा डाला जाय। जिसके पापकारक अकुशल धर्म गल गए, नष्ट हो गए, फिर से उत्पन्न नहीं होते, उसे मैं तपस्वी कहता हूँ।"[५१]

उपर्युक्त संवाद से स्पष्ट है कि बुद्ध किन्ही प्रश्नों का उत्तर एक रूप से न देकर उस पद्धति से देते थे, जिसे जैनों में स्याद्वाद कहा जाता है।

अलग अलग श्रमण संघों में विभिन्न दर्शनों का प्रतिपादन होता था, तथापि तपश्चर्या के सम्बन्ध में उनमें से अधिकतर श्रमण एकमत थे। उनमें से निर्ग्रन्थों ने कर्म को विशेष महत्त्व दिया। उनके नेता कहते थे कि यह जन्म दुःखकारक है और पूर्वजन्म के पाप कर्मो से प्राप्त होने के कारण उन पापों को नष्ट करने के लिए घोर तपश्चर्या करनी चाहिए। परन्तु बुद्ध भगवान तपश्चर्या का निषेध करते थे। अतः उन्हें निर्ग्रन्थों ने अक्रियावादी कहा हो तो वह स्वाभाविक था। बुद्ध ने शस्त्र त्याग किया था, इसलिए वे ब्राह्मणों की दृष्टि से अक्रियावादी हो गए और तपश्चर्या का त्याग करने से तपस्वियों की दृष्टि से अक्रियावादी हो गए।[५२]

काश्यप बुद्ध के अनुसार नग्न रहना मर्त्य को पावन नहीं कर सकता

सुत्तनिपात के १४ वें आमगंध सुत्त में काश्यप बुद्ध की ओर से कहा गया है कि मत्स्य–मांस का आहार वर्ज्य करना, नग्न रहना, मुंडन, जटा, भभूत लगाना, खुरदरा अजिनचर्म, अग्निहोत्र की उपासना या इहलोक की अन्य विविध तपश्चर्यायें, मन्त्राहुति, यज्ञ और शीतोष्ण सेवन से तप करना ये बातें कुशंकाओं के परे न गए हुए मर्त्य को पावन नहीं कर सकती।[५३]

आर्यसूर का उल्लेख

आर्यसूर की जातकमाला में घटकथा में एक स्थान पर मदिरापान के दोष दिखलाते हैं–

"इसके (मदिरा के) पीने से लज्जावान भी लज्जा खो बैठते हैं और वस्त्रों के कष्टों और बन्धनों से अलग होकर **निर्ग्रन्थों की तरह नग्न होकर** वे जनसमूह से पूर्ण राजमार्गों पर चलते हैं।"[५४]

दिव्यावदान का उल्लेख

दिव्यावदान नामक ग्रन्थ में एक स्थान पर लिखा है–

"कथं स बुद्धिमान् भवति पुरुषो व्यञ्जनावितः।
लोकस्य पश्यतो यो ऽ यं ग्रामे चरति नग्नकः।।"

अर्थात् वह (निर्ग्रन्थ जैन साधु) अज्ञानी पुरुष बुद्धिमान् कैसे कहा जा सकता है, जो देखने वाले लोगों के समुदाय में नग्न घूमता है।

यहाँ पर जैन मुनियों की नग्न दशा की निन्दा की गयी है, परन्तु इससे यह सिद्ध होता है कि जैन साधुओं का नग्न रूप प्राचीन समय से चला आता है।

धम्मपद कथा का एक प्रकरण

धम्मपद कथा नामक ग्रन्थ के विशाखवत्थु प्रकरण में दूसरे भाग के ३८४ पृष्ठ पर विशाखा नामक सेठ पुत्री की कथा दी है, जिसका कि पिता बौद्ध धर्मावलम्बी था और श्वसुर परिवार जैन धर्मावलम्बी था वह स्वयं बौद्ध साधुओं में भक्ति भाव रखती थी।

श्रावस्ती नगर में अपने श्वसुर (मिगार सेठ) के घर पहुँचने पर विशाखा को एक दिन ऐसा अवसर मिला कि उसके श्वसुर ने अपने घर ५०० निर्ग्रन्थ साधुओं को भोजनार्थ आमन्त्रित किया। तदनन्तर उस सेठ ने विशाखा से उन साधुओं के चरणों में प्रणाम करने को कहा। विशाखा निर्ग्रन्थ साधुओं का नग्न रूप देखकर भाग आई और उसने कहा– ऐसे निर्लज्ज नग्न पुरुष साधु नहीं हो सकते। .... जब नग्न निर्ग्रन्थों ने यह जाना कि बुद्ध मिगार सेठ के घर मौजूद हैं तब उन्होंने उसके घर को घेर लिया। विशाखा ने अपने श्वसुर से बुद्ध का सत्कार करने को कहा। नग्न निर्ग्रन्थों ने सेठ को वहाँ

जाने से रोका।

सुमागधा अवदान का उल्लेख

सुमागधा अवदान में लिखा है कि अनाथपिण्डक की पुत्री के घर में बहुत से नग्न साधु एकत्र हुए इत्यादि।[५५]

अशोक अवदान का उल्लेख

अशोक अवदान नामक बौद्ध ग्रन्थ में लिखा है कि राजा अशोक ने नग्न साधुओं को पौण्ड्रवर्द्धन में इसलिए मरवा डाला कि उन्होंने बौद्धों की पूजा में झगड़ा किया था।[५६]

दीपवंस का उल्लेख

बौद्धग्रन्थ दीपवंस में बतलाया गया है–

पहीनलाभसंकारा तित्थिया पुथुलद्धिका।
पंडरंगा जटिला च निंगंठाऽचेलाकादिका।।

अर्थात् जिन विविध विचारधाराओं के तीर्थकों के सत्कार में क्षीणताआयी है, उनमें पण्डरंग, जटाजूटधारी, निगंठ या अचेलक आदि हैं।[५७]

बुद्ध से पूर्व पार्श्वनाथ

भिक्षु धमार्नन्द कोसम्बी का कहना है कि बुद्ध के समय सबसे बड़े श्रमण संघ केवल छः ही थे और उनमें भी निर्ग्रन्थ श्रमणों के सम्प्रदाय का नाम सर्वप्रथम आता है। इस पंथ के ऐतिहासिक संस्थापक पार्श्व मुनि थे। इनका परिनिर्वाण बुद्ध के जन्म से १९३ वर्ष पूर्व हुआ था, ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है। उससे पहले कम से कम चालीस पचास वर्ष से पार्श्व तीर्थंकर अपने धर्म का उपदेश देते रहे थे।[५८]

सन्दर्भ

१. *अचेलकोहोमि......हत्थापलेखनो.... नाभिहंत न उद्दिस्सकतं न निमंतणं सादियामि, सोन कुम्भीमुखा पडिगण्हामि न कलोऽपि मुखा पटिगण्हामि न एलकमंतरंन दंडमंतरंन मुसलमंतरं, न द्विन्नं भुजमीनन्तं न गब्भिविया, न पायम्मनया न पुरिसंतरगताम, न संकित्तिसु न यथा रू अपट्ठितो होति, न यथमक्खिका संड–संड चारिनी न मच्छं, न मासं, न सुरं न मेरयं, न थुसोदकं पिकामि सो एकागरिको वाहोमि, एकालोपिका, द्वागारिको होमि द्वालोपिको–सत्तागारिको वा होमि सत्तालोपिको, एकाह व अहारं अहारेमि द्वीहिकं व अहारं आहारेमि–सत्तहिकम्पि आहारं अहोरेमि। ति एयरूपं अद्दमासिकं पि परियाय मत्तभेजम नु योगं अनुयुतो विहरानि केस्स मुस्सुलोचको विहोमि केसमस्सुलोचनानु योग अनुयुतो–यावउद विन्दुम्हि पि में दया पच्च पतिट्ठाहोति। मांह खुद्दके पाणे विसमगते संघातं आयादेस्संति।*

गाथा

सो तत्तो सो सीनो एको भिंसनके वने।
नग्गो न च अग्गिं असीनो एसम पसुतो मुनीति।।

(महासिंहनादसुत्त–१२)

२. ब्र. शीतलप्रसाद : जैन बौद्ध तत्त्वज्ञान पृ. २००–२०४
३. अहिरिका भिक्खवे निग्गंठा।। अंगुत्तरनिकाय १/८/८ भाग–४ पृ. २१८
४. प्रो. पी.के. मोदी : पासणाहचरिउ की प्रस्तावना पृ. ४३, ५. चतुष्कनिपातवग्ग ५
६. विनय पिटक १/२३३, ४/१७१ संयुत्तनिकाय ५ पृ. ४५५
७. मज्झिमनिकाय १ पृ. ३६२, ३ पृ. १६६, ८. संयुत्तनिकाय पृ. ४५५
६. ब्र. शीतल प्रसाद : जैन बौद्ध तत्त्वज्ञान पृ. ५, ६, १०. इण्डियन एण्टि, जि. ६
११. भदन्त बोधानन्द महास्थविर : भगवान गौतम बुद्ध (प्र बुद्ध बिहार, लखनऊ)
१२. डॉ. राधाकुमुद मुकर्जी : हिन्दु सभ्यता पृ. २३६, १३. वही पृ. २३६–२४०
१४. सिरिपासणाहतित्थे सरयू तीरे पलासणयरत्थे। पिहियासवस्स सिस्सो महासुदी बुद्धकित्तिमुणी।। तिमिपूरणासणेहिं अहिगय पव्वज्जाओ परिब्भट्ठो। रत्तंबरं धरित्ता पवट्टिय तेण एयंतं।। मंसस्य णत्थि जीवो जहा फले दुद्ध सक्करए। तम्हा तं वंछित्ता तं भक्खंतो ण पाविट्ठो।। देवसेनाचार्य : दर्शनसार, पद्य ६–८
१५. Mrs. Rhys Davids, Sakya P. 123
१६. आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन प्र. भाग ४१२
१७. Jains and loin cloth folk- The book of gradual sayings Vol III P. 273
18. Ning anthas, who wear a single garment. 19. Encyclopaedia of religionand ethics vol I P. 262., 20. The book of Kindred sayings Vol III P. 17 Fin. आगम और त्रिपिटक, प्र. भाग पृ. ४१४ पर उद्धृत।, २१. वही पृ. ४१५।
२२. संयुत्त निकाय, नानातित्थिय सुत्त २/३/१०, आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन प्र. भाग पृ. ४२१–४२२, २३. अंगुत्तरनिकाय: भाग २ पृ. १६७ से १६६
२४. महावंश, परिच्छेद : १० श्लो. ७७–७६ व ६१ से १०२, २५. आगम और त्रिपिटक: एक अनुशीलन, खण्ड १ पृ. ४४२, २६. धम्मपद अट्ठकथा २१–५ के आधार से, २७. धम्मपद, अट्ठकथा ८–५ के आधार से।
२८. Mahavastu tr. by J.J. Jones Vol. II P.P. 114-117 के आधार से
२६. चीनी धम्मपद कथा के आधार पर S. Beal Dhammapada (Tr. from Chinese) PP 103-4 Sushil Gupta (India) Ltd. Calcutta. 1952.
३०. आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन खण्ड १ पृ. ४४७–४४८
३१. चीनी धम्मपाद कथा के आधार पर S. Beal, op Cit. 54
३२. दीर्घनिकाय, पासादिकसुत्त ३–६
३३. श्री भँवरीलाल बाकलीवाल स्मारिका पृ. २५१ (पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री का लेख जैन दर्शन का उद्गम), ३४. डॉ. कामताप्रसाद जैन– दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि पृ. ३१, ३५, "वीर", वर्ष ४ पृ. ३५३, ३६. दाठावंश पृ. १४
३७. महावग्ग ८/२८/१, ३८. जैन सिद्धान्त भास्कर १/२–३ पृ. २५, ३६. दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि पृ. ५०
४०. धर्मानन्द कोसम्बी भगवान बुद्ध : जीवन और दर्शन पृ. १७०–१७१।
४१. दीघनिकाय १/२ पृ. २१
४२. दीघ निकाय १/८ पृ. ६१–६३ के आधार से, ४३. वही पृ. ६६, ४४. वही पृ. २१६, ४५.

वहीं पृ. २१८, ४६. वही पृ. २१६, ४७. वही पृ. २१८

४८. *धर्मानन्द कोसम्बी : भगवान बुद्ध जीवन और दर्शन पृ. ११४, ४६. वही पृ. १६६, ५०. वही पृ. १६६–१७०*

५१. *बुद्धलीलासार संग्रह पृष्ठ २७६–२८१*

५२. *भगवान बुद्ध : जीवन और दर्शन पृ. १८३, ५३. वही पृ. २३७, ५४. पं. अजित कुमार शास्त्री : श्वेताम्बर मत समीक्षा पृ. १७५*

५५. *श्वेताम्बर मत समीक्षा पृ. १७५, ५६. वही पृ. १६६, ५७. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री अभिनन्दन ग्रन्थ पृ. २०४*

५८. *धर्मानन्द कोसम्बी : भगवान् बुद्ध पृ. ७१*

श्वेताम्बर परम्परा और दिगम्बरत्व

श्वेताम्बर परम्परा में आचारांग प्राचीन ग्रन्थ है। इसमें कहा गया है कि भगवान् महावीर दीक्षा के समय एक शाटक थे। भगवान् ने तेरह माह तक उस वस्त्र को नहीं छोड़ा, फिर अनगार और त्यागी महावीर उस वस्त्र को छोड़ अचेलक हो गए।[1]

आचारांग में जो साधु लज्जा सहन करने में असमर्थ है, उसे कटिबन्धन को धारण करने का विधान है—

जो भिक्षु अचेल (निर्वस्त्र) रहने की मर्यादा में स्थित है, उसका ऐसा अभिप्राय हो— "मैं घास की चुभन को सहन कर सकता हूँ; सर्दी को सहन कर सकता हूँ; गर्मी को सहन कर सकता हूँ, डांस और मच्छर को काटने को सहन कर सकता हूँ, एक जातीय भिन्न जातीय—नाना प्रकार के स्पर्शों को सहन कर सकता हूँ, किन्तु मैं गुप्त अंगों के प्रतिच्छादन (वस्त्र) को छोड़ने में समर्थ नहीं हूँ।' इस कारण से वह कटिबन्धन को धारण करता है।[2]

अथवा जो भिक्षु लज्जा को जीतने में समर्थ हो, वह सर्वथा अचेल रहे— कटिबन्धन धारण न करें। उसे घास की चुभन होती है, सर्दी लगती है, गर्मी लगती है, डांस और मच्छर काटते हैं, फिर भी वह एकजातीय, भिन्नजातीय—नाना प्रकार के स्पर्शों को सहन करे। वह लाघव का चिन्तन करता हुआ (अचेल रहे)।[3]

वस्त्र धारण का प्रयोजनशीत निवारण भी है—

जो भिक्षु एक वस्त्र और एक पात्र धारण रकने की मर्यादा में स्थित है, उसका मन ऐसा नहीं होता कि मैं दूसरे वस्त्र की याचना करूँगा। वह अल्प वस्त्र धारण करे। भिक्षु यह जाने कि हेमन्त बीत गया है, ग्रीष्म ऋतु आ गयी है, तब वह यथा परिजीर्ण वस्त्रों का विसर्जन करे। **उनका विसर्जन कर वह अचेल (वस्त्र रहित) हो जाय।** वह लाघव का चिन्तन करता हुआ (वस्त्र का विसर्जन करे)। वस्त्र—विसर्जन करने वाले मुनि के उपकरण अवमौदर्य तथा कायक्लेश तप होता है।[4] इसी प्रकार का कार्य दो[5] या तीन[6] वस्त्र धारण करने वाला करे अर्थात् हेमन्त ऋतु बीत जाने पर अचेलक हो जाय।

जो मुनि निर्वस्त्र रहता है, वह अवमौदर्य तप का अनुशीलन करता है[7]। धर्मक्षेत्र में उन्हें नग्न कहा गया है, जो दीक्षित होकर पुनः गृहवास

में नहीं आते हैं।[८] जो मुनि निर्वस्त्र रहता है, उसके मन में यह (विकल्प) उत्पन्न नहीं होता, मेरा वस्त्र जीर्ण हो गया है; इसलिए मैं वस्त्र की याचना करूँगा। फटे वस्त्र को सीने के लिए धागे की याचना करूँगा, सुई की याचना करूँगा, उसे सिलूँगा। छोटा है, इसलिए उसे जोड़कर बड़ा बनाऊँगा, बड़ा है, इसलिए उसे काटकर छोटा बनाऊँगा, उसे पहनूँगा और ओढूँगा।[९] अथवा अचेलक अवस्था में रहते हुए उसे बार-बार तृण, सर्दी, गर्मी, और दंशमशक के स्पर्श पीड़ित करते है।[१०] अचेल मुनि एकजातीय, अनेकजातीय नाना प्रकार के स्पर्शों को सहन करता है।[११] अचेल मुनि लाघव को प्राप्त होता है।[१२] अचेल मुनि के (उपकरण- अवमौदर्य तथा कायक्लेश) तप होता है।[१३] भगवान् ने जैसे अचेलत्व का प्रतिपादन किया है, उसे उसी रूप में जानकर सब प्रकार से, सर्वात्मना समत्व का सेवन करे- किसी की अवज्ञा न करें।[१४]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि श्वेताम्बर सम्प्रदाय में दिगम्बरत्व साधु की सर्वोच्च सीढ़ी थी, जो दिगम्बर रहने में किसी कारण असमर्थ रहता था, उसको अधिक से अधिक तीन वस्त्र धारण करने की छूट थी।

प्रवचनसारोद्धार में लिखा है- "जिनकल्पी मुनि भी दो प्रकार के होते हैं-

१. पाणिपात्र और २. पतद्गृहधर। इन दोनों में से प्रत्येक दो दो प्रकार का है- एक अप्रावरण यानी कपड़ा रहित और एक सप्रावरण यानी कपड़ा सहित।[१५]

इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि सबसे ऊँचे मुनि वस्त्र और पात्र रहित जिनकल्पी होते हैं।

स्थानांग सूत्र में वस्त्र धारण के तीन कारण बतलाए गए हैं- १. लज्जा २. घृणा और ३. परिषह। अर्थात् जो साधु लज्जा और घृणा को नहीं जीत सकता है और संकटों को सहन नहीं कर सकता, वह एक वस्त्र धारण करें।[१६]

आचारांग सूत्र के टीकाकार श्री शीलांक सूरि ने उस आचार प्रधान ग्रन्थ में जहाँ पर वस्त्र, पात्र से लगते हुए नियम लिखे गए हैं, वहाँ बहुत सी जगह ऐसा उल्लेख किया है कि "यह तो जिनकल्पी का आचार है, यह सूत्र जिनकल्पी को उद्देश्य कर लिखा गया है और यह बात जिनकल्प को ही घट सकती है" टीकाकार के ये उल्लेख मूल का स्पर्श तक नहीं करते; क्योंकि यदि उस प्रकार नामों के विभागनुक्रम से ही आचारों का बन्धारन किया गया होता तो मूल में ही क्यों न वैसा उल्लेख किया गया होता।[१७]

कुछ श्वेताम्बर ग्रन्थों में कहा गया है कि जम्बूस्वामी के निर्वाण के बाद

निम्नलिखित दस बातें विच्छेद हो गयी हैं— १. मनःपर्यय ज्ञान २. परमावधि ज्ञान ३. पुलाक लब्धि ४. आहारक शरीर ५. क्षपक श्रेणी ६. उपशम श्रेणी ७. जिनकल्प ८. संयम त्रिक (यथाख्यात संयम, परिहार विशुद्धि संयम और सूक्ष्म साम्पराय संयम) ६. केवलज्ञान और १०. सिद्धि गमन।[१८]

इसमें जम्बूस्वामी के निर्वाण के बाद जो जिनकल्प विच्छेद होने का वज्रलेप किया गया है और उसका आचरण करने वाले को जिनाज्ञा से बाहर समझने की जो स्वार्थी और एकतरफी दम्भी धमकी का ढिंढोरा पीटा गया है, बस इसी में श्वेताम्बरता और दिगम्बरता की जड़ समायी हुई है, ऐसा श्वेताम्बर विद्वान् पं. बेचरदास जैन का कहना है।[१९]

प्रसिद्ध श्वेताम्बराचार्य श्री हेमचन्द्र ने त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित,[२०] पर्व–१ सर्ग ३ पद्य सं. २६२–२६३ में स्वीकार किया है कि ऋषभदेव ने पाणिपात्र में आहार ग्रहण किया। पाणिपात्री नग्न मुनि ही होता है।

प्रभुरप्यंजुलीकृत्य पाणिपात्रमधारयत्।। २६२
भूयानपि रसः पाणिपात्रे भगवो पपौ।। २६३

विशेषावश्यक भाष्य[२१] से उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है कि ऋषभदेव आदि सभी (चौबीसों) तीर्थंकर पाणि पात्र में आहार करते थे।

निरुवमधिसंघयणा चउनाणाइ सय सत्त संपण्णा।
अच्छिद्द पाणिपत्ता जिणा जिय परीसहा सव्वे।। गाथा ३०८३

जिना हि सर्वे निरुपमधृतयो वर्जकटकसमान परिणामा भवन्ति तथा चतुर्ज्ञानिनश्छद्मस्थाः सन्तो ऽतिशयवन्तश्च तथा अच्छिद्रपाण्यादयः जित परीषहाः।। गाथा ३०८३ टीका

अभिधानराजेन्द्रकोश[२२] के पृष्ठ ११३२ में स्पष्ट उल्लेख है कि भगवान् ऋषभदेव प्रारम्भ में तेरह मास चीवरधारी रहे, बाद में नग्न रहे—

'भगवं अरहा उसभे कोसलिएसंवच्छर सहियं चीवरधारी होत्था।।
'उसहेण अरहा कोसलिए संवच्छरं साहियं चीवरधारी होत्था तेण परं अचेलए।

कल्पसूत्र[२३] में लिखा है— दीक्षा के दिन से भगवान् महावीर एक वर्ष और एक मास पर्यन्त वस्त्रधारी रहे। इसके पश्चात् वे वस्त्ररहित हो गए और हाथों में आहार ग्रहण करने लगे।

'समणं भगवं महावीरे संवच्छरं साहियं मासं जाव चीवरधारी हुत्था। तेणं परं अचेले पाणिपडिग्गहिए।

पंचाशक[२४] मूल–१७ में कथन आया है— **'आचेलक्को धम्मो पुरिमस्स**

य पच्छिमस्स य जिणस्स' अर्थात् पूर्व के ऋषभदेव और बाद के महावीर का धर्म अचेलक (निर्वस्त्र) था।

त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित[२५] में राजा श्रेयांस द्वारा जनता को सम्बोधन से भगवान ऋषभ के नग्नत्व की पुष्टि होती है।

"जो भोगों का इच्छुक होता है, वह स्नान, अंगराग और वस्त्रों को स्वीकार करता है। स्वामी (ऋषभ) तो भोगों से विरक्त हैं– उन्हें इनकी क्या आवश्यकता? अर्थात् वे इन तीनों को ग्रहण नहीं करते[२६]–

स्नानांगराग नेपथ्य वस्त्राणि स्वीकरोति सः।

यो भोगेच्छुः स्वामिनस्तु तद्विरक्तस्य किं हि तैः।। पर्व-१ सर्ग ३ श्लो. ३१३

स्थानांग सूत्र में पाँच बातों को लेकर अचेल को प्रशस्त बतलाया है– १. प्रतिलेखना अल्प होती है २. प्रशस्त लाघव रहता है ३. विश्वास करने योग्य रूप है ४. तप की अनुज्ञा है और ५. विपुल इन्द्रिय निग्रह का कारण है

पंचहि ठाणेहिं अचेलए पसत्थे भवइ। तं जहा अप्पा पडिलेहा, लाघविए पसत्थे, रुवे वेसासिए, तवे अणुण्णाए, विउले इंदियनिग्गहे (सू. ४५५) स्था. ५

स्थानांग में महावीर के मुख से कहलाया है– **'मए समणाणं अचेलते धम्मे पण्णत्ते, अर्थात् मैंने श्रमणों के लिए अचेलता धर्म कहा है (दशवैकालिक में भी नग्नता का उल्लेख है। उत्तराध्ययन में नग्नता को छठी परीषह कहा है।[२७]**

नाग्न्य परीषह

संवर के मार्ग से च्युत न होने के लिए और कर्मों की निर्जरा के लिए २२ परीषह सहन करने के योग्य हैं।[२८] इन बाईस परीषहों में नाग्न्य भी परीषह बतलाई गई है। इसे दिगम्बर आचार्य पूज्यपाद देवनन्दि ने अचेलव्रत धारण नाम से उल्लिखित कर इसका स्वरूप इस प्रकार बतलाया है–

"बालक के समान जो निष्कलंक जातरूप को धारण करने रूप है, जिसका याचना करने से प्राप्त होना अशक्य है, जो याचना, रक्षा करना और हिंसा आदि दोषों से रहित है, जो निष्परिग्रह होनेसे निर्वाण प्राप्ति का अनन्य साधन है और जो अन्य बाधाकर नहीं है, ऐसे नाग्न्य को जो धारण करता है, जो मन के विक्रिया रूप उपद्रव से रहित होने के कारण स्त्रियों के रूप को अत्यन्त अपवित्र बदबूदार अनुभव करता है और जो दिन, रात अखण्ड ब्रह्मचर्य को धारण करता है, उसके निर्दोष अचेलव्रत जानना चाहिए।"[२९]

उपर्युक्त नाग्नपरीषह का उल्लेख श्वेताम्बर ग्रन्थ तत्त्वार्थाधिगम भाष्य में भी हुआ है—

"क्षुत्पिपपासा शीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्या क्रोशवधयाचनालाभरोग तृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाज्ञानादर्शनानि।"

नवतत्त्व में कहा गया है—

रवुवुहा पिवासा सीउण्हं दंसाचेला ऽ रइत्थिओ।

चरिआ निसिहिआ सिज्जा अक्कोस वह जायणा।। २१।।

अलाभरोग तणफासा मलसक्कारपरीसहा।

पन्ना अन्नाण सम्मत्तं, इअ वावीस परीसहा।। २२।।

यहाँ अचेल परीषह का स्पष्ट उल्लेख है।

प्रवचन सारोद्धार में कहा है—

खुवुहा पिवासा सीउण्हं दंसाचेला रइच्छिओ।

चरिया निसीहिआ सेज्जा अक्कोसवहजायणा। ६६२

यहाँ भी अचेल शब्द आया है।

अचेल और नाग्न्य के अर्थ में परिवर्तन[30]

आचारांग के अचेलकता प्रतिपादक वाक्यों को जिनकल्प का करार देकर और जिनकल्प के विच्छिन्न होने की घोषणा के पश्चात् दूसरा कार्य यह किया गया है कि अचेल और नाग्न्य जैसे स्पष्ट शब्दों के अर्थ में भी परिवर्तन कर डाला गया है।

वृहत्कल्पसूत्र[31] और विशेषावश्यक भाष्य में अचेल के दो भेद किए गए हैं— एक संताचेल (वस्त्र रहते हुए भी अचेल) और एक असंतचेल (वस्त्राभाव होने से अचेल)। तीर्थंकरों को असंतचेल बतलाया गया है; क्योंकि देवदूष्य गिर जाने के पश्चात् उनके पास सर्वदा ही वस्त्र का अभाव रहता है। शेष सभी साधुओं को जिनमें जिनकल्पी भी आ जाते हैं, संताचेल कहा है; क्योंकि उनके पास रजोहरण और मुँह पट्टी अवश्य रहती है, अतः वे वस्त्र रहते हुए भी अचेल कहे जते हैं। इस पर यह शंका की गई कि वस्त्र रहते हुए अचेल कैसे कहा जा सकता है? तो उत्तर दिया गया कि शास्त्र में, लोक में वस्त्र रहते हुए भी अचेल कहने की रूढ़ि है। सारांश यह है कि अचेलक के दो भेद किए गए— एक मुख्य और एक गौण। मुख्य अचेल केवल तीर्थंकर थे। आजकल के लोगों के लिए मुख्य अचेलपना उपकारी नहीं हो सकता।

अतः जो मुनि एषणा समिति के द्वारा प्राप्त निर्दोष, जीर्ण, निस्सार और अल्प वस्त्र धारण करते हैं या कदाचित् वस्त्र धारण करते हैं, वे सचेल होते

हुए भी उपचार से अचेल कहे जाते हैं। जैसे कोई मनुष्य नदी को पार करते समय अपने सब वस्त्र उतारकर सिर पर रख लेता है तो लोग वस्त्र होते हुए भी उसे नंगा ही कहते हैं, वैसे ही वस्त्र रहते हुए भी मुनि अचेल कहे जाते हैं, तथा जैसे कोई स्त्री फटी हुई जीर्ण साड़ी पहने हुए है। वह जुलाहे के पास आकर कहती है– हे जुलाहे ! मेरे लिए जल्दी साड़ी बुनकर दो, मैं नंगी फिरती हूँ। वैसे ही साधु अल्प, जीर्ण और निस्सार वस्त्र धारण करने के कारण अचेल कहा जाता है।[३२]

इसी तरह दशवैकालिक[३३] में एक गाथा आयी है, जिसमें बतलाया है कि नग्न साधु को आभूषणों से क्या प्रयोजन? इस गाथा में नगिणस्स, शब्द का अर्थ चूर्णिकार ने तो नग्न ही किया है। यथा – **'नगिणो णग्गो भण्णइ।'** किन्तु टीकाकार हरिभद्र सूरि[३४] ने नग्न के उपचरित नग्न और निरुपचरित नग्न दो भेद करके कुचेलवान साधु को उपचरितनग्न और जिनकल्पी को निरूपचरित नग्न कहा है।

इस तरह अचेल का उपचरित अर्थ जीर्ण फटा हुआ और निस्सार कुचेल अर्थ करके इस प्रकार के वस्त्रधारी साधु को उपचार से अचेल कहा गया। किन्तु जब इस प्रकार का कुत्सित वस्त्र अरुचिकर प्रतीत हुआ तो अचेल का अर्थ अल्पमूल्यचेल कर दिया गया, अर्थात् जो न फटा हो, न जीर्ण हो, न कुत्सित हो, किन्तु कम कीमत का हो, ऐसे वस्त्रधारी साधु भी अचेल ही हैं।[३५]

तत्त्वार्थ सूत्र के भाष्यकार श्री सिद्धसेन गणि ने लिखा है–

नाग्न्य परीषह का यह आशय नहीं है कि कोई उपकरण ही न रखा जाय, जैसे कि दिगम्बर साधु होते हैं। किन्तु प्रवचन में कहे हुए विधान के अनुसार नाग्न्य होना चाहिए। बीच में शिष्य प्रश्न करता है कि साधु के दस कल्पों में आचेलक्य कल्प भी तो आवश्यक है? उसका उत्तर देते हुए गणिजी कहते हैं– तुम्हारा कहना ठीक है, किन्तु वह आचेलक्य कल्प जिस प्रकार कहा गया है– उसी प्रकार करना चाहिए। तीर्थंकर कल्प–जिनकल्प एक भिन्न ही है, तीर्थंकर जन्म से तीन ज्ञान के धारी होते हैं और चारित्र धारण करने पर चार ज्ञान के धारी होते हैं। इसलिए उनका पाणिपात्र भोजी होना और देवदूष्य धारण करना उचित है। किन्तु साधु तो उनके द्वारा उपदिष्ट आचार का पालन करते हैं। जीर्ण, खण्डित और समस्त शरीर को ढाँकने मे असमर्थ वस्त्र ओढ़ते हैं, इस प्रकार वस्त्र रखते हुए भी वे अचेलक ही हैं। जैसे नदी उतरते समय सिर पर कपड़ा लपेटे हुए मनुष्य सवस्त्र होने पर भी नग्न कहाता है, वैसे ही गुह्य प्रदेश को ढाँकने के लिए चोलपट्ट धारण करने वाला साधु भी नग्न ही है।'[३६]

अचेलकत्व और सचेलकत्व के विषय में दिगम्बर परम्परा

सिद्धान्ताचार्य पं. फूलचन्द्र जी ने सर्वार्थसिद्धि की प्रस्तावना में सचेलकत्व और अचेलकत्व के विषय में विचार करते हुए कहा है—

"दिगम्बर परम्परा में अचेलकत्व से तात्पर्य मुनिधर्म से है और सचेलकत्व से तात्पर्य गृहस्थ धर्म या श्रावक धर्म से है। श्रावक धर्म मुनिधर्म का अपवादमार्ग है। जहाँ गृहस्थ सब प्रकार की हिंसा, असत्य, स्तेय और अब्रह्म का परिहार कर मुनि होता है, वहाँ उसे सब प्रकार के परिग्रह का परिहार करना भी आवश्यक होता है। श्वेताम्बर अंगश्रुत और प्रकीर्णक साहित्य में वस्त्र और पात्र के स्वीकार करने को भी संयम का साधन माना गया है, किन्तु संयम का साधन वह हो सकता है, जो शरीर की सुविधा के लिए आवश्यक न होकर मात्र प्राणि पीड़ा परिहार के लिए स्वीकार किये जाते हैं, यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण प्रतीत होता है; क्योंकि इन साधनों से उक्त कार्य दृष्टिगोचर नहीं होता। दूसरे इन्हें उक्त कार्य का अनिवार्य अंग मानकर चलने पर नग्नता और पाणिपात्रत्व का विधान करना नहीं बन सकता है। किन्तु इन्हें साधु का चिन्ह मान लेना मुनिमार्ग के विरुद्ध है। जो कमजोरीवश वस्त्रादिक को स्वीकार करते हैं, वे श्रावक होते हैं। उनके परिणाम मुनिधर्म के अनुकूल नहीं हो सकते।"[३७]

सचेलकत्व और अचेलकत्व क्रमशः गृहस्थ धर्म और मुनिधर्म का रूप होने पर भी, इसकी मान्यता के विषय में दिगम्बर और श्वेताम्बर जैसी भेदक रेखायें क्यों बनी, इसके विषय में हमें संघभेद के इतिहास की ओर जाना पड़ेगा।

संघभेद और उसका कारण—

दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों इस बात को स्वीकार करते हैं कि भगवान् महावीर ने अचेलक धर्म का उपदेश दिया और यह परम्परा आगे तक चलती रही। भ द्रबाहु को दोनों ही परम्परायें अपना आचार्य स्वीकार करती हैं। भद्रबाहु के समय मगध में भीषण दुर्भिक्ष पड़ा, उसने संघभेद को जन्म दिया। इस विषय में दिगम्बर परम्परा में जो कथा प्रचलित हैं, वह इस प्रकार है—

देवसेन (विक्रम सं. ६६०) कृत भावसंग्रह के अनुसार राजा विक्रम की मृत्यु के एक सौ छत्तीस वर्ष बाद सोरठ देश के वलमी नगर में श्वेतपट संघ की उत्पत्ति हुई थी। उज्जयिनी नगरी में भद्रबाहु नामक आचार्य थे। वे निमित्त शास्त्र को जानते थे। उन्होंने अपने निमित्तशास्त्र से जानकर अपने संघ से कहा था कि इस देश में बारह वर्ष तक दुर्भिक्ष पड़ेगा। इसलिए आप लोग अपने अपने संघ के साथ दूसरे देशों में चले जाओ।

आचार्य श्री भद्रबाहु के इन वचनों को सुनकर समस्त गणधर व आचार्य अपने संघ को लेकर जहाँ जहाँ सुभिक्ष या सुकाल था, उन उन देशों के लिए विहार कर गए। उन आचार्यों में एक शान्तिचन्द्र नाम के आचार्य थे। वे आचार्य अपने शिष्यों के साथ मनोहर सोरठ देशके वलभी नगर में पहुँचे तब वहाँ भी भयानक महादुःखदायी दुर्भिक्ष पड़ा तथा ऐसा दुर्भिक्ष पड़ा कि क्रूर, निर्धन भिक्षुक आदि दूसरों के पेट को विदीर्ण कर उसमें का खाया हुआ अन्न खा जाते थे। इसी निमित्त को लेकर उन आचार्य शान्तिचन्द्र के समस्त संघ ने कम्बल, दण्ड, दुग्धिकापात्र और ओढ़ने के लिए सफेद वस्त्र धारण कर लिया। इस प्रकार उस संघ ने मुनियों के आचरण छोड़ दिए और वे दीनवृत्ति से घर घर भिक्षा माँगकर अपनी अपनी वसतिका में लाने लगे तथा अपनी वसतिका में बैठकर इच्छानुसार भोजन करने लगे। सुभिक्ष होने पर अपने संघ को बुलाकर उन्होंने कहा कि अब इस देश में सुभिक्ष हो गया है, इसलिए अब इन कुत्सित आचरणों को छोड़ो। अब तक जो ये कुत्सित आचरण किए हैं, उनकी निन्दा करो और फिर से मुनिदीक्षा लेकर मुनियों के शास्त्रोक्त आचरण का पालन करो। आचार्य शान्तिचन्द्र के इन वचनों को सुनकर उनके मुख्य शिष्य जिनचन्द्र ने कहा कि अब ऐसे इन अत्यन्त कठिन दुर्द्धर आचरणों को कौन कर सकता है? यदि चर्या में किसी दिन आहार न मिला तो उस दिन उपवास करना पड़ेगा, इसके सिवाय अन्तरायों का सामना करना पड़ेगा। बिना माँगे एक स्थान पर आहार लेना पड़ेगा। अचेल व्रत धारण करना पड़ेगा। ब्रह्मचर्य व्रत का पालन, भूमिशयन तथा दो दो माह बाद असह्य केशलोंच करना पड़ेगा एवं २२ परीषह सहन करनी पड़ेगी। इस प्रकार गृहीत आचरणों को वे छोड़ने को तैयार नहीं हुए।

अपने मुख्य शिष्य जिनचन्द्र की बात सुनकर आचार्य शान्तिचन्द्र ने फिर भी कहा कि जो लोग अपने चारित्र से भ्रष्ट हो जाते हैं, इस लोक में उनका जीवित रहना निन्दनीय है, सुन्दर व शोभायुक्त नहीं है। ऐस आचरण जैन मार्ग को दूषित करने वाला है, निन्दनीय है। भगवान् जिनेन्द्र ने मोक्ष का सर्वोत्कृष्ट मार्ग निर्ग्रन्थ ही बतलाया है। इस निर्ग्रन्थ मार्ग को छोड़कर जो अन्य किसी भी मार्ग की प्रवृत्ति करता है, वह मित्यात्व कहलाता है। इस बात को सुनकर जिनचन्द्र बहुत ही क्रोधित हुआ और उसने शान्तिचन्द्र के मस्तक पर दीर्घ दण्ड मारा। उससे शान्तिचन्द्र मर गए और व्यन्तर हो गए।

तदनन्तर उस जिनचन्द्र ने अपने को संघाधिपति घोषित किया अर्थात् वह स्वयं संघाधिपति बन गया और उसने श्वेताम्बर मत चलाया जो कहता

है कि संग्रन्थ (परिग्रहसहित) अवस्था में भी मुक्ति होती है।[३८] आचार्य शान्तिचन्द्र का जीव जो व्यन्तर हुआ था, वह अनेक प्रकार के उपद्रव करने लगा और कहने लगा कि तुम लोग जिनधर्म को धारण कर मिथ्यात्व ग्रहण मत करो। व्यन्तरदेव की यह बात सुनकर, उसके किए हुए उपद्रवों को देखकर जिनचन्द्र ने समस्त आठों द्रव्यों से उसकी पूजा की। वह पूजा आज भी श्वेताम्बरों में की जाती है।[३९]

इसी प्रकार की कथा आचार्य वामदेव ने संस्कृत 'भावसंग्रह' में लिखी है।[४०] यहाँ स्त्री मुक्ति, केवली मुक्ति और सग्रन्थ लिंग से मोक्ष होना रूप श्वेताम्बर मान्यताओं का निरसन किया गया है। शान्तिचन्द्र जो कि व्यन्तर हुआ था, वह श्वेताम्बरों का पर्युपासन नामक कुलदेव है।[४१] श्वेत अन्तर्वस्त्र धारण कर चूँकि उस व्यन्तर की पूजा की गयी थी, अतः लोक में वे पूजक श्वेताम्बर नाम से प्रसिद्ध हुए, ऐसा वामदेव ने कहा है।[४२]

वामदेव ने यह भी कहा है कि सग्रन्थपने से यादि मोक्ष का उत्कृष्ट साधन होता तो आदिनाथ भगवान् साम्राज्य और राज्य का त्याग क्यों करते? निर्ग्रन्थ लिंग के बिना आदि के वज्रवृषभ नाराच संहनन से युक्त सर्वांग सुन्दर कुलीन व्यक्ति भी सिद्ध नहीं होता है। मोक्ष की कामना वाला साधु इस प्रकार चीवर, दण्ड, भिक्षापात्रादि से युक्त उपकरण को ग्रहण नहीं करता है। वस्त्रादि का परिग्रह लीख, जुँआं आदि का आश्रयस्थान होता है, उसके लेने, रखने, धोने से प्राणियों का वध होता है। वस्त्र की याचना करने से दीनता की प्राप्ति होने से व्यामोहता होती है, उससे संयम की हानि होती है और नैर्मल्य दूर होता है।[४३]

भद्रबाहुचरित (जो कि आचार्य रत्ननन्दी द्वारा रचित है) में कहा गया है कि एक दिन भद्रबाहु आचार्य उज्जयिनी में जिनदास सेठ के घर आहार के लिए आए। जिनदास ने स्वामी का अत्यन्त आनन्दपूर्वक आह्वान किया, परन्तु उस निर्जन गृह में केवल साठ दिन की आयु का एक बालक पालने में झूलता था। जब मुनिराज गृह में गए, उस समय बालक ने जाओ !! जाओ!! ऐसा मुनिराज ने कहा। बालक के अद्भुत वचन सुनकर मुनिराज ने पूछा— वत्स ! कहो तो कितने वर्ष तक। बालक ने कहा— बारह वर्ष पर्यन्त। बालक के वचन से मुनिराज ने निमित्त ज्ञान से जाना कि मालव देश में बारह वर्ष पर्यन्त भीषण दुर्भिक्ष पड़ेगा। दयालु मुनिराज अन्तराय समझकर उसी समय घर से बाहर वन में चले गए। पश्चात् श्री भद्रबाहु आचार्य ने अपने स्थान पर आकर समस्त मुनि संघ को बुलाया और कहा कि इस देश में बारह वर्ष

का भीषण दुर्भिक्ष पड़ेगा। धन, धान्य तथा मनुष्य आदि से परिपूर्ण और सुख का स्थान यह देश चोर राजादि के द्वारा लूटा जाकर शीघ्र ही शून्य हो जायगा। इसलिए संयमी पुरुषों को ऐसे दारुण देश में रहना उचित नहीं है। इस प्रकार स्वामी के वचन सम्पूर्ण संघ ने स्वीकार किए। श्रावकों ने उन्हें भली भाँति आश्वस्त कर रोकना चाहा, किन्तु संयम का भली भाँति निर्वाह हो, अतः उनका संघ कर्नाटक की ओर प्रस्थान कर गया। श्रावकों के अत्यधिक आग्रह के कारण रामल्य, स्थूलाचार्य तथा स्थूलभ द्रादि साधु अवन्ती में ही रह गए। श्री भद्रबाहु स्वामी विहार करते हुए धीरे धीरे किसी गहन अटवी में पहुँचे। वहाँ आकाशवाणी के निमित्त से अपनी आयु अल्प जान उन्होंने समस्त साधु समूह को बुलाया और उनमें श्री विशाखाचार्य को गुण, रूप, विभव से विराजित दशपूर्व के जानने वाले तथा गम्भीरता, धैर्य आदि उत्तम गुणों के आधार समझकर उन्हें समस्त साधु संघ की परिपालना के लिए अपने पट्ट पर नियोजित किया। उन्होंने सब साधुओं को सम्बोधन कर कहा कि साधुओ ! अब मेरे जीवन की मात्रा बहुत थोड़ी बची है, इसलिए मैं तो यहीं पर इसी शैलकन्दरा में रहूँगा, आप लोग दक्षिण की ओर जायें और अपने संघ के साथ रहें। स्वामी के उदासीन वचनों को सुनकर विशाखाचार्य बोले— प्रभो ! आपको अकेले छोड़कर हम लोगों की हिम्मत जाने में कैसी होगी? इतने में नवदीक्षित श्री चन्द्रगुप्त मुनि विनयपूर्वक बोले— आप इस विषय की चिन्ता न करें, मैं बारह वर्ष पर्यन्त स्वामी के चरणों की सभक्ति परिचर्या करता रहूँगा। इस प्रकार वहाँ पर चन्द्रगुप्त मुनि भद्रबाहु स्वामी की परिचर्यार्थ रह गए और अन्य साधु गुरु के अनुशासन का पालन कर वहाँ से प्रस्थान कर गए।

विशाखाचार्य विहार करते हुए चोल देश में आए और वहीं धर्मोपदेश करने लगे। योगिराज भद्रबाहु त्रियोग सँभालकर सल्लेखनाविधि पूर्वक वहीं गुफा में रहने लगे चन्द्रगुप्त की सुदृढ़ तपश्चर्या देख वनदेवी ने पास ही में सुन्दर नगर की रचना कर दी। वहीं चन्द्रगुप्त का आहार होने लगा। उधर अवन्ती देश में भीषण अकाल पड़ा। एक समय जब रामल्यादि मुनि आहार लेकर वन में गए उस समय एक मुनि पीछे रह गए। उन्हें उदर भरे हुए देखकर बहुत लोग इकट्ठे हो गए और निर्दय तथा क्रूरचित्त होकर उनके उदर को चीर डाला और उसमें से अन्न निकालकर उसी समय खा गए। इस प्रकार आपत्ति देखकर श्रावकों के आग्रह से यति लोग नगर में रहने लगे। बाद में भूखे लोगों के दीन प्रलाप के कारण मुनियों को अन्तराय होने

लगा। श्रावकों द्वारा परिस्थिति की विषमता का आकलनकर रात्रि के समय तुम्बीपात्र में आहार लाकर दिन में गवाक्ष के उजाले में आहार करने लगे।

एक समय कोई क्षीण शरीर का धारक एक साधु आहार के लिए पात्रों को हाथ में लेकर रात्रि के समय घर से निकला और यशोभद्र सेठ के सुन्दर मकान में घुसा। उस समय सेठ की धनश्री नामकी भार्या गर्भवती थी। रात्रि के समय लकड़ी और पात्रादि से युक्त साधु के भयंकर रूप को देखकर वह समझी कि यह कोई राक्षस है। इसी भय से उसका गर्भपात हो गया। मुनि भी उसी समय घर से लौट गए और वहाँ हाहाकार मच गया, फिर गृहस्थ लोग मुनियों के पास जाकर कहने लगे— यह विषम रूप लोगों के भय का कारण है। इसलिए कन्धे पर कम्बल धारण करें और रात्रि में भोजन लाकर दिन में किया करें तो अच्छा है। यह बात साधुओं ने स्वीकार कर ली। इस तरह वे साधु शिथिल होकर व्रतादि में दोष लगाने लगे।

दुर्भिक्ष की समाप्ति पर जब विशाखाचार्य का संघ वापिस लौटा तो स्थूलाचार्य वगैरह के वेष को देखकर विशाखाचार्य ने उनसे पूछा— मेरे रहते हुए यह कौन दर्शन तुम लोगों ने ग्रहण किया है? यह सुनकर वे लज्जित हुए। स्थूलाचार्य ने सदोष वेष त्यागकर निर्दोष मार्ग अपनाने की प्रेरणा दी, किन्तु शिथिलाचारी उन्होंने स्थूलाचार्य को डण्डों से मारकर वहीं एक गहरे गड्ढे में डाल दिया।

स्थूलाचार्य मरकर व्यन्तर हुए। उन्होंने शिथिलाचारी साधुओं पर धूलि, पत्थर, अग्नि आदि की वर्षा कर घोर उपद्रव करना प्रारम्भ कर दिया और मूल मार्ग अपनाने की प्रेरणा दी। साधुओं ने कहा कि मूल निर्ग्रन्थ मार्ग तो हम धारण नहीं कर सकते; क्योंकि वह अत्यन्त कठिन है, किन्तु आप हमारे गुरु हैं, इसलिए भक्तिपूर्वक अपकी पूजा करते रहेंगे। इस प्रकार उस व्यन्तर को शान्त कर वे उसकी हड्डियाँ लाए और उनमें क्षपण (मुनि) की कल्पना होने से (खमणादिहड़ी) व्रत भी उसी दिन चल पड़ा। इसके बाद उसकी शान्ति के लिए आठ अंगुल लम्बी तथा चार अंगुल चौड़ी एक लकड़ी की पट्टी बनाकर ये वही गुरु हैं, ऐसी कल्पना कर पूजने लगे।

इस प्रकार यथायोग्य उसकी स्थापना करके भयभीत अर्द्धफालक लोगों ने जब पूजना आरम्भ किया, तब उसने उपद्रव करना बन्द किया। वह पर्युपासन नाम के कुलदेवता के रूप में प्रसिद्ध हुआ। आश्चर्यजनक अर्द्धफालक मत कलियुग का बल पाकर जल में तैल बिन्दु की तरह फैल गया। इसी तरह बहुत काल बीत जाने पर उज्जयिनी में चन्द्रकीर्ति नामक

राजा था, उसकी चन्द्रश्री रानी से चन्द्रलेखा नामक एक उत्तम कन्या हुई। उसने अर्द्धफालक साधुओं के पास शास्त्र पढ़ा। चन्द्रलेखा का विवाह सौराष्ट्र देश के वलभीपुर नामक नगर के प्रजापाल नामक राजा की रानी प्रजावती से उत्पन्न लोकपाल नामक राजकुमार से हुआ। प्रजापाल के बाद लोकपाल राज्य का उत्तराधिकारी बना।

किसी समय जब चन्द्रलेखा ने स्वामी को प्रसन्नचित्त देखा तो प्रार्थना की कि नाथ ! मेरे गुरु उज्जयिनी में हैं। उन्हें आप अवश्य बुलायें। राजा के बुलाने पर जिनचन्द्रादि अर्द्धफालक वलभीपुर में आये। जब राजा ने उन लोगों का आगमन सुना तो उनकी अगवानी के लिए नगर से निकला और दूर से ही साधुओं को देखकर मन से विचार करने लगा कि नग्न होकर भी वस्त्रयुक्त तो कोई साधु देखे नहीं जाते हैं, इसलिए इनके पास जाना योग्य नहीं है। ऐसा विचार कर राजा वापिस आ गया। तब रानी ने राजा के हृदय का भाव समझकर गुरुओं की भक्ति से उनके लिए वस्त्र भेजे। साधुओं ने भी उसके कहने से वस्त्र ग्रहण किये। उसके बाद राजा ने उन साधुओं की भक्तिपूर्वक पूजा की तथा सम्मान किया। उसी दिन से श्वेतवस्त्र ग्रहण करने से अर्द्धफालक मत से श्वेताम्बर मत प्रसिद्ध हुआ। यह मत विक्रम राजा की मुत्यु के १३६ वर्ष बाद लोक में प्रादुर्भूत हुआ।

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि अर्द्धफालक सम्प्रदाय ही वर्तमान श्वेताम्बर सम्प्रदाय का पूर्वज है। डॉ. कामताप्रसाद जैन का कहना है कि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यदि विचार करें तो भी यही भासता है कि प्राचीन प्रथा का मूलोच्छेदन और परिवर्तन एकदम नहीं हो जाता, वह धीरे–धीरे ही बदलती और स्पष्ट होती हैं पहले उसमें विद्रोह का बीज बोया जाता है, वह छोटे रूप में अंकुरित होता है और फिर पनपकर बड़ा हो जाता है— उसका अपना अस्तित्व बन जाता है। क्या रत्ननंदी से पहले भी किसी आचार्य ने अर्द्धफालक सम्प्रदाय का उल्लेख किया है? हाँ, हरिषेण ने अपने कथाकोशं में उसका उल्लेख किया है। कथाकोश की रचना वि.सं. ६८६ में हुई थी। इसके अतिरिक्त मथुरा से उपलब्ध कुषाणकालीन पुरातत्त्व से अर्द्धफालक सम्प्रदाय की सिद्धि होती है?

मथुरा के कंकाली टीले से कुछ ऐसे प्राचीन आयागपट्ट मिले है। जिनमें जैन साधु यद्यपि नग्न बनाए गए हैं, परन्तु वे अपनी नग्नता को एक कपड़े से छिपाते हुए अंकित किए गए है। हरिषेण भी यही लिखते हैं कि कपड़े के टुकड़े से वे साधु बायें हाथ से नग्नता को छुपाते थे और दायें हाथ में

कमण्डलु अथवा भिक्षापात्र लेते थे।

यावन्न शोभनः कालो, जायते साधवः स्फुटम्।
तावच्च वामहस्तेन पुरः कृत्वा ऽ र्द्धफालकम्। ५८।।
भिक्षापात्रं समादाय दक्षिणेन करेण च।
गृहीत्वा नक्तमाहारं कुरुध्वं भोजनं दिने।। ५६।।

कथा नं. १३३

मथुरा के पुरातत्त्व में एक बौद्ध स्तूप वाले शिलापट्ट पर जो दिगम्बर साधु अंकित हैं, उनकी कलाई पर एक टुकड़ा पड़ा हुआ है। डॉ. बुल्हर का हवाला देते हुए श्री चीमनलाल शाह ने यह स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है (देखो चित्र नं. १)

"The male figure on the right of Dharma chakra is considered by Dr. Buhler to be that of a naked ascetic, who as usual has a piece of cloth hanging over his right arm."

Jainsim in North India P. 257

इसी प्रकार प्लेट नं. २२ में कण्हश्रमण को अंकित करके उनकी कलाई पर भी खण्डवस्त्र लटकता उकेरा गया है। श्वेताम्बर परम्परा में कण्हश्रमण प्रमुख स्थान रखते है। कण्हश्रमण का दूसरा हाथ आयागपट्ट में पीछी लिये हुए उनके कन्धे पर है। वे किसी राजमहिषी को उपदेश दे रहे हैं व एक नागकन्या उनके पीछे खड़ी है।

श्री रत्ननन्दी जी ने भद्रबाहु चरित्र में स्पष्ट लिखा है कि जब एक सेठानी निर्ग्रन्थ श्रमणों के नंगे रूप से डरी तो सेठानी की प्रार्थना पर उन साधुओं ने एक आधा वस्त्र स्वीकार कर लिया, जिससे वह अपनी नग्नता छिपाने लगे। (धृत्वा सुरल्लकं शीर्षे परिधायार्द्ध फालकम)

इसी प्रकार नैगमेश पट्ट में जो मथुरा के कंकाली टीला से मिला था,एक साधु का चित्रण अर्द्धफालक वेष में किया गया है। डॉ. बुल्हर ने उसके विषय में यही लिखा है—

"At his (Negmesa) left knee stands a small naked male, characterised by the cloth in his left hand as an asetic with uplifited right hand."

(Dr. Buhler Ep. India 11. 316)

पुरातत्त्व की इस प्राचीन साक्षी से स्पष्ट है कि ईस्वी सन् के प्रारम्भिक एवं उसके कुछ समय पहले से निर्ग्रन्थ साधु यद्यपि नग्न रहते थे, किन्तु अपनी नग्नता छिपाने के लिए कपड़े का टुकड़ा काम में लाते थे। इस प्रकार

के साधुओं के संघ को अर्द्धफालक सम्प्रदाय कहा गया है। यही सम्प्रदाय आगे चलकर श्वेताम्बर सम्प्रदाय के नाम से वि.सं. १३६ में स्पष्ट हो गया। प्रारंभ में उसका उल्लेख "निर्ग्रन्थ श्वेतपट महाश्रमण संघ" नाम से होता था, इसके उपरान्त वह श्वेताम्बर कहलाया। दिगम्बर सम्प्रदाय पहले निर्ग्रन्थ श्रमण संघ के नाम से प्रसिद्ध रहा— तदुपरान्त वह दिग्वास और फिर दिगम्बर नाम से प्रचलित हो गया। कदम्बवंशीय राजा श्री विजयमृगेशवर्मन के देवगिरि वाले दानपत्र में दिगम्बर तथा श्वेताम्बर दोनों को दान देने का वर्णन इन शब्दों में है—

द्वितीयो ऽ र्हतप्रोक्त सर्द्धस्सकरणपरस्स श्वेतपटमहाश्रमणसंघोपभोगाय, तृतीयो निर्ग्रन्थमहाश्रमण संघोपभोगाय हि।"[४४]

श्वेताम्बरों की उत्पत्ति का वलभी से सम्बन्ध

भद्रबाहुचरित के कथन से यह प्रकट है कि श्वेताम्बरों की नींव अर्द्धफालक के रूप में भले ही पहले पड़ गयी हो, किन्तु उसका स्पष्ट रूप वलभी में खुलकर सामने आया। श्वेताम्बरों के अनुसार श्रुतज्ञान को व्यवस्थित करने के लिए तीन वाचनायें आयोजित हुई। प्रथम वाचना पाटलिपुत्र में, द्वितीय मथुरा में तत्पश्चात् महावीर निर्वाण के लगभग ६८० या ६९३ वर्ष पश्चात् (ईस्वी सन् ४५३–४६६) वलभी में देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के नेतृत्व में वाचना हुई। इस संघसमवाय में विविध पाठान्तर और वाचनाभेद आदि का समन्वय कर माथुरी वाचना के आधार से आगमों को संकलित कर उन्हें लिपिबद्ध कर दिया गया। जिन पाठों का समन्वय नहीं हो सका, उनका 'वायणान्तरे पुण', नागार्जुनीयास्तु एवं वदन्ति', इत्यादि रूप में उल्लेख किया गया। इस समय दृष्टिवाद को व्युच्छिन्न घोषित किया गया। इसे जैन आगमों (श्वे.) की अन्तिम और द्वितीय वलभी वाचना कहते हैं, (प्रथम वलभी वचना द्वितीय माथुरी वाचना के समय नागार्जुन सूरि की अध्यक्षता में हुई थी)। श्वेताम्बर सम्प्रदाय द्वारा मान्य वर्तमान आगम इसी संकलना का परिणाम है।[४५] श्वेताम्बर सम्प्रदाय इसी समय भली भाँति संगठित हुआ। पं. सुखलाल संघवी ने ठीक ही कहा है— 'मथुरा के बाद वलभी में पुनः श्रुतसंस्कार हुआ, जिसमें स्थविर या सचेल दल का रहा सहा मतभेद भी समाप्त हो गया। पर साथ ही अचेल दल का श्रुतविषयक[४६] विरोध उग्रतर होता गया।[४७]

संघभेद के विषय में श्वेताम्बरों का कथन

संघभेद के विषय में श्वेताम्बर साधु आत्मानन्द जी ने तत्त्वनिर्णय प्रासाद'

ग्रन्थ के ५४२—५४३ और ५४४ वें पृष्ठ पर इस प्रकार लिखा है—

"रहवीर—रथवीरपुर नगर, तहाँ दीपक नामा उद्यान तहाँ कृष्ण नामा आचार्य पधारे। तहाँ रथवीरपुर में एक सहस्रमल्ल शिवभूति नामक पुरुष था, तिसकी भार्या तिसकी माता के साथ (सासु के साथ) लड़ती थी कि तेरा पुत्र प्रतिदिन आधी रात्रि को आता है। मैं जागती और भूखी प्यासी तबलक बैठी रहती हूँ। तब तिसकी माता ने अपनी बहू से कहा कि आज तू दरवाजा बन्द करके सो रहे और मैं जागूँगी। बहू दरवाजा बन्द करके सो गयी, माता जागती रही। सो वह अर्द्धरात्रि गए आया। दरवाजा खोलने को कहा। तब तिसकी माता ने तिरस्कार से कहा कि इस बखत में जहाँ उघाड़े दरवाजे हैं, तहाँ तू जा, सो वहाँ से चल निकला। फिरते फिरते (उसने) साधुओं का उपाश्रय उघाडे दरवाजा देखा, तिस में गया। नमस्कार करके कहने लगा— मुझको प्रव्रज्या (दीक्षा) दो। तब आचार्यों ने ना कही। तब आप ही लोच कर लिया। तब आचार्यों ने तिसको जैनमुनि का वेष दे दिया। तहाँ से सर्व विहार कर गए। कितनेक काल पीछे फिर तिस नगर में आए। राजा ने शिवभूति को रत्न कम्बल दिया। तब आचार्यों ने कहा— ऐसा वस्त्र यति को लेना उचित नहीं। तुमने किस वास्ते ऐसा वस्त्र ले लीना? ऐसा कहके तिसको बिना ही पूछे आचार्यों ने तिस वस्त्र के टुकड़े करके रजोहरण के निशीथिये (टुकड़े) कर दीने तब सों गुरुओं से कषाय करता हुआ।"

"एकदा प्रस्तावे गुरु ने जिनकल्प का स्वरूप कथन करा जैसे जिनकल्पी साधु दो प्रकार के होते हैं एक तो पाणि पात्र (हाथों में भोजन करने वाला) और ओढ़ने के वस्त्रों रहित होता है, दूसरा पात्रधारी (पात्र धारण करने वाला) वस्त्रों सहित होता है। पहिला भेद जो पाणिपात्र और वस्त्र रहित कहा है सो आठ विकल्पों में से प्रथम (उत्कृष्ट) विकल्प वाला जानना।"

"जब आचार्यों ने जिनकल्प का ऐसा स्वरूप कथन करा तब शिवभूति ने पूछा कि किस वास्ते आप अब इतनी उपधि रखते हो? जिनकल्प क्यों नहीं धारण करते हो? तब गुरु ने कहा कि इस काल में जिनकल्प की सामाचारी नहीं कर सकते हैं; क्योंकि जम्बू स्वामी के मुक्ति गमन पीछे जिनकल्प का व्यवच्छेद हो गया है। तब शिवभूति कहने लगा कि जिनकल्प व्यवच्छेद हो गया क्यों कहते हो? मैं करके दिखाता हूँ। जिनकल्प ही परलोकार्थी को करना चाहिए। तीर्थंकर भी अचेल (नग्न) थे। इस वास्ते अचेलता ही अच्छी है। तब गुरुओं ने कहा— देह के सद्भाव हुए भी कषाय, मूर्छादि किसी को होते हैं, तिस वास्ते देह भी तेरे को त्यागने योग्य है और

अपरिग्रहपणा मुनि को सूत्र में कहा है सो धर्मोपकरणों में भी मूर्छा न करनी और तीर्थंकर भी एकान्त अचेल नहीं थे; क्योंकि कहा है कि सर्व तीर्थंकर एक देवदूष्य वस्त्र लेके संसार में निकले हैं, यह आगम का वचन है। ऐसे गुरुओं ने तिसको समझाया तो भी, कर्मोदय करके वस्त्र छोड़के नग्न होके जाता रहा........ तिस शिवभूति ने दो चेले करे— १. कौंडिन्य २. कोष्टवीर। इन दोनों की शिष्य परम्परा से कालान्तर में मत की वृद्धि हो गई, ऐसे दिगम्बर मत उत्पन्न हुआ।"

केवल दो शिष्यों से दिगम्बर सम्प्रदाय इतना व्यापक हो गया, यह बात विश्वसनीय नहीं लगती। शिवभूति ने पुराने में समयं चले आए जिनकल्प को पुनरुज्जीवित किया। इसका तात्पर्य यह है कि जिनकल्प (दिगम्बरत्व) पहले से था। तीर्थंकर भी अचेल थे, यह बात श्वेताम्बर ग्रन्थों से भी सिद्ध होती है।

जिनकल्पी और स्थविरकल्पी के स्वरूप में अन्तर

दिगम्बर परम्परा मान्य और श्वेताम्बर परमपरा मान्य जिनकल्पी तथा स्थविर कल्पी मुनि के स्वरूप में भी अन्तर है। श्वे. परम्परा मान्य जिनकल्पी के स्वरूप का कथन किया जा चुका है। दिगम्बर परम्परा के अनुसार जो शुद्ध सम्यक्त्व से युक्त हैं, इन्द्रिय और कषायों पर जिन्होंने विजय प्राप्त कर ली है, जो ग्यारह अंगो वाले श्रुत को एक अक्षर के समान जानते हैं। पैरों में काँटा लगने अथवा नेत्रों में धूलि लगने पर जो स्वयं उसे हटाते नहीं हैं। दुर्वचन कहे जाने पर जो मौन धारण करते हैं। जो वज्रवृषभनाराच वाले प्रथम संहनन से युक्त हैं, सतत मौन धारण करते हैं, गुफा में, पर्वत पर, जंगल में अथवा नदी के तट पर रहते हैं। वर्षा ऋतु में मार्ग प्राणियों से व्याप्त होने पर छह मास कायोत्सर्ग पूर्वक, निराहार और निस्पृह रहते हैं। सन्मोक्ष साधन में जिनकी निष्ठा है, जो रत्नत्रय से विभूषित हें, निःसंग हैं, उत्तम धर्म और शुक्ल ध्यान में रत रहते हैं। अनियत वास करने वाले मुनि जिनके समान विहार करते हैं। अतः गणी उन्हें जिनकल्प नाम वाले कहते हैं। अन्य स्थविरकल्पी जिनलिंगी यति होते हैं। स्वच्छ दुग्ध अथवा जल सम निर्मल सम्यक्त्व में उनका चित्त निमग्न रहता है। ये पंचमहाव्रतादि अट्ठाईस मूल गुणों से युक्त होते हैं और ध्यान तथा अध्ययन में तत्पर रहते हैं। जो शील और व्रतों से युक्त होते हैं, दश प्रकार के धर्मों का पालन करने में तत्पर होते हैं। अन्तरंग और बहिरंग तपों में उनकी निष्ठा होती है और पाँच प्रकार के आचारों से युक्त होते हैं। जीर्ण तृण, सुवर्णादि, मित्र, शत्रु समागम,

दुःखोत्पत्ति तथा सुख में यति समबुद्धि होते हैं। जो धर्मशास्त्रों के अर्थ का कथन करते हैं, निस्पृह, निरहंकारी तथा समस्त प्राणियों पर दया करने में रत रहते हैं। कोई शास्त्र रूपी समुद्र को पार कर मनः पर्ययज्ञानी होते हैं। कोई अनगार यतीश्वर अवधि ज्ञानी होते हैं। अवधिज्ञान से पूर्व यथाजात, स्वयं पड़े हुए मृदुपिच्छ को भूमि प्रतिलेखन की शुद्धि के लिए ग्रहण करते हैं। स्थविरादि गण की रक्षा और पोषण में मन लगाए रहने के कारण गणनायकों के द्वारा स्थविर कल्प में स्थित कहे जाते हैं। इस समय दुषम काल में हीन संहनन का आश्रय होने से नगर, ग्राम और जिनमन्दिर के निवासी हो गए। हीन संहनन है, काल दुःसह है, मन चंचल है, फिर भी महाव्रत की धुरा को धारण करने वाले संयम में लगे हुए हैं। संयम के अर्थी वे यथायोग्य, निर्दोष तथा विशुद्ध, बिना याचना किए आयी पुस्तक को ग्रहण करते हैं। दर्शनादि की जो अविघातक है, ऐसी वस्तु को यति लोग ग्रहण करते हैं, किन्तु दर्शनादि के विरोधी वस्त्रादि को ग्रहण नहीं करते हैं, जहाँ पर कि पाप संभव हैं। समस्त परिग्रहों से रहित इस प्रकार स्थविर कल्प होता है। अन्य गृहस्थ कल्प होता है, जहाँ पर कि वस्त्रादि का संग्रह होता है। यह गृहस्थकल्प श्वेताम्बारों ने निर्दिष्ट किया है।[४८]

क्या सचेल परम्परा का सम्बन्ध भगवान् पार्श्वनाथ से है?

तत्त्वार्थसूत्र में आयी हुई नाग्न्य परीषह, जो कि दिगम्बर और श्वेताम्बर उभय परम्परा मान्य है, के विषय में पं. सुखलाल संघवी (श्वे. विद्वान्) कहते हैं— इस परीषह के विषय में श्वेतामबर व दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों में विशेष मतभेद है और इसी कारण श्वेताम्बर–दिगम्बर नाम पड़े हैं। श्वेताम्बर शास्त्र विशिष्ट साधकों के लिए सर्वथा नग्नत्व को स्वीकार करके भी अन्य साधकों के लिए मर्यादित वस्त्र–पात्र की आज्ञा देते है और तदनुसार अमूर्छित भाव से वस्त्र, पात्र रखने वाले को भी वे साधु मानते हैं, जबकि दिगम्बर शास्त्र मुनि नामधारक सभी साधकों के लिए समान रूप से ऐकान्तिक नग्नत्व का विधान करते हैं। नग्नत्व को अचेलक परीषह भी कहते हैं। आधुनिक शोधक विद्वान् वस्त्र पात्र धारण करने वाली श्वेताम्बर परम्परा में भगवान् पार्श्वनाथ की सवस्त्र परम्परा का मूल देखते हैं और सर्वथा नग्नत्व वाली दिगम्बर परमपरा में भगवान महावीर की अवस्त्र परम्परा का मूल देखते हैं।[४९]

दिगम्बर परम्परा एकमत से चौबीस तीर्थंकर तथा उनकी परम्परा के साधुओं को अचेल अथवा नग्न दिगम्बर रूप में ही स्वीकार करती है। श्वेताम्बर परम्परा भगवान् ऋषभदेव और महावीर को अचेल परम्परा का प्रतिपादक

तथा बीच के २२ तीर्थंकरों को सचेल और अचेल दोनों परम्पराओं का प्रतिपादक मानती है। उत्तराध्ययन सूत्र के २३ वें केसिगोयमिज्जं नामक अध्ययन में बतलाया गया है कि पार्श्वनाथ की परम्परा के श्रमण केशी और महावीर की परम्परा के श्रमण गौतम एक बार श्रावस्ती के तिन्दुक नामक उद्यान में मिले। दोनों की परम्परा में जो भिन्नतायें थीं, उनका क्या कारण है? इस विषय में चर्चा हुई। केशी ने गौतम से अन्य प्रश्नों के साथ यह प्रश्न पूछा—

अचेलगो य जो धम्मो जो इमो सन्तरुत्तरो।
देसिओ वद्धमाणेण पासेण य महाजसा[40]।। २९
एगकज्जपवन्नाणं विसेसे किं नु कारणं?
लिंगे दुविहे मेहावि ! कहं विप्पच्चओ न ते?

महामुनि वर्द्धमान ने जो आचार धर्म की व्यवस्था की हैं, वह अचेलक है और महान् यशस्वी पार्श्व ने जो यह आचार–धर्म की व्यवस्था की है, वह सान्तरोत्तर है। एक ही उद्देश्य के लिए हम चले हैं तो फिर इस भेद का क्या कारण है? मेधाविन् ! वेष के इन प्रकारों में तुम्हें सन्देह कैसे नहीं होता?

केसिमेवं बुवाणं तु गोयमो इणमब्बवी।
विन्नाणेण समागम्म धम्मसाहणमिच्छियं।। ३१।।
पच्चयत्थं च लोगस्स नाणाविहविगप्पणं।
जत्तत्थं गहणत्थं च लोगे लिंगप्पओयणं।। ३२।।
अह भवे पइन्ना उ मोक्खसब्भूयसाहणे।
नाणं च दंसणं चेव चरित्तं चेव निच्छए।। ३३।।

केशी के कहते ही गौतम ने इस प्रकार कहा— विज्ञान से यथोचित जानकर ही धर्म के साधनों— उपकरणों की अनुमति दी गयी है। लोगों को यह प्रतीति हो कि ये साधु हैं, इसलिए नाना प्रकार के उपकरणों की परिकल्पना की गई है। जीवन यात्रा को निभाना और "मैं साधु हूँ," ऐसा ध्यान आते रहना— वेष धारण के इस लोक में ये प्रयोजन हैं। यदि मोक्ष की वास्तविक साधना की प्रतिज्ञा हो तो निश्चय दृष्टि में उसके साधन ज्ञान, दर्शन और चारित्र ही हैं।

ऊपर भगवान पार्श्वनाथ के धर्म को सान्तरोत्तर कहा गया है। टीकाकारों ने सान्तरोत्तर के अनेक अर्थ किए हैं। उत्तराध्ययन के टीकाकार श्री नेमिचन्द्र ने इसका अर्थ किया है—

'सान्तराणि वर्द्धमान स्वामियत्यपेक्षया मानवर्ण विशेषतः सविशेषाणि,

उत्तराणि-महामूल्यतया प्रधानानि प्रक्रमात् वस्त्राणि यस्मिन्नसौ सान्तरोत्तरो धर्मः देशितः।'

उत्तराध्ययन टी. नेमिचन्द्र पृ. २६६

सान्तर अर्थात् वर्द्धमान स्वामी के यतियों की अपेक्षा प्रमाण और वर्ण में विशिष्ट तथा 'उत्तर' अर्थात् महामूल्य होने के कारण प्रधान, ऐसे वस्त्र जिसमें धारण किये जाँय, वह धर्म सान्तरोत्तर है।

इसका तात्पर्य यह है कि पार्श्वनाथ के धर्म में साधुओं को महामूल्यवान् और अपरिमित वस्त्र पहिनने की आज्ञा थी।

'सान्तरूतर' शब्द आचारांग में आया है। टीकाकार शीलांक ने इसका अर्थ किया है—

'सान्तमुत्तरं प्रावरणीयं यस्य स तथा क्वचित् प्रावृणोति क्वचित् पार्श्ववर्ति विभर्ति' — आचारांग सूत्र टीका २०६

सान्तर है उत्तर— ओढ़ना जिसका अर्थात् जो आवश्यकता होने पर वस्त्र का उपयोग कर लेता है, नहीं तो पास में रखे रहता है।

इसका अर्थ यह है कि पार्श्व परम्परा के साधु आवश्यकता होने पर ही वस्त्र का उपयोग करते थे।

डॉ. याकोबी ने अपने उत्तराध्ययन के अनुवाद में 'अचेल और सान्तरुत्तर' का अर्थ इस प्रकार किया है— 'महावीर के धर्म में वस्त्र का निषेध था, किन्तु पार्श्व ने एक अन्तर और एक उत्तर (एक अधोवस्त्र और एक ऊपरी वस्त्र) इस तरह दो वस्त्रों का आज्ञा दी थी।'[1]

पार्श्वनाथ और भगवान महावीर के बीच का अन्तराल लगभग २५० वर्ष का है। हो सकता है, पार्श्वनाथ ने अचेल मार्ग की ही शिक्षा दी हो, किन्तु परवर्ती काल में उनके साधु शिथिलाचारी हो गए हों और उन्होंने वस्त्र को अपना लिया हो।

पासत्थ

दिगम्बर और श्वेतामबर दोनों परम्पराओं के ग्रन्थों में पार्श्वनाथ के अनुयायियों के लिए 'पासत्थ' शब्द आया है, जिसका—संस्कृत रूप 'पार्श्वस्थ' और 'पाशस्थ' दोनों हो सकता है। पार्श्वरूप अर्थात् पार्श्वनाथ के मार्ग में स्थित, पाशस्थ— अर्थात् पाश में फँसा हुआ। दूसरा अर्थ परवर्ती काल में इस प्रकार के साधुओं के शिथिलाचार को लक्ष्य में रखकर किया गया। आचार्य कुन्दकुन्द ने भावपाहुड में कहा है—

पासत्थभावणाओ अणाइकालं अणेयवाराओ।
भाऊण दुहं पत्तो कुभावणाभाव बीएहिं।। १४।।

अर्थात् हे जीव ! तूने अनादि काल से अनन्तों बार पार्श्वस्थ भावनाओं की भावना करके कुभावनाओं— खोटी भावनाओं के परिणाम रूपी बीजों के द्वारा दुःख प्राप्त किया है। अष्टपाहुड की श्रुतसागरीयटीका में पार्श्वस्थ का लक्षण दिया है—

यो वसतिषु प्रतिबद्ध उपकरणोपजीवी श्रवणानां पार्श्वे तिष्ठति स पार्श्वस्थः।। भावपाहुड टीका —१४

जो मुनि वसतिकाओं में नियमबद्ध निवास करता है तथा (यन्त्र, मन्त्र आदि) उपकरणों से उपजीविका—आहारादि प्राप्त करता हुआ साधुओं के पार्श्वसमीप में स्थित रहता है, वह पार्श्वस्थ है।

लिंग पाहुड में कहा है—

दंसणणाणचरित्ते महिलावग्गम्मि देदि वीसट्ठो। पासत्थ विहु णियट्ठो भावविणट्ठो ण सो समणो।।

अर्थात् जो स्त्रियों में विश्वास उपजाकर उन्हें दर्शन, ज्ञान और चारित्र देता है, वह पार्श्वस्थ मुनि से भी निकृष्ट है तथा भावलिंग से शून्य है, वह परमार्थ में मुनि नहीं है। भगवती आराधना में कहा है कि पार्श्वनाथ मुनि इन्द्रिय कषाय और विषयों से पराजित होकर चारित्र को तृण के समान समझता है, अतः उससे भ्रष्ट हो जाता है। जो मुनि पार्श्वस्थ मुनि की सेवा करते हैं, वे भी पार्श्वस्थ[५२] बन जाते हैं।

निशीथ के चौथे उद्देसक में पार्श्वस्थ, कुशील और संसक्त आदि संघों के साधुओं के साथ सम्बन्ध रखने का निषेध है[५३], तेरहवें उद्देसक में पार्श्वस्थ आदि शिथिलाचारियों को वन्दन करने का निषेध है।[५४] आवश्यक निर्युक्ति में ब्रह्मचर्य से भ्रष्ट साधुओं को पार्श्वस्थ की संज्ञा दी है। मथुरा में सुभिक्षा प्राप्त होने पर भी आर्यमंगु आहार का कोई प्रतिबन्ध नहीं रखते थे, इसलिए उन्हें पार्श्वस्थ कहा गया है।[५५] भगवती सूत्र के १५ वें शतक में कहा गया है कि एक बार जब २४ वर्ष की दीक्षा वाला मखलि गोशाल आजीवक मत की उपासिका हालाहला कुम्हारी के घर श्रावस्ती में ठहरा हुआ था उसके पास शान, कलंद, कर्णिकार, अछिद्र, अग्निवेश्यायन और गोमायुपुत्र अर्जुन नाम के छह दिशाचर आए। यहाँ टीकाकार अभयदेव ने दिशाचर का अर्थ 'भगवच्छिष्याः पार्श्वस्थीभूताः' अर्थात् पतित हुए महावीर के शिष्य किया है। चूर्णीकार ने उन्हें पासावच्चिज्ज' अर्थात् पार्श्वनाथ के शिष्य कहा है। ये लोग अष्टांग महानिमित्त के ज्ञात बताए गए हैं।[५६]

मूलाचार में पार्श्वस्थ, कुशील, संसक्त, अपसंज्ञ और मृगचारित्र नामक

मुनियों को वन्दना के आयोग्य बतलाया है।[५७] संयत के गुणों के पार्श्व में स्थित रहने वाले श्रमण पार्श्वस्थ कहलाते हैं।[५८] भगवती आराधना के अनुसार साधु समूह के मार्ग को छोड़कर पार्श्वस्थ मुनिपने को प्राप्त हुए वे ऋद्धि गौरव, रस गौरव और सात गौरव से भरे गहन वन में पड़कर तीव्र दुःख पाते हैं।[५९] अथवा जैसे विषैले काँटों से बिंधे हुए मनुष्य अटवी में अकेले पड़े हुए दुःख पाते हैं, वैसे ही मिथ्यात्व, माया और निदानशल्य रूप काँटो से बिंधे हुए वे पार्श्वस्थ मुनि दुःख पाते हैं।[६०]

श्वेताम्बर साहित्य में अनेक ऐसे उल्लेख आए हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि अनेक पार्श्वापत्यीय साधुओं ने भगवान् महावीर के संघ में दीक्षाग्रहण की। भगवती सूत्र में 'कालास्यवैशिक पुत्र' पार्श्वापत्यीय श्रमण का उल्लेख है। वे अनेक निर्ग्रन्थ स्थविरों से मिलते हैं। उनसे तात्त्विक चर्चा कर समाधान पाते हैं और अपनी पूर्व परम्परा का विसर्जन कर भगवान् महावीर की परम्परा स्वीकार कर लेते हैं।[६१]

आवश्यक निर्युक्ति से ज्ञात होता है कि एक बार भगवान् महावीर कालाय सन्निवेश में विहार कर पत्रालय ग्राम से होते हुए कुमार सन्निवेश में आए और चम्पक रमणीय उद्यान में ठहरे। उसी सन्निवेश में पाश्वपित्यीय स्थविर मुनिचन्द्र अपने शिष्य परिवार के साथ कूपनक नामक कुम्भकार की शाला में ठहरे हुए थे। वे जिनकल्प प्रतिमा की साधना कर रहे थे। वे अपने शिष्य को गण का भार दे स्वयं सत्त्व भावना में अपनी आत्मा को भावित करते हुए विचरण कर रहे थे। गोशाल भगवान के साथ था। उसने पार्श्वापत्यीय स्थविर मुनिचन्द्र को देखा। उनके पास जाकर पूछा— तुम कौन हो? उन्होंने कहा— हम श्रमण निर्ग्रन्थ हैं। गोशाल ने कहा— अहो ! तुम कैसे श्रमण निर्ग्रंथ? निर्ग्रन्थ होते हुए भी तुम अपने पास इतने ग्रन्थ–परिग्रह क्यों रखते हो? इतना कहकर उसने भगवान् की बात कही और पूछा— क्या तुम्हारे संघ में कोई ऐसा महात्मा है?

मुनिचन्द्र ने कहा— जैसे तुम हो, वेसे ही तुम्हारे आचार्य होंगे। इस पर गोशाल कुपित हो गया। वह भगवान् के पास गया और बोला— भगवान्! आज मैंने सारम्भ, सपरिग्रही साधुओं को देखा है। भगवान् ने कहा— वे पार्श्वनाथ की परम्परा के साधु हैं।[६२] इस प्रकार पार्श्वनाथ की परम्परा के साधुओं की जानकारी देने वाले अनेक प्रसंग उपलब्ध होते हैं। श्वेताम्बर आगम साहित्य में अनेक स्थलों पर भगवान् महावीर के मुख से पार्श्व के लिए 'पुरुषादानीय' शब्द का प्रयोग हुआ है। यह आदरसूचक शब्द है। इस

प्रकार पार्श्वनाथ के प्रति आदरभाव रखते हुए भी महावीर ने उनकी परम्परा के साधुओं को यथावत् ग्रहण न कर उन्हें पुनः दीक्षा दी। कारण यही है कि वे शिथिलाचारी और परिग्रही हो गए थे। डॉ. हर्मन जैकोबी ने ठीक ही लिखा है— 'उत्तराध्ययन सूत्र के केशी गौतम संवाद से अनुमान किया जाता है कि पार्श्व और महावीर के बीच में मुनिधर्म की नैतिक अवस्था में पतन हुआ था। यह तभी संभव है, जब अन्त के दोनों तीर्थंकरों के बीच में काफी लम्बा अन्तराल रहा हो। और इसका इस साधारण परम्परा से कि पार्श्व के २५० वर्ष बाद महावीर का अवतरण हुआ, पूर्ण समर्थन होता है।[६३]

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि प्रारम्भ में पार्श्वनाथ के साधु सचेल रहे हों, ऐसाकहना श्वेताम्बर मान्यतानुसार भी कठिन है; क्योंकि यह जानने का हमारे पास कोई साधन नहीं है। परवर्ती पार्श्वस्थ साधु आवश्यकतानुसार अल्प वस्त्र ही प्रयोग करते थे ऐसा सान्तरोत्तर शब्द से प्रकट होता है।

श्वेताम्बर विद्वान् पं. बेचरदास जी ने लिखा है—

श्री पार्श्वनाथ और श्री वर्द्धमान के शिष्यों के २५० वर्ष के दरम्यान किसी भी समय पार्श्वनाथ के सन्तानीयों पर उस समय के आचारहीन ब्राह्मण गुरुओं का असर पड़ा हो और इसी कारण उन्होंने अपने आचारों में से कठिनता निकालकर विशेष नरम और सुखकर आचार बना दिए हों, यह विशेष सम्भावित है।[६४]

मुनि नथमल का कहना है[६५]—

"प्रारम्भ में अचेल शब्द का अर्थ निर्वस्त्र ही रहा होगा और दिगम्बर, श्वेताम्बर संघर्ष काल में उसका अर्थ 'अल्प वस्त्र वाला' या मलिन वस्त्र वाला हुआ होगा अथवा एक वस्त्रधारी निर्ग्रन्थों के लिए भी अचेल का प्रयोग हुआ होगा। दिगम्बर परम्परा ने निर्वस्त्र रहने का एकान्तिक आग्रह किया और श्वेतामबर परम्परा ने निर्वस्त्र रहने की स्थिति के विच्छेद की घोषणा की। इस प्रकार सचेल और अचेल का प्रश्न, भगवान् महावीर ने जिसको समाहित किया था, आगे चलकर विवादास्पद बन गया। यह विवाद अधिक उग्र तब बना, जब आजीवक श्रमण दिगम्बरों में विलीन हो रहे थे। तमिल काव्य मणिमेखले में जैन श्रमणों को निर्ग्रन्थ और आजीवक इन दो भागों में विभक्त किया गया है। भगवान् महावीर के काल में आजीवक एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय था। अशोक और दशरथ के 'बराबर' तथा नागार्जुनी गुहालेखों से उसके अस्तित्व की जानकारी मिलती है। उनके श्रमणों को गुहायें दान में दी गयी थीं। सम्भवतः ई. सन् के आरम्भ से आजीवक मत

का उल्लेख प्रशस्तियों में नहीं मिलता। डॉ. वासुदेव उपाध्याय ने सम्भावना की है कि आजीवक ब्राह्मण मत में विलीन हो गए[६६], किन्तु मणिमेखले से यही प्रमाणित होता है कि आजीवक श्रमण दिगम्बर श्रमणों में विलीन हो गए।[६७] आजीवक नग्नत्व के प्रबल समर्थक थे। उनके विलय होने के पश्चात् सम्भव है कि दिगम्बर परम्परा में भी अचेलता का आग्रह हो गया।"

श्वेताम्बरों में नग्नता का अन्त

मुनि कल्याणविजय जी ने लिखा है[६८]— "आर्यरक्षित के स्वर्गवास के पश्चात् धीरे धीरे साधुओं का निवास बस्तियों में होने लगा और इसके साथ नग्नता का भी अन्त होता गया। पहले बस्ती में जाते समय जिस कटिबन्ध का उपयोग होता था, वह बस्ती में बसने के बाद निरन्तर होने लगा। धीरे— धीरे कटिवस्त्र का भी आकार प्रकार बदलता गया। पहले मात्र शरीर का गुह्य अंग ही ढकने का विशेष ख्याल रहता था, पर बाद में सम्पूर्ण नग्नता ढाँक लेने की जरूरत समझी गई और उसके लिए वस्त्र का आकार प्रकार भी बदलना पड़ा। फलतः उसका नाम कटिबन्ध मिटकर चुल्लपट्ट— छोटा वस्त्र पड़ा। पहले प्रति व्यक्ति एक ही पात्र रखा जाता था, पर आर्यरक्षित सूरि ने वर्षाकाल में एकमात्रक नामक अन्य पात्र रखने की आज्ञा दे दी थी, उसके फलस्वरूप आगे जाकर मात्रक भी एक अवश्य धारणीय उपकरण हो गया। इसी तरह झोली में भिक्षा लाने का रिवाज भी लगभग इसी समय चालू हुआ, जिसके कारण पात्रनिमित्तक उपकरणों की वृद्धि हुई। परिणामस्वरूप स्थविरों के कुल १४ उपकरणों की वृद्धि हुई, जो इस प्रकार है— १. पात्र २. पात्रबन्ध ३. पात्र स्थापन ४. पात्र प्रमार्जनिका ५. पटल ६. रजस्त्राण ७. गुच्छक ८.-९. दो चादरें १०. ऊनी वस्त्र (कम्बल) ११. रजोहरण १२ मुख वस्त्रिका १३. मात्रक और १४. चोल पट्टक। यह उपाधि औधिक अर्थात् सामान्य मानी गयी और आगे जाकर इसमें जो उपकरण बढ़ाए गए, वे औपग्रहिक कहलाए। औपग्रहिक उपधि में संस्तारक, उत्तरपट्टक, दंडासान और दंड ये खास उल्लेखनीय हैं। ये सब उपकरण आज के श्वेतामबर जैन मुनि रखते हैं।"

वस्त्रधारी निर्ग्रन्थ नहीं है

आचार्य विद्यानन्द ने मूर्च्छा और बाह्य वस्तु के कार्य कारण की चर्चा की है और कहा है कि निर्ग्रन्थ का बाह्य रूप यथाजात ही हो सकता है। अतः एवं वस्त्रधारी निर्ग्रन्थ नहीं कहे जा सकते। पुलाकादि साधुओं को व्यवहार से और निश्चय से भी निर्ग्रन्थ कह सकते हैं, किन्तु वस्त्रधारी को नहीं।[६९]

श्वेताम्बर मुनियों का समुदाय संघ नहीं

आचार्य पूज्यपाद ने कहा था— 'रत्नत्रयोपेतः श्रमणगणः संघः' अर्थात् रत्नत्रय से युक्त श्रमणों का समूह संघ है। अकलंक देव ने भी यही व्याख्या मानी है। साथ ही दिगम्बर मुनि अकेले विचरण करते हैं, इस दृष्टि से समाधान भी किया है कि एक व्यक्ति का भी संघ हो सकता है। उपर्युक्त व्याख्या को स्पष्ट करते हुए श्रुतसागर ने कहा है— **'सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र पात्राणां श्रमणानां परमदिगम्बराणां गणः समूहः संघ उच्यते तत्त्वार्थवृत्ति ६/१३**

अर्थात् जो सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र से युक्त हैं,–ऐसे परम दिगम्बरों का समूह संघ कहलाता है।[७०]

केवली को वस्त्राभरण से मण्डित मानना अवर्णवाद है

श्रुतसागर सूरि ने केवली के अवर्णवाद के विषय में लिखा है— **'केवलिनः किल केवलज्ञानिन- कवलाहारजीविनः, तेषां च रोगो भवति, उपसर्गश्च संजायते, नग्नाभवन्त्येव परं वस्त्राभरणमण्डिता दृश्यन्ते।** इत्यादि (तत्त्वार्थ वृत्ति ६/१३) अर्थात् केवली कवलाहारी होते हैं, उनके रोग होता है और उपसर्ग होता है। यद्यपि वे नग्न ही होते है, किन्तु वस्त्राभरण से मण्डित दिखायी देते हैं, यह कहना केवली का अवर्णवाद है[७१]।

श्वेतपटों की जैनाभासों में गणना

इन्द्रनन्दि भट्टारक कृत नीतिसार समुच्चय में कहा गया है—

गोपुच्छिकः श्वेतवासा द्राविडो यापनीयकः।
निष्पिच्छश्चेति पञ्चैते जैनाभासाः प्रकीर्तिता।। १०।।

अर्थ : गाय की पूँछ के बाल की पिच्छि धारण करने वाले, श्वेत वस्त्र धारी श्वेताम्बर, द्राविड, यापनीय और पीछी रहित ये पाँच जैनाभास कहे गए हैं।

वे अपनी अपनी मति के अनुसार सिद्धान्त में दोष लगाकर जिनेन्द्र भगवान् के मार्ग में फूट डालते हैं।[७२] जैनाभास संघ समूह में से भी श्रावक और शिष्य का सावधान होकर संग्रह करना चाहिए। इस प्रकार के भक्त शिष्यों का ग्रहण निन्दनीय नहीं है।[७३]

स्त्री मुक्ति निषेध

स्त्री का मुक्त होना या न होना, यह प्रश्न भी सचेल अचेल विषयक मान्यता से जुड़ा हुआ है। श्वेताम्बर स्त्री मुक्ति मानते हैं; क्योंकि उनके यहाँ वस्त्र मुक्ति में बाधक नहीं हैं। दिगम्बर वस्त्रधारी की मुक्ति नहीं मानते, अतः उनके यहाँ स्त्री मुक्ति की अधिकारिणी नहीं है। इस विषय को आचार्य प्रभाचन्द्र ने प्रमेयकमल मार्त्तण्ड में सुस्पष्ट किया है।[७४]

स्त्रियों के सवस्त्र संयम है, अतः मोक्ष का हेतु नहीं है, जैसे गृहस्थ का संयम नहीं है। "सचेल संयमत्वात्" यह हेतु असिद्ध नहीं है। क्योंकि स्त्रियों के वस्त्र रहित संयम कहीं पर देखा नहीं गया है और न शास्त्र में ही उसका प्रतिपादन है। शास्त्र में वस्त्र रहित संयम स्त्रियों को नहीं बतलाया है, तो भी मोक्ष सुख की अभिलाषिणी स्त्रियाँ वस्त्र का त्याग करेंगी तो गलत क्रिया कहलायेगी; क्योंकि अर्हन्त भगवान् के शास्त्र का उल्लंघन करने से तो मिथ्यात्व हो जाता है। कोई कहे कि पुरुष के तो वस्त्र रहित संयम मोक्ष का हेतु है और स्त्रियों के वस्त्र सहित संयम मोक्ष का कारण है तो यह कथन ठीक नहीं है। जहाँ कारण भेद होता है, वहाँ कार्य जो मुक्ति है, उसमें भी भेद होगा। जैसे स्वर्गादि के कारणों में भेद होने से स्वर्ग जाने में भेद पड़ता है। सवस्त्र को भी यदि मुक्ति होती है तो देशसंयमी को भी हो सकेगी? फिर तो दीक्षा लेना ही व्यर्थ होगा। आपने सचेल संयम मोक्ष का कारण है, ऐसा किस प्रमाण से जाना है? अपने आगम से जाना है, ऐसा कहना ठीक नहीं है। हम दिगम्बर के लिए वह आगमाभास है, जैसे आपको यज्ञानुष्ठानादि प्रतिपादक मीमांसक का आगम आगमाभास रूप है। स्त्रियाँ मोक्ष के कारण भूत संयम वाली नहीं हो सकती; क्योंकि वे साधुओं के लिए वन्दनीय नहीं हुआ करती है, जैसे गृहस्थ वन्दनीय नहीं होते हैं। कहा भी है—

सैकड़ो वर्ष की दीक्षित आर्यिकायें आज के दीक्षित साधु को नमस्कार करती हैं, साधु उनके द्वारा वन्दनीय, आदरणीय होता है, विनय करने योग्य होता है, सन्मुख जाने योग्य होता है।

स्त्रियाँ बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह युक्त भी होती हैं, अतः मोक्ष के योग्य संयम को नहीं धारण कर सकतीं। यह बाह्याभ्यन्तर परिग्रहत्व हेतु भी असिद्ध नहीं है। प्रत्यक्ष से दिखाई देता है कि वस्त्र ग्रहणादि बाह्य परिग्रह तथा स्वशरीर का अनुराग आदि रूप आभ्यंतर परिग्रह स्त्रियों के होता है। श्वेताम्बर कहें कि शरीर की गर्मी से वायुकायिक आदि जीवों को बाधा न होवे, इसलिए शरीर का राग न रहते हुए भी स्त्रियाँ वस्त्र को धारण करती हैं, ऐसा कहना गलत है, इस तरह तो पुरुष का आचेलक्य (वस्त्र त्याग) नाम व्रत हिंसा का कारण बन जायगा? फिर तो अर्हन्त गणधर आदि मुक्ति के पात्र नहीं रहेंगे, न आचेलक्य का उपदेश देने वाले मुक्ति के पात्र होंगे। अपितु वस्त्रधारी गृहस्थ मुक्ति के पात्र होंगे? किन्तु आचेलक्य आपको इष्ट न हो सो बात नहीं है। आचेलक्य, औद्देशिक, शय्याधर आदि दश प्रकार का स्थितिकल्प साधुओं के लिए आगम में बतलाया है सो उसमें साधु का

आचेलक्य गुण आया है।

दूसरी बात यह है कि वस्त्र के गृहण करने पर भी प्राणियों का घात उसी प्रकार होता ही है। वस्त्र से नहीं ढके हुए शरीर के अवयव हाथ, पैर आदि की गर्मी से जीवों का होने वाला घात रुक नहीं सकता है। वस्त्र स्वयं जूँ, लिक्षा आदि अनेक सम्मूर्छन जीवों का आधारभूत है, ऐसे वस्त्र को भी ग्रहण किया जाय तो केशों का लोंच आदि क्रिया की जरूरत नहीं रहेगी? तथा वस्त्र को फैलाना, समेटना आदि व्यापार से वायु संचार होकर आकाश प्रदेश में स्थित जीवों का घात होता है, जैसे पंखा आदि से हवा करने में जीवों का घात होता है।

दूसरी बात यह है कि यदि जीवों का बचाव करने के लिए वस्त्र ग्रहण करते हैं तो विहार में अनेक जीवों का घात होता है। अतः साधु को विहार नहीं करना चाहिए? यदि तुम कहो कि प्रयत्नपूर्वक ईर्या समिति से विहार करने में जीवों का घात होते हुए भी साधु को अहिंसक माना है सो, यही बात वस्त्र त्याग में है अर्थात् वस्त्र का त्याग करने पर शरीर की गर्मी से जीवों का घात कभी भी हो जाय तो साधु प्रमादरहित होने से अहिंसक कहलाता है। जैसे यज्ञानुष्ठान पशु हिंसा का कारण होने से अकल्याणकारी होने से त्याज्य है, वैसे वस्त्र भी हिंसा का कारण होने से त्यागने योग्य है, दोनों में समानता है।

"जीवों की रक्षा हेतु वस्त्र हैं, "यह बात जैसे खण्डित होती है, वैसे संयम का उपकरण होने से वस्त्र ग्रहण करते हैं, यह कथन भी खण्डित हो जाता है।

बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह का त्याग करना संयम कहलाता है, वस्त्र ग्रहण करने पर उसको सीना, धोना, सुखाना, रखना, उठाना तथा चोर के ले जाने पर मन में क्षोभ होना, इत्यादि असंयम की बातें हो जाने से संयम किस प्रकार पल सकता है? वस्त्र ग्रहण से उल्टे संयम का नाश होता है, वस्त्र तो बाह्याभ्यन्तर निर्ग्रन्थता का प्रतिपक्षी है।

वस्त्र को लज्जा, शीत की पीड़ा आदि का निवारण करने के लिए ग्रहण करते हैं, ऐसा कहा जाय तो स्त्री आदि को भी काम पीड़ा के निवारण करने के लिए ग्रहण करना दोषास्पद नहीं होगा। फिर तो जिस जिस कारण से पीड़ा दूर हो, वह सब पदार्थ पक्षी आदि का मांस आदि भी ग्रहण करने योग्य होंगे। श्वेताम्बर कहते हैं कि थोड़ा सा वस्त्र लेने पर भी वास्तविक दृष्टि से वह साधु विरागी ही है, इसमें भी प्रश्न, उत्तर समान रहेंगे। राग सहित

ही स्त्री का ग्रहण होता है, ऐसा कहो तो वस्त्र में भी यही दोष है कि वह राग सहित होकर ही ग्रहण में आता है। वस्त्र ग्रहण करने मात्र से राग नहीं आता है तो स्त्री मात्र ग्रहण करने से भी राग नहीं आता है, ऐसा स्वीकार करना पड़ेगा। यदि नग्न रहते हैं तो स्त्री विकारी होती है, अतः स्त्री के मन का क्षोभ दूर करने के लिए वस्त्र को ग्रहण करते हैं, ऐसा कहना भी असत् है, स्त्री के मन में क्षोभ तो साधु ने कराया नहीं, न नग्नता ही वाञ्छा कराती है, नग्नता वाञ्छा की अहेतु होने से उसका निषेध सम्भव है। यदि स्त्रियों को देखकर मन में क्षेभ होता है अथवा साधु को देखने से स्त्री विकार को प्राप्त होती है, तब तो अपनी या उसकी आँख को फोड़ डालना या आँखों पर पट्टी बाँधना भी जरूरी होगा; क्योंकि आँख आदिक भी क्षोभ का अविशेष रूप से कारण है? यदि कदाचित् कोई चंचल स्वभाव वाली स्त्री संयम की वाञ्छा भी करती है, तो वह साधु भाई के समान होने से कुछ भी आपत्ति नहीं हो सकती, अतः नग्नता दोषयुक्त नहीं है। प्रथम तो बात यह है कि नग्न साधु को देखकर स्त्री को विकार आ नहीं सकता; क्योंकि उसका शरीर वीभत्स, मैला, शव के समान रहता है। ऐसे शरीर को देखकर उनसे विरक्ति ही होती हैं, आसक्ति नहीं हो सकती। इस प्रकार यहाँ तक के विवेचन से स्पष्ट होता है कि जो विषयासक्त हैं, स्त्री परीषह सहन नहीं कर सकते, शरीर में रागयुक्त हैं, वे ही वस्त्र को ग्रहण करते हैं, इसीलिए बाह्याभ्यान्तर परिग्रह धारी कहलाते हैं।

शंका : इस तरह वस्त्र ग्रहण में दूषण बतायेंगे तो जीव रक्षा के लिए मयूर पिच्छिका ग्रहण एवं रोगनिवृत्ति के लिए औषधि ग्रहण करने से भी यही दूषण आता है?

समाधान : यह शंका ठीक नहीं है, तीन–चार पंखों का ग्रहण तो जीवरक्षा के लिए किया जाता है तथा यह ममकार भाव का सूचक भी नहीं है। पके हुए फोड़ा, फुन्सी आदि का प्रतीकारक होने से एवं नग्नता का अविरोधक होनेसे औषधि का ग्रहण होता है, किन्तु वस्त्र ग्रहण में ऐसी बात नहीं है। दूसरी बात यह है कि परम निर्ग्रन्थता की सिद्धि के लिए तो महाश्रमण पीछी भी ग्रहण नहीं करते हैं, जिस प्रकार कि औषधि का ग्रहण नहीं करते हैं। सिद्धान्तानुसार उद्गम, उत्पादन आदि ४६ दोषों से रहित आहार, औषधि आदि को ग्रहण करते हैं। ये पदार्थ रत्नत्रय की आराधना के कारण है, अतः मोक्षमार्ग में किसी के भी बाधक नहीं है। पीछी आदि के ग्रहण करने से अन्तरंग रागादि और बहिरंग वसन, भूषण आदि परिग्रह नहीं होते हैं, अतः ये पदार्थ परिग्रह नहीं हैं, प्रत्युत मोक्ष के हेतु के उपकारक हैं। साधु आहारग्रहण नहीं करेगा तो अकाल में मरण होने से आत्मघाती कहलाएगा। किन्तु वस्त्र में ऐसी बात नहीं है। समर्थ अभ्यासी साधु तो आहार को भी दो दिन, तीन

दिन आदि के क्रम से छोड़ देता है, किन्तु स्त्रियों द्वारा वस्त्र नहीं छोड़ा जा सकता है।

श्वेताम्बर : स्त्रियाँ वस्त्र को छोड़कर अन्य सम्पूर्ण परिग्रहों का त्याग कर लेती हैं, अतः उनको बाह्य में निर्ग्रन्थ ही मानना चाहिए?

दिगम्बर जैन : ऐसी बात है तो लोभ कषाय को छोड़कर अन्य आभ्यन्तर परिग्रह का त्याग होने से अन्तरंग में उन्हें निर्ग्रन्थ ही मानना चाहिए? तुम कहो कि वस्त्र को ग्रहण करने पर भी ममत्व बुद्धि न होने से निर्ग्रन्थता बनी रहेगी? सो भी बात नहीं है, इस तरह के कथन में विरोध आता है। यदि बुद्धिपूवर्क अपनी इच्छा से स्वहस्त से वस्त्र को पहिनता है, गिरे वस्त्र को सम्हालता है, ठीक करता है, ठीक करके पुनः धारण करता है, इत्यादि क्रिया करते हुए भी वह वस्त्र की इच्छा से रहित है, ऐसा कौन विश्वास कर सकता है? यदि ऐसा माना जाय तो साधु स्त्री का आलिंगन करता हुआ भी उसके ममत्व से रहित है, ऐसा मानना चाहिए। अतः निश्चित होता है कि वस्त्र को ग्रहण करने से स्त्रियों को बाह्याभ्यंतर परिग्रह का दोष आता ही है, इसलिए स्त्रियों के बाध्याभ्यन्तर निर्ग्रन्थता सम्भव नहीं है। इस कारण उन्हें मोक्ष नहीं होता है। मोक्ष की प्राप्ति बाह्य कारण और अन्तरंग कारण मिलने पर होती हैं; क्योंकि वह कार्य है, जिस प्रकार उड़द आदि धान्य बाह्याभ्यन्तर अग्नि, स्वशक्ति आदि कारण के मिलने पर ही पकते हैं। मोक्ष का कारण तो बाह्य में अकिंचन रहना अर्थात् सम्पूर्ण वस्त्र, पात्र आदि से रहित होना है और अन्तरंग आकिञ्चन्य रागादि से रहित होना है। ये दोनों धर्म स्त्रियों में नहीं हो सकते हैं तो मोक्ष किस प्रकार हो सकता है?[७५] अर्थात् नहीं हो सकता है।

संघ भेद के विषय में आधुनिक विद्वानों के विचार

केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया में लिखा है— "इसमें कोई सन्देह नहीं कि ई.पू. ३०० के लगभग महान् संघभेद का उद्गम हुआ, जिसने जैन संघ को श्वेतामबर और दिगम्बर सम्प्रदायों में विभाजित कर दिया। यह समय जैन संघ के लिए दुर्भाग्यपूर्ण प्रतीत होता है। दक्षिण से लौटे हुए साधुओं ने, जिन्होंने दुर्भिक्ष काल में बड़ी कड़ाई के साथ अपने नियमों का पालन किया था, मगध में रह गये, अन्य अपने साधुओं के आचार से असन्तोष प्रकट किया तथा उन्हें मिथ्याविश्वासी और अनुशासनहीन घोषित किया।[७६]

प्रो. आर.सी. मजूमदार ने अपने इतिहास में संघभेद का समय मगध के दुर्भिक्ष को ही इंगित किया है। उन्होंने लिखा है— "जब भद्रबाहु के अनुयायी मगध में लौटे तो एक बड़ा विवाद उठ खड़ा हुआ। नियमानुसार **जैन साधु नग्न रहते थे,** किन्तु मगध के जैन साधुओं ने सफेद वस्त्र धारण करना प्रारम्भ कर दिया। दक्षिण भारत से लौटे हुए जैन साधुओं ने इसका

विरोध किया; क्योंकि वे पूर्ण नग्नता को महावीर की शिक्षाओं का आवश्यक भाग मानते थे। विरोध का शान्त होना असम्भव पाया गया और इस तरह दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदाय उत्पन्न हुए।"[७७]

पण्डित विश्वेश्वर नाथ रेउ ने लिखा है— "कुछ समय बाद जब अकाल निवृत्त हो गया और कर्नाटक से जैन लोग वापिस लौटे, तब उन्होंने देखा कि मगध के जैन साधु पीछे से निश्चित किए गए धर्म ग्रन्थों के अनुसार श्वेत वस्त्र पहनने लगे हैं। परन्तु कर्नाटक से लौटने वालों ने इस बात को नहीं माना। इससे वस्त्र पहनने वाले जैन साधु श्वेताम्बर और नग्न रहने वाले दिगम्बर कहलाए।"[७८]

अयि जिनप, तेच्छविरविकलभावा।। स्थायी।।
पक्षकक्षमिति, कस्य दहन्ति श्रीवर, न मदनदावाः।। १।।
कस्य करे ऽसिररेरिति सम्प्रति, अमर प्रवर, भिया वा।। २।।
वाञ्छति वसनं स च पुनरशनं कस्य न धनतृष्णा वा।। ३।।
भूरागस्य न वा रोषस्य न, शन्तिमयी सहजा वा।। सुदर्शनोदय पृ ७४

हे जिनवर, तुम्हारी छवि अविकल भावों को धारण करने वाली है। हे श्रीवर, इस संसार में ऐसा कौन प्राणी है, जिसके पक्ष कक्ष को (समीपवर्ती वनखण्ड को) कामरूप दावाग्नि ने भस्म न कर दिया हो। केवल आप ही ऐसे दृष्टिगोचर हो रहे हैं, जो कि उससे बचे हैं या यों कहना चाहिए कि आपने जगत को भस्म करने वाले उस काम को ही भस्म कर दिया है। हे देव शिरोमणि, हम देख रहे हैं कि शत्रुओं के भय से किसी देव के हाथ में खड्ग है, किसी के हाथ में धनुष बाण है और किसी के हाथ में गदा। कोई शीतादि से पीड़ित होकर वस्त्र चाहता है, कोई भूख से पीड़ित होकर भोजन चाहता है और कोई दरिद्रता से पीड़ित होकर धन की तृष्णा में पड़ा हुआ है, किन्तु हे भगवान् ! एक आपकी मूर्ति ही ऐसी दिखाई दे रही है, जिसे न किसी का भय है, न भूख है, न शीतादि की पीड़ा है और न धनादिक की तृष्णा ही है। आपकी सहज शान्तिमयी वीतराग मुद्रा है, जिसमें न राग का लेश है और न द्वेष का ही लेश है। ऐसी यह शान्त मुद्रा मुझे परम शान्ति दे रही है।

---

१. *संवच्छरं साहियं मासं, जं ण रिक्कासि वत्थगं भगवं।*
अचेलएततो चाई तं वोसज्ज वत्थमणगारे।। आयारो उपधानश्रुत १/४

२. *वही विमोक्ष ७/१११, ३. वही ७/११२—११३, ४. वही ६८५ १०, १२—१५, ५. वही ५/६२, ६. वही ४/४३*

७. *जे अचेले परिवुसिए संचिक्खति ओमोयरियाए। आयारो श्रुत २/४०*

८. एते भो ! णगिणा वुत्ता, जे लोगंसि अणागमण धम्मिणो।। वही २/४७

६. जे अचेले परिवुसिए, तस्स णं भिक्खुस्स णो एवं भवइ— परिजुण्णे मे वत्थे वत्थं जाइस्सामि, सुत्तं जाइस्सामि, सूई जाइस्सामि, संधिस्सामि, सीवीस्सामि, उक्कसिस्सामि, वोक्कसिस्सामि, परिहिस्सामि, पाउणिस्सामि। आयारो—धुत ३/६०।

१०. वही ३/६१, ११. वही ३/६२, १२. वही ३/६२, १३. तवे से अभिसमण्णागए भवति।। वही ३/६४, १४. वही ३/६५,

१५. जिणकप्पिआ विदुविहा पाणिपाया पडिग्गहधराय, पाउरणमपाउरणा एक्कक्कातेभवे दुविहा।। प्रवचनसरोद्धार पृ. १३४, ५ वीं गाथा। २६ जैन साहित्य में विकार पृ० २६

१७. पं. बेचरदास जैन : जैनसाहित्य में विकार पृ. ४६, १८. विशेषवश्यक भाष्य : गाथा ३०७६, १६. वही पृ. ४२, २०. प्रकाशक : श्री जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर, संवत् १६६१, २१. प्रकाशक : ऋषभदेव केसरीमल संस्था, रतलाम १६३७

२२. प्र. समस्त श्वेताम्बर संघ, रतलाम, संवत् १६६७, २३. प्रकाशक— श्री जैन दिवाकर दिव्य ज्योति कार्यालय, ब्यावर, वि.सं. २०२६, २४. प्रकाशक— ऋषभदेव केसरीमल श्वे, संस्था रतलाम १६२८, २५. प्र. श्री जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर सं. १६६१।

२६. सुभाष जैन : श्री सम्मेदशिखरजी (पारसनाथ पर्वत) के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण तथ्य पृ. १—२

२७. धर्मामृत (अनगार) पं. कैलाश चन्द्र शास्त्री द्वारा लिखित प्रस्तावना पृ. २०

२८. मार्गाच्यवनिर्जरार्थ परिषोढव्या परीषहाः।। तत्त्वार्थ सूत्र।

२६. जात रूपवन्निष्कलंक जातरूपधारणमशक्यप्रार्थनीयं। याचनरक्षणहिंसनादिदोष विनिर्मुक्तं निष्परिग्रहत्वान्निर्वाण प्राप्तिं प्रत्येकं साधनमनन्यबाधनं नाग्न्यं बिभ्रतो मनोविक्रियाविप्लुतिविरहात् स्त्रीरूपाण्यत्यन्ताशुचिकुणपरूपेण भावयतः रात्रिन्दिवं ब्रह्मचर्यमखण्ड मातिष्ठमानस्याचेलव्रत धारणमनवद्यमवगन्तव्यं, सर्वार्थ सिद्धि ६/६ (८२०)

३०. जैन साहित्य का इतिहास पूर्व पीठिका पृ. ४१६—४१८,

३१. दुविहोंति अचेलो, संतायेलो असंतचेलोय।
तित्थगरा असंतचेलासंताचेला भवेसेसा।। वृ.क.

३२. सदसंतचेलगो ऽ चेलगो य जं लोगसमयसंसिद्धो।
तेणाचेलामुणआ संतेहि जिणा असंतेहि।।२५६८।।
परिसुद्धजुण्णकुच्छिय थोवा ऽ नियन्न भोगभोगेहिं।
मुणओ मुच्छारहिया संतेहि अचेलया होंति।। २५६६
जह जलमवगाहंतो बहुचेलो वि सिरवोट्ठियकडिल्लो।
भण्णइनरो अचेलो तह मुणओ संतचेला वि।। २६००।।
तह थोवजुन्नकच्छियचेलेहि वि भन्नए अचेलो त्ति।
जह तुर सौलिय लहुँदो वोत्ति नग्गिया मोत्ति।। २६०१। विशेः भाष्य।।

३३. नगिणस्स वा वि मुण्डस्स दीहरोमनहंसिणो।
मेहुण उवसंतस्स किं विभूसाई कारिअ।। ६४।।

३४. नग्नस्य वा ऽ पि कुचेलवतो ऽ प्युपचरितनग्नस्य निरुपचरितनग्नस्य वा जिनकल्पिकस्येति सामान्यमेव सूत्रम्।'

३५. जैन साहित्य का इतिहास पूवपीठिका पृ. ४१८
३६. तत्त्वार्थसूत्र ६/६ की व्याख्या।
३७. सर्वार्थसिद्धि प्रस्तावना पृ. ३७–३८
३८. देवसेन : भावसंग्रह गाथा १३७–१५४, ३६. वही १५७–१५८, ४०. वामदेव : भावसंग्रह १८८–२८३, ४१. वही २०८, ४२. वही २०६, ४३. वही २५३–२५७
४४. भद्रबाहुचरित की डॉ. कामताप्रसाद जैन द्वारा लिखित प्रस्तावना पृ. ४–७
४५. डॉ. जगदीशचन्द्र जैन : प्राकृत साहित्य का इतिहास पृ. ३८–३६
४६. श्वेताम्बर मान्यश्रुत,
४७. तत्त्वार्थसूत्र की पं. सुखलाल संघवी द्वारा लिखित प्रस्तावना पृ. २२–२३
४८. वामदेव : भावसंग्रह २६४–२८३
४६. तत्त्वार्थसूत्र (पं. सुखलाल संघवी कृत टीका) पृ. २१४–२१५, ५०. महागुणी (पाठान्तर)
५१. सेक्रिड बुक आफ ईस्ट, जिल्द ४५ पृ. १२३
५२. इंदिय कसाय गरूयत्तणेण चरणं तणं व पस्संतो।
णिद्धम्मो हु सविता सेवदि पासत्थसेवाओ।। भगवती आराधना १२६४
५३. डॉ. जगदीशचन्द्र जैन : प्राकृत साहित्य का इतिहास पृ. १३६
५४. वही पृ. १४४, ५५. वही पृ. २०७, ५६. वही पृ. २०७, ५७. वही पृ. ३१०, ५८. संयत गुणेभ्यः पार्श्वे अभ्यासे तिष्ठतीति पार्श्वस्थः।। मूलाचारवृत्ति ७/६६, ५६. भगवती आराधना १२६१, ६०. वही १२६२।
६१. विशेष जानकारी के लिए देखिए उत्तराध्ययन सूत्र प्र. भाग, सम्पादन और अनुवाद मुनि नथमल पृ. २६६–३०१, ६२.वही पृ. २६६–३०१, ६३. सेक्रिड बुक आफ ईस्टजि. ४५ पृ. १२२–१२३
६४. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री : जैनधर्म पृ. २६२, ६५. मुनि नथमल : उत्तराध्ययन : एक समीक्षात्मक अध्ययन पृ. १३०–१३१, ६६. वासुदेव उपाध्याय : प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन, खण्ड २ पृ. २२, ६७. Budhist studies P. 15, ६८. श्रमण भगवान् महावीर पृ. २६२
६६. पुलाकाद्यामताः पञ्च निर्ग्रन्था व्यवहारातः निश्चयाच्चापि नैर्ग्रन्थ सामान्यस्याविरोधतः वस्त्रादि ग्रन्थ सम्पन्ना ततो ऽ न्येनेति–गम्यते तत्त्वार्थश्लोक वार्तिक ६/४६/१
७०. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री अभिनन्दन ग्रन्थ पृ. १३८ (पं. दलसुख मालवणिया का लेख)
७१. वही पृ. १३६,
७२. स्वस्वमत्यानुसारेण सिद्धान्त व्यभिचारिणः। विस्वच्य च जिनेन्द्रस्य मार्ग निर्भेदयन्तिते। नी.सी.स. ११
७३. श्रावंक शिष्यकं चापि संगृहणीयात् समाहितः। विसंध्या शिष्यभक्तानां ग्रहणंनैव निन्द्यते।।
७४. प्रमेयकमल मार्त्तण्ड (स्त्रीमुक्ति विचार प्ररकण) पृ. २६१–२६७ वही २४
७५. प्रमेयकमल मार्त्तण्ड (भाग–२) आर्यिका जिनमती कृत टीका।
७६. केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया पृ. १६७, ७७. Ancient India P. 179
७८. प्राचीन भारत के राजवंश, भाग २ पृ. ४१

यापनीय संघ और दिगम्बरत्व

दर्शनसार में कहा गया है कि कल्याण नामक नगर में विक्रम की मृत्यु के २०५ वर्ष बीत जाने पर श्रीकलश नामक श्वेताम्बर साधु से यापनीय संघ का सद्भाव हुआ।[1] दर्शन पाहुड की टीका के अनुसार यापनीय संघ (दिगम्बर तथा श्वेताम्बर) दोनों को मानते हैं। रत्नत्रय को पूजते हैं। (श्वेताम्बरों के) कल्पसूत्र बाँचते हैं। (श्वेताम्बरों की भाँति) स्त्रियों का उसी भव से मुक्त होना, केवलियों का कवलाहार ग्रहण करना तथा अन्य मतावलम्बियों और परिग्रहधारियों को भी मोक्ष होना मानते हैं।[2]

गुणरत्न के अनुसार गोप्य संघ वाले साधुवन्दना करने वाले को धर्मलाभ कहते हैं। स्त्रीमुक्ति तथा केवली भुक्ति भी मानते हैं। गोप्य संघ को यापनीय भी कहते हैं। यापनीय साधु भिक्षाटन में और भोजन में ३२ अन्तराय और १४ मलों को टालते हैं। इनके सिवाय शेष आचार में (महाव्रतादि में) और देव गुरु के विषय में (मूर्तिपूजा आदि के विषय में) सब श्वेताम्बर के तुल्य हैं।[3]

भद्रबाहुचरित में कहा है कि श्वेताम्बर साधुओं के भक्त लोकपाल नामक राजा के चित्रलेखा नामक रानी से नृकुलदेवी नामक कन्या हुई। वह करहाटक नगर के राजा भूपाल को ब्याही गई। किसी दिन सुअवसर पाकर उसने अपने पति से प्रार्थना की कि मेरे पिताजी के नगर में गुरु हैं, उन्हें धर्म प्रभावना के लिए भक्तिपूर्वक बुलाइए। राजा ने रानी के वचन सुनकर अपने बुद्धिसागर मन्त्री को बुलाया और उन गुरुओं को सत्कार पूर्वक लाने के लिए करहाटाक्षपुर भेजा। मन्त्री भी उनके पास गया और अत्यन्त विनयपूर्वक उन्हें लिवा लाया। राजा उनका आगमन सुनकर वन्दना के लिए गया, परन्तु दूर से ही जब उन्हें देखा तो आश्चर्ययुक्त हो विचार करने लगा— अहो! निर्ग्रन्थता रहित यह दण्डपात्रादि सहित नवीन मत कौन है? इनके पास मेरा जाना योग्य नहीं है, ऐसा कहकर वहाँ से अपने महल में लौट आया। उसने आकर अपनी कान्ता से कहा कि खोटे मार्ग के चलाने वाले, जिन भगवान के शासन विरुद्ध मत के धारण करने वाले तथा परिग्रह रूप पिशाच के वशवर्ती ये ही तुम्हारे गुरु हैं। मैं उन्हें कभी नहीं मानूँगा। वह राजा का आशय समझकर उसी समय गुरु के पास गई। उसने नतमस्तक होकर प्रार्थना की— भगवन्!

मेरे आग्रह से आप सब परिग्रह छोड़कर पहले ग्रहण की हुई तथा देवों से पूजनीय पवित्र निर्ग्रन्थ अवस्था धारण कर लीजिए। उन सब श्वेताम्बर साधुओं ने रानी के वचन सुनकर उसी समय वस्त्रादि सब परिग्रह छोड़ दिया और हाथ में कमण्डलु तथा पीछी लेकर जिन भगवान की दिगम्बर दीक्षा अंगीकार की। राजा भी उनके सम्मुख गया और भक्तिपूर्वक अपने नगर में लिवा लाया। उस समय राजादि द्वारा सत्कृत तथा पूजित वे साधु दिगम्बर वेष धारण कर श्वेताम्बर मत के अनुसार आचरण करने लगे। उन्होंने गुरुपदेश के बिना नट के समान उपहास का कारण लिंग धारण किया और फिर कितने दिनों बाद इन्हीं से यापनीय संघ निकाला।[४]

भगवती आराधना के टीकाकार अपराजित सूरि को यापनीय सम्प्रदाय का कहा जाता है। उन्होंने अचेलकत्व या दिगम्बरत्व की भरपूर प्रशंसा की है।

यात्रा के साधन, चिन्ह का करना, जगत की श्रद्धा, अपने को स्थिर करना और गृहस्थता से भिन्नता ये चार लिंग ग्रहण करने में गुण होते हैं।[५]

यात्रा का अर्थ है शरीर की स्थिति के कारण भोजन करना। उसका साधन जो लिंग है, उसका करना लिंग धारण करने का पहला गुण है; क्योंकि जो गृहस्थ के वेष में रहता है, उसे सारी जनता गुणी नहीं मानती और उसके बिना भोजन नहीं मिलता और ऐसी स्थिति में इच्छित कार्य की सिद्धि नहीं होती, अतः लिंग गुणवत्ता का सूचक होता है।......... समस्त परिग्रह का त्याग मुक्ति का मार्ग है, इसमे लिंग भव्य जीवों की श्रद्धा उत्पन्न करता है, इसलिए लिंग को प्रत्यय कहा है। यदि सकल परिग्रह का त्याग मुक्ति का लिंग न हो तो क्यों उसे नियमपूर्वक किया जाएगा? अपनी आत्मा को मुक्ति के मार्ग में स्थिर करना चाहिए। जब मैंने वस्त्र ही त्याग दिया तो मुझे राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ से क्या प्रयोजन? लोक में सब अलंकरण वस्त्रमूलक होते हैं। वह मैंने त्याग दिया तो मुझे रांग से क्या प्रयोजन? परिग्रह क्रोध का कारण है। धन की अभिलाषा से पुत्र पिता से लड़ता है— यह मेरा है, यह तेरा है। तब अपने परिवार के वैरी इस धन से क्या? यह लोभ और माया को उत्पन्न कर दुर्गति को बढ़ाता है। इसी से रोष को जीतने के लिए मैंने वस्त्र पूर्वक समस्त परिग्रह का त्याग कर दिया। जब मुझे रोष होता है तो दूसरे साधु मुझ पर हँसते हैं। कहाँ मुमुक्षु की नग्नता और कहाँ क्रोध रूपी अग्नि। यह तो ज्ञान रूपी जल के सिंचन से फले-फूले तपोवन को नष्ट करने वाला है। धन के इच्छुक मायाचार करते हैं। माचायारं तिर्यञ्च

गति में ले जाता है, इस भय से माया का उन्मूलन करने के लिए ही मैंने यह लिंग धारण किया है तथा लिंग ग्रहण करने से गृहस्थपने से भिन्नता दीखती है।[6]

लिंग ग्रहण का एक गुण परिग्रह का त्याग है। दूसरा गुण लाघव है; क्योंकि परिग्रहवान ऐसा होता है, मानों छाती पर पहाड़ रखा हो। कैसे अन्य चोर आदि से इस परिग्रह की रक्षा करूँ, इस प्रकार चित्त से बड़े भारी खेद के चले जाने से लाघव होता है। जो वस्त्र सहित मुनिलिंग धारण करते हैं, उन्हें वस्त्रों आदि का शोधन करना पड़ता है, किन्तु वस्त्ररहित साधु को तो केवल पीछी आदि का ही शोधन करना होता है, अतः अप्रतिलेखना भी एक गुण है। वस्त्रधारी को माँगना, सीना, धोना, सुखाना आदि अनेक काम करने होते हैं, जिनसे स्वाध्याय और ध्यान में विघ्न होता है। किन्तु वस्त्र रहित साधु के ये सब नहीं होते, अतः परिकर्म का न होना भी एक गुण है। जिसका चित्त भय से व्याकुल रहता है, वह रत्नत्रय के साधन में उद्योग नहीं करता। अतः परिग्रह के त्याग से भय नहीं रहता तथा वस्त्र सहित साधु वस्त्रों में जूँ, लीख आदि सम्मूर्च्छन जीवों का बचाव नहीं कर सकता, किन्तु वस्त्ररहित साधु इनसे बचा रहता है, अतः संसज्जण परिहार भी एक गुण है तथा नग्न मुनि शीत, उष्ण, डांस, मच्छर आदि की परीषह को जीतता है। जो वस्त्र ओढ़े हैं, उसे शीतादि की बाधा नहीं होती। तब उसको सहना रूप परीषह जय कैसे सम्भव है? तत्त्वार्थसूत्र में कहा है कि पूर्वगृहीत कर्मों की निर्जरा के लिए परीषहों को सहना चाहिए।[7]

नग्न मुनि को देखकर लोग सोचते हैं— ये तो परिग्रह रहित हैं, ये कुछ ग्रहण नहीं करते। ये पर का घात करने वाले शस्त्र आदि भी छिपाकर नहीं रख सकते। ये तो विरूप हैं, इनमें हमारी स्त्रियाँ भी राग नहीं कर सकतीं। इस प्रकार का विश्वास पैदा होता है। मेरा रूप तो प्रेत के समान है? मुझे स्त्रियों को ताकने और उनके मनोहर गीतों को सुनने का क्या प्रयोजन? अथवा इस ग्लानि भरे शरीर का उनके साथ कैसी रतिक्रीडा? इस प्रकार की भावना शारीरिक सुख में अनादर है अथवा शरीर सुख और विषय सुख में अनादर ऐसा अर्थ भी होता है।

प्रश्न : विषय सुख से भिन्न शारीरिक सुख नहीं है?

समाधान : शारीरिक दुःख के अभाव को शरीर सुख कहते हैं। और इन्द्रियों के विषयों के सम्बन्ध से उत्पन्न हुई प्रीति विषय सुख है। इन दोनों

में महान् अन्तर है।

सब देश में आत्माधीनता रहती है। अपनी इच्छानुसार बैठता है, जाता है, सोता है। यहाँ आसन आदि करने पर यह मेरी हानि होती है, इस प्रकार की परतन्त्रता साधु के नहीं होती। परिग्रह के नाश के भय से परिग्रही साधु उद्गम आदि दोषों से युक्त और प्राणि संयम का विनाश करने वाले अयोग्य स्थान में भी आसन, स्थान, शयन आदि करता है। अथवा त्रस और स्थावर जीवों को बाधा पहुँचाने वाले मार्ग से गमन करता है। परिग्रह रहित साधु इन दोषों से बचा रहता है। साधु को पूर्वसंचित कर्मों की निर्जरा के लिए नियम से भूख, प्यास बाधा आदि रूप २२ परीषहों को सहना चाहिए। यहाँ परिषह शब्द यद्यपि सामान्यवाची है, फिर भी प्रकरणवश अचेलता का प्रकरण होने से उसके अनुरूप परीषह ग्रहण नहीं करना चाहिए। अतः यहाँ नाग्न्य, शीत, उष्ण और दंशमशक परीषहों का सहन कहा है। जो साधु सवस्त्र हैं, कपड़ा ओढ़े हुए हैं, उन्हें शीत उष्ण और डाँस, मच्छर से होने वाली वैसी पीड़ा नहीं होती, जैसी वस्त्र रहित को होती है।[८]

यह अचेल लिंग जिनदेवों का प्रतिबिम्ब है अर्थात् जिन देवों ने जो लिंग ग्रहण किया था, मुक्ति हेतु मुक्ति के अभिलाषियों को वही लिंग योग्य है; क्योंकि जिनदेव मुमुक्षु थे, मुक्ति का उपाय जानते थे। जो जिस वस्तु का प्रार्थी होता है और विवेकशील होता है, वह उस वस्तु के जो उपाय नहीं हैं, उन्हें ग्रहण नहीं करता। जैसे घर बनाने का इच्छुक कपड़ा बुनने के साधन तुरी आदि को ग्रहण नहीं करता। इसी तरह मुक्ति का इच्छुक साधु वस्त्र ग्रहण नहीं करता, क्योंकि वस्त्र मुक्ति का उपाय नहीं है और जो अपनी इष्ट वस्तु का उपाय होता है, उसे नियम से ग्रहण करता है। जैसे घट का अर्थी चाक आदि को अवश्य ग्रहण करता है। उसी तरह साधु भी अचेलता को ग्रहण करता है और अचेलता ज्ञान और दर्शन की तरह मुक्ति का उपाय है। यह जिन भगवान के आचरण से सिद्ध है। वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से उत्पन्न हुए सामर्थ्यरूप परिणाम को वीर्य कहते हैं। उसको न छिपाते हुए रत्नत्रय के पालन करने को वीर्याचार कहते हैं। पाँच प्रकार के आचारों में से एक वीर्याचार है, उसका पालन होता है; क्योंकि अचेलता के धारण से जो वस्त्र त्याग अशक्य है, वह हो जाता है। परिग्रहत्याग पाँचवाँ व्रत है। शक्ति होते हुए भी यदि परिग्रह का त्याग न करे तो वह पाँचवाँ व्रत नहीं रहता।

लाभ में राग होता है, लाभ न होने पर क्रोध आता है। जो प्राप्त होता

है, उसमें 'यह मेरा है', इस प्रकार मोह होता है। अथवा ओढ़ने, पहिरने के वस्त्रों के कोमलता, मजबूती आदि गुणों में राग होता है, और कठोर स्पर्शन आदि में द्वेष होता है। वस्त्र त्याग देने पर ये रागादि दोष नहीं होते। इस प्रकार अचेलता में महा फलदायक महान गुण होते हैं। आदि शब्द से माँगना, दीनता आदि से रक्षा होती है और संक्लेश आदि नहीं होते।[९]

इस प्रकार नग्नता और गुप्ति को धारण करने वाला सब इष्ट अनिष्ट विषयों में अपनी इन्द्रियों को रागद्वेष से रहित करता है और स्थान, आसन, शयन, गमन आदि क्रियाओं में सुदृढ़ रूप से चेष्टा करता है।[१०]

यापनीय आचार्यों का उल्लेख— दक्षिण भारत के कई शिलालेखों में यापनीय संघ के अनेक आचार्यों का उल्लेख हुआ है। जैसे— दामकीर्ति, जयकीर्ति, बन्धुसेन, अर्हनन्दि, कुमारदत्त, श्रीकीर्ति, अर्ककीर्ति, महावीर गुरु अमलमूदलगुरु, जिननंदी, बाहुबलि देव, रविचन्द्र स्वामी, अर्हनन्दी, शुभचन्द्र, सिद्धान्तदेव, मौनिदेव, प्रभाचन्द्र देव, दिवाकर, शुभचन्द्र प्रथम, चन्द्रकीर्ति, शुभचन्द्र द्वितीय, नेमिचन्द्र, कुमार कीर्ति, प्रभाचन्द्र, नेमिचन्द्र द्वितीय, बालचन्द्र भट्टारक देव, गोरवडि, प्रभाशशांक, नयवृत्तिनाथ, एकवीर, महावीर, नरेन्द्रकीर्ति, नागकीर्ति प्रतीन्द्र, निखद्यकीर्ति भट्टारक, माघवेन्दु, बालचन्द्र, रामचन्द्र, मुनिचन्द्र, रविकीर्ति, कुमार कीर्ति, दामनन्दि, त्रैविद्य गोवर्द्धन, दामनन्दि, वड्ढाचार्य, नागचन्द्र, कनकशक्ति, चारुकीर्ति पण्डित, मुनिचन्द्र सिद्धान्तदेव, महावीर पंडित, देवकीर्ति, शुभकीर्ति, जिनचन्द्र, नागदेव, गुणकीर्ति, मौनिदेव, माघनंदि, महामण्डलाचार्य विजयकीर्ति, त्रैविद्य विजयकीर्ति, धर्मकीर्ति, अमरमुदलगुरु, मुल्लभट्टारक, जिदेवसूरि, जयकीर्ति, कनकशक्ति, सिद्धनन्दि, चितकाचार्य, चन्द्रनन्दि, कुमारनन्दि, कर्तिनन्दि, विमलचन्द्राचार्य, कूविलाचार्य, श्रीमन्दिरदेव (धीरदेव), सकलचन्द्र, अय्यपोटि, मेघनन्दि, केशवनन्दि, इन्द्रकीर्ति, गुणकीर्ति, नागवीर, सकलेन्दु सैद्धान्तिक, पाल्यकीर्ति नेमिचन्द्र, धर्मकीर्ति, नागचन्द्र, शान्तिवीरदेव, चन्द्रेन्द्र, वादय्य, प्रभाचन्द्र त्रैविद्य, माधव भट्टारक, विनयदेव, कीर्तिभट्टारक, कनकप्रभ, श्रीधर त्रैविद्य देव, कनक प्रभ तथा रवियण्ण आदि। शिलालेखों से इनके गण, कुल, गच्छ आदि की भी जानकारी प्राप्त होती है। तीन साधुओं के समूह को गण, सात साधुओं के समूह को गच्छ तथा साधुओं की नियमित जाति को संघ कहा जाता था। पर ये परिभाषायें सर्वमान्य न थीं। कहीं कहीं गण और संघ एक दूसरे के स्थान पर प्रयुक्त करने के उदाहरण मिलते है। उद्योतन सूरि के अनुसार

गच्छ शब्द का प्रयोग मूलतः अपने मुखिया के नेतृत्व में विहार करने वाले साधुओं के लिए ही किया जाता था। पारंपरिक अर्थ तो दिगम्बर–श्वेताम्बरों के प्रमुख साधुओं से ही ग्रहण किए जा सकते हैं। यापनीयों के गण आदि इस प्रकार थे— कुमिलगण, मुडुव गण, पुन्नारुह नन्दी गच्छ, काण्डूर गण, कुमुदिगण, वृक्षमूलगण, वंदीयूरगण, कारेयगण, वाड़ियूरगण, मइलापान्वय कारेयगण, कण्डूरगण, पुन्नागवृक्ष मूलगण कनकोपलसम्भूत वृक्षमूलगण, श्री मूलमूलगण, बलहारगण, अड्डकलिगच्छ, वन्दियूरगण, कोटिमडुव।

हरिभद्र के षड्दर्शन समुच्चय की टीका करते हुए गुणरत्न ने लिखा है— दिगम्बराः पुनः नान्यलिंगाः, पाणिपात्राश्च। ते चतुर्धा— काष्ठासंघ, मूलसंघ, मायूर संघ, गोप्यसंघ भेदात्। काष्ठासंघे चमरीबालैश्च पिच्छिका, मूलसंघे मयूरपिच्छैः पिच्छिका, माथुरसंघे मूलतोऽपि पिच्छिका नार्हता। गोप्या मयूरपिच्छिकाद्यास्त्रयोऽपि वन्द्यमानाः धर्मवृद्धिः भणन्ति, स्त्रीणां मुक्तिम्, केवलिनां मुक्तिम्, सद्व्रतस्याऽपि सचीवरस्य मुक्तिं न मन्यन्ते। गोप्यस्तु वन्द्यमानः धर्मलाभं भणन्ति स्त्रीणमं मुक्ति केवलिनां च मुक्ति नं मन्यन्ते। गोप्यः यापनीयः इत्युच्यन्ते।

इस तरह यापनीयों का एक नाम गोप्य भी था, जिसे दिगम्बरों के अन्तर्गत रखा है। यद्यपि उन्हें स्त्री मुक्ति और कवलाहार मुक्ति स्वीकार थी, जबकि दिगम्बर इन्हें नहीं मानते। श्रुतसागर इन्हें जैनाभास ही कहते हैं। ऐतिहासिक लेखों, विवरणों एवं साहित्यिक उल्लेखों से यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि यापनीय दिगम्बरों के साथ रहा करते थे। यापनीयों के कुछ मन्दिर और मूर्तियाँ आज भी दिगम्बरों द्वारा पूजे जाते हैं।"[११] यह संघ दक्षिण भारत की अपनी देन था।

वहाँ की जलवायु और कठोर जीवन बिताने के प्रति आग्रह ने इस संघ को भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट यथावत् जैनधर्म पालन करने की प्रेरणा दी। इस संघ के साधु दिगम्बर साधुओं के समान उग्रचर्या के रुप में नग्न रहते थे, मयूर की पिच्छी रखते थे तथा पाणितल भोजी थे एवं नग्न मूर्तियाँ रखते थें। चूँकि ये श्वेताम्बरों के समान स्त्रीमुक्ति, केवली कवलाहार और सग्रन्थावस्था आदि भी मानते थे, अतः सम्भव है, यह सम्प्रदाय दिगम्बर और श्वेताम्बर के बीच की कड़ी हो। इस सम्प्रदाय में अनेक प्रतिभाशाली आचार्य एवं कवि हुए हैं, जिन्होंने संस्कृत, प्राकृत और कन्नड में सैंकड़ो प्रतिष्ठित ग्रन्थ लिखे हैं। पण्डित नाथूराम प्रेमी ने खोजकर बतलाया है कि इन विद्वानों

में शिवार्य, अपराजित, पाल्यकीर्ति शकटायन, महावीर और स्वयम्भू कवि थे। वे सम्भावना करते हैं कि उमास्वाति, वट्टकेर, यतिवृषभ आदि भी शायद यापनीय हों।[१२] यह संघ चतुर्थ से १० वीं शताब्दी या उसके बाद तक अच्छा संघटित था या इसमें कई प्रभावशाली गण थे, जिनमें पुन्नागवृक्षमूलगण, बलहारिगण और कण्डूरगण मूलसंघ में शामिल कर लिएं गए और नन्दिसंघ को द्रविणसंघ और पीछे मूलसंघ ने अपना लिया।[१३]

---

१. दर्शनसार २९, २. दर्शनपाहुड टीका ११/११/१५, ३. षड्दर्शन समुच्चय गुंणरत्न टीका

४. भद्रबाहु चरित पृ. १००–१०३, ५. शिवार्य भगवती आराधना ८१

६. अपराजित सूरि— भगवती आराधना टीका ८१, ७. वही ८२

८. भगवती आराधना— अपराजित सूरि कृत टीका ८३

९. भगवती आराधना— विजयोदया टीका ८४, १०. भगवती आराधना ८५

११. यापनीयों के विषय में विशेष जानकारी के लिए देखिए अनेकान्त वर्ष २८ किरण १ में डॉ, ए. एन. उपाध्ये का लेख—जैन सम्प्रदाय के यापनीय संघ पर कुछ और प्रकाश।

१२. पं. नाथूराम प्रेमी : जैन साहित्य और इतिहास (द्वितीय संस्करण) जैनशिलालेख संग्रह भाग ३ पृ. २५–२६ (प्रस्तावना), १३. जैन शिलालेख संग्रह भाग ३ पृ. ३१–३२

प्राचीन अभिलेख और दिगम्बरत्व

देश के कोने कोने से प्राप्त अनेक अभिलेखों से दिगम्बरत्व की प्राचीनता का ज्ञान होता है। सम्राट अशोक ने अनेक स्तम्भलेख लिखाए। अपने राज्याभिषेक के २७ वें वर्ष में उसने दिल्ली (टोपरा) में एक स्तम्भ लेख (लगभग २४२ ई.पू.) लिखाया था। इसमें उसने अपने द्वारा नियोजित धर्ममहामात्यों का उल्लेख किया है। ये धर्ममहामात्य संघ (बौद्ध संघ), आजीवक, ब्राह्मण और निगण्ठों की देखरेख रखने के लिए नियुक्त किए गए थे। यहाँ निगंठ शब्द समान्यतया जैनों का और विशेष रूप से दिगम्बर जैन साधुओं का वाचक है। इससे अन्य धर्मों के साथ निर्ग्रन्थ धर्म की प्राचीनता सिद्ध होती है।

जैन सम्राट् खारवेल के हाथी गुम्फा शिलालेख (मौर्यकाल १६५ वाँ वर्ष) से ज्ञात होता है कि उसने मगधदेश पर चढ़ाई की थी और वहाँ से वह कलिंग जिन (भगवान् ऋषभदेव) की मूर्ति को अपने घर वापिस ले आया। उस मूर्ति को पहले नन्दराज कलिंग से मगध ले गया था। उसने श्रमणों के निमित्त शास्त्रनेत्र के धारकों, ज्ञानियों और तपोबल से पूर्ण ऋषियों के लिए एक संघायन (एकत्र होने का भवन) बनाया। अर्हत् की समाधि (निषद्या) के निकट पहाड़ की ढाल पर अनेक योजनों से लाए हुए और सुन्दर खानों से निकाले पत्थरों से अपनी सिंहप्रस्थी रानी धृष्टी के निमित्त विश्रामागार बनाया। लेख के प्रारम्भ में 'नमो अरहंतानं, नमो सवसिधानं अर्थात् अरहन्तों को नमस्कार है, सर्व सिद्धों को नमस्कार है, इस प्रकार नमस्कृति की गयी है।

पभोसा (इलाहाबाद) के एक शिलालेख में जो कि प्रथम या द्वितीय ई. पू. का है, सम्राट आषढ़सेन द्वारा काश्यपीय अरहंतों के लिए एक गुफा का निर्माण कराने का उल्लेख है। भगवान् महावीर का गोत्र काश्यप था। अतः यहाँ काश्यपीय अरहंतों से तात्पर्य दिगम्बर जैन साधुओं से है।

देवगिरि (जिला–धारवाड़) के चौथी पाँचवी शती के एक दानपत्र से विदित होता है कि श्रीविजयशिव मृगेश वर्मा ने कालवंग नामके ग्राम को तीन भागों में विभाजित करके इस तरह बाँट दिया कि एक भाग तो अर्हच्छाला पुष्कल स्थान निवासी भगवान् अर्हन्महाजिनेन्द्र देवता के लिए, दूसरा भाग श्वेतपट महाश्रमण संघ के उपभोग के लिए और तीसरा भाग निर्ग्रन्थ महाश्रमण संघ के उपभोग के लिए। निर्ग्रन्थ शब्द प्रारम्भ में भगवान महावीर

और उनके अनुयायी सम्प्रदाय मात्र के लिए प्रयुक्त होता था, पर इस लेख में श्वेतपट से भिन्न प्रयुक्त होने के कारण दिगम्बर सम्प्रदाय के अर्थ में लेना चाहिए। इस वंश के लेखों में यापनीय और कूर्चक नामक संघों का उल्लेख मिलता है। दोनों संघों के साधु नग्न दिगम्बर रहते थे। श्री विजय शिवमृगेश वर्मा कदम्बवंशीय राजा थे।

नोणमंगल में ताम्र पट्टिकाओं पर उत्कीर्ण एक गंगवंशीय लेख (सम्भवतः ३७० ई.) से ज्ञात होता है कि माधव वर्मा ने अपने राज्य के १३ वें वर्ष में फाल्गुन सुदी पंचमी को आचार्य वीरदेव की सम्मति से मृदु कोत्तूर देश के पेव्वेविल गाँव में **मूलसंघ**[२] द्वारा प्रतिष्ठापित जिनालय में भूमि और कुमारपुर गाँव दिए। यहाँ मूलसंघ का उल्लेख पहली बार हुआ है। श्वेताम्बरों से पृथक्करण हेतु दिगम्बर मुनियों का संघ मूलसंघ कहा जाने लगा।

मृगेश वर्मा के तीन बेटे थे— रविवर्मा, भानुवर्मा और शिवरथ। उनमें रविवर्मा उसका उत्तराधिकारी हुआ। उसके राज्य काल में सेनापति श्रुतकीर्ति के पौत्र जयकीर्ति ने कदम्ब राजाओं द्वारा परम्परा से प्राप्त पुरुखेटक ग्राम को रविवर्मा की आज्ञा से अपने माता–पिता के कल्याणार्थ **यापनीय संघ के कुमारदत्त** प्रमुख आचार्यों को दान में दे दिया।[३]

रविवर्मा का उत्तराधिकारी हरिवर्मा हुआ। उसने अपने राज्य के चौथे वर्ष में शिवरथ नामके पितृव्य के उपदेश से सिंहसेनापति के पुत्र मृगेश द्वारा निर्मापित जैन मन्दिर की अष्टाह्निका पूजा के लिए और सर्वसंघ के भोजन के लिए 'वसन्त वाटक' नामक गाँव कूर्चकों के **वारिषेणाचार्य** के हाथ में चन्द्र कान्त को प्रमुख बनाकर प्रदान किया।[४] अपने राज्य के पाँचवें वर्ष में सेन्द्रक के कुल के भानुशक्ति राजा की प्रार्थना पर हरिवर्मा ने 'मरदे' नामक गाँव दान में दिया था। यह दान राजधानी पलाशिका में किया गया। इस दान का निमित्त वह चैत्यालय था, जो कि **'अहिरिष्ट' नामक श्रमणसंघ** की सम्पत्ति थी और जिस पर **आचार्य धर्मनन्दि** की आज्ञा चलती थी, उस चैत्यालय के पूजा इत्यादि के प्रबन्ध के लिए तथा साधुओं के उपयोग के लिए ही यह दान किया गया।[५]

देवगिरि से प्राप्त एक दानपत्र में, जो कि कदम्बों के धर्ममहाराज श्रीकृष्णवर्मा के प्रियपुत्र 'देववर्मा' नामके युवराज की तरफ से लिखा गया है, कथन है कि त्रिपर्वत के ऊपर का कुछ क्षेत्र अर्हन्त भगवान के चैत्यालय की मरम्मत, पूजा और महिमा के लिए **यापनीय संघ** को दान किया गया।

लक्ष्मेश्वर का एक शिलालेख ई. सन् ७२६ का चालुक्यवंशीय राजा का है। इसमें पुलकेशी प्रथम से लेकर विजयादित्य सत्याश्रय तक की वंशावली

दी गयी है तथा यह भी उल्लिखित है कि अपने राज्य के चौतीसवें वर्ष में, जबकि शक संवत् के ६५१ वर्ष बीत गए थे, फाल्गुन की पूर्णिमा के दिन, जबकि उसका विजय स्कन्धावार रक्तपुर नगर में था, पुलिकरनगर की दक्षिण सीमा पर बसे हुए कर्दम गाँव का दान अपने पिता के पुरोहित उदयदेव पण्डित को, जिन्हें निखद्य पण्डित भी कहते थे, दिया। वे **पूज्यपाद** के शिष्य थे तथा **मूलसंघ अन्वय की देवगण शाखा** के थे।[6]

चालुक्यवंशीय तैलप द्वितीय का पुत्र और उत्तराधिकारी सत्याश्रय इरिय वेडेंग हुआ, जिसने सन् ६६७ से १००६ ई. तक शासन किया। इस नरेश के जैन गुरु **द्रविड़ संघ कुन्दकुन्दान्वय** के **विमलचन्द्र पण्डितदेव** थे।[7]

सोमेश्वर द्वितीय ने १०७४ ई. में शान्तिनाथ मन्दिर के लिए **मूलसंघान्वय** तथा **काणूरगण** के कुलचन्द्र नागरखण्ड में भूमिदान दिया था[8]।

सामेश्वर द्वितीय के भाई विक्रमादित्य षष्ठ (राजयकाल १०७६ से ११२६ ई.) ने चालुक्य गंग पेम्मनिडि चैत्यालय बनवाया था और एक समय अपने दण्डनाथ के अनुरोध पर उस मन्दिर के प्रबन्धादि के किए एक गांव **मूलसंघ, सेनगण** और **पोगरिगच्छ** के **रामसेन मुनि** को दान में दिया था[9]। ये गुणभद्र के शिष्य थे। श्रवणबेलगोल की कत्तले वसदि से प्राप्त एक लेख से ज्ञात होता है कि इस नरेश ने जैन मुनि वासवचन्द्र को **'बालसरस्वती'** की उपाधि दी थी।[10]

पूर्वी चालुक्य राजा अम्भराज विजयादित्य ने **यापनीय संघ**, नन्दिगच्छ के **धीरदेव (श्रीमान्दिरदेव)** मुनि को मलियपूडि नामक ग्राम दान में दिया था।[11] इस राजा ने **बलहारिगण, अड्डकलिगच्छ** के अर्हनन्दि मुनि को कुलचुम्बरुनामक ग्राम दान में दिया।[12]

होयसल नरेश जैन धर्म के संरक्षक थे। अंगडि के एक भग्न शिलालेख से ज्ञात होता है कि विनयादित्य पोयसल के गुरु शान्तिदेव १०६२ ई. में दिवंगत हुए।[13] एरेयंग ने अपने गुरु जैनतार्किक **गोपनन्दि** को श्रवणबेलगोल की वसदियों के जीर्णोद्धार के हेतु कुछ ग्राम दान में दिए।[14] राज विष्णुवर्द्धन ने अपने जैन गुरु **द्रविड़ संघ** के **श्रीपाल त्रैविद्य** देव को चल्य (शल्य) नामक ग्राम दान में दिया था[15]। बल्लाल द्वितीय के मन्त्री बूचिमय्य ने त्रिकूट जिनालय बनवाकर उसकी पूजादि के लिए **द्रविड़ संघ** के **वासुपूज्य सिद्धान्तदेव** को मरिकली गाँव भेंट किया।

इस प्रकार अनेक राजाओं जैन सेनापतियों और मन्त्रियों द्वारा अनेक जिनालय बनवाने तथा उनकी पूजादि के निमित्त ग्रामदान करने के उल्लेखों से युक्त सैकड़ों अभिलेख प्राप्त होते हैं।[16] यहाँ अनेक जैन मुनियों के द्वारा सल्लेखना ग्रहण करने का भी वर्णन है। जीवन के अन्त में सल्लेखना द्वारा प्राण त्याग करना उस समय के दिगम्बर जैन साधुओं सध्वियों और श्रावक

श्राविकाओं का लक्ष्य था। यद्यपि शिलालेखों से यह बात द्योतित होती है कि दिगम्बर जैन साधु मन्दिरादि के लिए दान स्वीकार करने लगे या श्रावक गण उनके नाम पर दान देने लगे थे, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि उस समय निस्पृह साधु न रहे हों। निस्पृही साधु भी अवश्य रहे होंगे, किन्तु इस प्रकार के साधुओं के उल्लेख शिलालेखों में अल्प मात्रा में हैं, हाँ पूर्वाचार्यो की परम्परा का अवश्य अनेक शिलालेखों में बड़े आदरपूर्वक उल्लेख किया गया है।

दक्षिण भारत में जगह जगह जैन केन्द्र थे, जहाँ सैकड़ों की संख्या में दिगम्बर साधु रहते थे। इन सब केन्द्रों में श्रवणबेलगोला और उसके आसपास के स्थान मुख्य थे। श्रवणबेलगोल के विन्ध्यगिरि और चन्द्रगिरि पर्वत क्षेत्र से हजारों श्रमण, श्रमणी और श्रावक श्राविका सल्लेखना धारण कर स्वर्गस्थ हुए। विन्ध्यगिरि पर विश्वप्रसिद्ध गोम्मटेश्वर बाहुबलि की उन्नतकाय प्रतिमा है। श्रवणबेलगोल तथा आसपास सैकड़ों शिलालेख उत्कीर्ण कराए गए, जिनमें दिगम्बर जैन साधुओं का अनेक सन्दर्भ में पुण्यस्मरण किया गया है। इन लेखों के सम्यक् अध्ययन से दिगम्बर जैन श्रमण परम्परा के आचार्यों पर सुन्दर प्रकाश पड़ता है।

गोम्मटेश्वर द्वार की बाईं ओर एक पाषाण पर शक संवत् ११०२ का एक शिलालेख है। इस कन्नड लेख में बाहुबलि गोम्मटेश्वर की स्तुति है। बाहुबलि पुरुदेव के पुत्र तथा भरत के लघु भ्राता थे। इन्होंने भरत को युद्ध में परास्त कर दिया, किन्तु संसार से विरक्त हो राज्य भरत के लिए ही छोड़ उन्होंने जिन दीक्षा धारण कर ली। भरत ने पोदनपुर के समीप ५२५ धनुष प्रमाण बाहुबलि की मूर्ति प्रतिष्ठित कराई। कुछ काल बीतने पर मूर्ति के आस पास की भूमि कुक्कुट सर्पों से व्याप्त और बीहड़ वन से आच्छादित होकर दुर्गम्य हो गयी। राजमल्लनृप के मन्त्री चामुण्डराय को बाहुबलि के दर्शन की अभिलाषा हुई, पर यात्रा के हेतु जब वे तैयार हुए, तब उनके गुरु ने उनसे कहा कि वह स्थान बहुत दूर और अगम्य है। इस पर चामुण्डराय ने वैसी मूर्ति की प्रतिष्ठा कराने का विचार किया और उन्होंने वैसा कर डाला। लेख में चामुण्डराय द्वारा स्थापित गोम्मटेश्वर का बड़ा ही मनोहर वर्णन है। जब मूर्ति बहुत बड़ी होती है, तब उसमें सौन्दर्य प्रायः नहीं आता। यदि बड़ी भी हुई और सौन्दर्य भी हुआ तो उसमें दैवी प्रभाव का अभाव हो सकता है। पर यहाँ इन तीनों के मिश्रण से गोम्मटेश्वर की छटा अपूर्व हो गयी है।

कवि ने एक दैवी घटना का उल्लेख किया है कि एक समय सारे दिन भगवान् की मूर्ति पर आकाश से नमेरु पुष्पों की वर्षा हुई, जिसे सभी ने देखा। कभी कोई पक्षी मूर्ति के ऊपर होकर नहीं उड़ता। भगवान् की भुजाओं के अधोभाग से नित्य सुगन्ध और केशर के समान रक्तज्योति की आभा निकलती

रहती है। बाहुबलि स्वामी ने किस प्रकार राज्य को त्याग कठिन तपस्या स्वीकार की, कैसा घोर तप किया, कर्मशत्रुओं का कैसा दमन किया, आदि विषयों का वर्णन बड़ा ही चित्तग्राही है।

लेख की कविता उच्चकोटि की है। यह कन्नड़ कविराज बोप्पण पण्डित अपरनाम सुजनोत्तंस की रचना है। इसे उन्होंने नयकीर्ति के शिष्य बालचन्द्र मुनि के शिष्य कवडमय्य देवन के आग्रह से रचा।[१७]

संघभेद के प्रसंग में हम आचार्य भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त की चर्चा कर चुके हैं। कहा जाता है कि चन्द्रगुप्त के कलवप्पु या कटवप्र पर्वत का नाम चन्द्रगिरि पड़ गया। इसी पहाड़ी पर भद्रबाहु गुफा में चन्द्रगुप्त के भी चरण चिन्ह हैं। कहा जाता है कि चन्द्रगुप्त ने इसी गुफा में समाधिमरण किया था। सेरिंगपट्टम के दो शिलालेखों में उल्लेख है कि कलवप्पु शिखर (चन्द्रगिरि) पर महामुनि भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त के चरणचिन्ह हैं। ये शिलालेख लगभग शक सं. ८२२ के हैं। श्रवणबेलगोल के लगभग शक सं. ५७२ के लेख नं. १७–१८ में कहा गया है कि जो जैन धर्म भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त मुनीन्द्र के तेज से भारी समृद्धि को प्राप्त हुआ था, उसके किञ्चित् क्षीण हो जाने पर शान्तिषेन मुनि ने उसे पुनरुत्थापित किया। शक सं. १०५० के लेख नं. ५४ श्लोक ४ में भद्रबाहु और उनके शिष्य चन्द्रगुप्त का उल्लेख है। ऐसा ही उल्लेख शक सं. १०८५ के लेख नं. ४० में व शक सं. १३५५ के लेख नं. १०८ में है। इन उल्लेखों में चन्द्रगुप्त की गुरुभक्ति और तपश्चरण की महिमा गायी गई है।[१८]

चिदानन्द कवि के मुनिवंशाभ्युदय नामक कन्नड काव्य में भी भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त की कुछ वार्ता आयी है। यह ग्रन्थ शक सं. १६०२ का बना हुआ है। इसमें कथन है कि 'श्रुतकेवली भद्रबाहु बेलगोल को आए और चिक्कवेट्ट (चन्द्रगिरि) पर ठहरे। कदाचित् एक व्याघ्र ने उन पर धावा किया और उनका शरीर विदीर्ण कर डाला। उनके चरण चिन्ह अब तक गिरि पर एक गुफा में पूजे जाते हैं। ....अर्हद्बल की आज्ञा से दक्षिणचार्य बेलगोल आये। चन्द्रगुप्त भी यहाँ तीर्थयात्रा को आए थे। इन्होंने दक्षिणाचार्य से दीक्षाग्रहण की और उनके बनवाए हुए मन्दिर तथा भद्रबाहु के चरणचिन्हों की पूजा करते हुए वहाँ रहे। कुछ कालोपरान्त दक्षिणाचार्य ने अपना पद चन्द्र गुप्त को दे दिया[१९]।

इस सम्बन्ध में सबसे प्राचीन प्रमाण चन्द्रगिरि पर पार्श्वनाथ बसदि के पास का शिलालेख नं. १ है। यह लेख श्रवणबेलगोल के समस्त लेखों में प्राचीनतम सिद्ध होता है। इस लेख में कथन है कि महावीर स्वामी के पश्चात् परमर्षि गौतम, लोहार्य, जम्बु, विष्णुदेव, अपराजित, गोवर्द्धन, भ द्रबाहु, विशाख, प्रोष्ठिल, कृतिकार्य, जय, सिद्धार्थ, धृतिषेण बुद्धिलादि गुरुपरम्परा

में होने वाले भद्रबाहु स्वामी के त्रैकाल्यदर्शी निमित्त ज्ञान द्वारा उज्जयिनी में यह कथन किए जानेपर कि वहाँ द्वादश वर्ष का वैषम्य (दुर्भिक्ष) पड़ने वाला है, सारे संघ ने उत्तरापथ से दक्षिणापथ को प्रस्थान किया और क्रम से वह एक बहुत समृद्धियुक्त जनपद में पहुँचा। यहाँ आचार्य प्रभाचन्द्र ने व्याघ्राद और दरी गुफादि संकुल सुन्दर कटवप्र नामक शिखर पर अपनी आयु अल्प ही शेष जान समाधितप करने की आज्ञा लेकर समस्त संघ को आगे भेजकर व केवल एक शिष्य को साथ रखकर देह की समाधि आराधना की। (दूसरा अर्थ– भद्रबाहु स्वामी संघ को आगे बढ़ने की आज्ञा देकर आप प्रभाचन्द्र नामक एक शिष्य सहित वटवप्र पर ठहर गए और उन्होंने वहीं समाधिमरण किया।)[२०]

श्रवणबेलगोला में पार्श्वनाथ बसदि के दक्षिण की ओर के शिलालेख (लगभग शक सं. ५२२) में प्राचीन आचार्यों की वंशावली इस प्रकार दी गई है।

३ केवली : गौतम, लोहाचार्य और जम्बू।

४ श्रुतकेवली : विष्णु, अपराजित, गोवर्द्धन और भद्रबाहु।

दशपूर्वी : विशाख, प्रोष्ठिल, कृत्तिकार्य (क्षत्रिकार्य), जय, नाम (नाग), सिद्धार्थ धृतिषेण और बुद्धिल आदि।

श्रवणबेलगोला में विन्ध्यगिरि पर सिद्धर बसदि में उत्तर की ओर एक स्तम्भ पर प्राचीन आचार्यों की वंशावली इस प्रकार दी गयी है–

१२ गणधर और तीन केवली : १. इन्द्रभूति, २. अग्निभूति, ३. वायुभूति, ४. अकम्पन, ५. मौर्य, ६. सुधर्म, ७. पुत्र, ८. मैत्रेय, ९. मौण्ड्य, १०. अन्धवेल, ११. प्रभासक। इनमें से इन्द्रभूति और सुधर्म दो अनुबद्ध केवली हुए,तीसरे अनुबद्ध केवली जम्बूस्वामी थे।

५ श्रुतकेवली : १. विष्णु, २. अपराजित, ३. नन्दिमित्र, ४. गोवर्द्धन, ५. भद्रबाहु

११ दशपूर्वी : १. क्षत्रिय, २. प्रोष्ठिल, ३. गंगदेव, ४. जय, ५. सुधर्म, ६. विजय, ७. विशाख, ८. बुद्धिल, ९. धृतिषेण, १०. नागसेन, ११. सिद्धार्थ

५ एकादशांगी : १. नक्षत्र, २. पाण्डु, ३. जयपाल, ४. कंसाचार्य ५. द्रुमसेन (धृतिसेन)

४ आचारांगी : १. लोह, २. सुभद्र, ३. जयभद्र, ४. यशोबाहु।

पार्श्वनाथ बसदि के एक स्तम्भलेख (शक सं. १०५०) से ज्ञात होता है कि गंगराज्य की नींव डालने में जैनाचार्य सिंहनन्दि ने भारी सहायता की थी। कहा जाता है कि आचार्य पूज्यपाद देवनन्दि गंगवंश के सातवें नरेश दुर्विनीत के राजगुरु थे।

राष्ट्रकूटवंशीय राजा अमोघवर्ष के समय अनेक जैन आचार्य हुए, जो

महाकवि भी थे। जैसे— जिनसेन, गुणभद्र और महावीर आदि। गुणभद्राचार्य ने उत्तर पुराण में कहा है कि राजा अमोघवर्ष जिनसेनाचार्य को प्रणाम कर अपने को धन्य समझता था। अमोघवर्ष स्वयं कवि थे। उनकी बनायी हुई 'रत्नमालिका' नामक पुस्तक से ज्ञात होता है कि वे अन्त समय में राज्य त्यागकर मुनि हो गए थें।

श्रवणबेलगोला की मंगायी वसदि में श्री शान्तिनाथ स्वामी की मूर्ति पर यह लेख उत्कीर्ण है।

श्रीमत्पण्डिताचार्य्य गुड्डि देवराय महारायर राणि भीमादेवी माडिसिद शान्तिनाथ स्वामीश्री

अर्थात् (विजयनगर राज्य के) देवराय महाराज की रानी व पण्डिताचार्य की शिष्या भीमादेवी ने मंगायी भगवान् शान्तिनाथ की प्रतिमा की वसदि में प्रतिष्ठा करायी।

इसी प्रकार और भी मंदिरों की स्थापना तथा तीर्थंकर प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा कराने सम्बन्धी विवरण शिलालेखों से प्राप्त होते हैं, जिनसे राजघरानों में दिगम्बरत्व के प्रति आस्था व्यक्त होती है।

हे जिनवर छवि तेरी सुन्दर अति निर्मल भावों वाली।
काम-अग्नि किसको न जलावे, करके सबको मतवाली।। १।।
हरि-हरादि भय-भीत होय सब, जिनवर बने शस्त्र धारी।
असन वसन सब कोई चाहें, सबके धन तृष्णा भारी।। २।।
तुमने भगवन् काम जलाया, भूख प्यास की व्याधि हरी।
राग द्वेष से रहित हुए हो, वीतरागता अंग भरी।। ३।।
'भूरा' यह भी आशा करत है, कब मैं तुमसा बन जाऊँ?
राग रोष से रहित निरंजन, बन अविनाशी पद पाऊँ।।

सुदर्शनादेय पृ. १४२

जिनवर, पायें प्रमोद देख तुम मुख आभा को।। टेक।।
ज्यों निर्धन वनिता लख धन को अति प्रमुदित होती।
ज्यों चिर क्षुधित मनुज को खुशियाँ सरस असन लख के होती।। टेक।।
ज्यों धन गर्जन सुनत मोरगण, नचें मधुर बोली बोलें।
शान्तिमयी लख चन्द्र कला ज्यों मत्त चकोर नयन डोलें।। टेक।।
त्यों जिन तब मुख आभा लख मम, अहो हर्ष का छोर नहीं।
भूरा निशदिन यही चाहता, दृष्टि न जावे और कहीं।। टेक, ३।।

—सुदर्शनोदय पृ. १४१

१. निगंठेस पि में कटे इमे वियापटाहोंति।
२. अर्हदायतनाय मूलसंघानुष्ठिताय महातटाकस्य अवस्तात्............... दत्तः।। जैन शिलालेख संग्रह द्वि भाग पृ. ५६, ३. वही लेख नं. १०० पृ. ७४–७६
४. जैन शिलालेख संग्रह भाग २ लेख न. १०३, ५. वही, लेख नं. १०४, ६. वही लेख नं. ११३, ७. वही लेख नं. १६६
८. जैन शिलालेख संग्रह–भाग २ लेख नं. २०७, ९. वही लेख नं २१७, १०. जैन शिलालेख संग्रह प्र. भाग, लेख नं. ५५, ११. वही भाग २ लेख नं. १४३, १२. वही लेख नं. १४४ १३. वही, लेख नं. २००, १४. वही नं. २३३, १५. वही लेख नं. २८७,
१६. अभिलेखों का विस्तृत अध्ययन करने के लिए जैन शिलालेख संग्रह भाग १ से ५ तक अवश्य देखिए।
१७. जैनशिलालेख संग्रह भाग १ लेख नं. ८५ पृ. १६९–१७६
१८. जैनशिलालेख संग्रह भाग–१ पृ. ५५, ५६ (प्रस्तावना), १९. वही पृ. ५९–६० (प्रस्तावना)
२०. जैन शिलालेख संग्रह भाग १ पृ. ६४ (प्रस्तावना)

शिलालेखों में दिगम्बर जिनालय निषद्या, गुफायें, आयागपट और मूर्ति निर्माण के उल्लेख

शिलालेखों से ज्ञात होता है कि गंगराजा मारसिंह ने अनेक जिन मन्दिर बनवाए।[1] देवकीर्ति मुनि के शिष्य लक्खनन्दि, माधवेन्दु और त्रिभुवनमल्लि ने अपने गुरु की स्मृति में निषद्या का निर्माण कराया।[2] देवकीर्ति पण्डित देव ने प्रतापपुर में रूपनारायण बसदि (जिनमन्दिर) का निर्माण कराया। इनके स्वर्गवास होने पर यादववंशी नारसिंह नरेश के मंत्री हुल्लप ने निषद्या निर्माण करायी, जिसकी प्रतिष्ठा देवकीर्ति आचार्य के शिष्य लक्खनन्दि, माधव और त्रिभुवनदेव ने दान सहित की।[3]

नागदेव मन्त्री ने अपने गुरु श्री नयकीर्ति योगीन्द्र की निषद्या का निर्माण कराया। नयकीर्ति मुनि का स्वर्गवास शक सं. १०६६ वैशाख शुक्ल १४ को हुआ था।[4]

होयसल महाराज गंग नरेश विषणुवर्द्धन ने अपने गुरु शुभचन्द्र देव की निषद्या का निर्माण कराया। शुभचन्द्र देव का स्वर्गारोहण शक सं. १०४५ श्रावण कृष्ण १० को हुआ था।[5]

एचिगांक की भार्या पोचिकव्वे ने अनेक मन्दिर बनवाए। शक सं. १०४३ आषाढ़ सुदी ५ सोमवार को इस धर्मवती महिला का स्वर्गवास हुआ।[6]

सकलचन्द्र मुनि के शिष्य मेघचन्द्र त्रैविद्य हुए जो सिद्धान्त में वीरसेन, तर्क में अकलंक और व्याकरण में पूज्यपाद के समान विद्वान् थे। शक सं. १०३७ मगसिर सुदी १४ बृहस्पतिवार को उनहोंने शरीर त्याग किया। उनके प्रमुख शिष्य प्रभाचन्द्र सिद्धान्तदेव ने महाप्रधान दण्डनायक गंगराज द्वारा उनकी निषद्या निर्माण कराई।[7]

विष्णुवर्द्धन नरेश की पत्नी शान्तल देवी ने सवति गन्धवारण नामक जैन मन्दिर बनवाया और उसकी आजीविका आदि के लिए विष्णुवर्द्धन की अनुमति से कुछ भूमि का दान दिया। ऐसा गन्धवारण बसदि के प्रथम मण्डल में तृतीय स्तम्भ पर शक सं. १०५० के लेख में कहा गया है।

विन्ध्यगिरि पर गोम्मटेश्वर की विशालमूर्ति के बायें हाथ की ओर बमीठे पर शक सं. ११२२ का एक लेख अंकित है, जिसमें कहा गया है कि नयकीर्ति

सिद्धान्तचक्रवर्ती के शिष्य बसविसेट्टि ने परकोटे की दीवाल बनवाई और चौबीस तीर्थंकरों को प्रतिष्ठित कराया व उनके पुत्र नम्मिदेव सेट्टि, बोकिसेट्टि और बाहुबलि सेट्टि ने तीर्थंकरों के सम्मुख जालीदार वातायन बनवाया।

नरसिंह देव के मन्त्री हुल्ल को जैन मन्दिरों का निर्माण व जीर्णोद्धार कराने, जैनपुराण सुनने तथा जैनसाधुओं को आहारादि दान देने की बड़ी रुचि थी। उन्होंने बंकापुर के भारी और प्राचीन दो मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराया, कोपण में नित्यदान के लिए वृत्तियों का प्रबन्ध किया, गंगनरेशों द्वारा स्थापित प्राचीन 'केल्लंगेरे' में एक विशाल जिनमन्दिर व अन्य पाँच जिनमन्दिर निर्माण कराये व बेल्गुल में परकोटा, रंगशाला व दो आश्रमों सहित चतुर्विंशति तीर्थंकर मन्दिर निर्माण कराया। सवणेरु ग्राम का दान नारसिंह देव के विजय यात्रा से लौटने पर इस मन्दिर की रक्षा हेतु दिया गया था।[८]

गंगराज के ज्येष्ठ भ्राता बम्मदेव के पुत्र एवं दण्डनायक ने कोपड़, बेल्गुल आदि स्थानों में अनेक जिनमन्दिर निर्माण कराये और अन्त में संन्यास विधि पूर्वक प्राणोत्सर्ग किया।[९]

होय्सल नरेश के प्रसिद्ध श्रेष्ठी पोय्सल सेट्टि और नेमिसेट्टि की माताओं–माचिकब्बे और शान्तिकब्बे ने जिनमन्दिर और नन्दीश्वर निर्माण कराकर भानुकीर्ति मुनि से दीक्षा ली।[१०]

होय्सल नरेश बल्लाल देव के मन्त्री चन्द्रमौलि की पत्नी आचलदेवी ने बड़ी भक्ति से बेल्गुल तीर्थ पर पार्श्वनाथ मन्दिर निर्माण कराया और इसके लिए बल्लालदेव से बम्मेयनहल्लि ग्राम प्राप्त कर उसे अपने गुरु नयकीर्ति सिद्धान्तदेव के शिष्य बालचन्द्र मुनि की पाद पूजा कर उस मन्दिर को दान कर दिया।[११]

श्रीपाल योगीन्द्र के शिष्य वादिराज देव ने अपने गुरु का स्वर्गवास होने पर 'परवादिमल्ल जिनालय' का निर्माण कराया और उसकी अष्टविधपूजन तथा आहारदान के लिए कुछ भूमि का दान दिया ऐसा कुम्बेनहल्लि ग्राम में अञ्जनेय मन्दिर के समीप एक पाषाण पर शक सं. ११२२ का लेख है। पोय्सलदेव विष्णुवर्द्धन के राज्य में नयकीर्ति का स्वर्गवास हो जाने पर चामले ने तगडूर में जिनालय का निर्माण किया।[१२]

होय्सल नरेश सोमेश्वर देव के राज्यकाल में उनके 'सेनानाथ' शान्त ने शान्तिनाथ मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया। माघनन्दि भट्टारक के एक गृहस्थ शिष्य सोवरस के पुत्र सातण्ण ने मनलकेरे में शन्तिनाथ मन्दिर का पुनर्निर्माण कराया और उस पर सुवर्णकलश की स्थापना कराई तथा उक्त तिथि को

जिनार्चन व आहारदान हेतु उक्त भूमि का दान दिया।[१३]

कोंगाल्वनरेश अटरादित्य ने अटरादित्य चैत्यालय का निर्माण कराया था। उसकी पूजा के हेतु राजा ने सिद्धान्तदेव को 'तरिगलनि' की ४२ खण्डुग भूमि दान कर दी। चोलकुल के सूर्यवंशी महामण्डलेश्वर राजेन्द्र पृथुवीकोंगाल्व ने मूलसंघ, कानूरगण लगरिगल् गच्छके गण्डविमुक्तदेव के लिए एक बंसदि निर्माण करायी और देवपूजन के लिए उक्त भूमि का दान दिया।[१४]

गोपाली के पुत्र राजा बहसति मित्र (बृहस्पति मित्र) के मामा तथा गोपाल वैहिदरी (अर्थात् वैहिदर राजकन्या) के पुत्र आषाढसेन ने कश्शपीय अरहंतों के ....दसवें वर्ष में एक गुफा का निर्माण कराया।[१५]

श्रमणों की उपासिका गणिका नादा, गणिका दन्दा की बेटी वासा, लेणशोभिका ने अर्हन्तों की पूजा के लिए व्यापारियों के अर्हत् मन्दिर में अपनी माँ, अपनी बहिन, अपनी पुत्री, अपने लड़के के साथ और सारे परिजनों के साथ मिलकर एक वेदी, एक पूजागृह, एक कुण्ड और पाषाणासन बनवाए।[१६]

गोतिपुत्र (गौतीपुत्र) की स्त्री कौशिक कुलोद्भूत शिवमित्रा ने एक आयागपट स्थापित किया।[१७]

भदन्त जयसेन की शिष्याधर्मघोषा के दानस्वरूप एक मन्दिर निर्मित हुआ।[१८] अपने माता–पिता और सास–ससुर के साथ साधुओं की एक शिष्या बलहस्तिनी के हुक्म से एक तोरण खड़ा किया गया।[१९]

फल्गुयशस् नर्तक की पत्नी शिवयशा द्वारा अर्हन्तों की पूजा के लिए एक आयागपट बनवाया गया।[२०]

मथुरा निवासी लवाड की पत्नी के दानस्वरूप आयगपट बनवाया गया।[२१] देवपुत्र कनिष्क के ५वें वर्ष की हेमन्त ऋतु के पहले महिने पहले दिन कोट्टिय गण ब्रह्मदासिका कुल और उच्चनागरी शाखा की क्षुद्रा ने वर्द्धमान की प्रतिमा समर्पित की। यह क्षुद्रा श्रेष्ठी सेन की पत्नी और देवपाल की पुत्री थी।[२२]

कोट्टिय गण, उच्चनागरी शाखा और ब्रह्मदासिक कुल, शिरिग्रह संभाग के अय्य ज्येष्टहस्तिन् के शिष्य आर्य मिहिर थे, उनके शिष्य वाचक अर्य्य क्षेरक (आर्य क्षैरक) थे; उनके कहने से वरणहस्ती और देवी, दोनों की पुत्री, जयदेव की बहू तथा मोषिनी की बहू, कुठ कसुथ की धर्मपत्नी स्थिरा के दान में सर्वजीवों के कल्याण और सुख के लिए सर्वतोभद्रिका प्रतिमा दी गयी।[२३]

आर्य ज्येष्ठहस्ति के शिष्य आर्य महल थे। वे कोट्टियगण, ब्रह्मदासिक कुल, उच्चनागरी शाखा और रिन संभाग के थे। ज्येष्ठ हस्ति के एक और

शिष्य आर्य गाढक थे। उनकी शिष्या शामाके कहने से गुल्हा ने, जोकि वर्माकी पुत्री और जयदास की पत्नी थी, एक ऋषभदेव की प्रतिमा समर्पित की।[२४]

(कनिष्क के) १५ वें वर्ष की ग्रीष्म ऋतु के तीसरे महीने के पहले दिन भगवान की एक सर्वतोभद्रिका प्रतिमाको मित्रा ने मोहिक कुल के अर्य्यजयभूति की शिष्या अर्य्य संगमिका की शिष्या अर्य्य वसुला के आदेश से समर्पित की[२५]।

कनिष्क के १८ वें वर्ष में वर्षाऋतु के दूसरे माह और ११ वें दिन मित्र श्री के दान के रूप में भगवान् अरिष्टनेमि की प्रतिष्ठा की गई[२६]। इस प्रकार मथुरा में कनिष्क के ६८ वें वर्ष तक मूर्ति स्थापित किए जाने के उल्लेख मिलते हैं। इस काल में भगवान् शान्तिनाथ, वर्द्धमान तथा सर्वतोभद्र प्रतिमायें स्थापित की गई। कनिष्क के वर्ष १६ चौथे महिने, २० वें दिन कोट्टियगण तथा वज्राशाखा के वाचक आर्य वृद्धहस्ति ने दत्ता श्राविका को एक अर्हत् नन्द्यावर्त्त की प्रतिमा निर्माण के लिए कहा। दत्ता की यह प्रतिमा देवनिर्मित बौद्ध स्तूप पर प्रतिष्ठित हुई[२७]। अधिकांश प्रतिमायें जनसाधारण द्वारा प्रतिष्ठापित की गयीं। प्रतिष्ठापित कराने वाले हैरण्यक (सुनार), गन्धिक (तेल, इत्र बेचने वाले) लोहकाकारक (लोहार), श्रेष्ठी आदि थे। इससे ज्ञात होता है कि उस समय सभी जातियों में जैनधर्म प्रचलित था। उनके प्रेरक भिन्न भिन्न गणों और कुलों और संघों के साधु थे।

सांची के निकट (ई. सन् ४२६) उदयगिरि से प्राप्त एक लेख से ज्ञात होता है कि शम दम वाले किसी व्यक्ति ने पार्श्वनाथ की प्रतिमा स्थापित की। यह प्रतिमा कार्तिक बदी पंचमी को स्थापित की गयी तथा इसे किसी गुफा के द्वार पर खड़ा किया गया था। इस प्रतिमा की स्थापना करने वाला आचार्य गोशर्मा का शिष्य था। ये गोशर्मा आचार्य भद्रवंश में उत्पन्न हुए थे, इनकी परम्परा आर्यकुल की थी और ये अश्वपति योद्धा के लड़के थे। ये अश्वपति संघल या सिंहल मे नाम से प्रसिद्ध थे और इन्होंने जिनदीक्षा लेने के बाद अपना नाम शंकर रखा था।[२८]

परमभट्टारक महाराजाधिराज श्री कुमारगुप्त के विजयराज्य के ११३ वें वर्ष में शीतऋतु कार्त्तिक के २० वें दिन कोट्टियगण तथा विद्याधरी शाखा के दत्तिलाचार्य की आज्ञा से श्यामाढ्य ने एक प्रतिमा की प्रतिष्ठा कराई। श्यामाढ्य भट्टिभव की बेटी और ग्रहमित्रपालित प्रातारिक (घाटी या नाविक) की पत्नी थी।

कहायूँ का एक शिलालेख, जो कि गुप्तकाल के १४१ वें वर्ष का है, में बताया गया है कि किसी भद्र नामके व्यक्ति ने, जिसकी की वंशावली, यहाँ उसके प्रपितामह सोमिल तक गिनायी है, अर्हन्तों (तीर्थंकरों में मुख्य समझे

जानेवाले आदिनाथ, शान्तिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्व और महावीर इन पाँचो की प्रतिमाओं की स्थापना करके इस स्तम्भ को खड़ा किया। लेख की ११ वीं पंक्ति के पञ्चेन्द्रान् से इन्हीं पाँच तीर्थंकरों से तात्पर्य है।

अल्तेम (जिला कोल्हापुर) के दानपत्र में जयसिंह के एक सामन्त सामियार का उल्लेख है, जो रुन्द्रनील सैन्द्रक वंश का है। यह सामियार कुहुण्डी जिले का शासक था। सामियार ने अलक्तक, नगर में, जो कि उस जिले के ७०० गावों के समूहों में एक प्रधान नगर था, एक जैन मन्दिर बनवाया और राजाज्ञा लेकर विभव संवत्सर में जबकि शकवर्ष ४११ व्यतीत हो चुका था, वैशाख माह की पूर्णिमा के दिन चन्द्रग्रहण के अवसर पर कुछ जमीन और गाँव मन्दिर को दिए।

शक संवत् ५५६=६३४ ई. के ऐहोले जिला कलदगी के शिलालेख के अनुसार चालुक्य पुलकेशी सत्याश्रय ने ऐहोले के जिनालय में जिनेन्द्र की मूर्ति की प्रतिष्ठा की।

आर्कट ने निकट पञ्चपाण्डवमलै के शिलालेख से ज्ञात होता है कि नन्दिपोत्तरशर् के ५ वें वर्ष में पुगलालैमंगल के मरुत्तुवर के पुत्र नारणम् (नारायण) ने नागनन्दि गुरु की मूर्तिके साथ पोञ्जियक्कियार् की मूर्ति खुदवायी।

नन्दी में गोपीनाथ पहाड़ी के ऊपर गोपालस्वामी मन्दिर के पास की चट्टान पर लिखाए गए एक लेख में कहा गया है कि प्राचीन समय में कलि अवसर्पिणी के द्वापर युग में सूर्यवंश के गगन में सूर्य के समान दशरथ के पुत्र महारथ राम स्वामी (रामचन्द्र जी) के द्वारा अर्हन्त परमेष्ठी का यह चैत्यभवन प्रतिष्ठापित किया गया। बाद में पाण्डवों की माता कुन्ती ने इसे फिर से नया बनवा दिया।

कदम्बकुल में पृथिवी निर्गुन्द राज हुए। इनकी पत्नी का नाम कुन्दाच्चि था। कुन्दाच्चिने श्रीपुर की उत्तर दिशा में लोकतिलक नामका जिनमन्दिर बनवाया। उसकी मरम्मत, नई वृद्धि, देवपूजा, दानधर्म आदि की प्रवृत्ति के लिए पृथिवी निर्गुन्द राज के कहने से महाराजाधिराज परमेश्वर श्री जसहित देव ने निर्गुन्द देश में आने वाले पोन्नल्लि ग्राम का दान सर्व करों और बाधाओं से मुक्त करके दिया[1]।

हुम्मच में गुड्डद वसदि की बाहरी दीवाल पर शक ८१९=८९७ ई. के लेख के अनुसार तोलापुरुष विक्रमादित्य शान्तर ने कोण्डकुन्दान्वय के मौनि सिद्धान्त भट्टार के लिए एक पाषाण की वसदि बनवाई और इसके लिए दान किए।[1]

उत्तरी आर्कट के वल्लीमलै स्थान के पर्वत पर भूमण्डलाधिपति, अभय एवं उदार तथा पण्डितजनप्रिय राजमल्ल ने एक बसदि (जिनमन्दिर) बनवाई।[2] यहाँ गोवर्द्धन भट्टारक, अज्जनन्दि भट्टारक तथा देवसेन भट्टारक ने प्रतिमायें बनवायीं।

मूलगुण (जिला—धारवाड) में वैश्य जाति के चन्दराय के पुत्र चीकार्य के द्वारा एक जैन मन्दिर का निर्माण कराया गया। उस मन्दिर की तरह से कुछ भूमिदान का उल्लेख है। यह निर्माण और दान दुन्दुभि संवत्सर शक ८२५ में किया गया था। उस समय कृष्णवल्लभ (कृष्णदेव राय) राज्य कर रहे थे।

श्री महीपाल महाराज, फाऊ नामकी वयर सिंह की भार्या, उसका पुत्र माननीय तथा पुत्रियाँ रूडी और गांगी ने नेमिनाथ मन्दिर गिरनार में बनवाया।

हुम्मच में पार्श्वनाथ वसदि के दरवाजे की पश्चिमी ओर की दीवाल पर लगभग ९५० ई. का एक लेख है। इससे ज्ञात होता है कि तोलापुरुष शान्तर की पत्नी पालियक्क ने अपनी माता की मृत्यु पर पालियक्क वसदि नामकी एक पाषाण वसदि खड़ी की और बहुत से दान इसके लिए किए गए।

कुम्सी में किले के भण्डारगृह के पास के पाषाण पर ९५० ई. के लेख में कहा गया है कि पोललु और कुम्बसिके में पोम्बुच्च जब तक जीवित रहे, तब तक उन्होंने जिनमन्दिर बनवाए।

सिंहोनिया (ग्वालियर) में माधव के पुत्र महेन्द्रचन्द्र ने एक जैन मूर्ति प्रतिष्ठापित की। संवत् १०१३ (९५६ ई.)। मथुरा के संवत् १०८०—१०२३ ई. के एक लेख में कहा गया है कि श्री जिनदेव सूरि हुए, उसके बाद श्री भावदेव हुए। उनके शिष्य आचार्य विजयसिंह हैं। उनके उपदेश से नवग्राम, स्थान आदि (शहरों) में रहने वाले सुश्रावकों ने स्वशक्ति और स्वभक्ति के साथ वर्द्धमान की चतुर्विध प्रतिमा का निर्माण कराया।

महाराष्ट्र प्रान्त के बेलगाँव जिले के सम्पगाँव तालुके के मुख्य शहर सम्पगाँव से दक्षिण पूर्व करीब ६ मील दूर एक गाँव है, इसका पुराना नाम कुम्मुदवाड दिया हुआ है। लिपि की लिखावट से यह लेख ११ वीं शताब्दी का ज्ञात होता है। लेख से प्रकट है कि किसी अमोघवर्ष नाम के राजा ने मैलाप अन्वय और कारेयगण के देवकीर्ति नामके जैन गुरु के चरणों का प्रक्षालन किया था। उस अमोघवर्ष के सामन्त गंग महामण्डलेश्वर सैगोट्ट पेम्मनिडि ने जिनका दूसरा नाम शिवमार था, कुम्मुड वाड गाँव में एक जिनमन्दिर बनवाया और इसके लिए गाँव दान में दे दिया।

मुल्लुर में द्रविड़ गण, नन्दिसंघ तथा इरूंगलान्वय के गुणसेन पण्डितदेव

की गृहस्थ शिष्या राजाधिराज कोंगाल्वय की माँ पोचब्बरसि ने बसदि (जिनमन्दिर) का निर्माण लगभग १०५८ ई. में कराया।

हुम्मच के १०६२ ई. के पार्श्वनाथ वसदि में मुखमण्डप के दक्षिण स्तम्भ पर अंकित लेख में कहा गया है कि चालुक्यवंशी त्रैलोक्य मल्लदेव ने पोम्बुर्च्च में बहुत से जिनमन्दिर बनवाए। वीर भूपाल ने नोक्कियब्बे जिनमन्दिर बड़ी शोभा के साथ खड़ा किया था। वीर शान्तर की पत्नी चागलदेवी थी। उसने अपने पति वीर शान्तर के कुलदेवतारूप नोक्कियब्बे की वसदिके सामने मकरतोरण बनवाया था और बल्लिगावे में चागेश्वर नामका मन्दिर बनवाया था।

अंगडि में बसदि के पास पाषाण पर शक संवत् ६८४ के लेख में कहा गया है कि छेनी और बल्लि को पकड़ने वालों में प्रधान अर्थात् पाषाण शिल्पियों में प्रधान विद्यावान पोय्सलाचारि के पुत्र माणिक पोय्सलाचारि ने यह बसदि बनवाई।

बलगाम्बे के शक संवत् ६६० के एक शिलालेख से ज्ञात होता है कि त्रैलोक्यमल्ल आहवमल्ल देव के पुत्र सोमेश्वर के पादपद्मोपजीवी राजा लक्ष्मण ने बलिगर या बलिग्राम में जिनमन्दिर बनवाया।

भुवनैकमल्ल शान्तिनाथ देव नामका मन्दिर भुवनैकमल्ल विरुद वाले पश्चिमी चालुक्य राजा सोमेश्वर द्वितीय ने बनवाया था या उसमें शान्तिनाथ की प्रतिमा प्रतिष्ठित करायी थी, ऐसा गुडिगेरी शक सं. ६६८–१०७६ ई. के लेख से द्योतित होता है।

हुम्मच में लगभग १०७७ ई. के सूले बसदि के सामने के मानस्तम्भ पर एक लेख अंकित है, जिसके अनुसार वीर शान्तर के ज्येष्ठ पुत्र तैलहदेव ने जो भुजबल शान्तर नाम से भी ज्ञात था, राजा होकर स्वामि के द्वारा निर्मित तीर्थद वसदि के लिए मन्दिर के दान के रूप में बीजकन बयल् का दान किया।

हुम्मच में पञ्चवसदि के आँगन के एक पाषाण पर लिखे संस्कृत तथा कन्नड शिलालेख में कहा गया है कि श्रीविजय भट्टारक और उनके शिष्य चोल्लट, शान्तदेव, गुणसेन देव, दयापाल देव, कमलभद्रदेव, अजितसेन पण्डित देव तथा श्रेयांस पण्डितदेव ने उर्वीतिलक नाम से प्रसिद्ध पञ्चकूट वसदि की स्थापना की। वसदि की मरम्मत, ऋषि वर्ग के आहार तथा पूजा के प्रबन्ध के लिए नन्नि शान्तरदेव, ओडुमरस, वममदेव तथा चट्टलदेवी ने आचार्य कमलभद्र को पादप्रक्षालन पूर्वक गाँव दिए। इस शिलालेख का काल १०७७ ई. है।

नोकय्य ने तट्टेकेरे में एक जिनमन्दिर बनवाया। उसने और भी दो मन्दिर हरिगे और नेल्लवत्ति में बनवाए। नेल्लवत्ति और तट्टेकेरे की बसदियों के लिए गंग पेर्म्माडिदेव ने उसे दो भेरी, एक मण्डप, चामर तथा बड़े नगाड़े राज्य की तरफ से दिए तथा बदले की भेंट में ८ गावों की गावुण्ड वृत्ति, २० घोड़े, ५०० दास तथा पनसवाड़ी दी। वह प्रभाचन्द्र सिद्धान्ती का शिष्य था तथा ४ मन्दिर उसने और बनवाये।[3]

इसूर शिलालेख से ज्ञात होता है कि चालुकय नरेश त्रिभुवनमल्ल का विजयराज्य चारों ओर प्रवर्द्धमान था और त्रिभुवनमल्लवनवासे पर शासन कर रहा था, विणेय बम्मि सेट्टि ने एक जिनालय बनवाकर उसे दान दिया।[4]

वाछ्ळहोन्नूर शिलालेख (लगभग १०६० ई.) के अनुसार वादीभासिंह अजितसेन महामुनि का स्मारक उनके प्रधान शिष्य मारके द्वारा बनवाया गया था। ये गणाधीश अगणित गुणों के निलय थे, जैनागम रूपी समुद्र के पानी को बढ़ाने के लए चन्द्रमा थे।

दुइमल्ल देव के रसोइए जक्कय्य ने लगभग १०६५ ई. में सोमवार (मल्लिपट्टण परगना) में वसवण्ण मन्दिर बनवाया।

चिक्क हनसोगे के ११०० ई. के शिलालेख से ज्ञात होता है कि यहाँ दशरथ के पुत्र, लक्ष्मण के बड़े भाई, सीता के पति, इक्ष्वाकुकुलोत्पन्न राम के द्वारा प्रतिष्ठित देसिग गण की, ६४ बसदियाँ हैं। बन्द–तीर्थ की बसदि को, जिसे पहले राम ने बनवाया था और जिसे गंगों ने दान किया था चंगालव वंशी यादवीय राजेन्द्रचोल नन्नि चंगालव देव ने पुनः बनवाया।

सण्ड के ११०० ई. के कन्नड लेख के अनुसार सोम तथा उसकी पत्नी सोमान्विका की दो पुत्री वीराम्बिका और उदयान्विका ने एक जिनमन्दिर बनवाया।

जिला बेलगाँव में स्थित नेसर्गी के खड्गासनस्थ जिनप्रतिमा के चरण पाषाण पर ११ वीं या १२ वीं शताब्दी के अक्षरों में एक लेख है, जिसमें कहा गया है कि श्रीमूलसंघ बलात्कारगण के श्री पार्श्वनाथ देव के श्री कुमुदचन्द्र भट्टारक देव के शिष्य या अनुयायी वाडिगसात्ति सेट्टि जिनमें मुख्य था ऐसे नगर के व्यापारी लोगों द्वारा नगर का जिनालय बनवाया गया।

गंग पेर्म्माडिदेव महामण्डलेश्वर की अर्द्धगिंनी वाचल देवी ने अपने बड़े भाई बाहुबली से परामर्श करके बन्निकेरे में एक सुन्दर जिनालय बनवाया। वाचल देवी मूल संघ देशी गण की गृहस्थ शिष्या थीं उस देशीगण के लिए उसने चैत्यालय बनवाया। समुद्र परिवेष्टित लोक में गंगवाडि नाड् प्रसिद्ध

है और उसमें मण्डलिनाड् प्रसिद्ध है। उसमें चेहरे पर जैसे नाक है, उसी तरह बन्निकेरे था। पार्श्वनाथ भगवान् के लिये चालुक्य विक्रम के ३७ वें वर्ष में (१११२ ई. में) भुजबल गंग पेर्म्माडिदेव, गंग महादेवी, पेर्ग्गडे बाचल देवी ओर कुमार गंगरस मारसिंग देव, गोग्गि देव, कलियंग देव और तमाम मन्त्रियों ने नाड् प्रभुओं की उपस्थिति में सब करों एवं चुंगियों से मुक्त मण्डलि हजार के बदंगेरे, बन्निकेरे की कुछ जमीन, एक बगीचा, दो कोल्हू और उन दोनों शहरों की कुछ चुंगी की आमदनी का दान दिया। यह शिलालेख ओलहल्लि (होल्लूर परगना) में उत्कीर्ण है।

पुणस राजदण्डाधीश के देव जिन थे, गुरु अजित मुनिपति थे और पोयसल राजा उनका शासक था। उन्होंने एक जिनमन्दिर बनवाया। बिट्टि देव ने एण्णेनाड् अरकोट्टार में अपने द्वारा बनवायी गई त्रिकूट वसदि की वसदियों के लिए भूदान किया। चामराजनगर में पार्श्वनाथ स्वामी की बसदि के पाषाण पर शक १०३६--१११७ का यह लेख संस्कृत तथा कन्नड में उल्लिखित है।

जिस समय सत्यवाक्य कोंगुणिवर्म्म धर्ममहाराजाधिराज परमेश्वर नन्निय गंग सुख--शान्ति से राज्य कर रहे थे, कलम्बू नागराधिपति वर्म्मि सेट्टि ने एक जिनमन्दिर खड़ा किया। अपनी बनवाई हुई वसदि की पूजा तथा ऋषियों के आहारदान के लिए १११७ ई. में नन्निय गंग पेर्म्माडिदेव ने भूमि दी और वर्म्मि सेट्टि ने उसे लेकर मेष--पाषाण गच्छ के शुभकीर्तिदेव भट्टारक को पादप्रक्षालन पूर्वक अर्पित कर दिया। निदिगि (बिदरे परगना) में दोड्डमने नविलप्प गौड के खेत में एक पाषाण पर यह लेख अंकित है।

सुकदरे (होणकेरी परगना) के ११२० ई. के शिलालेख में कहा गया है कि जक्कि सेट्टि ने अपने गाँव सुकदरे में एक बसदि और उसके दक्षिणपूर्व में एक तालाब बनवाया। बसदि और सरोवर के खर्च के लिए भूमि का दान दिया।

विष्णुवर्द्धन पोय्सलदेव ने ११२० ई. में विनयादित्य दण्डनायक के द्वारा बनवाए गए होयसल जिनालय के लिए दान दिया। (मुत्तत्ति शिलालेख)

प्रभाचन्द्र सिद्धान्तदेव के गृहस्थ शिष्य भुजबल गंग वर्म्मदेव थे। इन प्रसिद्ध वर्म्मदेव भुजबल गंग पेर्म्माडिदेव ने वसदि बनवाई। यह वही वसदि है, जिसे पूर्व में दाडिग और माधव ने माण्डलिकी पहाड़ी पर बनवाया था। इसके अतिरिक्त नन्निय गंग ने शक वर्ष १०४३ में मण्डलिकी पट्टद तीर्थ वसदि के लिए २५ चैत्यालय और बनवाने के साथ साथ कुछ जमीन का दान दिया। (कल्लूरगड्ड शिलालेख)

जिस समय वीरगंग होय्सलदेव इस पृथ्वी पर राज्य कर रहे थे, उस समय उनके पादपद्मोपजीवी नोलवि सेट्टि नाम के पोय्सल सेट्टि थे। देमिकब्बे सेट्टि ने त्रिकूट जिनालय बनवाकर इसके खर्चे के लिए दान में अर्इनहल्लि गाँव दिया। यह घटना ११२५ ई. की है, ऐसा होसहोळलु के शिलालेख से ज्ञात होता है।

नयकीर्ति और भानुकीर्ति के भक्त पेर्ग्गडे मल्लिनाथ ने जैन बसदि का निर्माण किया और इसे धन से पुष्ट किया, ऐसा आवल्वाडी (कोप्प तालुका) के ११३१ ई. के शिलालेख से स्पष्ट है।

जिस समय एरेयंग होय्सलदेव का दामाद हेम्मीडिदेव हरिगे के निवास स्थान में था और एडेडोरे हजार का शासन कर रहा था, कुन्तलापुर में उसने एक चैत्यालय बनवाया और उसके लिए तमाम करों इत्यादि से मुक्त, एक गाँव का दान दिया। इसके अतिरिक्त जब सत्य गंगदेव अपने ऐडेहल्लि के निवास स्थान में सुख और शान्ति से राज्य कर रहा था, उसने कुरुली तीर्थ में गंग जिनालय बनवाया और शक वर्ष १०५४ में अपने गुरु माधव चन्द्रदेव के पैरों का प्रक्षालनपूर्वक दान दिया।

हलेवीड से लगी हुई बस्तिहल्लि में, पार्श्वनाथ वसदि के बाहर की दीवाल में एक पाषाण पर ११३३ ई. के लेख के अनुसार एरेयंग का पुराना दण्डनायक गंगराज था। उसने अगणित ध्वस्त जैनमन्दिरों का पुनर्निर्माण कराया। गंग चमूपति और नागल देवी से बप्प चमूप उत्पन्न हुआ। मलधारि देव के शिष्य शुभचन्द्र देव बोप्प के गुरु थे। गंगमण्डलाचार्य प्रभाचन्द्र सैद्धान्तिक उनके गुरु थे। वोप्पदेव ने दोरसमुद्र के बीच में जिनालय बनवाया। अपने पिता की मृत्यु के स्मारक में उक्त तिथि को बोप्प ने मूर्ति की स्थापना की। प्रतिष्ठापक नयकीर्ति सिद्धान्त चक्रवर्ती थे।

श्री मूलसंघ–देशियगण, पुस्तक गच्छ, कोण्डकुण्डान्वय तथा हनसोगे बलि के इस पाप–विनाशक जिनालय की स्थापना के बाद विष्णुवर्द्धन ने मसण को जो अपार सेना के साथ उस पर टूट पड़ा था, हारकर मार डाला तथा उसका सारा साम्राज्य जब्त कर दिया। उसी समय रानी लक्ष्मी महादेवी का एक पुत्र हुआ। राजा ने यह समझकर कि इन्हीं पार्श्वनाथ भगवान की स्थापना से उसे युद्ध विजय मिली तथा पुत्रोत्पत्ति एवं सुख समृद्धि हुई है, उसने देवता का नाम विजय पार्श्वनाथ तथा पुत्र का नाम विजय नारसिंह देव रखा। अपने पुत्र की समृद्धि तथा विश्वशान्ति को बढ़ाने के लिए उसने आसन्दिनाड के जावगळ का इस मन्दिर को दान दिया। यह उल्लेख हलेबीड से लगी हुई

बस्तिहल्लि में पार्श्वनाथ वसदि के बाहर की दीवाल में एक पाषाण पर किया गया है। इसका काल ११३३ ई. है।

कोल्हापुर के ११३५ ई. के शिलालेख में बताया गया है कि कवडेगोल्ल के सन्तेय मुद्गोडे में महासामन्त निम्ब देवरस के द्वारा निर्मापित एक जैन मन्दिर के मूलनायक पार्श्वनाथ भगवान् को कुछ स्थानीय महसूलों को दान दिया गया।

विष्णु दण्डाधिप ने यौवन प्राप्त होने पर समस्त सार्वजनिक कामोंके करने से अनुभव की वृद्धि होने पर महापवित्र स्थानों में दान देने के बाद यादव राज्य की राजधानी दोरसमुद्र में विष्णुवर्द्धन जिनालय (११३७ ई. में) बनवाया।[५] सुमियब्बरसि के गुरु माघनन्दि व्रतीन्द्र थे, राजा मारसिंग उसका बड़ा भाई था। सुमियब्बरसि ने यतीशों को आहारदान दिया तथा पञ्चवसदि दी थी। वसदि के लिए सवर्णावळि में भूमिदान किया था। कनकियब्बरसि ने इस पूँजी में और भी वृद्धि की, जहाँ जिनमन्दिर नहीं थे, वहाँ जिनमन्दिर बनवाए और जहाँ जिन मुनियों को आमदनी का क्षेत्र नहीं था, वहाँ उसने दान दिए। शान्यिक्के के पति केति सेट्टि ने उद्ध की वसदि का निर्माण कराया।[६]

मुगुलूर ११४० ई. के शिलालेख से ज्ञात होता है कि किश्रीपाल त्रैविद्य देव के गृहस्थ शिष्य मारि सेट्टि और गोवन सेट्टि ने सीगे नाड् में मुगुलि में एक वसदि बनवायी और उसमें पार्श्वदेव की स्थापना कर वसदि और उसकी जगह देवता के लिए अपने गुरु को अर्पित कर दी।

कलुकणिनाड् के शासक सामन्त सोवेय नायक ने, जो कि धार्मिक जैन और भानुकीर्ति सिद्धान्तदेव के गृहस्थ शिष्य थे, हेब्बिदिरुर्वाडि में एक ऊँचा चैत्यालय बनवाया और पार्श्वजिन की स्थापना करके पूजा सेवा के खर्च के लिए, मन्दिर की मरम्मत तथा आहारदान के लिए सूरस्थगण के ब्रह्मदेव के पादों का प्रक्षालनपूर्वक अरुहनहल्लि नामक गाँव दान में दिया। जिनालय का नाम ऐक्कोटि जिनालय रखा।[७]

देवराज होय्सल ने सूरनहल्लि दान में दी। उसने वहाँ एक जिन मन्दिर बनवाया।[८]

साधु के गुणों से युक्त पार्श्वसेन भट्टारक स्वामि ने होळलकेरे के शान्तिमय देव के ध्वस्त मन्दिर को फिर से सुधरवाया था।[९]

हेरगू के अच्छा स्थान होने की प्रशंसा सुनकर होय्सल वीर सिंह देव ने पुराने सेनापति बाविमय्य की पत्नी जक्कले ने इच्छापूर्वक एक मन्दिर वहाँ बनवाया और इसे भूमिदान भी दिया। (शिलालेख का काल ११५५ ई.)

खुजराहों में मदनवर्मा देव के शासन काल (विक्रम सं. १२१५) में साधु साल्हे ने संभवनाथ स्वामी की प्रतिमा की स्थापना कराई।

सं. १२१५ के वर्ष में चैतसुदी ८ रविवार के शुभदिन ऊर्जयन्त तीर्थ पर संघवी ठाकुर सालिवाहन की सम्मति से राजमिस्त्री जसहड और सावदेव ने समस्त जैन प्रतिमायें बनाकर पूर्ण कीं।

पार्श्व ने नित्तूर में एक चैत्यालय बनवाया। शान्तियण दण्डनायक ने एक वसदि बनवाई।[10]

अलियादेवी ने सेतु में एक जिनमन्दिर बनवाया था। उसके पुत्र जयकेशी देव ने भी सेतु में जिनमन्दिर बनवाया। इस आशय का लेख हेरेकेरी में बसदि के पाषाण दर ११५६ ई. का अंकित है।

होय्सल गवुण्ड ने अपनी माता की स्मृति में बसदि खड़ी की।[11] ईश्वर चमूपति की पत्नी माचियक्क ने मय्दवोळल पवित्र तीर्थ में एक जिनमन्दिर बनवाया।[12]

श्री मूलसंघ, काणूरगण और मेषपाषाण गच्छ के आचार्य बालचन्द्र देव के लिए हेगडि जक्कय्य तथा उसकी पत्नी जक्कव्वे ने दिडगूरु में एक चैत्यालय बनवाया और उसमें सुपार्श्व भगवान की स्थापना करके देव के लिए तथा ऋषियों के आहार के लिए भूमिदान किए।[13]

श्री मूलसंघ, देशिय गण, पुस्तक गच्छ तथा कोण्डकुन्दान्वय के गृहस्थ शिष्य महासामन्त गोवि देव ने अपनी पत्नी महादेवी नायकिति की मृत्यु की स्मृति में हेग्गेरी की चन्न पार्श्व बसदि बनवायी थी।[14]

वीर विजय नारसिंह देव ने ११६४ ई. में उस वसदि को, जिसे सोसवूर के 'पट्टण सामि' नाग सेट्टि (के पुत्र) मय्य ने बनवाई थी, दान दिया।[15]

बन्दवुर में मादिराज और संक सेट्टि ने पार्श्वदेव के लिए एक मन्दिर का निर्माण कराया और पुष्प सेन देव ने पार्श्वदेव की मूर्ति बनवाई। उन देव की अष्टविध पूजन के लिएं, मुनियों को आहार देने के लिए तथा मन्दिर की मरम्मत के लिए वासुपूज्य सिद्धान्तिदेव, उनके शिष्य पुष्पसेन देव, मादिराज, संकर सेट्टि तथा सभी प्रजा और किसानों ने ग्रहण के समय ३३ बिलस्त के एक डण्डे को नापकर भूमि दान किया।[16]

सोवि सेट्टि ने एक पार्श्व जिन मन्दिर अपने ही नाम को धारण करने वाले नगर में बनवाया।[17]

शंकर सामन्त ने मागुडि में उस स्थान से सम्बन्ध होने के कारण शान्तिनाथ भगवान् के लिए एक बढ़िया जिनमन्दिर बनवाया, ऐसा

चिक्कमागडि के वसवण्ण मन्दिर के प्रांगण में एक स्तम्भ पर ११८२ ई. का एक लेख है।

भरतिमय्य दण्डनायक और बाहुबली दण्डनायक ने अणुव समुद्र की बसदि बनवाई थी।[१८]

गोरव गवुण्ड ने तिप्पुर में एक जिनालय बनवाया। वह मंदिर द्रमिल संघ, नन्दिसंघ के आरुंगल अन्वय का था।[१९]

महादेव दण्डनायक ने एरग जिनालय बनवाकर उसमें शान्तिनाथ भगवान की प्रतिष्ठा की।[२०]

नुन्नवंश के नेमि सेट्टि ने जिड्डलिगे नाड तथा एडेनाड् में कई जिनेन्द्र भवन बनवाए थे। कोडकणि में उसने शान्तिनाथ जिनालय बनवाया था। ऐसा सोरव के १२०८ ई. के शिलालेख से ज्ञात होता है।

रेच सेनापति द्वारा स्थापित चमचमाते हुए सहस्रकूट जिनबिम्ब के लिए जैन लोगों ने एक करोड़ रुपया इकट्ठा कर प्रसिद्ध अरसियकेरे में एक जिनमन्दिर बनवाया। इस जिनालय में सात करोड़ लोगों की सहायता होने से इसका नाम एल्कोटि जिनालय रखा गया। अरसियकेरे के लोगों ने एक शान्तिनाथ का मन्दिर और बनवाया था।[२१]

पद्मप्रभ मलधारिदेव की गृहस्थ शिष्या माळवे सेट्टिकव्वे के पुत्र मल्लि सेट्टि ने नित्तूरु चैत्यालय की बाहरी दीवालों को चारों ओर मूर्तियों से सजाया। यह कार्य १२१६ ई. में हुआ।

कूचिराज ने पद्मसेन भट्टारक की सम्मति से लक्ष्मी जिनालय खड़ा किया उसने यह मन्दिर श्रीमूलसंघ के सेनगण के पोगलेगच्छ को दे दिया।[२२]

दण्डेश माधव ने तमाम कौटुम्बिक बन्धनों को छोड़कर जिनमन्दिर बनवाकर समाधि पूर्वक स्वर्ग प्रयाण किया।[२३]

कूरिग हल्लि के गौड़ों ने एक पारुषदेव (पार्श्वदेव) की वसदि बनवाई और उसे दान दिया।[२४]

श्रुतकीर्तिदेव के मुक्त होने के बाद उनके शिष्य आदिदेव मुनि तथा श्रुतगण के जैनों ने उनकी तथा सुमति तीर्थंकर की प्रतिमा की प्रतिष्ठा कर चैत्यालय को सुधरवाया।[२५]

हरिहर के पुत्र देवराय के समय गोपीपति ने जो मूलसंघ तथा देशीगण के आचार्य सिद्धान्ताचार्य का शिष्य था, एक जिनमन्दिर बनवाया।[२६]

होली नामक जैन पुरोहित ने पद्मनन्दि और दमबसन्त की दो मूर्तियों का समर्पण किया। यह समर्पण शुभचन्द्र की आज्ञा से किया गया था।[२७]

देवगढ़ (ललितपुर) से प्राप्त १४२४ ई. के एक शिलालेख से यह सूचना प्राप्त होती है।

विजयनगर के देवराज (द्वितीय) ने अपने राजमहल के पास पान–सुपारी बाजार नामक बगीचे में एक चैत्यालय बनवाया और मन्दिर में श्री पार्श्वनाथ स्वामी की प्रतिमा विराजमान की।

पदुमणसेट्टि ने अपने द्वारा शासित वोगेयकेरे के मौलिक अधिकार को प्राप्त करके, वहाँ एक चैत्यालय बनवाकर पार्श्व तीर्थेश्वर को विराजमान किया।[२८]

हुम्मच के १५३० ई. के एक लेख से ज्ञात होता है कि नेमिचन्द्र मुनीन्द्र ने पोम्बुर्च्च में पार्श्वनाथ स्वामी की वसदि तीन मंजिल बनवाई थी और बड़ी भक्ति के साथ इसकी प्रतिष्ठा की थी।

इसी प्रकार चैत्यालय बनाने का उल्लेख कोप्प (१५६६ ई.) से प्राप्त हुआ है। यहाँ पाण्ड्य नायक और उसके छोटे भाई देरे नायक ने साधन चैत्यालय बनवाकर उसमें प्रतिमा विराजमान की।

वेणूर के लेख में बतलाया गया है कि चामुण्डराय के वंश में होने वाले तिम्मराज ने एनूर (वर्तमान वेणूर) में बाहुबलि जिन की प्रतिमा की प्रतिष्ठा करके स्थापना की। यह तिम्मराज पाण्ड्य नरेश का छोटा भाई पाण्ड्यक रानी का पुत्र तथा रायकुवर का जामाता था। उसने इस मूर्ति की स्थापना बेलगुल (श्रवणबेलगोला) के भट्टारक की आज्ञा से की। मूर्ति स्थापना दिवस शक वर्ष १५२५ के व्यतीत हो जाने पर फागुन शुक्ला १० को पुष्यनक्षत्र मिथुन लग्न में की।

मेलिगे के १६०८ ई. के शिलालेख से ज्ञात होता है कि बोम्मण श्रेष्ठी ने एक जिनमन्दिर बनवाकर उसमें अनन्त जिन की प्रतिष्ठा की।

वेलकरू के १६८० ई. के शिलालेख के अनुसार लक्ष्मीसेन भट्टारक के शिष्य सेक्करे सेट्टि ने अपने अभ्युदय की वृद्धि के निमित्त विमलनाथ चैत्यालय बनवाया।

इस प्रकार देश के अनेक भागों से प्राप्त शिलालेखों में दिगम्बर जैन तथा मूर्ति निर्माण आदि के उल्लेख मिलते हैं।[२९]

भो सखि जिनवरमुद्रां पश्य नय द्रयमाशु सफलतां स्वस्थ्य। स्थायी।।
राग–रोषरहिता सती सा छविरविरुद्धा यस्य,
तुला त्विलायां किं भवेदपि द्रगपि न सुलभा तस्य।। नयद्श।।१।।
पुरा तु राज्यमितो भुवः पुनरञ्चति चैक्यं स्वस्य।

योगभोगयोरन्तर खलु नासा दृशा समस्य।। नयद्रशमाशु।। २।।
कल इति कल एवाऽऽगतो वा पल्यंगासनमस्य।
बलमखिलं निष्फलं च तच्चेदात्मबलं न हि यस्य।। नय द्रशमाशु।। ३।।
यद्यसि शान्तिसमिच्छकस्त्वं सम्भज सन्निधिमस्य।
भूरामादिम्यास्तिलाञ्जलिमर्पय नमोदस्य।। नय द्रशमाशु।। ४।। सुदर्शनोदय पृ. ७०–७१।।

हे मित्र! जिनवर की वीतराग मुद्रा का दर्शन करो और अपने नयनों को सफल करो। देखो, राग–द्वेष से रहित यह वीतराग मुद्रा कितनी शान्त दिखाई दे रही है कि जिसकी तुलना इस भूतल पर अन्यत्र सुलभ नहीं है। हमारा यह सौभाग्य है कि हमें ऐसी अत्यन्त दुर्लभ प्रशान्त मुद्रा के दर्शन सुलभ हो रहे हैं। पहले तो जिस जिनराज ने इस समस्त भूमण्डल का राज्य प्रशासन किया और यहाँ की जनता को त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम, पुरुषार्थ) के सेवनरूप भोगमार्ग को बतलाया। तदनन्तर भोगों से उदास होकर और राज्य पाट का त्याग कर पद्मासन संस्थित हो नासाग्रदृष्टि रखकर अपनी आत्मा में तल्लीनता को प्राप्त होकर योग मार्ग को बतलाया। इस प्रकार यह वीतराग मुद्रा भोग और योग के अन्तर को स्पष्ट रूप से प्रकट कर रही है। जिन भगवान् की यह मूर्ति जो पद्मासन से अवस्थित है और हाथ पर हाथ रखकर निश्चल विराजमान है, जो संसारी जनों को यह बतला रही है कि यदि तुम शान्ति चाहते हो तो इन राज्य पाट, स्त्री पुत्रादिक से दूर होकर और सांसारिक कार्यों को तिलाञ्जलि देकर इसके समीप आओ और एकाग्रचित्त होकर इसकी सेवा उपासना कर अपना जीवन सफल करो।

जैन साहित्य के उल्लेखानुसार दिगम्बर परम्परा का प्रवाह

काल का प्रवाह

काल द्रव्य अनादिनिधन है। संसार में, जो घड़ी, घण्टा आदि व्यवहार काल प्रसिद्ध है, वह पर्याय है। पर्याय का मूलभूत पर्यायी अवश्य होता है; क्योंकि बिना पर्यायी के पर्याय नहीं हो सकती। इसलिए व्यवहार काल का मूलभूत मुख्य काल है। व्यवहार काल के दो भेद हैं— १. उत्सर्पिणी और २. अवसर्पिणी। जिसमें मनुष्यों के बल आयु और शरीर का प्रमाण क्रम क्रम से बढ़ता जाये, उसे उत्सर्पिणी कहते हैं और जिमसें वे क्रम क्रम से घटते जायें, उसे उत्सर्पिणी काल कहते हैं। उत्सर्पिणी काल का प्रमाण दस कोड़ा कोड़ी सागर है तथा अवसर्पिणी काल का प्रमाण भी इतना ही है। इन दोनो को मिलाकर एक कल्प काल होता है। इन उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के प्रत्येक के छह छह भेद होते हैं। अवसर्पिणी काल के छह भेद हैं— १. सुषमा सुषमा, २. सुषमा, ३. सुषमा दु:षमा ४. दु:षमा सुषमा, ५. दु:षमा और दु:षमा दु:षमा अथवा अति दु:षमा। उत्सर्पिणी काल के भी छह भेद होते हैं— १. दु:षमा दु:षमा २. दु:षमा ३. दु:षमा सुषमा, ४. सुषमा दु:षमा, ५. सुषमा और ६. सुषमा सुषमा।

जिस तरह कृष्णपक्ष के बाद शुक्ल पक्ष और शुक्लपक्ष के बाद कृष्ण पक्ष होता रहता है, उसी तरह अवसर्पिणी के बाद उत्सर्पिणी और उत्सर्पिणी के बाद अवसर्पिणी होती रहती है। प्रत्येक अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के दुषमासुषमा काल में तीर्थंकरों का जन्म होता है।

२४ तीर्थंकर

वर्तमान अवसर्पिणी काल में २४ तीर्थंकर ये हुए हैं—

१. ऋषभनाथ, २. अजितनाथ, ३. सम्भवनाथ, ४. अभिनन्दननाथ, ४. सुमतिनाथ, ५. पद्मप्रभ, ७. सुपार्श्वनाथ, ८. चन्द्रप्रभ, ६. पुष्पदन्त अथवा सुविधिनाथ, १०. शीतलनाथ, ११. श्रेयांसनाथ, १२. वासुपूज्य, १३. विमलनाथ, १४. अनन्तनाथ, १५. धर्मनाथ, १६. शान्तिनाथ, १७. कुन्थुनाथ, १८. अरहनाथ, १६. मल्लिनाथ, २०. मुनिसुव्रतनाथ, २१. नमिनाथ, २२. नेमिनाथ, २३. पार्श्वनाथ, २४. महावीर स्वामी।

ऋषभदेव

इस अवसर्पिणी काल के तीसरे भाग के अन्त में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का जन्म हुआ। आषाढ़ कृष्ण द्वितीया की रात्रि के अन्तिम प्रहर में वह नाभिराय कुलकर की प्रसिद्ध रानी मरुदेवी के गर्भ में आए। उस समय उत्तराषाढ़ नक्षत्र था। गर्भावस्था के नौ माह सात दिन बीतने पर भगवान ऋषभदेव का जन्म हुआ। देवों और मनुष्यों ने मिलकर उत्सव मनाया। वे जन्म से ही अवधिज्ञानी थे तथा उन्हें सभी प्रकार की कला और विज्ञान की जानकारी थी। वे स्वयंबुद्ध थे उन्हें ज्ञान के लिए किसी निर्देश की आवश्यकता नहीं थी। उनमें सभी सद्‌गुण थे। वे एकान्तप्रिय थे। दो निपुण सुन्दर कन्यायें, जो कि कच्छ तथा महाकच्छ भाईयों की बहिनें थीं, ऋषभदेव को विवाही गई। यशस्वती और सुनन्दा उनका नाम था। यशस्वती से भरतादि सौ पुत्र तथा ब्राह्मी नामक पुत्री हुई। सभी पुत्र चरमशरीरी तथा बड़े प्रतापी थे।

सुनन्दा से ऋषभदेव के एक पुत्र और पुत्री हुई, पुत्र बाहुबली था और पुत्री का नाम सुन्दरी था। बाहुबली इस युग में पहले कामदेव थे। वे अतिशय सुन्दर थे। तथा अत्याधिक उत्तम और आकर्षक गुणों से युक्त थे। निपुणता में उनका कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं था। ब्राह्मी को ऋषभदेव ने वर्णमाला और सुन्दरी को गणित शास्त्र की विशेष रूप से शिक्षा दी। विद्यायें और कलायें परिपक्व होने पर वे इतनी अधिक ज्ञानवती हो गयी कि साक्षात् सरस्वती भी उनमें अवतार ले सकती थी। भगवान् ने भरत पुत्र के लिए अत्यन्त विस्तृत बड़े बड़े अध्यायों से स्पष्ट कर अर्थशास्त्र और संग्रह सहित नृत्यशास्त्र पढ़ाया। वृषभसेन को गन्धर्वशास्त्र का व्याख्यान किया। अनन्तविजय को चित्रकला सिखलाई। इसने सूत्रधार की विद्या तथा मकान बनाने की विद्या भी सीखी। बाहुबली पुत्र को भगवान् ने कामनीति, स्त्री–पुरुषों के लक्षण, आयुर्वेद, धनुर्वेद, घोड़ा, हाथी आदि के लक्षण जानने के तन्त्र और रत्नपरीक्षा आदि के शास्त्र अनेक प्रकार के बड़े बड़े अध्यायों के द्वारा सिखलाए। इस प्रकार लोक का उपकार करने वाले जो जो शास्त्र थे, भगवान् आदिनाथ ने वे सब अपने पुत्रों को सिखलाए। उन्होंने कल्पवृक्षों के नष्ट होने पर असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प इन षट्कर्मों की प्रजा को शिक्षा दी। उसी समय उन्होंने क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र तीन वर्णों की स्थापना की। जो शस्त्र धारण कर आजीविका करते थे, वे क्षत्रिय हुए, जो खेती, व्यापार तथा पशुपालन द्वारा जीविका करते थे, वे वैश्य कहलाते थे और जो उनकी सेवा सुश्रूषा करते थे, वे शूद्र कहलाते थे। युग के आदिब्रह्मा ऋषभदेव ने इस प्रकार कर्मयुग का आरम्भ किया। देवों ने आकर भगवान् का राज्याभिषेक

किया। नाभिराय आदि राजागण भी अभिषेकोत्सव में सम्मिलित हुए। नाभिराय ने अपने मस्तक का मुकुट अपने हाथ से उतारकर भगवान् के मस्तक पर धारण किया।

भगवान् ने मनुष्यों को इक्षुरस संग्रह करने का उपदेश दिया था, इसलिए जगत् के लोग उन्हें इक्ष्वाकु कहने लगे। गो शब्द का अर्थ स्वर्ग है, जो उत्तम स्वर्ग हो, उसे गौतम कहते हैं। भगवान् ऋषभदेव स्वर्गों में सबसे उत्तम सर्वार्थसिद्धि से आए थे, इसलिए वे गौतम नाम को प्राप्त हुए। काश्य तेज को कहते हैं, भगवान् ऋषभदेव उस तेज के रक्षक थे, इसलिए काश्यप कहलाते थे। उन्होंने प्रजा की आजीविका के उपायों का मनन किया था, इसिलए वे मनु और कुलधर भी कहलाते थे। उसके सिवा प्रजा उन्हें विधाता, विश्वकर्मा और स्रष्टा आदि नामों से पुकारती थी।

गृहस्थावस्था में रहते हुए जब जीवन का बहुभाग बीत गया, तब इन्द्र को चिन्ता हुई कि भगवान् राज्य और भोगो से किस प्रकार विरक्त होंगे? इन्द्र ने उस समय राज्यसभा में नृत्य करने के लिए ऐसे पात्र को नियुक्त किया, जिसकी आयु अत्यन्त क्षीण हो गयी थी। वह अत्यन्त सुन्दरी नीलाजना नामक देवनर्तकी रस भाव और लय सहित नृत्य कर रही थी कि इतने में आयु रूपी दीपक के क्षय होने से वह क्षण भर में अदृश्य हो गयी। उसके नष्ट होते ही इन्द्र ने रसभंग के भय से उस स्थान पर उसही के समान शरीर वाली दूसरी देवी खड़ी कर दी, जिससे नृत्य ज्यों का त्यों चलता रहा। यद्यपि दूसरी देवी खड़ी करने के बाद भी यही मनोहर स्थान था, वही मनोहर भूमि थी और वही नृत्य का परिक्रम था, तथापित भगवान् ऋषभदेव ने उसी समय उसके स्वरूप का अन्तर जान लिया था। तदनन्तर भगवान् भोगों से विरक्त हो गए। उसी समय भगवान् को प्रबोध कराने के लिए और उनके तप कल्याणक की पूजा करने के लिए लौकान्तिक देव ब्रह्मलोक से उतरे और कर्मरूपी योद्धा को तपोबल से जीतने की प्रेरणा दी। लौकान्तिक देवों के चले जाने पर भगवान् के तप कल्याणक का निश्चय कर देव लोग अपने अपने इन्द्रों के साथ अनेक विक्रियाओं को धारण कर प्रकट होने लगे। इन्द्रादिक देवों ने भगवान् का निष्क्रमण कल्याणक करने के लिए उनका क्षीरसागर के जल से महाभिषेक किया। भगवान् ने साम्राज्य पद पर अपने बड़े पुत्र भरत का अभिषेक कर इस भारतवर्ष को उनसे सनाथ किया और युवराज पद पर बाहुबली को स्थापित किया। शेष पुत्रो को भी यह पृथ्वी ऋषभदेव ने विभक्त कर बाँट दी। दीक्षा लेने हेतु पालकी से उन्होंने वन को प्रस्थान किया। भगवान् की उस पालकी को प्रथम ही राजा लोग सात पैड़ तक ले चले, फिर विद्याधर लोग आकाश में सात पैड़ तक ले चले। तदनन्तर वैमानिक और भवनत्रिक देवों ने अत्यन्त हर्षित होकर वह पालकी अपने कन्धों पर रखी और शीघ्र ही उसे आकाश में ले गए। सिद्धार्थक वन में पालकी

से उतरकर भगवान् एक शिला पर विराजमान हो गए और उन्होंने वस्त्र, आभूषण तथा माला वगैरह समस्त परिग्रह का त्याग कर दिया। पूर्व दिशा में मुँह कर वे पद्मासन से विराजमान हुए और सिद्ध परमेष्ठी को नमस्कार कर उन्होंने पंचमुष्टियों में केशलोच किया। केशलोंच कर दिगम्बर रूप के धारक होते हुए जिनदीक्षा धारण की। भगवान् वृषभदेव ने चैत्र मास के कृष्ण पक्ष की नवमी को सायंकाल दीक्षा धारण की। उसी समय चार हजार अन्य राजाओं ने भी दीक्षा धारण की।

अनेक प्रकार से स्तुति कर देव अपने स्थान पर चले गए। भरत महाराज ने भक्ति के भार से नम्र होकर अनेक प्रकार के वचन रूपी मालाओं के द्वारा अपने पिता की पूजा की। अष्टद्रव्य से पूजन कर, भगवान् को भक्ति पूर्वक नमस्कार कर भरत अयोध्या वापिस आ गए। महासन्तोषी भगवान् ने छह माह का उपवास करने की प्रतिज्ञा की। और वे कायोत्सर्ग पूर्वक स्थित हो गए। तपः काल में भगवान् के केश संस्कार रहित होने के कारण जटाओं के समान हो गये थे और वे ऐसे मालूम पड़ते थे, मानों तपस्या का क्लेश सहन करने के लिए ही वैसे कठोर हो गए हों। वे जटायें वायु से उड़कर महामुनि भगवान् वृषभदेव के मस्तक पर दूर तक फैल गयी थी। छह माह बाद वे आहारचर्या के लिए भ्रमण करते रहे। उस समय कोई मुनि को आहार देने की विधि नहीं जानता था, अतः छह माह और बीत गए। इस तरह एक वर्ष पूर्ण होने पर वे हस्तिनापुर पहुँचे। उन्हें देखकर श्रेयान्सकुमार को पूर्व जन्म का स्मरण हो आया। पूर्वजन्म में उन्होंने दो चारण ऋद्धिधारी मुनियों को आहार दिया था। पूर्वपर्याय के संस्कार से प्रेरित होकर श्रेयांसकुमार ने भगवान् के लिए प्रासुक आहार का दान दिया। वह आहार ईख के प्रासुक रस का था। श्रेयान्सकुमार तथा उनके बडे भाई सोम प्रभ ने अपने को धन्य माना। आकाश से देवों ने रत्नवृष्टि की। सर्वत्र धन्य धन्य की आवाज सुनाई पड़ने लगी। आहारके बाद भगवान् वन को लौट गए। भरत ने आकर राजा सोमप्रभ और श्रेयान्सकुमार का खूब सम्मान किया। भगवान अनेक प्रकार से तप करने लगे। उन्होंने ६६६ वर्ष ११ माह २ दिन तपस्या में बिताए। ध्यान रूपी अग्नि से उन्होंने कर्म रूपी ईंधन को जला डाला और फाल्गुन मास के कृष्ण पक्ष की एकादशी को उत्तराषाढ़ नक्षत्र में उन्हे केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। इन्द्रादि देवो ने भगवान् के ज्ञानकल्याणक की पूजा की। देव निर्मित महान् विभूति से युक्त समवसरण (धर्मसभा) में भगवान् विराजमान हुए। उन्होंने धर्मोपदेश दिया। उनकी धर्मसभा में सब प्रकार के प्राणी उपस्थित होते थे। समवसरण भूमि के चारों ओर प्रदक्षिणा रूप से बारह सभायें थीं। पहले कोठे में अतिशय ज्ञान के धारक गणधर आदि मुनिराज, दूसरे में कल्पवासी देवों की देवांगनायें, तीसरे में आर्यिका सहित राजाओं की स्त्रियाँ तथा साधारण मनुष्यों की स्त्रियाँ, चौथे में ज्योतिषी देवों की देवांगनायें, पाँचवें में व्यन्तर देवों की देवांगनाये,

छठे में भवनवासी देवों की देवागंनायें, सातवें में भवनवासी देव, आठवें में व्यन्तर देव, नवें में ज्योतिषी देव, दसवें में कल्पवासी देव, ग्यारहवें में चक्रवर्ती आदि श्रेष्ठ मनुष्य और बारहवे में पशु बैठे थे। जिसमें सब अक्षर स्पष्ट हैं, ऐसी दिव्यध्वनि भगवान् के मुखकमल से इस प्रकार निकल रही थी, जैसे किसी पर्वत की गुफा के अग्रभाग से प्रतिध्वनि निकलती है। भरत ने आकर भगवान् की भक्ति की।

समीचीन मार्ग का उपदेश देने मे तत्पर धीर वीर भगवान् ने काशी, अवन्ती, कुरु, कोशल, सुह्म, पुण्ड्र, चेदि, अंग, वंग, मगध, आन्ध्र, कलिंग, मद्र, पंचाल, मालव, दशार्ण और विदर्भ आदि देशों मे विहार किया। उन्होंने जो ज्ञान दिया, वह श्रुतज्ञान कहलाया। इसमें द्वादशांग समाहित थे। उनके उपदेशो का संकलन गणधरों ने किया। उनके ८४ गणधर थे। बीस हजार सर्वज्ञ मुनि थे। एक लाख २७ हजार मुनि मनः पयर्यज्ञानी तथा ६००० अवधिज्ञानी थे। ४७५० ऐसे थे, जिन्हें द्वादशांग का पूर्ण ज्ञान था। बीस अजार छः सौ मुनि ऐसे थे, जिन्हें आश्चर्यजनक ऋद्धियाँ प्राप्त थीं। इसमें से बहुतों ने निर्वाण प्राप्त किया, शेष स्वर्ग गए। ब्राह्मी को आगेकर ५०३०० आर्यिकाओं ने संयम धारण किया। ३ लाख श्रावक तथा ५ लाख श्राविकाओं ने श्रावक के व्रत ग्रहण किए। भरत चक्रवर्ती के प्रधान सेनापति जयकुमार तथा उसके भाई विजय, जयन्त, संजयन्त इत्यादि ने अपने पुत्र हेमागद को राजसिंहासन पर बैठाया और भगवान के समवसरण मे जाकर नग्न साधु हो गए। उनकी रानी सुप्रभा और पुत्री सुलोचना भी आर्यिका हो गई।

अन्त में माघ कृष्ण चतुर्दशी को प्रातः काल, जबकि चन्द्रमा अभिजित् नक्षत्र से होकर गुजर रहा था तब भगवान् ने सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाति नामक तृतीय शुक्लध्यान का आश्रय लिया तथा मन, वचन, काय की पौद्गलिक संयोग की परम्परा को नष्ट कर दिया। तत्काल उन्होंने चौदहवाँ अन्तिम गुणस्थान प्राप्त किया, जहाँ व्युपरतक्रियानिवर्ति नामक ध्यान को अंगीकार कर अ, इ, उ, ऋ, लृ अक्षरो की उच्चारण की समयावधि में उन्होंने कैलाश पर्वत से निर्वाण प्राप्त कर लिया। ऋषभदेव के निर्वाण से कैलाशपर्वत पूज्य हो गया। भरत महाराज ने तो भगवान् ऋषभ की वन्दना से लौटने पर कैलाश के आकार के घण्टे बनवाए और उन पर ऋषभ भगवान् की आकृतियाँ बनवाईं[३०]। कैलाश पर्वत का आकार घण्टा अथवा लिंग की आकृति का होने के कारण भरत महाराज ने उसी आकार के घण्टे बनवाकर नगरके चौराहों और राजप्रसाद के द्वारों पर लटकाकर अपनी विनय प्रकट की थी। उन्होंने राजमुकुट में भी घण्टाकृति को स्थान दिया था जिस पर ऋषभ का आकार बना था[३१–३४]। बाद में लोग इस तथ्य को भूल गए और उन घण्टों की शिवलिंग के रूप में उपासना करने लगे।

चक्रवर्ती भरत और उनके भाई बाहुबली

ऊपर कहा जा चुका है कि ऋषभदेव के २ पत्नियाँ थीं— यशस्वती और सुनन्दा। रानी यशस्वती के भरतादिक १०० पुत्र तथा ब्राह्मी कन्या हुई थी। सुनन्दा के बाहुबली पुत्र तथा सुन्दरी कन्या का जन्म हुआ। पौराणिक स्रोतों से ज्ञात होता है कि भगवान् ऋषभदेव केवलज्ञान को प्राप्त हो जब आठ प्रतिहार्यों और चौंतिस अतिशयों से सुशोभित होने लगे। उसी समय भरत को पुत्र की उत्पत्ति, चक्ररत्न की प्राप्ति और भगवान् को केवलज्ञान का लाभ ये तीनों समाचार एक साथ मिले। इस भाग्यवृद्धि से प्रसन्न होते हुए भरत सर्वप्रथम भगवान् की वन्दना के लिए गए। कुरुवंशी तथा भोजवंशी आदि राजाओ के साथ चतुरंग सेना से आवृत भरत ने जाकर अरहन्त सम्बन्धी विभूति से युक्त भगवान् की पूजा कर उन्हें प्रणाम किया तथा धर्मोपदेश सुना।[३५] अथानन्तर समवसरण (धर्मसभा) से आकर पुत्र जन्म का उत्सव किया, चक्ररत्न की पूजा की और छह खण्डों को जीतने की इच्छा से प्रस्थान किया।[३६] उस समय चतुरंग सेना उनके साथ थी, वे राजाओं के समूह से युक्त थे तथा नाना दिशाओ से आए हुए अपार जनसमूह के आगे चलने वाले चक्ररत्न सहित थे। वे साठ हजार वर्षों मे छह खण्डों से युक्त भरतक्षेत्र को जीतकर अयोध्या नगरी वापिस आए।[३७] अयोध्या के समीप आने पर सुदर्शन चक्र ने नगर प्रवेश नहीं किया। पुरोहित से पूछने पर उन्हें ज्ञात हुआ कि भरत के भाई उनके वश में नही हैं। यह सुनकर भरत ने उनके पास नीतिज्ञ दूत भेजे। भरत के अभिमानी भाईयों ने त्याग को ही महोत्सव मान अपने अपने राज्य छोड़ दिए और वृषभदेव के समीप दीक्षा धारण कर ली।[३८]

कुमार बाहुबली ने भरत के प्रति अपनी प्रतिकूलता प्रकट की। उन्होंने भरत के सुदर्शन चक्र को अलातचक्र के समान तुच्छ समझा और "मैं आपके आधीन नही हूँ, यह कहकर दूत भेज दिए। दोनों ओर की सेनायें वितता नदी के पश्चिम दिग्भाग में उपस्थित हुईं। दोनों राजाओं के मन्त्रियों ने परस्पर सलाहकर कहा कि देशवासियों का क्षय न हो, इसलिए दोनों ही राजाओं में धर्मयुद्ध हो। भरत और बाहुबली ने मन्त्रियों की यह बात मानकर सर्वप्रथम द्रष्टि युद्ध किया। आकाश में खड़े देव और विद्याधरों ने दोनों को टिमकार रहित नेत्रों से युक्त देखा। अन्त मे छोटे भाई ने बड़े भाई को हरा दिया; क्योंकि बड़े भाई पाँच सौ धनुष ऊँचे थे इसलिए उनकी दृष्टि ऊपर की ओर थी और छोटे भाई उनसे पच्चीस धनुष ऊँचे थे, इसलिए उनकी दृष्टि नीचे की ओर थी। दृष्टियुद्ध के बाद दोनों भाईयों का तालाब में भयंकर जलयुद्ध हुआ। उस समय दोनों ही भाई एक दूसरे पर अपनी भुजाओं से लहरें उछाल उछालकर दुःसह आघात कर रहे थे, परन्तु इस युद्ध में भी बड़े भाई भरत हार गए। तदनन्तर दोनों का रंगभूमि में मल्लयुद्ध हुआ। अन्तमें दयावान् बाहुबली अपने भुजयन्त्र से भरत को पकड़कर तथा ऊपर की ओर उठाकर

इस प्रकार खड़े हो गए मानों कोई देव रत्नों के पर्वत को उठाकर खड़ा हो। अच्छी तरह जीतकर जब बाहुबली ने भरत को छोड़ा तब उन्होंने क्रोध के कारण अपमृत्यु करने वाले सुदर्शन चक्र का स्मरण किया और स्मरण करते ही हजार अरों को धारण करने वाला सुदर्शनचक्र उनके हाथ में आकर खड़ा हो गया। उस चक्र को उन्होंने घुमाकर भाई के ऊपर छोड़ा परन्तु वह चक्र बाहुबली को मारने में असमर्थ रहा औरउनकी तीन प्रदक्षिणायें देकर वापिस आ गया।[३९]

बाहुबली अपने भाई की निर्दयता देख आश्चर्यान्वित हुए। उन्होंने अनेक प्रकार से लक्ष्मी की निन्दा की। वे विचार करने लगे— जिस प्रकार कीचड़ स्वच्छ, अनुकूल एवं मिले हुए जल को विपरीत–मलिन कर देती है, उसी प्रकार यह लक्ष्मी स्वच्छ, अनुकूल और मिले हुए मनुष्यों के चित्त को विपरीत कर देती है, अतः इसे धिक्कार हो। जिस प्रकार यन्त्रमूर्ति मधुर एवं चिक्कण स्वभाव वाले तिलहनों की दीर्घकालिक स्नेह–तेल को हर लेती है तथा अत्यन्त स्थिर होती है, उसी प्रकार यह लक्ष्मी भी मधुर और स्नेहपूर्ण स्वभाव वाले मनुष्यों के चिरकालिक स्नेह को नष्ट कर देती है। यह अत्यन्त अस्थिर है, इसे धिक्कार हो।[४०]

बाहुबली के वैराग्यपूर्ण चिन्तन के विषय में अनेक आचार्यों, कवियों और साहित्यकारों ने अपनी अनेक रचनायें प्रस्तुत की हैं, जो युगों युगों तक लोगो को वैराग्य की प्रेरणा देती रहेंगी। बाहुबली ने संसार, शरीर और भोगों के विषय में चिन्तन कर राज्य का परित्याग कर दिया। वे दिगम्बर होकर कैलाश पर्वत पर एक वर्ष का प्रतिमा योग लेकर निश्चल खड़े हो गए। उनके चरण वामी के निकले हुए मणिभूषित सर्पों से इस प्रकार सुशोभित हो रहे थे जिस प्रकार पहले मणिभूषित आश्रित राजाओं से सुशोभित होते थे। कोमलांगी माधवलीलता उनके समस्त शरीर का आलिंगन कर रही थी। दो विद्याधर परियाँ उनके शरीर पर लिपटी हुई लता को दूर करती रहती थीं। तदनन्तर भरत ने आकर जिन्हें नमस्कार किया था, ऐसे बाहुबली मुनिराज कषायों का अन्त कर केवलज्ञान उत्पन्न कर वृषभदेव के सभासद हो गए।[४१]

चौदह महारत्नों और नौ निधियों से युक्त अतिशय बुद्धिमान् चक्रवर्ती भरत पृथिवी का निष्कण्टक उपभोग करने लगे। उनके जीवन की अनेक विशेषतायें थी। जैसे—

१. सर्वप्रथम उन्होंने श्रावकों की परीक्षा कर उन्हें यज्ञोपवीत से चिह्नित किया।
२. उन्होंने ब्राह्मण वर्ण की स्थापना की।
३. वे नीति पूर्वक शासन करते थे।
४. गृहस्थी में रहते हुए भी उनके विचार सदैव वैराग्यपूर्ण रहते थे।
५. उनकी अनुपम विभूति को देखकर लोग पुण्य के फल का साक्षात् अवलोकन करते थे।

६. वे दान में कल्पवृक्ष के समान थे।
७. उन्होंने चौबीस तीर्थंकरों की वन्दना के लिए अपने महलों के द्वार पर शिर का स्पर्श करने वाली वन्दनमालायें बँधवाई थीं।
८. उनके साम्राज्य में सर्वप्रथम स्वयंवर प्रथा का प्रारम्भ हुआ।
९. उन्होंने चिरकाल लक्ष्मी का उपभोग कर अर्ककीर्ति नामक पुत्र का अभिषेक कर जिनदीक्षा धारण की। उनके कर्मबन्धन की स्थिति इतनी शीघ्र क्षीण हुई कि उन्होंने केशलोंच के बाद ही केवलज्ञान प्राप्त कर लिया।
१०. उन्होंने कैलाश पर्वत से मुक्ति प्राप्त की।
११. भगवान् ऋषभदेव ने ७२ कलायें सिखाईं।
१२. उनके नाम पर ही हमारे देश का नाम भारतवर्ष पडा। इस विषय मे हमें अनेक प्रमाण मिलते हैं। जैसे—

तत्थ भरहो भरहवास चूडामणी, तस्सेव नामेण इहं भारहवासं ति पवुच्चति।
—वसुदेवहिण्डी प्र.खण्ड पृ. १६८।
भरतनाम्नश्चक्रिणो देवच्चय भारतवर्ष नाम प्रवृत्तं भारतवर्षच्चि तयोनमि।। जम्बुद्दीवपण्णत्ती। येषां खलु महायोगी ज्येष्ठः श्रेष्ठगुण आसीद्येनेदं वर्ष भारतमिति व्यपदिशन्ति —श्रीमद्भागवत पुराण, स्कन्ध ५ अ. ४/६
हिमाह्वयं दक्षिणं वर्षं भरताय न्यवेदयत्।
तस्माद् भारतं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः।। वायुपुराण ५०/३६-४१
भरताद् भारतं वर्षं भरतात् सुमतिस्त्वभूत्।। अग्निपुराण १०/१२
ऋषभाद् भरतो जज्ञे ज्येष्ठः पुत्रशताग्रजः।
ततश्च भारतं वर्षमेतल्लोकेषु गीयते।। विष्णु पुराण अंश-२ अध्याय १/३२
हिमाद्रेर्दक्षिणं वर्षं महद् भारतं नाम शशास। वराह पुराण ७४
तस्मात्तु भारतं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः।। लिंग पुराण ४७/२४
तस्य नाम्ना त्विदं वर्ष भारतं चेति कीर्त्यते।।
स्कन्ध पुराण अध्याय ७ श्लो. ५७
तत्रापि भरते ज्येष्ठे खण्डे ऽस्मिन् स्पृहणीयके।
तन्नामा चैव विख्यातं खण्डच भारतं तदा।। शिवपुराण अध्याय ५२

आधुनिक विद्वानों जैसे— डॉ. आर.सी. मजूमदार[४२], जे.स्टीवेन्सन[४३] तथा रामधारी सिंह दिनकर इत्यादि इस तथ्य को स्वीकार करते हैं। श्री रामधारी सिंह दिनकर ने स्पष्ट लिखा है— "भरत ऋषभदेव के ही पुत्र थे, जिनके नाम पर हमारे देश का नाम भारत पड़ा।"[४४]

ऋषभदेव के बाद— ऋषभदेव के बाद अजित से लेकर नमि तक का जीवनवृत्त यद्यपि जैन साहित्य मे उपलब्ध होता है, किन्तु अधिक विस्तार से नहीं प्राप्त होता है। यहाँ तक कि नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर का जीवनवृत्त अधिक विस्तार से प्राप्त नहीं होता। इसका प्रमुख कारण यह है कि कुछ विशिष्ट घटनाओं को छोड़कर सबके जीवन की घटनाओं में साम्य है। सभी तीर्थंकरों ने अपने पूर्वजन्मों में तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध किया था। इसके फलस्वरूप सभी के पञ्चकल्याणक हुए। सभी महान् विभूति के धारक हुए। ऋषभदेव, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर के जीवन में कुछ विशिष्ट घटनाये घटित हुईं, जिनको आधार बनाकर कवियों ने काव्य लिखे। एक कारण यह भी हो सकता है कि नेमिनाथ से पूर्ववर्ती तीर्थंकरों को हुए चूँकि दीर्घ अन्तराल हो गया, इस बीच शास्त्र मौखिक श्रवण परम्परा से ही सुरक्षित रहे। बाद में स्मृति के ह्रास के कारण लोग विस्तृत जीवनवृत्त को भूल गए और कुछ सामान्य विशेषताओं को ही वे याद रख सके।

द्वितीय तीर्थंकर अजितनाथ

इनका जन्म साकेत नगर के अधिपति इक्ष्वाकुवंशीय काश्यप गोत्री राजा जितशत्रु के यहाँ महारानी विजयसेना के गर्भ से हुआ था। जब उनकी आयु का चतुर्थांश (अट्ठारह लाख पूर्व) प्रमाण काल बीत चुका, तब उन्हे राज्य प्राप्त हुआ। एक बार उन्होंने अपने महल की छत से उल्का देखी। उसी समय वे विषयों से विरक्त हो गए। उन्होंने अपने पुत्र अजितसेन को राज्य दे दिया और वन की ओर चले गए। दिगम्बर दीक्षा लेते ही उन्हें मनः पर्यय ज्ञान उत्पन्न हो गया। बारह वर्ष तप कर उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई। उन्होंने समस्त आर्य क्षेत्र में विहार कर अन्त में सम्मेदाचल से मुक्ति प्राप्त की। उनके समवसरण मे एक लाख दिगम्बर मुनि थे। इन्हीं के तीर्थ में सगर चक्रवर्ती हुए। उन्होंने दृढ़धर्मा केवली के समीप दिगम्बर दीक्षा धारण की। उसके साठ हजार पुत्र मुनि हो गए।

तृतीय तीर्थंकर सम्भवनाथ

इनका जन्म श्रावस्ती नगरी मे राजा दृढ़राज्य के यहाँ हुआ। दृढराज्य काश्यप गोत्री और इक्ष्वाकुवंशी थे। सम्भवनाथ की माता का नाम सुषेणा था। वे सदा देवोपनीत सुख का उपयोग किया करते थे। एक बार मेघो का विभ्रम देखने से उन्हें बोधि की प्राप्ति हुई। लौकान्तिक देवों ने आकर उनके वैराग्य की प्रशंसा की तथा भगवान् भी अपने पुत्र को राज्य देकर सहेतुक वन में चले गए तथा एक हजार राजाओं के साथ दिगम्बर वेष धारण कर लिया।

वे चौदह वर्ष तक मौन रहे। कार्तिक कृष्ण चतुर्थी के दिन मृगशिरा नक्षत्र में उन्हें ज्ञान की प्राप्ति हुई। उन्होंने धर्मोपदेश देते हुए आर्यदेशों में विहार किया। उनकी धर्मसभा में २ लाख दिगम्बर मुनि थे। अन्त में सम्मेदाचल से उन्हें मुक्ति लाभ हुआ।

चतुर्थ तीर्थंकर अभिनन्दननाथ

अयोध्या नगरी में इक्ष्वाकुवंशी, काश्यपगोत्री राजा स्वयंवर की पटरानी, सिद्धार्था के गर्भ में चतुर्थ तीर्थंकर अभिनन्दनाथ के आने से छह मास पूर्व ही रत्नों की वर्षा होने लगी। बैसाख शुक्ल षष्ठी को शुभनक्षत्र में माता ने सोलह स्वप्न देखे। स्वप्नों का फल तीर्थंकर बालक का गर्भ में आना जान माता परम हर्षित हुई। माघ शुक्ल द्वादशी के दिन बालक का जन्म हुआ। इन्द्र ने बालक का जन्माभिषेक संस्कार कर अभिनन्दन नाम रखा। पिता द्वारा राज्य परित्याग के अनन्तर इन्होंने राज्य स्वीकार किया। एक दिन आकाश में मेघो की शोभा देखते समय मेघों में एक सुन्दर महल प्रकट हुआ जो थोड़ी ही देर में नष्ट हो गया। इस घटना से उन्हें आत्मज्ञान प्राप्त हो गया। वे सोचने लगे कि विनाशीक भोग इस ससार में रहते हुए मुझे अवश्य ही नष्ट कर देंगे। जब वे ऐसा विचार कर ही रहे थे, उसी समय लौकान्तिक देवो ने आकर उनकी पूजा की। देवों ने भगवान् का निष्क्रमण कल्याणक किया। भगवान् ने दिगम्बर दीक्षा धारण कर ली। अठारह वर्ष मौन से व्यतीत कर वे ध्यानारुढ़ हुए और उन्हें केवलज्ञान हो गया। वे आर्यखण्ड में दूर--दूर तक विहार कर उपदेश देते रहे। वे तीन लाख दिगम्बर मुनियों के स्वामी थे। अन्त में सम्मेदगिरि से उनका निर्वाण हुआ।

पंचम तीर्थंकर सुमतिनाथ

भगवान् वृषभदेव के वंश तथा गोत्र में उत्पन्न क्षत्रियवंशी राजा मेघरथ के यहाँ अयोध्या में तीर्थंकर सुमतिनाथ का जन्म हुआ। उनकी माता का नाम मंगला था। वे सर्वांग सुन्दर थे। दिव्य राज्य लक्ष्मी का उपयोग करते हुए वे संसार से विरक्त हो गए। उन्होंने सहेतुक वन में एक हजार राजाओ के साथ दिगम्बर दीक्षा ले ली। संयम के प्रभाव से उन्हें उसी समय मनः पर्यय ज्ञान उत्पन्न हो गया। दूसरे दिन वे भिक्षा के लिए सौमनस नामक नगर में गए। वहाँ पद्मराज ने पडगाह कर उन्हें आहार दिया। उन्होंने सर्वपाप की निवृत्ति रूप सामायिक संयम धारण किया। वे मौन से रहते थे, वे अत्यन्त सहिष्णु थे। उन्होंने बीस वर्ष तप किया। चैत्र शुक्ल एकादशी को उन्हें

केवलज्ञान प्राप्त हुआ। जिस प्रकार अच्छी भूमि में बोया बीज महान् फल को देता है, उसी प्रकार प्रशस्त, अप्रशस्त सभी भाषाओं में भव्य जीवों के लिए उन्होंने जो दिव्यध्वनि रूपी बीज बोया, उससे भव्य जीवों को रत्नत्रय रूप फल की प्राप्ति हुई। वे तीन लाख बीस हजार मुनियों के स्वामी थे। उनका सम्मेदाचल से निर्वाण हुआ।

षष्ठ तीर्थंकर पद्मप्रभ

कौशाम्बी नगरी में इक्ष्वाकुवंशी काश्यपगोत्री धरण नाम का एक बड़ा राजा था। उसकी सुसीमा नामक रानी थी। इन्हीं से षष्ठतीर्थंकर पद्मप्रभ का जन्म हुआ। वे सबको आह्लादित कर वृद्धि को प्राप्त होने लगे। उनके राज्यकाल में आठों महाभय समूल नष्ट हो गए, दरिद्रता दूर भाग गयी। धन स्वच्छन्दता से बढ़ने लगा, सब मंगल प्रकट हो गए और सब सम्पदाओ का समागम हो गया। किसी समय दरवाजे पर बँधे हुए हाथी की दशा सुनने से उन्हें अपने पूर्वभवों का ज्ञान हो गया। वे विचार करने लगे कि ससारमें ऐसा कौन सा पदार्थ हे, जिसे मैने देखा न हो, छुआ न हो, सूँघा न हो, सुना न हो, खाया न हो, जिससे वह नए के समान जान पडता है। जिस कार्य से पाप और पुण्य दोनों उपलेपो का नाश हो जता है, विद्वानों को सदा उसी का ध्यान करना चाहिए। उसी का आचरण करना चाहिए, उसी का अध्ययन करना चाहिए। इस प्रकार विचार कर उन्होंने दिगम्बर दीक्षा धारण कर ली। दस माह के बाद उन्हें केवलज्ञान हो गया। भव्य जीवों को प्रबोधित करते हुए अन्त में वे सम्मेदशिखर से परिनिर्वाण को प्राप्त हुए। उनकी सभा में तीन लाख तीस हजार दिगम्बर मुनि थे।

सप्तम तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ

काशी देश की वाराणसी नगरी में भगवान् वृषभदेव के इक्ष्वाकु वंश में सुप्रतिष्ठ महाराज की पृथिवीषेणा रानी से नीर्थंकर सुपार्श्वनाथ का जन्म हुआ। सभी तीर्थंकरो के समान आयु के प्रारम्भिक आठ वर्ष के बाद उन्हे देशसंयम हो गया। अतः भोगोपभोग की वस्तुओं की प्रचुरता होने पर भी वे अपनी आत्मा को अपने वश में रखते थे। साम्राज्य सुख भोगते हुए एक बार ऋतुपरिवर्तन देखकर उन्हें संसार की नश्वरता का बोध हुआ। उन्होंने दिगम्बर दीक्षा धारण कर ली। नौ वर्ष बाद उन्हें केवलज्ञान की उपलब्धि हुई। उनकी सभा में तीन लाख दिगम्बर मुनि थे। लोगों को धर्मामृत पान कराते हुए अन्त में योगों का निरोधकर सममेदशिखर से मुक्त हुए।

अष्टम तीर्थंकर चन्द्रप्रभ

चन्द्रपुर नगर में इक्ष्वाकुवंशी काश्यपगोत्री तथा महान् वैभव धारी महासेन राजा राज्य करते थे। उसकी महादेवी का नाम लक्ष्मणा था। उनके यहाँ चन्द्रप्रभ भगवान् का जन्म हुआ। उनका शरीर शुक्ल था, भाव भी शुक्ल थे। उनके गुण निर्मल थे, अतः उनसे लक्ष्मी और कीर्ति उत्पन्न हुई थी, वह भी निर्मल ही थी। साम्राज्य सम्पदा का उपभोग करते हुए उनका बहुत समय बीत गया। एक बार वे दर्पण में अपना मुख देख रहे थे। वहाँ उन्होंने मुख पर स्थित किसी वस्तु को वैराग्य का कारण निश्चित किया। वे इस प्रकार विचार करने लगे "यह शरीर नश्वर है, इससे जो प्रीति की जाती है, वह ईति के समान दुःखदायी है, वह सुख ही क्या हे, जो अपनी आत्मा से उत्पन्न न हो, वह लक्ष्मी ही क्या है जो चंचल हो, वह यौवन ही क्या है, जो नष्ट हो जाने वाला हो, वह आयु ही क्या है जो अवधि सहित हो? मैं वहीं हूँ, पदार्थ वही हैं, इन्द्रियाँ वही हैं, प्रीति और अनुभूति वही है तथा प्रवृत्ति भी वही है, किन्तु इस संसार की भूमि में यह सब बार बार बदलता रहता है।" ऐसा सोचकर उन्होंने वरचन्द्र नामक पुत्र का राज्याभिषेक कर दिगम्बर दीक्षा धारण कर ली। वे श्रमण धर्म का पालन करने लगे। जिनकल्प मुद्रा में तीन माह बिताकर उन्होंने ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोह और अन्तराय कर्म का विनाश किया। अघातिया कर्मों में से भी कितनी ही प्रकृतियो का नाश हुआ। वे सयोग केवली जिनेन्द्र हो गए। उन्होंने समस्त आर्य देशों में विहार कर धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति की। उनके समवसरण मे दस लाख दिगम्बर मुनि थे। अन्त में सम्मेद शिखर पर पहुँच योगों का निरोध कर उन्होंने सिद्धावस्था प्राप्त की।

नवम तीर्थंकर पुष्पदन्त

काकन्दी नगरी में इक्ष्वाकुवंशी काश्यप गोत्री सुग्रीव नाम का क्षत्रिय राजा राज्य करता था। जयरामा उसकी पटरानी थी। इनके यहाँ तीर्थंकर पुष्पदन्त का जन्म हुआ। उनका दूसरा नाम सुविधि भी था। दीर्घकाल तक राज्य करने के बाद एक बार उल्कापात देखकर उन्हें वैराग्य हो गया। वे विचार करने लगे कि संसार में न तो कोई वस्तु स्थिर है, न शुभ है, न सुख देने वाली है और न कोई पदार्थ मेरा है, मेरा तो अपना आत्मा ही है, सारा संसार मुझसे पृथक् है और मैं इससे पृथक् हूँ। इस प्रकार विचार कर सुमति नामक पुत्र को राज्य देकर उन्होंने दिगम्बर मुनि दीक्षा ग्रहण कर ली। उन्हें ४ वर्ष तक तप करने पर केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। उनकी धर्मसभा में ८८ गणधर, १५००

श्रुतकेली, एक लाख पचपन हजार पाँच सौ शिक्षक, आठ हजार चार सौ अवधिज्ञानी, सात हजार केवलज्ञानी, तेरह हजार विक्रिया ऋद्धि के धारी, सात हजार पाँच सौ मनः पर्यय ज्ञानी और छः हजार छः सौ वादी थे। घोषार्यादि तीन लाख अस्सी हजार आर्यिकायें तथा दो लाख श्रावक और ५ लाख श्राविकायें थीं। असंख्यात देव और संख्यात तिर्यञ्च थे। वे सम्मेद शिखर से मुक्त हुए।

दशम तीर्थंकर शीतलनाथ

मलय नामक देश के भद्रपुर नगर में इक्ष्वाकुवंशी राजा दृढ़रथ की महारानी सुनन्दा से तीर्थंकर शीतलनाथ का जन्म हुआ। देवों ने सुमेरु पर्वत पर उनका महाभिषेक किया। उनके जन्म लेने के पहले पल्य के चौथाई भाग तक धर्म कर्म का विच्छेद रहा। जब उनकी आयु का चतुर्थ भाग शेष रहा तथा संसार भ्रमण अत्यन्त अल्प रह गया तब उनके प्रत्याख्यानावरण कषाय का अन्त हो गया। पाले के समूह की नश्वरता देख उन्हें वैराग्य हो गया। उन्होंने एक हजार राजाओं के साथ सकल संयम धारण कर लिया। असख्यात देशों में विहार कर उन्होंने धर्मोपदेश दिया। एक लाख दिगम्बर मुनियों के स्वामी थे। अन्त में सम्मेदशिखर से उनका निर्वाण हुआ।

एकादशवें तीर्थंकर श्रेयांसनाथ

इक्ष्वाकुवंशी विष्णु नामक राजा के यहाँ उनकी पटरानी नन्दा से श्रेयांसनाथ का जन्म हुआ। उनका जन्म होने पर रोगी मनुष्य नीरोग हो गए, शोक वाले शोक रहित हो गए और पापी जीव धर्मात्मा बन गए। सौधर्मेन्द्र जिन बालक को ऐरावत हाथी के कन्धे पर विराजमान कर देवों की सेना के साथ मेरुपर्वत पर गया। वहाँ क्षीरसमुद्र के जल से उनका अभिषेक कराया, आभूषण पहिनाए और श्रेयांस नाम रखा। उन्होंने बयालीस वर्ष तक राज्य किया। एक बार बसन्तऋतु का परिवर्तन देखकर उन्हें वैराग्य हो गया। वे दिगम्बर मुनि हो गए। दो वर्ष तक तप कर उन्हें केवल ज्ञान हो गया। उनकी धर्म सभा में चौरासी हजार दिगम्बर मुनि थे। धर्म का उपदेश देते हुए अन्त में योग का निरोधकर विद्यमान कर्मों की असंख्यात गुणी निर्जरा की और अ इ उ ऋ लृ इन पाँच लघु अक्षरों के उच्चारण में जितना समय लगता है, उतने समय में अन्तिम दो शुक्लध्यानों से समस्त कर्मों को नष्ट कर सम्मेदशिखर से मुक्ति प्राप्त की। जिस प्रकार चक्रवर्तियों में प्रथम चक्रवर्ती भरत हुआ, इसी प्रकार श्रेयांसनाथ के तीर्थ में त्रिपृष्ठ नामक प्रथम नाराण, अश्वग्रीव नामक प्रथम प्रतिनारायण और विजय नामक प्रथम बलभद्र हुआ।

द्वादशवें तीर्थंकर वासुपूज्य

अंग देश के चम्पापुर नगर में इक्ष्वाकुवंशी, काश्यपगोत्री राजा वसुपूज्य की जयावती रानी से वासुपूज्य तीर्थंकर का जन्म हुआ। वे दिनों दिन गुणों की वृद्धि करने लगे। वे कुमार काल मे ही दिगम्बर रूप में प्रव्रजित हुए। एक वर्ष तक उन्होंने तप किया। तप के फलस्वरूप उन्हें केवलज्ञान की उपलब्धि हुई। उन्होने समस्त आर्यक्षेत्रों में विहार कर धर्मवृष्टि की। वे बहत्तर हजार दिगम्बर मुनियों से सुशोभित थे। उन्होंने मन्दरगिरि शिखर से मुक्ति प्राप्त की। इनके तीर्थ में द्विपृष्ठ नारायण, अचल बलभद्र तथा तारक प्रतिनारायण हुआ।

त्रयोदशवें तीर्थंकर विमलनाथ

काम्पिल्य नगर में भगवान् ऋषभदेव का वशज कृतवर्मा राजा राज्य करता था। जयश्यामा उसकी पटरानी थी। उनके तीर्थंकर विमलनाथ का जन्म हुआ। जन्माभिषेक कर सब देवों ने उनका विमलवाहन नाम रखा। उनकी कान्ति सुवर्ण के समान थी और वे ऐसे सुशोभित होते थे, मानो समस्त पुण्य की राशि हो। राज्यावस्था में बहुत समय व्यतीत करते हुए एक बार हेमन्त ऋतु मे उन्होने बर्फ की शोभा को तत्क्षण विलीन होते देखा, जिससे उन्हे उसी समय संसार से वैराग्य हो गया। उसी समय अपने पूर्वजन्म की सब बातें याद आ गयीं। वे सोचने लगे कि चूँकि प्रत्यारवयानावरण कर्म का उदय है, अतः मेरे चारित्र का (महाव्रत) लेशमात्र भी नहीं है और बहुत प्रकार का मोह तथा परिग्रह विद्यमान हैं, अतः बन्ध हो रहा है, प्रमाद का भी सद्‌भाव है। इस प्रकार विचार करते हुए उन्होंने दिगम्बर दीक्षा ले ली। देवों ने दीक्षा कल्याणक के समय होने वाले अभिषेक का उत्सव किया। अड़सठ हजार दिगम्बर मुनि उनकी स्तुति करते थे। तीन वर्ष तप करने के बाद उन्हें केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई। उन्होंने धर्मक्षेत्रो में निरन्तर विहार किया। वे सम्मेद शिखर से मुक्त हुए। इन्ही के तीर्थ में धर्म नामक बलभद्र, स्वयम्भू नामक नारायण और मधु नामक प्रतिनारायण हुआ।

चतुदशवें तीर्थंकर अनन्तनाथ

अयोध्या (साकेत) नगर में इक्ष्वाकुवशी काश्यपगोत्री महाराज सिंहसेन राज्य करते थे। उनकी महारानी का नाम जयश्यामा था। उनके यहाँ तीर्थंकर अनन्तनाथ का जन्म हुआ। राज्य करते हुए एक दिन उल्कापात देख उन्हें वैराग्य हुआ। उन्होंने श्रामण्य अंगीकार कर लिया। जप करते हुए उनके दो वर्ष बीत गए तब चैत्र कृष्ण अमावस्या के दिन सायंकाल के समय रेवती नक्षत्र

में उन्हें केवलज्ञान हुआ। उन्होंने अपने समवसरण में बारह सभाओं में विद्यमान भव्य जीवों को सम्बोधित किया। छयासठ हजार दिगम्बर मुनि उनकी पूजा करते थे। अन्त में सम्मेद शिखर पर जाकर चैत्र कृष्ण अमावस्या के दिन रात्रि के प्रथम भाग में परम पद प्राप्त किया। उसी समय देवों ने आकर उनका अन्तिम संस्कार किया। इन्हीं के तीर्थ में सुप्रभ बलभद्र, पुरुषोत्तम नारायण और मधुसूदन नामक प्रतिनारायण हुआ।

पन्द्रहवें तीर्थंकर धर्मनाथ

रत्नपुर नगर में कुरुवंशी काश्यपगोत्री महातेजस्वी भानु नामक राजा राज्य करते थे। उनकी महादेवी का नाम सुप्रभा था। उनके यहाँ पन्द्रहवे तीर्थंकर धर्मनाथ का जन्म हुआ। वे अत्यन्त ऊँचे थे, अत्यन्त शुद्ध थे, दर्शनीय थे, उत्तम आश्रय देने वाले थे तथा सबका पोषण करने वाले थे। राज्यकाल व्यतीत करते हुए एक दिन उल्कापात देखकर उन्हें वैराग्य हो गया। उन्होंने सुधर्म नामक ज्येष्ठ पुत्र को राज्य दे दिया और वन मे जाकर दिगम्बर दीक्षा ले ली। दूसरे दिन आहार लेने के लिए वे पाटलीपुत्र नगर में गए। वहाँ धन्यषेण राजा ने उन्हें आहार देकर पञ्चाश्चर्य प्राप्त किए। एक वर्ष तप कर उन्होंने पौष शुक्ल पूर्णिमा के दिन केवलज्ञान प्राप्त किया। धर्मोपदेश देते हुए उन्होने अनेक स्थानों पर विहार किया। चौसठ हजार दिगम्बर मुनि उनके साथ रहते थे। उन्होने अन्त मे सम्मेदशिखर से मोक्ष प्राप्त किया। इनके तीर्थ में सुदर्शन नामक बलभद्र पुरुषसिंह नामक नारायण तथा मधुक्रीड नामक प्रतिनारायण हुआ। तीसरे मघवा और चौथे सनतकुमार चक्रवर्ती भी इनके तीर्थ में हुए।

सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ

कुरुजागल देश के हस्तिनापुर नगर में राजा विश्वसेन राज्य करते थे। उनकी महारानी का नाम एरा था। इनके तीर्थंकर शान्तिनाथ का जन्म हुआ। पिता ने उन्हें साम्राज्य लक्ष्मी का स्वामी बताया। उन्होंने भरत क्षेत्र के षट्खण्ड पर विजय प्राप्त कर चक्रवर्ती पद प्राप्त किया। दीर्घकाल तक राज्य का उपभोग करते हुए वे संसार से निवृत्त हो गए। उन्होंने नारायण पुत्र को राज्य देकर दिगम्बर दीक्षा धारण की। उन्होंने सिद्ध परमेष्ठी को नमस्कार व पञ्च मुष्टियों द्वारा केशलौंच कर सब परिग्रह त्याग दिया। निरन्तर सोलह वर्ष तप करने के बाद उन्हे लोकालोक प्रकाशक केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई। उनकी धर्मसभा मे बासठ हजार दिगम्बर मुनि थे। विभिन्न भागों में भ्रमण कर उन्होंने धर्मोपदेश दिया। अन्त में सम्मेदाचल से मुक्त हुए।

सत्रहवें तीर्थंकर कुन्थुनाथ

कुरुजांगल देश के हस्तिनापुर नगर में कौरववंशी काश्यप गोत्री महाराज शूरसेन तथा उनकी पटरानी श्रीकान्त से तीर्थंकर कुन्थुनाथ का जन्म हुआ। उन्होंने चक्रवर्ती की विभूति प्राप्त की। अपने पूर्वभव का स्मरण करने से उन्हें आत्मज्ञान प्राप्त हुआ। वे अपने पुत्र को राज्य देकर वन में चले गए। वहाँ उन्होने दिगम्बर दीक्षा धारण कर ली। सोलह वर्ष के तप के बाद एक दिन वे वेला नियम लेकर वन में तिलक वृक्ष के नीचे विराजमान हो गए। वही चैत्रशुक्ल तृतीया के दिन सांयकाल के समय केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। उनकी धर्मसभा मे साठ हजार दिगम्बर मुनिराज थे। अनेक देशों में विहार करते हुए अन्त मे सम्मेदाचल पहुँचे। वहाँ वैशाख शुक्ल प्रतिपदा के दिन समस्त कर्मों को निर्मूल कर उन्होंने परमपद प्राप्त किया।

अठारहवें तीर्थंकर अरनाथ

कुरुजागल देश के हस्तिनापुर नगर में काश्यपगोत्रीय राजा सुदर्शन की महारानी मित्रसेना की कुक्षि से तीर्थंकर अरनाथ का जन्म हुआ। उन्हे चक्रवर्ती का वैभव प्राप्त हुआ। एक बार मेघाच्छन्न आकाश को देखकर वे विरक्त हो गए। उन्होंने दिगम्बर दीक्षा धारण कर ली। तपश्चरण करते हुए वे किसी समय पारणा के लिए चक्रपुर नगर मे गए वहाँ राजा अपराजित ने उन्हे आहार दिया। सोलह वर्ष तप करने के बाद घातिया कर्म नष्ट कर उन्होंने अर्हन्त पद पाया। उन्होने धर्मोपदेश देने हेतु अनेक देशों में विहार किया। उनकी धर्मसभा मे पचास हजार दिगम्बर मुनि थे। अन्त में चैत्र कृष्ण अमावस्या के दिन रेवती नक्षत्र मे मोक्ष प्राप्त किया। इन्ही के तीर्थ मे सुभौम चक्रवर्ती, नन्दिषेण बलभद्र, पुण्डरीक नारायण और निशुम्भ प्रतिनारायण हुए।

उन्नीसवें तीर्थंकर मल्लिनाथ

मिथिला नगरी में इक्ष्वाकुवशी काश्यपगोत्री कुम्भ नामक राजा राज्य करते थे। उनकी प्रजावती रानी से उन्नीसवें तीर्थंकर मल्लिनाथ का जन्म हुआ। कुमारकाल के सौ वर्ष बीत जाने पर एक दिन भगवान् मल्लिनाथ ने देखा कि समस्त नगर उनके विवाह के लिए सजाया गया है। यह देखकर उन्हें पूर्वजन्म के अपराजित विमान का स्मरण हो गया। वे वीतरागता की महिमा का चिन्तन करने लगे और विरक्त होकर उन्होंने दिगम्बर दीक्षा ले ली। इन्द्रो ने दीक्षा कल्याणक के समय होने वाला अभिषेक महोत्सव किया। छह दिन तप के बाद उन्हें कैवल्य हुआ। उन्होंने दीर्घकाल तक धर्मोपदेश दिया। चालीस हजार दिगम्बर मुनिराज उनके साथ थे। जब उनकी आयु

एक माह बाकी रह गई तब वे सम्मेदाचल पर पहुँचे। वहाँ पर पाँच हजार मुनियों के साथ उन्होंने प्रतिमायोग धारण किया और फाल्गुन शुक्ला पंचमी के दिन भरणी नक्षत्र में सन्ध्या के समय तनुवातवलय मोक्षस्थान प्राप्त कर लिया। मल्लिनाथ जिनेन्द्र के तीर्थ मे पद्म चक्रवर्ती नन्दिमित्र बलभद्र, दत्त नारायण और बलीन्द्र प्रतिनारायण हुए।

बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रत नाथ

मगधदेश के राजगृह नगर के हरिवंश शिरोमणि सुमित्र नामक काश्यप गोत्री राजा की सोमारानी से तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ का जन्म हुआ। कुमार काल व्यतीत होने पर उन्हें राज्याभिषेक की प्राप्ति हुई। एक बार उनके यागहस्ती ने वन का स्मरण कर खाना पीना बन्द कर दिया। महाराज मुनिसुव्रत नाथ अवधि ज्ञान के द्वारा उसके मन की बात जान गए। उन्होंने कहा कि पूर्वजन्म मे यह हाथी तालपुर नगर का स्वामी नरपति नामक राजा था। वहाँ अपने उच्च कुल के अभिमान के कारण खोटी लेश्याओं से इसका चित्त घिरा रहता था। वह मिथ्याज्ञान से मोहित रहता था। उसे पात्र, अपात्र का विवेक नहीं था। एक बार इसने किमिच्छक दान दिया, जिसके फलस्वरूप यह हाथी हुआ। भगवान् के वचन सुनकर हाथी प्रबोध को प्राप्त हुआ। भगवन् ने भी विरक्त हो दिगम्बर दीक्षा धारण कर ली। ग्यारह मास तप कर उन्हे कैवल्य की प्राप्ति हुई। इन्द्रों ने ज्ञानकल्याणक का उत्सव किया और मानस्तम्भ आदि की रचना की। उन्होंने अनेक सम्पदाओ से विभूषित समवसरण की रचना की। धर्मोपदेश देते हुए उन्होंने आर्य क्षेत्र मे विहार किया। उनकी धर्मसभा मे तीस हजार मुनिराज थे। उन्होने सम्मेदशिखर से निर्वाण लाभ किया। इन्हीं मुनिसुव्रतनाथ तीर्थंकर के तीर्थ मे हरिषेण चक्रवर्ती हुआ। इन्ही के तीर्थ में बलभद्र राम, नारायण लक्ष्मण और प्रतिनारायण रावण हुआ।

इक्कीसवें तीर्थंकर नमिनाथ

बंग देश में मिथिला नामक नगरी थी। वहाँ भगवान् ऋषभदेव के वंशज विजय महाराज शासन करते थे। उनकी महारानी वप्पिला से तीर्थंकर नमिनाथ का जन्म हुआ। एक बार दो देव उनकी राजसभा में उनके दर्शन हेतु आए। वे विदेह क्षेत्र में अपराजित केवली की वन्दना कर आए थे। उन्होंने अपराजित केवली से पूछा था कि इस समय भरत क्षेत्र में भी कोई तीर्थंकर है। सर्वदर्शी अपराजित भगवान् ने तीर्थंकर नमिनाथ के विषय में बतलाया। फलतः वे वन्दना के लिए आए। देवों के चले जाने पर नमिनाथ संसार

परिभ्रमण के विषय में विचार करने लगे। उन्हें वैराग्य हो गया फलस्वरूप वे प्रवजित हो गए। उन्होंने नव वर्ष तप कर केवलज्ञान की प्राप्ति की। उनकी धर्मसभा में बीस हजार दिगम्बर मुनिराज थे। संसार के प्राणियों का सुमार्ग का उपदेश देते हुए अन्त में सम्मेदाचल से उन्होंने मुक्तिलक्ष्मी प्राप्त की। वे नमिनाथ जनक के वंश के थे। जनक को उपनिषद् काल का दार्शनिक राजा माना जाता है। डॉ. हीरालाल[४५] जी ने उनके अस्पष्ट ऐतिहासिक आधार को जोड़ने का प्रयास किया है। उनकी कडी का आधार उत्तराध्ययन सूत्र का 'नमिपव्वज्जा' नामक ६ वॉ अध्ययन है। इसके १४ वें पद्य का बौद्ध महाजनक जातक तथा महाभारत के शान्तिपर्व की निम्नलिखित पंक्तियों से साम्य है—

सुहं वसामोजीवामो जेसिं में नत्थि किंचण।
मिहिलाए डज्झमाणीए न मे डज्झइ किंचण।। उत्तराध्ययन सूत्र ६/१४
सुसुखं वत जीवामो वेषं नो नत्थि किंचण।
मिथिलाए दह्यमानाए न मे किञ्चि अ दह्यते। महाजनक जातक
मिथिलायां प्रदीप्तायां न में किञ्चन दह्यते।। महाभारत।

बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ (अरिष्टनेमि)

कुशार्थ देश के शौर्यपुर नगर का स्वामी राजा शूरसेन हुआ। उसके वंश मे राजा समुद्रविजय हुए। उनकी रानी शिवादेवी से बाईसवे तीर्थंकर नेमिनाथ का जन्म हुआ। वे सूर्य से भी अधिक तेजस्वी थे। भगवान नमिनाथ की परम्परा के पॉच लाख वर्ष बीत जाने पर नेमि जिनेन्द्र उत्पन्न हुए थे। उनकी आयु एक हजार वर्ष थी। शरीर दस धनुष ऊँचा था। किसी एक समय जलक्रीड़ा करते समय सत्यभामा की व्यंग्योक्ति के फलस्वरूप नागशय्या पर चढ़कर शार्ग नामका दिव्य धनुष चढ़ा दिया तथा दिग् दिगन्त को पूर्ण करने वाला शख पूर दिया। यह जानकर कृष्ण को आशंका उत्पन्न हो गई कि नेमिनाथ हमारा राज्य न ले लें। वे भगवान् के वैराग्य का साधन जुटाने लगे। इस हेतु उन्होने बाडे में बहुत से पशुओं को बन्द करा दिया। जब नेमिनाथ दूल्हा बनकर राजीमती से विवाह करने हेतु प्रस्थान कर रहे थे, तब उन्हें मार्ग में ये पशु बाड़े में एकत्रित दिखाई दिए। पूछने पर रक्षक ने बतलाया कि आपके विवाह में मारने के लिए कृष्ण ने बुलाया है। नेमीश्वर ने घोर करुण स्वर से चिल्लाते हुए मृगो को देख दयावश छुड़ा दिया। वे विचार करने लगे कि ये पशु जंगल में रहते हैं, तृण खाते हैं और किसी का कुछ अपराध नहीं करते हैं, फिर भी लोग उन्हें पीड़ा पहुंचाते हैं, ऐसे लोगों को धिक्कार है।

इस प्रकार विचार करते हुए उन्हे श्री कृष्ण का कपट विदित हुआ और वे विरक्त होकर दिगम्बर रूप में दीक्षित हो गए। राजीमती भी उनके पीछे पीछे तपश्चरण के लिए चली गयी। छप्पन दिन के तप के बाद रैवतक पर्वत पर उन्हें कैवल्योपलब्धि हुई। देवों ने उनके ज्ञानकल्याणक की पूजा की। उनका उपदेश समस्त देशो में हुआ। उनकी सभा में अठारह हजार मुनिराज थे। अन्त में रैवतक पर्वत से ये मुक्ति को प्राप्त हुए। भगवान नेमिनाथ नारायण कृष्ण के ताऊजात भाई थे। उनके समय बलदेव बलभद्र और प्रतिनारायण जरासन्ध भी हुए।

डॉ. फुहरर ने मूल्यवान् मथुरा की पुरातात्त्विक सामग्री के ज्ञान के आधार पर यह घोषित किया था कि नेमिनाथ ऐतिहासिक व्यक्ति थे।

प्रो. एल.डी. बार्नेट जैन मान्यता को श्रेय देते हुए कहते हैं—

मै एक तथ्य की ओर ध्यान दिलाना चाहता हूँ, जिस पर कि अभी तक लागो ने ध्यान नहीं दिया। जिस प्रकार जैन तीर्थंकर महावीर से पूर्व पार्श्वनाथ हुए, उसी प्रकार पार्श्वनाथ के पूर्ववर्ती अरिष्टनेमि हुए। ये वासुदेव कृष्ण के समसामयिक थे। यदि इन तीर्थंकरो में से प्रत्येक का अन्तराल २०० वर्ष माने, जो कि बहुत उचित प्रतीत होता है, तो अरिष्टनेमि की तिथि १००० ई. पू. माननी पड़ेगी। डॉ. पार्जिटर के अनुसार महाभारत युद्ध की यही तिथि है। इसमें कृष्ण ने लगभग ६५० ई. पूर्व में भाग लिया था।

महाभारत में अरिष्टनेमि को जिनेश्वर कहा गया है। यह जैन शब्द है। महाभारत मे उन्हे अहिसा का प्रचार करते हुए वर्णित किया गया है।

अरिष्टनेमि की एक मूर्ति मथुरा के कंकाली टीले से प्राप्त हुई है। सम्भवतः यह कनिष्क के काल की हैं जिस पर निम्नलिखित अभिलेख है—

अ......................ष २० (द) व २ दि २०२

ब......................धितुमि (तशि) रिये भग्वते अरिष्टणेमिस्य (वलर्त)

इससे निर्देश प्राप्त होता है कि मित्रशी ने अरिष्टनेमि की एक मूर्ति कनिष्क शासन काल के १८ वे वर्ष मे बनवाई थी।

इण्डो सीथियन युग का एक अन्य अभिलेख मथुरा की सव्रतोभद्रिका जिन प्रतिमा से प्राप्त हुआ है। चालुक्य अभिलेख, जो कि लक्ष्मेश्वर मे प्राप्त हुआ है, में २२ वें तीर्थंकर को शंख जिनेन्द्र कहा गया है। शंख भगवान् नेमिनाथ का चिन्ह है।

डॉ. प्राणनाथ ने एक बेबीलोनिया के राजा नेबुचंनन्नजर (११४० ई. पूर्व) का एक ताम्रपत्र प्रकाशित कराया है, जिसमें निर्देश है कि राजा भगवान् नेमि

की वन्दना के लिए रैवतक (गिरनार) पर आया। नेमिनाथ की सेवा में उसने दान पत्र अर्पित किया। दान पत्र पर उक्त पश्चिम एशियायी नरेश की मुद्रा भी अंकित है।

स्कन्धपुराण में कहा गया है—

वामनोऽपि ततश्चक्रे तत्र तीर्थावगाहनम्।
याद्रग्रूपः शिवो दृष्टः सूर्यबिम्बे दिगम्बरः।।
पद्मासनस्थितः सौम्यस्तथा तं तत्र संस्मरन्।
प्रतिष्ठाप्य महामूर्तिं सिद्धयर्थं ततः सिद्धिमवाप्तवान्।
नेमिनाथः शिवेत्येवं नाम चक्रे स वामनः।।

वामन ने भी वहाँ तीर्थ बनाया। उसे सूर्य के बिम्ब में दिगम्बर रूपधारी शिव दिखाई दिये। वे पद्मासन में स्थित थे, सौम्य थे। उन्हें वहाँ स्मरण करते हुए महामूर्ति के रूप में प्रतिष्ठापित कर वासर की अपने मन के अभीष्ट प्रयोजन की सिद्धि के लिए पूजा की। अनन्तर उसे सिद्धि प्राप्त हुई उस वामन ने नेमिनाथ शिव, ऐसा नाम रखा।

स्कन्ध पुराण प्रभास भाग १४, ६४–६५

जैन परम्परा के अनुसार भगवान अरिष्टनेमि के पिता समुद्र विजय तथा श्री कृष्ण के पिता वसुदेव भाई भाई थे। अरिष्ट नेमि का जन्म यमुना के किनारे शौरीपुर में हुआ था। यह स्थान आगरा के समीप है।

तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ

जम्बूद्वीप के दक्षिण भरत क्षेत्र मे सुरम्य नामक देश में पोदनपुर नगर था। वहाँ राजा अरविन्द राज्य करता था। उस नगर में विश्वभूति ब्राह्मण के दो पुत्र कमठ और मरुभूति रहते थे। ये दोनों राजा के मन्त्री थे। एक बार जब मरुभूति बाहर राजा के कार्य से गया हुआ था तब कमठ ने उसकी स्त्री वसुन्धरा को बलात् अपनी पत्नी बना लिया। राजा को जब यह ज्ञात हुआ तो उसने कमठ को अपने राज्य से निष्कासित कर दिया। कमठ सिन्धु नदी के किनारे तप करने लगा। बड़े भाई के निष्कासन से दुःखी छोटा भाई मरुभूति तलाश करते करते भाई के पास पहुँचा। उसे आया देखकर कमठ को बहुत क्रोध आया। उसने नमस्कार करते हुए मरुभूति पर पाषाणशिला गिरा दी। इस प्रकार कई जन्मों तक उन दोनों का आपस मे वैर चलता रहा। अन्त में मरुभूमि का जीव वाराणसी के काश्यपगोत्री राजा विश्वसेन की रानी ब्राह्मी के गर्भ में पार्श्वनाथ के रूप में आया। देवों ने यथा समय गर्भ, जन्म आदि महोत्सव किए। अन्त में वैराग्य के कारण उन्होंने समस्त

परिग्रहों का त्याग कर दिगम्बर दीक्षा ले ली। एकबार जब वे तपश्चरण में लवलीन थे तो आकाशमार्ग से जाते हुए कमठ के जीव शम्बरासुर का विमान रुक गया। उसने विभगावधि से सब वृत्तान्त जाना तो वैरी को देखकर उसकी क्रोधाग्नि बढ़ गई। क्रोधवश उसने महागर्जना की और महावृष्टि करना प्रारम्भ कर दिया। अनेक उपसर्गों के बीच जब भगवान् धैर्य से च्युत नहीं हुए तो उसने उन्हे मारने के लिए पहाड़ उठाया। इसी समय धरणेन्द्र और पद्मावती भगवान् की पूजा के लिए आए। धरणेन्द्र ने भगवान् को घेरकर अपने फणों के ऊपर उठा लिया और पद्मावती वज्रमय छत्र तानकर खड़ी हो गयी। इसी समय भगवान् को केवलज्ञान हो गया। आकाश में सुरदुन्दुभि बजने लगी, दिशायें निर्मल हो गयीं। यह देखकर शम्बरासुर भागने लगा, किन्तु धरणेन्द्र ने उसे अभय देकर रोका और उनके पूर्वजन्मों की याद दिलाई। शम्बर ने अपने कृत्यों पर पश्चाताप किया और तीर्थंकर का गुणगान किया। आचार्य गुणभद्र ने भगवान् पार्श्वनाथ और कमठ के जीव की तुलना करते हुए कहा है–

क्व तद्वरं वृथा शान्तिरीदृशी क्वास्य पापिनः।

सख्यमास्तां विरोधश्च वृद्धये हि महात्मनि।। उत्तर पुराण ७३/१४८

पापी कमठ के जीव का कहाँ तो निष्कारण वैर और कहाँ ऐसी शान्ति? महापुरुषों के साथ मित्रता तो दूर रही शत्रुता भी वृद्धि का कारण होती है

भगवान् पार्श्वनाथ के समवसरण मे स्वयम्भू आदि दश गणधर थे, तीन सौ पचास मुनिराज पूर्व के ज्ञाता थे, दश हजार नौ सौ शिक्षक थे, एक हजार चार सौ अवधिज्ञानी थे, एक हजार केवलज्ञानी थे, इतने ही विक्रिया ऋद्धि के धारक थे, सात सौ पचास मनःपर्ययज्ञानी थे और छह सौ वादी थे। इस प्रकार सोलह हजार मुनिराज उनके समवसरण में थे। सुलोचना आदि छत्तीस हजार आर्यिकायें थीं, एक लाख श्रावक थे, तीन लाख श्राविकायें थी, असंख्यात देव–देवियाँ थीं और संख्यात त्रिर्यंच थे। इस प्रकार धर्मोपदेश देते हुए भगवान् ने पाँच माह कम सत्तर वर्ष तक विहार किया। अन्त में सम्मेदाचल से वे मोक्ष पधारे। उनके नाम पर अब भी पर्वत का नाम पारसनाथ हैं।

आधुनिक खोजों से पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता प्रमाणित है। जिम्मर[४६] का कहना है कि वर्द्धमान महावीर से २४६ वर्ष पूर्व पार्श्व थे। वे जिन थे। वर्द्धमान महावीर जैनधर्म के संस्थापक नहीं थे, वे तो तीर्थंकरों की प्राचीन परम्परा के सन्देश वाहक थे। जैकोबीने पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता प्रमाणित

की है। अतः इसमें कोई सन्देह नहीं कि जैनधर्म महावीर से पूर्व प्रचलित था। पार्श्वनाथ और महावीर उसके अन्तिम तीर्थंकर थे। गौतम बुद्ध ने श्रमण परम्परा के अनुसार तपश्चरण किया था, जैसे केशलोंच, उपवास आदि। उन्होंने पार्श्वनाथ के समय में प्रचलित पद्धति के अनुसार भिक्षावृत्ति की थी। बुद्ध ने बुद्धत्व प्राप्ति से पूर्व जो साधनायें की थीं वे श्रमण साधनायें थीं, जो कि महावीर से पूर्व अथवा कम से कम पार्श्व के समय से प्रचलित थीं।[४७] अंगुत्तर निकाय मे कहा गया है कि बुद्ध के चाचा बप्प शाक्य निर्ग्रन्थ श्रावक थे। वे पार्श्वनाथ की शिक्षाओं को मानते थे।[४८] वर्षावास की जो पद्धति महावग्ग मे निर्दिष्ट है, वह निश्चित रूप से पार्श्व परम्परा से प्रभावित रही होगी।[४९] पार्श्वनाथ ने चातुर्याम की शिक्षा दी थी— १. सर्वप्राणातिपात विरमण २. मृषावादविरमण ३. अदत्तादान विरमण ४. सर्वबहित्थादानविरमण। ऐसा कहा जाता है कि इसमें ब्रह्मचर्य जोड़कर भगवान् महावीर ने पंचमहाव्रत की शिक्षा दी।

पार्श्वनाथ ने महावीर से लगभग २५० वर्ष पूर्व निर्वाण प्राप्त किया। उनके पिता अश्वसेन बनारस के राजा था। माता का नाम ब्राह्मी के साथ वरमाला वर्मिला भी प्राप्त होता है। तीस वर्ष की उम्र में उन्होंने ससार छोड़ा और कठोरतप किया और ज्ञान प्राप्त कर लोगो को मुक्ति का मार्ग बतलाया। ई. पूर्व ७७७ में उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया।

चौबीसवें तीर्थंकर महावीर

आज से २६०० वर्ष पहले भारत भूमि पर जटिल क्रियाकाण्ड छाया हुआ था। मानवता पर दैवत्व की प्रतिष्ठा हो रही थी। पुरोहित सर्वोपरि माने जाते थे। सामाजिक ऊँचनीचता का बोलबाला था। शूद्रों पर अवर्णनीय अत्याचार हो रहे थे। देश मे ऐसी भाषा का प्राबल्य था, जिसे जनसाधरण नहीं समझता था। छोटे–छोटे राज्यों में संघर्ष बढ रहा था। संक्षेप में वह समय प्रगतिहीनता, असमानता और अन्याय का था। इस प्रकार के घोर अन्धकार के बीच आशा की एक किरण फूटने वाली थी। उस किरण के सामने संसार ने पलक पाँवड़े बिछा दिए। देवों ने रत्नो की वर्षा की।

वैशाली गणतन्त्र के शासक ज्ञातृवंशीय काश्यप गोत्रीय क्षत्रिय राजा सिद्धार्थ की नगरी कुण्डपुर या कुण्डग्राम हर्षोल्लास से भरपूर हो गई। पशु पक्षी हर्ष से कलरव करने लगे। सिद्धार्थ की रानी प्रियकारिणी त्रिशला ने रात्रि के अतिम प्रहर सोलह स्वप्न देखे— १. हाथी, २. बैल, ३. सिंह, ४. लक्ष्मी, ५. दो मालायें, ६. चन्द्रमा, ७. सूर्य, ८. दो मछलियाँ, ९. कमलों से आवृत

दो घट, १०. स्वच्छ सरोवर, ११. समुद्र, १२. सिंहासन, १३.देवों का विमान, १४. नागेन्द्र भवन, १५. रत्न राशि और १६. निर्धूम अग्नि। आषाढ़ सुदी ६ प्रहस्त नक्षत्र की वह पुण्य बेला थी। प्रातःकाल हर्षित चित्त हो महारानी राज सभा में गई। राजा ने बड़े सम्मान के साथ उन्हें अपने बाई ओर सिहांसन पर बैठाया। रानी ने स्वप्न सुनाए। राजा ने प्रफुल्लचित्त हो रानी से स्वप्नों का फल कहा कि तुम्हारे गर्भ से तीन लोक के नाथ तीर्थंकर भगवान जन्म लेंगे, जो आत्मकल्याण के साथ विश्व के भूले भटके प्राणियों को कल्याण के मार्ग पर लायेंगे। रानी ने स्वप्नो का फल एकाग्रचित से सुना, उसका मनमयूर नाच उठा। जब भगवान गर्भ में आए तब दुषम सुषम नामक चतुर्थ काल के पचहत्तर वर्ष साढ़े आठ माह बाकी थे। देदीप्यमान प्रभा की धारक माता प्रियकारिणी की ५६ दिक्कुमारियाँ सेवा करने लगी। प्राणियों के हृदयों के साथ साथ दिशाये प्रसन्न हो गई। आकाश ने बिना धुले ही निर्मलता धारण की। देवों ने मत्त भ्रमरो से व्याप्त पुष्पो की वर्षा की और दुन्दुभियों ने आकाश में गम्भीर नाद किया।

जन्मकाल : नौ माह आठ दिन व्यतीत हो जाने पर जब चन्द्रमा उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र पर आया तब भगवान् का जन्म हुआ। प्रभात मे गणनायक सिद्धार्थ के घर पुत्र उत्पन्न होने की खुशी में वैशाली के नरनारी नाच उठे। देवो ने नन्द्यावर्त प्रासाद और नगरी पर रत्नों की वर्षा की। इन्द्र अपने परिवार के साथ शिशु को ले ऐरावत हाथी पर सवार हो पाण्डुकशिला पर गया और क्षीरसागर के पवित्र जल से उस बालक का अभिषेक किया। बालक के रूप, सौन्दर्य और आभा को देखकर देव आश्चर्यचकित हो गए। इन्द्र निहारता ही रह गया, एक हजार नेत्र बना लिए, फिर भी तृप्त नही हुआ। नम्रीभूत सुरेन्द्र ने 'वीर' यह नाम रखकर अपने और देव तथा असुरों के नेत्रयुगल को सफल करते हुए हाव भाव से ऐसा नृत्य किया, जिसमे समस्त रस साक्षात् प्रकाशित हो गए। बाल्योचित्त मणिमय आभूषणों से विभूषित कर देवगण इस प्रकार स्तुति करने लगे[५०]—

हे वीर ! यदि ससार में आपके रुचिर वचन न हों तो भव्यात्माओं को निश्चय से तत्त्वबोध किस तरह हो सकता है। पद्मा (कमल श्री या ज्ञानश्री) प्रातःकाल मे सूर्य के तेज के बिना क्या अपने आप ही विकसित हो जाती है? स्नेहरहित दशा के धारक आप जगत् के अद्वितीय दीपक हैं। कोमल अन्तरात्मा वाले आप चिन्तामणि हैं। व्यालवृत्ति से सम्बन्ध न रखने वाले आप मलयगिरि है। हे नाथ ! आप उष्णता से रहित तेज के पुंज है।[५१] आपको नमस्कार हो।

विकास : दिव्य वस्त्र, आभरण, माला, विलेपन इत्यादि के द्वारा राजा सिद्धार्थ तथा प्रियकरिणी त्रिशला की पूजा कर भगवान के बल तथा नाम का निवेदन कर प्रसन्न हुए देवगण नृत्य करके अपने अपने स्थान को चले गए।[५२] माता पिता के घर तरह तरह की क्रीड़ाओं द्वारा लोगों के मन को मोहित करता हुआ बालक दिनों दिन बढ़ने लगा। बालक के गर्भ में आने के छह माह पहिले से निरन्तर राजलक्ष्मी बढ़ रही थी। सब तरह का वैभव विशाल हृदय वाली वैशाली के चरणों में लोट रहा था। इस प्रकार की सतत अभिवृद्धि को देखकर माता–पिता ने जन्म के दसवें दिन बालक का नाम वर्द्धमान रखा।[५३] जब उनकी अवस्था कुछ बढ़ी तो उनके मुख से सरस्वती की भाँति वाणी निकलने लगी। क्षायिक सम्यक्त्व के प्रभाव से समग्र पदार्थों का ज्ञान उन्हे स्वतः हो गया अतः वे मनुष्य तथा देवों के गुरु स्थानीय हो गए; किन्तु उनका कोई गुरु न था। ठीक आठवें वर्ष उन्होंने व्रतों को धारण कर लिया। हितकारी और मधुर शब्दो का उच्चारण, अपरिमित गुण, कला और विज्ञान के अतिशय के कारण उनकी कीर्ति दिग् दिगन्त व्यापी हो गई।

कुमार का वर्द्धमान के रूप में जन्म उनके पिछले अनेक जन्मों की सतत साधना का परिणाम था। कहा जाता है कि एक समय वर्द्धमान का जीव पुरूरवा भील था। वह अत्यन्त भद्र परिणामी था। उसकी कालिका नामक स्त्री थी। वह अत्यन्त कल्याणकारिणी थी। एक दिन संयोगवश दूर से उसने सागर सेन मुनिराज के दर्शन किए। पुरूरवा ने दूर से उन्हें देखकर हिरण समझकर मारने की इच्छा की किन्तु पुण्योदय से उसकी पत्नी ने उसे मना किया और कहा कि संसार के कल्याण के उद्देश्य से यह वन देवता भ्रमण कर रहे हैं; अतः पाप के भागी मत बनो। पत्नी की ज्ञानमयी बात सुनकर वह मुनि के समीप गया और बड़ी भक्ति के साथ उनके चरणों में अपना मस्तक झुकाया। मुनिराज ने उससे परिचय पूछा— भील ने आश्चर्य युक्त हो उत्तर दिया— महाराज ! आप मुझे नहीं जानते है, मैं इस अटवी का स्वामी भीलों का राजा हूँ। मुनिवर ने पुनः प्रश्न किया— सचमुच तुम स्वामी हो? भिल्लराज ने सविनय उत्तर दिया— महाराज ! यह बात तो आबालवृद्ध सभी जानते हैं मुनिराज बोले— भिल्लराज तुम भूल में हो, मोहवश ऐसा कह रहे हो। स्वामीपना तुममें लेशमात्र भी नहीं है। एक अंगुल की जिह्वा की लोलुपता के कारण उस पर नियन्त्रण रख तुम निरन्तर पंचेन्द्रिय जीवों के प्राणों का घात किया करते हो, तिस पर भी तुम कहते हो कि मैं स्वामी हूँ। यदि स्वामी होते तो कम से कम अपने पर इतना नियन्त्रण तो रख पाते। करोड़ों युद्धों में विजय प्राप्त

करने वाला भी शूर वास्तविक शूर नहीं है, आत्मजयी के सामने उसकी सारी शूरता, उसका सारा वैभव तुच्छ है। अतः आत्मजयी बनो, आत्मा ही एकमात्र शरण है, आत्मदीप बनो। आत्मा का प्रकाश जिसके अन्दर प्रस्फुटित हो गया, उसे अनन्त आनन्द की प्राप्ति हो गई। मुनिराज की बातों का भील के ऊपर जादू जैसा असर पड़ा, उसने मद्य मांसादि का परित्याग कर दिया और धर्मधारण किया। महावीर के जीवन की वास्तविक साधना का मार्ग यहाँ से प्रारम्भ होता है। बीच में उसे कौन–कौन से मार्गों से जाना पड़ा, जीवन में क्या क्या बाधायें आईं और किस किस प्रकार भटकना पड़ा, यह एक लम्बी और दिलचस्प कहानी है। जो सन्मार्ग का अवलम्बन कर जीवन के विकास की प्रेरणा देती है और संसार की वास्तविकता को सामने रखती है।

वर्द्धमान का जीवन हमें एक शान्त पथिक का जीवन लगता है जो कि संसार में भटकते भटकते थक गया है। जिन भोगों को भोगना था, वे अनन्तबार भोग लिए, फिर भी तृप्ति नहीं हुई, अतः भोगों से मन हट गया, अब किसी चीज की चाह नहीं रही। परकीय सयोगों से बहुत कुछ छुटकारा मिल गया। अब जो कुछ रह गया उससे भी छुटकारा पाकर वर्द्धमान मुक्ति की राह देखने लगे। इस राह की प्राप्ति के लिए बचपन से ही उन्होने अभय की साधना की।

एक दिन की घटना है— इन्द्र की सभा में देवों ने भगवान की दिव्य कथा की चर्चा की। वे कहने लगे— देखो, वीर जिनेश्वर कुमार अवस्था में ही धीर, शूरों में शूर, अतुल पराक्रमी, दिव्य रूपधारी और गुणों के निधान है। उसी समय संगम नामक देव उनकी परीक्षा के लिए चल पड़ा। उस समय कुमार वर्द्धमान बहुत से बालकों के साथ वन में क्रीड़ा कर रहे थे। देव ने उनको डराने के लिए काले साँप का रूप बनाया और एक वटवृक्ष के स्कन्ध से लिपट गया। भयंकर साँप देख सभी राजकुमार कूदकर भाग गए, किन्तु वर्द्धमान इससे जरा भी विचलित नही हुए। विकराल सर्प के ऊपर आरूढ हो वे क्रीडा करने लगे। संगम देव उनके साहस को देखकर दंग रह गया। उसने अपना असली रूप धारण कर विनम्र वाणी में कहा—

देव! आप ससार के स्वामी धीरवीर, कर्मरूपी शत्रुओं के विनाशक और समग्र जीवों के रक्षक हैं। आपके अतुल पराक्रम को प्रकट हुई कीर्ति कौमुदी सारे संसार में विस्तृत हो रही है अतः आपको कोटि कोटि नमन है। इस प्रकार भगवान का गुणानुवाद कर महावीर नाम रख वह स्वर्ग चला गया।

महान् पुरुषों का दर्शन ही बहुत से संशयालु चित्त लागों की शंकाओं

का निवारण कर देता है। संजय और विजय नाम दो चारण ऋद्धिधारी मुनि थे, उन्हें तत्त्व के विषय में कुछ शंका थी। कुमार वर्द्धमान को देखकर ही उनकी शंका दूर हो गई। उन दो यतियो ने कुमार का सन्मति नाम रखा।

एक दिन ३० वर्ष का त्रिशलानन्दन वह कुमार कर्मों का बन्धन काटने के लिए बिना किसी बाह्य निमित्त के ही स्वर्गसम भोगों और घरबार को छोड़कर माता पिता की आज्ञा ले तपस्या और आत्मचिन्तन में लीन रहने का विचार करने लगा। वह सोचने लगा– मोह रूपी महान् शत्रु का नाश करने के लिए रत्नत्रय रूप तप का पालन ही श्रेयस्कर है। चारित्र के अभाव में मेरा इतने दिन का समय व्यर्थ बीत गया। बीता हुआ वह क्षण अब वापिस नहीं आ सकता। पूर्व समय मे जितने ऋषभदि तीर्थंकर हुए हैं, उनकी आयु बहुत थी। अतः वे कुछ कर सकने में समर्थ हुए, किन्तु हम जैसे थोड़ी आयु वाले मनुष्य कुछ भी सांसारिक कार्य नहीं कर सकते। वे नेमिनाथ आदि तीर्थंकर धन्य हैं, जिन्होने अपने जीवन की अवधि थोडी समझकर अल्पायु में ही मोक्ष की इच्छा से तपोवन की ओर प्रस्थान किया। आत्महित की साधना करने वाले व्यक्ति को एक क्षण भी व्यर्थ नहीं जाने देना चाहिए। कुमार की इस विरक्ति की स्वर्ग के लौकान्तिक देवो ने भी आकर प्रशंसा की। यह समाचार सुनकर माता पिता को बहुत चिन्ता हुई। कुछ ही दिनों पहिले कलिंग के राजा जितशत्रु ने अपनी सुपुत्री यशोदा के साथ कुमार वर्द्धमान के विवाह का प्रस्ताव भेजा था। उनके इस प्रस्ताव को सुनकर माता पिता ने क्या क्या स्वप्न नही सँजोए थे? आज वे स्वप्न उन्हें बिखरते हुए नजर आ रहे थे। वर्द्धमान को बहुत समझाया गया। अन्त मे भोगो के समक्ष योगों की विजय हुई। मुक्ति के राही को भोगों के काँटे जरा भी विचलित नहीं कर सके। सब कुछ त्यागकर भगवान इन्द्र द्वारा लायी हुई रत्नप्रभा पालकी पर सवार हो वन की ओर चल पड़े। लोग उनके वैराग्य भाव की प्रशंसा करने लगे काम रूपी शत्रु को यथार्थ मे प्रभु ने ही जीता है, दूसरे मे यह सामर्थ्य कहाँ? वैराग्य के प्रभाव से भगवान ने सब सम्पदायें त्याग दी। दरिद्र मनुष्य अपनी कच्ची झोपडी भी नहीं छोड़ सकते किन्तु विरक्ती हृदय चक्रवर्ती की भी विभूति त्याग देता है। माता ने यह दृश्य देखा तो मूर्च्छित हो गई। लोगों ने उन्हें सान्त्वना दी और अनुपम शक्तिशाली भगवान् के गुणों की प्रशंसा की।

तपः काल : वन में पहुँचकर वीर प्रभु ने मार्गशीर्ष कृष्णादशमी को सांयकाल हस्त एवं उतरानक्षत्र के मध्य वाले शुभ समय में जिनदीक्षा धारण की। वे मोह, ममता से रहित थे और योग की सिद्धि के सिंह के समान निर्भय

होकर रात्रि के समय में भी पर्वत की अँधेरी गुफा, श्मसान और भयंकर वन में रहते थे। क्रमशः छठवें और आठवें उपवास से प्रारम्भ कर छः मास तक के अनशन तप को करते थे। वर्षाकाल मे जब कि सारी प्रकृति झंझावात के उग्र आलोदन से थर्राती हुई दृष्टिगोचर होती थी, तब महावीर धैर्य रूपी कम्बल को ओढ़कर वृक्ष के नीचे समाधि लगाते थे। शीतकाल में वे किसी चतुष्क अथवा सरिता तट पर ध्यान मग्न रहते थे। भयंकर हिमपात में वे ध्यानरूपी अग्नि को जलाते थे। ग्रीष्मकाल में सूर्य की किरणों से तप्त शिला खण्डों पर ध्यानामृत की वर्षा करते थे। इस प्रकार वे कठोर आन्तरिक और बाह्य तपों में रत रहते थे। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने कहा है— महावीर और बुद्ध से ज्यादा यदि कोई त्याग और तपस्या का घमण्ड करता है तो मैं उसे दम्भी कहूँगा। महावीर ने १२ वर्ष तक घोर तपश्चर्या की। श्वेताम्बर ग्रन्थों में उनकी तपश्चर्या इतनी कठोर और रोमाञ्चकारी है कि तन, मन, नयन सिहर उठते हैं। करतल भिक्षा, तरूतल वास, न कोई साथी, न कोई संगी, भयंकर ग्रीष्म, वर्षा और शरदऋतु का प्रकोप, जंगली जन्तुओं और दशमशक की बाधा तथा अज्ञानी जनता का उत्पात, इस प्रकार की भयंकर बाधायें भी महावीर की आस्था को डिगा न सकी। नवधा भक्ति से ओतप्रोत, आहार कही प्राप्त हो गया तो ले लिया, नही तो निराहार ही तपश्चर्या चल रही है।

प्राणिमात्र के प्रति मैत्री का भाव, गुणीजनों को देखकर प्रमुदित होना, विपरीत वृत्तियों वाले व्यक्ति पर माध्यस्थ्य भाव आदि भावनाओं को हृदय में धारण करते हुए एक बार भगवान महावीर उज्जयिनी के अतिमुक्तक शमशान मे पहुँचे। उस महा भयानक श्मशान में पहुँचकर उन्होने शरीर का ममत्व छोड़ प्रतिमायोग धारण किया और पर्वत के समान अचल भाव से अवस्थित हो गए। उनके धैर्य की परीक्षा करने के लिए वहॉ से स्थाणु रुद्र ने अपने परिकर के साथ अनेक प्रकार के उपसर्ग करना प्रारम्भ कर दिया। उसने सर्प, सिंह, हाथी, प्रबल वायु, अग्नि आदि के द्वारा प्रभु के हृदय में भय उत्पन्न करना चाहा, किन्तु भगवान पर्वत के समान अचल बने रहे, किञ्चिन्मात्र उनकी मुखाकृति खिन्न नहीं हुई। उनका ध्यानभंग न होते देख रुद्र हताश हो स्तुति करने लगा— 'हे देव! इस संसार मे तुम्हीं बली हो, तुम्हीं जगद्गुरु एव वीर शिरोमणि हो इसलिए तुम्हारा नाम महावीर है। तुम महाध्यानी, सम्पूर्ण जगत् के स्वामी, सकल परिषहो के विजेता, वायु के समान निःसंग एवं कूटाचल की तरह अचल हो। आपकी क्षमा पृथ्वी के समान तथा गम्भीरता समुद्र के

समान है। कर्मरूपी वन को दहन करनेके लिए अग्नि के समान हे परमात्मन्! आपको नमस्कार हो।

तपःकाल का एक ऐसा ही दिन, एक ग्वाला कहीं से आया और भगवान् से पूछने लगा तुमने मेरे बैल तो नहीं देखे हैं? महावीर तपश्चर्या में लीन, तन की सुधि नहीं, ग्वाले की बात का उत्तर कौन दे? ग्वाला इधर उधर चला गया, जंगल में भटकता फिरा, बैल कहीं नजर नहीं आए। बेचारा परेशान होकर उसी स्थान पर आ गया जहाँ महावीर तपस्या कर रहे थे। देखा बैल वहीं योगी के समक्ष घास चरते हुए विचरण कर रहे हैं। बैलों को साधु के समीप चरता हुआ देखकर ग्वाला क्रोध से मत्त हो उठा। निश्चय ही इस धूर्त का यह जादू है। मन में कपट रखकर यह साधु बगुले के समान आचरण कर रहा है, इस प्रकार के अनेक संकल्प विकल्पों से प्रेरित हो उसने महावीर पर लाठी और पत्थरों से प्रहार करने का उपक्रम किया। करूणाशील महावीर फिर भी अविचल ध्यान लगाए खड़े रहे। यह कैसा साधु है जो इतने प्रहार के बाद भी मुख पर जरा भी विकृति लाए बिना अविचल भाव से खड़ा है, इसकी सहिष्णुता अप्रतिम है। ओह ! मैंने बड़ा अनर्थ किया, मेरा उद्धार कैसे होगा? ऐसा योगी तो मैंने कहीं नहीं देखा, जी चाहता है इसके कदम चूम लूँ। इस प्रकार पश्चात्ताप पूर्ण हृदय वाला ग्वाला महावीर के चरणों मे लेट गया। भगवन्! मुझ अज्ञानी, निपटमूर्ख को क्षमा करो। महावीर ने आँखें खोली। इस भूले भटके राही पर उनकी करुणामय दृष्टि ने अमृत बिखेर दिया। ग्वाला हतप्रभ नयनों से देखने लगा।

वन, खेट, मटम्ब, पुटभेदन, व्रज और ग्रामानुग्रामो को पार करते हुए महावीर एक बार लाटदेश (बंगाल) में पहुंचे। वहाँ नग्नावस्था में महावीर को देखकर लोग उन पर लाठी, पत्थरों का प्रहार करते, उन पर छू छू कर कुत्ते छोड़ देते तथा अनेक प्रकार के उपसर्ग करते। महावीर इन उपसर्गों की तनिक परवाह किए बिना आगे बढ़ जाते।

चेटक राजा की पुत्री अप्रतिम सुन्दरी चन्दना को एक विद्याधर हरकर ले गया। अपनी स्त्री के भय से उसने उसे वन में छोड़ दिया। वहाँ पर एक भीलों का राजा आया। धन प्राप्ति की इच्छा से वह उसे उठाकर ले गया और वृषभसेन नामक सेठ को बेच दिया। उस सेठ की सेठानी सुभद्रा ने सोचा कि सेठ इसे मेरी सौत बनाने के लिए लाया है। अतः उसने चन्दना को दारुण दुःख देना प्रारम्भ कर दिया। उसके रूप को बिगाड़ने की इच्छा से वह उसे कोदों का भात मिट्टी के बर्तन में रखकर खाने को दिया करती

थी। तत्पश्चात् लोहे की साँकल से बाँध देती थी। एक बार महावीर आहार प्राप्ति की इच्छा से उधर आ निकले। प्रभु को देखते ही चन्दना बन्धन–मुक्त हो गई। उसने भक्ति पूर्वक आहार देना चाहा। उसकी अटूट भक्ति के प्रभाव से वह कोदों का भात भी सुगंधित और सुस्वादु चावल का भात हो गया; मिट्टी का पात्र सोने के पात्र के रूप में परिवर्तित हो गया। भगवान् ने विधि पूर्वक आहार किया। तत्क्षणोपार्जित दान रूपी महापुण्य के प्रताप से सती चन्दना को रत्नवर्षा, पञ्चाश्चर्य और कुटुम्बी प्राप्त हुए। इस प्रकार भगवान ने नारी उत्पीड़न को दूर करने में महान योग दिया।

कैवल्य प्राप्ति और उपदेश : महावीर की साधना मौन साधना थी, उसमें दिखावट का एक अंश भी नहीं था। जब तक उन्हें पूर्णज्ञान की उपलब्धि नहीं हो गई, तब तक उन्होंने किसी प्रकार का उपदेश नहीं दिया। जब तक तत्त्व का पूर्ण साक्षात्कार न हो जाय, तब तक उपदेश देना उनकी दृष्टि मे वृथा था, उसका कोई मूल्य नही था। वे कथनी और करनी में कोई अन्तर नहीं समझते थे। वैशाख शुक्ला दशमी के दिन सायकाल के समय जृम्भक नामक ग्राम के समीप सालवृक्ष के नीचे एक चट्टान पर ध्यान लगाकर उन्होंने घातिया कर्मों का नाशकर केवलज्ञान प्राप्त किया। इन्द्र सहित समस्त देवों ने आकर भगवान की आराधना की। उस दिन से लेकर सर्वज्ञ और सर्वदर्शी के रूप में उनकी प्रसिद्धि हो गई। कर्मों के विजेता होने के कारण वे जिन कहलाए। कैवल्य, वीतरागता एवं तीर्थंकरत्व प्राप्ति के पश्चात् सर्वप्रथम महावीर को उन तत्कालीन ग्यारह महान् विद्वान पंडितों का सामना करना पड़ा, जिनमें इन्द्रभूति गौतम, सुधर्मा और अग्निभूति भी सम्मिलित थे, जो कि वेद वेदांगों, यज्ञ अनुष्ठानों तथा पठन–पाठन में निपुण गुरुकुलों के अधिष्ठाता थे। इन पण्डितों ने जातीय दम्भ और ज्ञान के अहंकार में आकर महावीर को दम्भी, पाखण्डी इन्द्रजालिया आदि अनेक भद्दे शब्दा से सबोधित किया और उलझन भरे प्रश्न पूछकर उलझाना चाहा। किन्तु महावीर ने अपने प्रति किए गए अशोभनीय व्यवहार का किसी भी प्रकार का प्रतीकार नहीं किया और उनके सभी प्रश्नों का बड़े ही धैर्य और शान्ति से अत्यन्त सरल भाषा में उत्तर देकर संतुष्ट किया। जब महावीर ने यज्ञ अनुष्ठान, आत्मा, स्वर्ग, स्नान, ब्राह्मण आदि का व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से वास्तविक परिभाषायुक्त अभूतपूर्व स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया तो सभी पण्डितों को अपने ज्ञान और जातीय दम्भ पर ग्लानि पैदा हुई। उन्हें महावीर में एक अलौकिक प्रतिभा और प्रज्ञा के दर्शन हुए। उन्हें महावीर एक क्रान्तिद्रष्टा और मुक्तिदूत

के रूप में दिखाई दिए। अतः सभी पण्डितों ने अपने आपको अपने शिष्यों सहित उनके चरणों में समर्पित कर दिया और प्रव्रजित हो गए। इस सन्दर्भ में एक रोचक वृत्तान्त मिलता है। कहा जाता है कि केवलज्ञान होने के ६६ दिन बाद भगवान की वाणी प्रस्फुटित नहीं हुई। इसका कारण यह था कि महावीर को किसी योग्य शिष्य की अपेक्षा थी जो उनके उपदेशों को धारण करने और जनता में फैलाने में सक्षम हो। इन्द्र को इस विषय में चिन्ता हुई। वह उस समय के प्रकाण्ड विद्वान् इन्द्रभूति गौतम के पास एक वृद्ध ब्राह्मण का वेष रखकर गया और इस श्लोक का अर्थ पूछा–

त्रैकाल्यं द्रव्य षट्कं सकल गतिगणा सत्पदार्था नवैव।
विश्वं पञ्चास्तिकायाः व्रतसमिति चिदः सप्ततत्त्वानि धर्माः।।
सिद्धेर्मार्गः स्वरूपं विधि जनित फलं जीवषट्कायलेश्या।
एतान् यः श्रद्दधाति जिनवचनरतो मुक्ति गांभीरु भव्यः।

श्लोक सुनकर गौतम सोचने लगा– यह श्लोक तो बड़ा गूढ़ है तीन काल कौन कौन से होते है, छः द्रव्य कौन कौन है आदि। बहुत सोचने के बाद जब श्लोक का अर्थ समझ में नहीं आया तो कोई उपाय न देख उसने यह कहा कि चलो तुम्हारे गुरु से ही शास्त्रार्थ करते हैं। ऐसा कह वह अपने पाँच सौ शिष्यों और दो भाइयों सहित महावीर के सभा मण्डप की ओर चला। मार्गमें सोचता जाता था कि इस बुड्ढे के अर्थ को तो बतला नहीं सका, तब इसका गुरु तो और भी असाध्य होगा, फिर भी अभिमानवश चला गया। आते ही मानस्तंभ को देखकर उसका मानभंग हो गया। उसकी शकाओ का भगवान् ने निराकरण कर दिया। इस प्रकार गौतम उनके प्रथम गणधर हुए। महावीर की धर्मसभा समवसरण कहलाई। इसमें मनुष्य, पशु, पक्षी, देव आदि सभी प्राणी उपस्थित होकर धर्मोपदेश का लाभ लेते थे।

भगवान् के इन्द्रभूति, वायुभूति, अग्निभूति, सुधर्म, मौर्य, मौन्द्रय, पुत्र, मैत्रेय, अकम्पन, अन्धवेला तथा प्रभास ये ग्यारह गणधर थे। इनके अतिरिक्त तीन सौ ग्यारह अंग और चौदह पूर्वों के धारक थे, नौ हजार नौ सौ यथार्थ रायम को धारण करने वाले शिक्षक थे। एक हजार तीन सौ अवधिज्ञानी थे, सात सौ केवलज्ञानी परमेष्ठी थे, नौ सौ विक्रियाऋद्धि के धारक थे। पाँच सौ मनः पयर्यज्ञानी थे। चार सौ अनुत्तरवादी थे। इस प्रकार कुल चौदह हजार मुनीश्वर थे। चन्दना आदि छत्तीस हजार आर्यिकायें थी, एक लाख श्रावक थे, तीन लाख श्राविकाये थी, असंख्यात देव देवियाँ थीं और असख्यात तिर्यंच थे। भगवान् के प्रबुद्ध शिष्य समुदाय ने ग्राम, नगर और घर घर जाकर उनके

सन्देश सत्य, अहिंसा, अनेकान्त आदि का तत्कालीन लोकभाषा अर्द्ध मागधी प्राकृत में इतना प्रचार किया कि अल्पकाल में बिना किसी वर्ण, जाति और वर्ग भेद के राजा–रंक, श्रेष्ठी–निर्धन, ब्राह्मण–शूद्र आदि स्त्रीपुरुषों ने हजारों की संख्या में उनके शिष्यत्व को स्वीकार किया। महावीर के शिष्यों मे ब्राह्मण विद्वानों के अतिरिक्त वीरांगक, वीरयश, संजय, शिव, उदयन, शंक, आदि राजा, अभयकुमार, मेघकुमार आदि राजकुमार , सुदर्शन, धन्ना, शालिभद्र आदि श्रेष्ठी, हरिकेशी, अर्जुनमाली, शकडालपुत्र मेतार्य आदि चाण्डाल और अन्त्यजों के अतिरिक्त वसुमती, चन्दन बाला, मृगावती, चेलना आदि राजघरानों की कुमारियाँ एव रानियाँ भी सम्मिलित थीं। इस प्रकार महावीर ने अपने संघ में ब्राह्मण से लेकर शूद्र तक सभी को समान विकास के लिए समान स्थान प्रदान किया।[५४] यही कारण था कि अत्यन्त अल्पकाल मे उनके उपदेशों की गूँज लाढ देश, मगध, विदेह, वत्स, काशी, कौशल, सूरसेन, अवन्ती आदि प्रदेशों में दूर दूर तक सुनाई देने लगी। इतने लम्बे विस्तृत भूभाग में अपने शिष्य समुदाय सहित महावीर ने वर्षावास के समय को छोड़कर तीस वर्ष तक निरन्तर पद विहार किया और आत्मकल्याण का मार्ग बतलाया। उनकी भाषा अर्द्धमागधी के सम्बन्ध में सातवी शताब्दी के विद्वान् चूर्णिकार जिनदासगणि महत्तर ने लिखा है— **"मगहद्धविससय भासानिबद्धं अड्डारसदेसी भाषाणियतं अद्धमागधं"** अर्थात् अठारह प्रकार की देशी भाषाओं मे नियत सूत्र को अर्द्धमागधी कहते है। इसका सीधा सा अर्थ यह हो सकता है कि अर्द्धमागधी वह भाषा थी, जिसमे आधे शब्द मगध के और आधे अन्य देशी भाषाओं के थे। इससे स्पष्ट है कि महावीर का किसी भाषा विशेष के प्रति मोह नहीं था। भाषा उनके लिए अभिव्यक्ति का एक साधन मात्र थी, उसे वे साध्य नहीं मानते थे। जनता की भाषा में उपदेश देने के कारण ही लोग महावीर को पहिचान सके और महावीर का क्षेत्र सकीर्णता से मुक्त होकर विस्तृत बन गया।

स्याद्वाद विद्या के प्रतिष्ठापक आचार्य समन्तभद्र ने महावीर की स्तुति करते हुए उनके तीर्थ को निम्न श्लोक में सर्वोदय तीर्थ कहा है—

सर्वान्तवत्तद्गुणमुख्यकल्पं,
सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम्।
सर्वापदामन्तकरं निरन्तं,
सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव।।

भगवान महावीर श्रमण परम्परा के उन व्यक्तियों में से एक थे, जिन्होंने

यह उद्‌घोष किया था कि प्राणीमात्र समान है। स्वर्ग के अधिपति इन्द्र और कीट पतंग में आत्मा के अस्तित्व की अपेक्षा कोई अन्तर नहीं है। उस जमाने मे जब मनुष्य मनुष्य के बीच दीवालें खड़ी हो रही थीं किसी वर्ण के व्यक्ति को ऊँचा और किसी को नीचा बतलाकर एक वर्ग विशेष का स्वत्वाधिकार कायम किया जा रहा था, उस समय मानवमात्र क्या प्राणिमात्र के प्रति समत्वभाव का उद्‌घोष करना बहुत बड़े साहस की बात थी। तत्कालीन अन्य परम्परा के लोगों द्वारा इसका घोर विरोध हुआ। अंत में सत्य की विजय हुई। करोड़ों पशुओं और दीन दुःखियों ने चैन की साँस ली। धर्म ने अहिसात्मक रुख लिया। लोगों के बीच यह ध्वनि सुनाई पड़ने लगी—

धम्मो मंगल मुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।
देवा वितं नमस्संति जस्स धम्मे सया मणो।।

दशवैकालिक १/१

धर्म सर्वश्रेष्ठ मगल है। धर्म का अर्थ अहिंसा, संयम और तप है। जिसका मन सदा धर्म मे रमा रहता है, उसे देवता भी नमस्कार करते हैं।

सव्वे पाणा पियाउया सुहसाया दुक्खपडिकूला।
अपिवहा पियजीविणो जीविउ कामा।।
सव्वेसिं जीवियं पियं

आचाराग २/३/८१

सभी प्राणियों को आयु प्रिय है। सभी सुख पसन्द करते है, दुःख से घबड़ाते है, वध नहीं चाहते हैं, जीने की इच्छा करते हैं सबको अपना जीवन प्यारा है।

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः।।

पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय। ४४

रागादि भावों का न होना अहिंसा है और रागादि भावों की उत्पत्ति होना हिंसा है यही जिनागम का सार है।

एक जीव थोड़ी हिंसा करने पर भी अपने तीव्र कषाय भावों के कारण बहुत फल पाता है। दूसरा जीव बहुत हिंसा करने पर भी कषायों की मन्दता के कारण थोड़ा फल पाता है। कोई जीव यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति कर रहा है। कदाचित् उसके द्वारा किसी प्राणी का विघात हो जाय तो भी रागद्वेष आदि के अभाव के कारण उसे हिंसा का दोष नहीं लगेगा। यदि कोई जीव प्रमाद पूर्वक आचरण करता है तो जीव मरे अथवा नहीं, वह हिंसा के फल

का भागी अवश्य होता है। (पुरुषार्थ सिद्धयुपाय–५३, ४५–४६)

महावीर ने सृष्टिकर्ता ईश्वर का विरोध कर यह नारा बुलंद किया कि प्रत्येक आत्मा परमात्मा बन सकता है। कर्मों को नाशकर, शुद्ध, बुद्ध, निरंजन और सुखरूप स्थिति को प्राप्त किया जा सकता है। लोक छह द्रव्यों से बना है। ये छह द्रव्य शाश्वत हैं, इन द्रव्यों में यद्यपि उत्पाद (उत्पत्ति) और व्यय (विनाश) होता रहता है तथापि ये अपनी मौलिकता को सुरक्षित रखते हैं, प्रत्येक आत्मा अपने में पूर्ण स्वतन्त्र है, यह किसी ईश्वर का अंश नहीं है। अपने पुरुषार्थ के बल पर यह कर्मों के बंधन से मुक्त हो सकती है।

तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह इन चार धर्मों का उपदेश दिया था, जिसे चातुर्याम धर्म कहते हैं। स्त्री को परिग्रह मानकर पार्श्वनाथ ने अपरिग्रह के अंतर्गत ब्रह्मचर्य धर्म को माना था। बाद में पार्श्वनाथ के मूल मन्तव्य की ओर ध्यान न देकर लोग शिथिलाचारी हो गए। कुछ लोग कहने लगे कि पार्श्वनाथ ने ब्रह्मचर्य का उपदेश नहीं दिया। इस प्रकार के शिथिलाचार से बचने के लिए महावीर ने पाँच व्रतों अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का उपदेश दिया। भगवान का अहिंसा धर्म जितना सूक्ष्म था, उतने ही अन्य धर्म सूक्ष्म थे। उदाहरणतः उन्होंने पदार्थों को परिग्रह न बतलाकर मूर्च्छा (आसक्ति) को परिग्रह बतलाया। जितने अंश तक राग है उतने अंश तक बंधन है और जितने अंश तक राग का अभाव है उतने अंश तक मुक्ति है। **'सव्वे कामा दुहावहा'** सब काम भोग दुःखदायी है। जो काम (विषयभोग) से युक्त है वह शीघ्र ही संसार से मुक्त हो जाता है।

महावीर ने अन्तर्मुखी होने पर बल दिया। उनके अनुसार–

जो झायइ अप्पाणं परम समाही हवे तस्स

जो अपनी आत्मा का ध्यान करता है, उसे परमसमाधि (मोक्ष) की प्राप्ति होती है।

छिंदंति भावसमणा झाणकुठारेहिं भवरुक्खं।

जो भाव से श्रमण हैं वे ध्यान रूप कुठार से संसार रूपी वृक्ष को काट डालते हैं।

जो सहस्सं सहस्साणं संगामे दुज्जए जिणे।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं एस सो परमो जओ।।

उत्तराध्ययन ९/३७

जो वीर दुर्जम संग्राम में लाखों योद्धाओं को जीतता है, यदि वह एक

अपनी आत्मा को जीते तो उसकी परम विजय है।

अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च दुप्पट्ठिय सुप्पट्ठिओ।।

उत्तराध्ययन २०/३०

आत्मा ही अपने सुख दुःख का कर्ता तथा भोक्ता है। अच्छे मार्ग पर चलनेवाला आत्मा अपना मित्र है और बुरे मार्ग पर चलने वाला अपना शत्रु है।

वस्तुतत्त्व के विषय में महावीर ने बुद्ध की तरह मौन न धारण कर विधिपरक उत्तर दिया और समन्वय का मार्ग अपनाया। लोकादि के विषय मे उनके समाधान कुछ इस प्रकार के होते थे— लोक द्रव्य की अपेक्षा सान्त है किन्तु पर्यायों की अपेक्षा अनन्त है, क्योंकि लोकद्रव्य के पर्याय अनन्त हैं। काल की दृष्टि से लोक शाश्वत है; क्योंकि कोई ऐसा काल नहीं, जिसमें लोक का अस्तित्व न हो। क्षेत्र की दृष्टि से लोक सान्त है क्योंकि समस्त क्षेत्र में कुछ ही लोक है, अन्यत्र नहीं।

भगवान की उपर्युक्त समन्वयी दृष्टि के फलस्वरूप ही जैनदर्शन मे अनेकान्त और उससे फलित होने वाले स्याद्वाद सप्त भंगीवाद और नयवाद को स्थान मिला। आचार्य समन्तभद्र और सिद्धसेन ने सत्, असत्, अद्वैत–द्वैत, एकत्व पृथक्त्व, नित्यत्व–अनित्यत्व, दैव–पुरुषार्थ, सामान्य–विशेष, अस्तित्व–नास्तित्व, द्रव्य–गुण, तर्क और आगमवाद, कार्य–कारण का भेदाभाव आदि विषयों पर अपना मन्तव्य व्यक्त कर इनके प्रति अनेकान्त दृष्टि को व्यक्त किया है। स्तुतिकार समन्तभद्र आप्तमीमांसा मे कहते हें—

कथंचित्ते सदेवेष्टं कथंचिदसदेव तत्।
तथोभयमवाच्यं च नययोगान्न सर्वथा।। १४

हे भगवन्! वस्तु आपके मतानुसार कथञ्चित् सत् ही है, कथंचित् असत् है, कथंचित् सत् असत् ही है तथा कथञ्चित् अवाच्य ही है। ऐसा नय की अपेक्षा है, सर्वथा नही।

वस्तु अनेकान्तात्मक है। उसकी प्ररूपणा करने वाला स्याद्वाद एकान्त या हठाग्रह का त्याग करता है। इस प्रकार उसमें सभी वादों का समावेश होता है। सभी वाद यदि परस्पर निरपेक्ष हैं तो मिथ्या हैं और यदि सापेक्ष है तो वे मिथ्या नहीं हैं[५५]। जिस तरह अनेक लक्षण और गुण वाले वैडूर्य आदि रत्न बहुत मूल्यवान् होने पर भी बिखरे हुए हों तो रत्नावली या हार का नाम पाते हैं, उसी प्रकार सभी नय अपने अपने पक्ष में अधिक निश्चित

होने पर भी आपस में एक दूसरे के साथ निरपेक्ष होने से सम्यग्दर्शन व्यवहार नहीं पासकते। यदि वे ही मणि धागे में खास भाग करके उसके अनुसार पिरोए जाँय तो रत्नावली कहलाते हैं और अपना भिन्न भिन्न नाम छोड़ देते हैं, वैसे ही नयवाद यथोचित रूप से सुसंकलित होकर व्यवस्थित अर्थ वाले हों तो सम्यग्दर्शन व्यवहार पाते हैं, विशेष संज्ञा नहीं पाते। इस प्रकार सभी नय अपने अपने वक्तव्य में सच्चे हैं और दूसरे के वक्तव्य का निराकरण करने में झूठे हैं; अनेकान्त शास्त्र का ज्ञाता उन नयों को ये सच्चे हैं और ये झूठे हैं ऐसा विभाग नहीं करता। जितने वचनों के मार्ग है, उतने ही नयवाद हैं और जितने ही नयवाद है उतने ही परसमय हैं। कपिल का सांख्यदर्शन द्रव्यास्ति क नय का वक्तव्य है, बौद्धदर्शन परिशुद्ध पर्याय नय का विषय है। यद्यपि उलूक और कणाद ने दोनों नयों से अपने शास्त्र की प्ररूपणा की है। फिरभी मिथ्यात्व है; क्योंकि ये दोनो नय अपने अपने विषय की प्रधानता के कारण एक दूसरे से निरपेक्ष हैं। बौद्ध और वैशेषिक सांख्यों के सत्कार्यवाद में जो [illegible] ते है और सांख्य बौद्ध एवं वैशेषिक [illegible] असद्वाद में जो दोष कहते [illegible] सभी सच्चे हैं। सद्वाद और असद्वाद दोनो अनेकान्त दृष्टि से नियमित हों तभी सर्वोत्तम सम्यग्दर्शन बनते हैं; क्योकि अलग अलग वे दोनों नय संसार के दुःखो से मुक्ति नहीं साधते।

(सिद्धसेन : सन्मति प्रकरण १/२२–२५, १८, ३/४७–५१)

निर्वाण : उपर्युक्त रीति से तीस वर्ष तक तत्त्व का भली–भाँति प्रचार करते हुए भगवान महावीर अंतिम समय मल्लों की राजधानी पावा पहुँचे। वहाँ के उपवन में ७२ वर्ष की आयु में कार्तिक कृष्ण अमावस्या के दिन उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया। हस्तिपाल आदि प्रमुख गणनायकों ने सम्मिलित होकर दीपकों के प्रकाश से आकाश को जगमगाकर निर्वाण महोत्सव मनाया। उस दिन की शुभ स्मृति में हमारे देश में आज भी दीपावली का त्योहार बड़े धूमधाम से मनाया जाता है।

मुनिराज पाण्डव

एक समय संसार के तीव्र भय से भयभीत पाण्डव पल्लव देश में विहार करते हुए श्री नेमिजिनेन्द्र के समीप पहुँचे। प्रदक्षिणा देकर उन्होंने भगवान् को नमस्कार किया तथा अपने पूर्वभवों का वृत्तान्त पूछा। भगवान् नेमिनाथ ने उनके पूर्वजन्म का वृत्तान्त बतलाया। पूर्वभव श्रवण कर पाण्डव संसार से विरक्त हो नेमिजिनेन्द्र के समीप दिगम्बर मुनि हो गए। कुन्ती, द्रोपदी तथा सुभद्रा आदि स्त्रियाँ राजीमती आर्यिका के समीप तप में लीन हो गयीं। सब

मुनियों में भीमसेन मुनि बहुत ही शक्तिशाली थे। उन्होंने भाले के अग्रभाग से दिए हुए आहार को ग्रहण करने का नियम लिया था। क्षुधा से उनका शरीर अत्यन्त दुर्बल हो गया था और छह माह में उन्होंने वृत्तिपरिसंख्या नामक तप को पूरा कर हृदय का श्रम दूर किया था। युधिष्ठिर आदि मुनियों ने भी बड़ी श्रद्धा के साथ बेला, तेला आदि उपवास किए। इस प्रकार मुनिराज भीमसेन ने जैनागम के सागर युधिष्ठिर आदि मुनियों के साथ पृथिवी परविहार किया।

जब वे शत्रुजय पर्वत पर प्रतिमायोग से विराजमान थे, उस समय दुर्योधन की बहिन का पुत्र जिसका नाम कुर्यधर था, वहाँ आया। उसने विचार किया— मेरे मामाओं को मारकर ये मदोन्मत्त पाण्डव यहाँ आए हैं। अब मैं इनसे बदला लूँगा। उसने तपाए हुए लोहे के मुकुट, कुण्डल, हार, कड़े, कटिसूत्र, पादाभूषण, मुद्रिकाये आदि पहनाईं। अग्नि जैसे अपने दाहगुण से उत्तम लकड़ियो को जलाता है, उसी प्रकार पाण्डवों के शरीर संसर्ग से ज्वालायुक्त अग्नि उनके शरीर को जलाने लगी।

पाण्डव मुनिराज अत्यनत धीरवीर थे, कर्म के उदय को जानने वाले थे एवं कर्मों का क्षय करने में समर्थ थे, इसीलिए उन्होने दाह के उस भयंकर उपसर्ग को हिम के समान शीतल समझा था। भीम, अर्जुन और युधिष्ठिर ये तीनों मुनिराज तो शुक्लध्यान से युक्त हो आठों कर्मों का क्षयकर मोक्ष चले गए। देवों ने आकर उनका केवलज्ञान और मोक्ष दोनों कल्याणकों का उत्सव किया। जिनका पातक नष्ट हुआ है और जिनके मन में अल्पकषाय रह गयी है ऐसे माद्री के पुत्र नकुल तथा सहदेव मुनि उपसर्ग से मृत्यु को प्राप्त हुए। मृत्यु के समय उनके चित्त बडे भाई की दाह को देख कुछ आकुलित हो गए थे, अतः मरकर सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र पद को प्राप्त हुए। वहाँ से च्युत होकर वे मनुष्य लोक में आकर महापुरुष होंगे और तपश्चरण कर मोक्ष प्राप्त करेंगे।

यशोधर मुनिराज

रानी चेलना के जैन गुरु का अपमान करने के लिए राजा श्रेणिक ने एक बार यशोधर मुनिराज के ऊपर पाँच सौ शिकारी कुत्ते छोड़े। ज्यों ही कुत्ते मुनिराज के पास गए और उन्होंने मुनिराज की शान्त मुद्रा देखी, उनकी सारी क्रूरता शान्ति में पलट गई। वे मुनिराज की प्रदक्षिणा देने लगे और उनके चरणों में बैठ गए। राजा श्रेणिक ने सोचा— यह साधु नहीं है, मन्त्रवादी है। मेरे बलवान कुत्ते इसने कीलित कर दिए हैं। ऐसा विचार कर शीघ्र ही

म्यान से तलवार निकाली और मुनि के मारणार्थ बड़े वेग से उनकी ओर झपटे। इसी समय उन्हें एक भयंकर सर्प दिखाई दिया। उसे मारकर अत्यन्त क्रूर परिणामी हो राजा ने उसे यशोधर मुनि के गले में डाल दिया। इस पाप के परिणाम स्वरूप राजा श्रेणिक ने महातमप्रभा नरक में तेतीस सागर की आयु बाँधी। राजा ने वापिस अपने महल में आकर चौथे दिन रानी चेलना के महल में जाकर सारा वृत्तान्त सुनाया। मुनि पर घोर उपसर्ग जान उसकी आँखों में अविरल आँसुओं की धारा बहने लगी। राजा ने रानी को समझाया कि वे मुनि गले से साँप फेक कभी के वहाँ से भाग गए होगे। रानी ने कहा— नाथ! यह आपका कथन भ्रममात्र है। यदि वे सच्चे गुरु हैं तो कदापि उन्होंने अपने गले से सॉप न निकाला होगा। अचल मेरु पर्वत भी कदाचित चलायमान हो जाय, समुद्र भी अपनी मर्यादा छोड़ दे, किन्तु जब दिगम्बर मुनि ध्यान लीन हो जाते हैं तो घोरतम उपसर्ग आने पर भी वे ध्यान से विचलित नहीं होते। वे पृथ्वी के समान अचल, समुद्र के समान गम्भीर, वायु के समान निष्परिग्रह, अग्नि के समान कर्म भस्म करने वाले, आकाश के समान निर्लेप और जल के समान स्वच्छ चित्त के धारक तथा मेघ के समान परोपकारी होते है। राजा रानी के साथ मुनि के दर्शनार्थ चल पड़े। उन्होने मुनिराज को उपसर्ग की स्थिति में ध्यानमग्न पाया। राजा और रानी ने समान भाव से मुनिराज को नमस्कार किया। रानी चेलना ने शीघ्र ही मुनि के गले से साँप निकाला। पास में चीनी फैलाकर चीटियों को शरीर से दूर किया तथा शरीर को गरम जल से धोकर उस पर शीतल चन्दन आदि का लेप कर दिया।

प्रातःकाल होने पर मुनिराज ने राजा और रानी दोनों को धर्मवृद्धि दी। महाराज का समताभाव देखकर राजा श्रेणिक को अपने ऊपर अत्यधिक ग्लानि हुई, वे तलवार से आत्मघात करने का विचार करने लगे। राजा के मनोभावों को जानकर मुनिराज ने उन्हें आत्मघात से रोका तथा कहा कि संक्लेशमय स्थिति में कारण आत्मघात से शान्ति न मिलकर कुगति होती है। राजा मुनि के ज्ञान से प्रभावित हो उनकी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा कर अपने अपराधकी क्षमा मांग प्रसन्नचित्त हो अपने राजभवन को वापिस आ गए।

चिलातिपुत्र मुनि

राजगृह नगर में राजा प्रश्रेणिक (उपश्रेणिक) जब एक बार अश्वक्रीडनक स्थान को गया हुआ था तो उसे एक दुष्ट अश्व महावन में ले गया। उसे आटविक यमदण्ड राजा ने तिलकावती के पुत्र को तुम राज्य देना, ऐसा

कहकर तिलकावती का विवाह कर राजगृह में भेजा। तिलकावती के चिलातिपुत्र नामक पुत्र हुआ। पुत्र बड़ा हुआ। प्रश्रेणिक ने अपना अन्त निकट जान चिलातिपुत्र को राज्य दे दिया। राजनीति से अनभिज्ञ राजा चिलाति ने सामन्त, मन्त्री तथा पुरवासी जनों से सेवित होने पर भी राज्य में अनेक प्रकार उपद्रव करने आरम्भ कर दिए। कभी तो वह बिना ही अपराध के धनिकों के धन जब्त करने लगा और कभी प्रजा को अन्य प्रकार से भयंकर कष्ट पहुँचाने लगा। जिनके आधार पर राज्य चल रहा था, उन राजसेवकों की भी उसने आजीविका बन्द करदी। राज्य में इस प्रकार भयंकर अन्याय देख पुरवासी और देशवासी मनुष्य त्रस्त होने लगे और उनके मुख से ये शब्द सुनने में आने लगे कि राजा चिलाति बड़ा पापी है। अन्यायी है और राज्य–पालन करने मे सर्वथा असमर्थ है[५६]। राजमन्त्रियो ने प्रश्रेणिक के दूसरे पुत्र श्रेणिक को बुलाया। श्रेणिक ने लगभग ई. पू. ५८७ में राजगृह आकर चिलातिपुत्र को राज्य से निकाल दिया। वह घोर जंगल में दुर्ग बनाकर कुछ कर लेकर समय बिताता था। चिलातिपुत्र का मित्र भर्तृमित्र था। भर्तृमित्र का मामा रुद्रदत्त भर्तृमित्र को अपनी पुत्री सुभद्रा नहीं देता था। तब भर्तृमित्र के वचनों से पॉच सौ सुभटों के साथ राजगृह में आकर चिलातिपुत्र विवाह के स्नान के समय सुभद्र को छलपूर्वक मारकर चला गया। यह सुनकर श्रेणिक सारी सेना के साथ उसके पीछे लग गया। भागने में असमर्थ उसके द्वारा मारी गई सुभद्रा व्यन्तरी हुई। चिलातिपुत्र ने भागते हुए वैभार पर्वत के ऊपर पाँच सौ मुनियो से युक्त दत्त मुनि को देखकर उनसे कहा— भगवन्! मुझे तप दो। अपना कार्य सिद्ध करूँगा। मुनि ने कहा— पुत्र! तप ग्रहण कर अपना कार्य सिद्ध करो, तुम्हारी आयु आठ दिन की है। तब तप ग्रहण कर पादोपगमन मरण में स्थित हो गए। श्रेणिक उन्हें वैसा स्थित देखकर वन्दना कर तथा प्रशंसा कर लौट गए। सुभद्रा के जीव व्यन्तरदेवी ने पूर्व वैर से सौलिका (एक पक्षी) के रूप में उनके मस्तक पर बैठकर उनके दोनों नेत्र उखाड़ लिए। बड़े सिर वाली मधुमक्खी का रूप बनाकर वह आठ दिन तक लगातार उन्हें खाती रही। इतना होने पर भी चिलातपुत्र मुनि समाधिपूर्वक मरे और सर्वार्थसिद्धि में उत्पन्न हुए।[५७]

मुनि अभयकुमार

श्रेणिक के इन्द्रदत्त सेठ की पुत्री नन्दश्री से उत्पन्न कुमार अभय अत्यन्त मेधावी, राजनीति निपुण एवं धर्मात्मा थे। उनकी बुद्धिमता की अनेक कथायें श्रेणिक चरित में निबद्ध हैं। किसी समय महाराज श्रेणिक की अँगूठी किसी

कुयें में गिर गई। कुएँ में अँगूठी गिरी देख महाराज ने शीघ्र ही अभयकुमार को बुलवाया और यह आज्ञा दी—

प्रिय कुमार ! अँगूठी सूखे कूयें में गिर गई है। बिना किसी बाँस आदि की सहायता के शीघ्र अँगूठी निकालकर लाओ। महाराज की आज्ञा पाते ही कुमार ने कुयें में गोबर डलवा दिया। जिस समय गोबर सूख गया, कुयें को मुँह तक पानी से भरवा दिया। ज्यों ही बहता बहता गोबर कुयें के मुँह तक आया, गोबर में लिपटी अँगूठी भी कुयें के मुँह पर आ गयी। उस अँगूठी को लेकर कुमार ने महाराज की सेवा में उपस्थित किया। कुमार का अद्‌भुत चातुर्य देख सब उनकी प्रशंसा करने लगे। इस प्रकार अनेक पुरुषों द्वारा मान्य, नीतिमार्ग पर चलने वाला, समस्त दोषों से रहित, बृहस्पति के समान प्रजा को शिक्षा देने वाला, अतिशय आनन्द युक्त, अपने बुद्धिबल से अति कठिन कार्य को भी तुरंत करने वाला, सूर्य के समान तेजस्वी, राजलक्षणों से विराजमान युवराज अभय सबको सुख देने लगे।[५८] एक बार यौवनाभवस्था में अभयकुमार को वैराग्य हो गया। माता—पिता से आज्ञा लेकर वे राजगृह के समीप विपुलाचल पर जहाँ भगवान् महावीर का समवसरण विराजमान था, वहाँ पहुँचे। उन्होंने राजचिन्ह छोड़ दिए और गज से उतरकर शीघ्र ही समवसरण में प्रवेश किया। समवसरण में विराजमान महावीर भगवान् को देख तीन प्रदक्षिणायें दीं, पूजन, नमस्कार और स्तुति की। गौतम गणधर को भी प्रणाम किया और दीक्षार्थ प्रार्थना की। वस्त्राभूषण का त्यागकर बहुत से कुटुम्बियों के साथ शीघ्र ही परम तप धारण किया। वे तेरह प्रकार का चारित्र पालने लगे,एवं ध्यानैकतान मुक्ति के अभिलाषी वे परमपद की आराधना करने लगे। इस प्रकार चिरकाल तक घोर तपकर, परिषह जीतकर और घातिया कर्मों का विध्वंसकर शुक्लध्यान के प्रभाव से मुनीश्वर अभयकुमार ने केवलज्ञान प्राप्त कर लिया। बहुत समय तक कैवल्य की स्थिति में विहार कर अन्त में मोक्ष पाया।[५९]

मुनि वारिषेण

राजा श्रेणिक का पुत्र वारिषेण अतिशय बुद्धिमान्, मनोहर, जैनधर्म में रति करने वाला एवं व्रत रूपी भूषण से भूषित था। कदाचित् राजकुमार वारिषेण ने चतुर्दशी का उपवास किया। इधर यह तो रात्रि में किसी वन में जाकर कायोत्सर्ग धारण कर ध्यान करने लगा और उधर किसी वेश्या ने सेठ श्रीकीर्त्ति की सेठानी के गले में पड़ा अतिशय देदीप्यमान सुन्दर हार देखा और हार देखते ही वह विचारने लगी—

इस दिव्य हार के बिना मेरा जीवन विफल है। इस प्रकार विचार कर शीघ्र ही उदास हो अपने शयनागार में खाट पर गिर पड़ी। एक विद्युत् नामका चोर जो उसका प्रेमी था, रात्रि में वेश्या के पास आया। उसने कई बार वेश्या से वचनालाप करना चाहा। वेश्या ने उसका उत्तर तक नहीं दिया। किन्तु जब वह चोर विशेष अनुनय करने लगा तो वह कहने लगी--

प्रिय वल्लभ ! मैंने सेठ श्रीकीर्ति की सेठानी के गले में हार देखा है। मैं उसे चाहती हूँ। यदि मुझे हार न मिला तो मेरा जीवन निष्फल है और तुम्हारे साथ दोस्ती भी किसी काम की नहीं। वेश्या से ऐसी रूखी बात सुनकर चोर शीघ्र ही चला गया तथा सेठ श्रीकीर्ति के घर जाकर और हार चुराकर अपनी चतुरता से बाहर निकल आया। हार बड़ा चमकदार था, इसलिए चोर ज्यों ही सड़क पर आया, त्यों ही कोतवाल ने हार का प्रकाश देखा। ले जाने वाले को चोर समझ शीघ्र ही उसके पीछे धावा बोला। चोर को और कोई रास्ता न सूझा। वह शीघ्र ही भागता--भागता श्मसान भूमि में घुस गया। जब वह श्मसान भूमि में घुसा तो उसे आगे की ओर कोई रास्ता न दीखा, इसलिए उसने शीघ्र ही वारिषेण कुमार के गले में हार डाल दिया और आप एक ओर छिप गया। हार की चमक से कोतवाल भागता--भागता कुमार के पास आया। कुमार को हार पहने देख शीघ्र ही दौडता--दौड़ता राजा के पास पहुँचा और कहने लगा--

राजन् ! यदि आपका पुत्र चोरी करता है तो चोरी करने से दूसरों को कैसे रोका जा सकता है? राजकुमार का चोरी करना उसी प्रकार है, जैसे बाड़ द्वारा खेत को खा जाना। कोतवाल की बात सुनकर इधर तो महाराज ने श्मशान भूमि की ओर गमन किया और उधर वारिषेण कुमार के व्रत के प्रभाव से हार फूल की माला बन गया। ज्यों ही महाराज ने यह दैवी अतिशय सुना तो वे कोतवाल की निन्दा करने लगे और कुमार के पास क्षमा माँगनी चाही। विद्युत् चोर भी यह सब दृश्य देख रहा था। उससे ये बातें देखी न गईं। वह शीघ्र ही महाराज के सम्मुख आया तथा महाराज से अभयदान की प्रार्थना कर और अपना स्वरूप प्रकट कर सच्चा हाल कह सुनाया। जब महाराज ने चोर के मुख से सब समाचार सुन लिया तो उन्होंने वारिषेण से घर चलने के लिए कहा। किन्तु कुमार ने कहा--

पूज्य पिताजी ! मैं पाणिपात्र में आहार करूँगा, दिगम्बर दीक्षा धारण करूँगा। यह व्रत मैंने ले लिया है। अब मैं राजमन्दिर में नहीं जा सकता। महाराज आदि ने दीक्षा से कुमार को बहुत रोका, किन्तु उन्होंने एक न मानी।

सीधे सूर्योदय के पश्चात् मुनिराज के पास चले गए और केशलुंचन कर दीक्षा धारण कर ली। अष्ट अंग सहित सम्यग्दर्शन के धारक बड़े बड़े देवों द्वारा पूजित वारिषेण मुनि तेरह प्रकार का चारित्र पालन करने लगे। वारिषेण मुनि के व्रतरहित पुष्पडाल आदि अनेक शिष्य थे, उन्हें उपदेश, शुभाचार और चातुर्य से सन्मार्ग में प्रतिष्ठित किया। बहुत काल पर्यन्त भूमण्डल पर विहार किया। अनेक जीवों को संबोधा। आयु के अन्त में रत्नत्रय युक्त हो संन्यास धारण किया। भली प्रकार आराधना की एवं समाधि पूर्वक अपना प्राण त्याग कर मुनिवारिषेण का जीव अनेक देवियों से व्याप्त महान् ऋद्धि का धारक देव हो गया।[६०]

मुनि मेघकुमार

भगवान् महावीर की वाणी से प्रभावित होकर श्रेणिकपुत्र मेघकुमार उन्हीं के निकट दिगम्बर जैन साधु हो गए, परन्तु राजसुखों के आनन्द भोगने वालों का चंचल हृदय एकदम कठोर तप में कैसे लगे? पिछले भोगविलास की याद आने से वह घर जाने की आज्ञा माँगने के लिए भगवान् महावीर के निकट आया। उससे पहले कि वह कुछ कहता भगवान महावीर की दिव्यध्वनि खिरी, जिसमे उसने सुना— 'मेघकुमार ! तुम्हें याद नही कि अब से तीसरे भव में तुम एक हाथी थे। एक दिन तुम पानी पीने के लिए तालाब पर गए तो दलदल में फँस गए। तुम्हारे शत्रुओं ने उचित अवसर जानकर इतनी मारपीट की कि तुम्हारी मृत्यु हो गयी। क्या तपस्या की वेदना उससे भी अधिक है? दूसरे जन्म में फिर हाथी हुए। दावानल से जान बचाने के लिए उचित स्थान पर पहुँचे तो वहाँ पहले से पशु मौजूद थे, बड़ी कठिनाई से सिकुड़कर खड़े हो गये। शरीर खुजलाने के लिए तुमने अपना पांव उठाया तो उस जगह खरगोश अपनी जान बचाने आ गया, जिसे देखकर केवल इसलिए कि खरगोश न मर जाय, अपने उस पैर को ऊपर उठाये रखा। जब दावानल शान्त हुआ और तुम वहाँ से निकले तो निरन्तर तीन दिन तक तीन टाँगों से खड़ा रहने से तुम्हारा सारा शरीर जकड गया था। तुम धड़ाम से नीचे गिर पड़े, जिससे इतनी अधिक चोट आयी कि तुम्हारी मृत्यु हो गयी। जब पशुगति में तुम इतने धीर, वीर और सहनशक्ति के स्वामी रहे तो क्या अब मनुष्य जन्म में श्रमण अवस्था से घबरा गए हो? अनेक शूरवीर शत्रुओं को युद्ध में पछाड़ देने वाले होकर साधना की पराक्रम भूमि में आकर कर्म रूपी शत्रुओं से युद्ध करने में भय मान रहे हो? वीर उपदेश रूपी जल से मेघकुमार की मोहरूपी अग्नि शान्त हो गयी। विश्वासपूर्वक संयम धारण

कर आत्मिक सुखों का आनन्द लूटने के कारण वह आत्मिक ध्यान में दृढ़ता से लीन रहने लगे।[61]

मुनि सुदर्शन

अंगदेश की चम्पा नगरी में राजा नृवाहन तथा सेठ वृषभदास था। सेठ के गोपाल ने एक बार घर आते हुए निश्चल आभा को प्रकट करने वाले चारण मुनि देखे। शीतकाल में तुषार के गिरने पर शिलातल पर स्थित हो, बिना आच्छादन के कैसे रात्रि व्यतीत करेंगे, एसो सेचकर घर जाकर पश्चिम रात्रि में भैंस को लेकर शीघ्र गया। उन मुनि को समाधिस्थ देखकर शरीर पर गिरे हुए तुषार को तितर बितर कर हाथ, पैर आदि का मर्दन किया।

सूर्योदय होने पर ध्यान समेट कर (मुनि ने) ये आसन्नभव्य हैं, ऐसा मानकर 'णमो अरहंताणं' इत्यादि मन्त्र कहा। उस मन्त्र का उच्चारण कर भगवान् आकाश मार्ग से चले गए। मन्त्र के ऊपर उसकी बहुत श्रद्धा हो गई, अतः समस्त क्रियाओं के प्रारम्भ में उस मन्त्र का उच्चारण करने लगा। सेठ ने यह कह कर यह क्या उपद्रव करते हो, रोका। उस ग्वाले ने जब पूर्व वृत्तान्त कहा तो सेठ ने कहा— तुम्हीं धन्य हो, जिसने उनके चरणों के दर्शन किए। एक बार गंगा पारकर उसकी भैंसे एक फसल युक्त खेत में चली गईं। उन्हें रोकने को उत्सुक उस ग्वाले ने नमस्कार मन्त्र का उच्चारण कर जल के बीच छलांग लगाई। अदृश्य लकड़ी उसके पेट में घुस गई। निदान मरकर अर्हद्दास सेठ की सेठानी का सुदर्शन नामक अतिरूपवान पुत्र हुआ। समस्त विद्याओं से युक्त उसने सागरसेना और सागरदत्त की पुत्री मनोरमा को विवाहा। एक बार वृषभदास सेठ सुदर्शन को अपने पद पर अधिष्ठित कर समाधिगुप्त मुनि के समीप मुनि हो गए।

राजा ने सुदर्शन का सम्मान किया। वह समस्त लोगों में प्रसिद्ध हो गया। एक बार सुदर्शन राजा के साथ बड़ी विभूति से उद्यान क्रीड़ा के लिए आए। अभयमती रानी ने देखा। विह्लीभूत होकर धाय से पूछा— यह कौन है? उसने कहा यह राजश्रेष्ठी सुदर्शन है। पुनः रानी ने कहा यदि इसे मुझसे मिलाओ तो जीवन धारण करूँगी, अन्यथा मर जाऊँगी। धाय ने अवश्य मिलाऊँगी, ऐसा कहकर रानी को धैर्य बँधाया। उसने कुम्हार के पास जाकर पुरुष प्रमाण मिट्टी का पुतला बनवाया। वस्त्र से वेष्टित कर रानी के समीप ले जाती हुई उसे द्वारपालों ने रोक लिया। कुटिलतापुर्वक पुतले को फेंककर टूटा हुआ देखकर धाय ने द्वारपालों से कहा— रानी पुरुष अनुष्ठान करती है, भूखी आज उससे इस पुतले की पूजा कराती। इसे आप लोगों ने तोड़ दिया, अतः

आप सभी को प्रातःकाल मरवा डालूँगी। अनन्तर भयभीत होकर उन्होंने कहा– क्षमा करो, कोई कभी भी तुम्हें नहीं रोकेगा। इस प्रकार द्वार के रक्षकों को नियन्त्रित कर अष्टमी को आधी रात के समय कोयात्सर्ग पूर्वक सुदर्शन को लाकर रानी को समर्पित कर दिया। आलिंगनादि विज्ञानों से वह उन्हें क्षुब्ध नहीं कर सकी। उपसर्ग का निवारण हो जाने पर प्रातःकाल पाणिपात्र में आहार करूँगा, इस प्रकार प्रतिज्ञा लेकर काठ की तरह खड़े रहे। अभयमती ने अपने आपको नाखून से विदीर्ण कर, 'सेठ ने बलात् मुझे नष्ट कर दिया', इस प्रकार प्रातःकाल जोर जोर से चिल्लाना आरम्भ कर दिया। यह सुनकर राजा ने– सेठ को शमसान में लेजाकर मार डालो ऐसा कहा। वहाँ पर राजपुरुषों ने उसके ऊपर जो तलवार छोड़ी, वह उसके गले में फूलों की माला हो गई। देवों ने उसके शील की प्रशंसाकर फूलों की वर्षा आदि की। नगर के जनों तथा राजा ने सुदर्शन से क्षमा कराई। सुकान्त नामक पुत्र को अपने पद पर बैठाकर विमलवाहन मुनि के समीप तप ग्रहण कर केवलज्ञान उत्पन्न कर सुदर्शन मोक्ष चले गए। वे भगवान् महावीर के तीर्थ के पाँचवें अन्तकृत् केवली थे।[६२]

गौतम गणधर

गौतम गणधर का जन्म मगध देश के ब्राह्मण नामक नगर में शांडिल्य नामक ब्राह्मण की स्थंडिला नामक पत्नी से हुआ था। वे रूप सौन्दर्य से सम्पन्न और तेजस्वी थे। भगवान महावीर को जब केवलज्ञान उत्पन्न हो गया और ६२ दिन तक दिव्यध्वनि नही खिरी, तब सौधर्म इन्द्र ने अपने अवधि ज्ञान से विचार किया कि समस्त वेद वेदाग में निपुण गौतम यदि समवसरण सभा में आ जाय तो भगवान की दिव्यध्वनि खिरने लगे। गौतम को लाने के लिए इन्द्र ने बूढ़े ब्राह्मण का रूप बनाया और वह इन्द्रभूति गौतम के पास पहुँचा। इन्द्र ने कहा कि मैं अपने गुरु से उपदेश सुन रहा था। उपदेश देते–देते मेरे गुरु मौन हो गए। उनके द्वारा कहे गए एक पद्य का अर्थ मैं नही समझ सका। यदि आप इसका अर्थ बतला दें तो आपकी बड़ी कृपा होगी। पद्य यह है–

धर्मद्वयं त्रिविधिकाल समग्रकर्म षड्द्रव्यकाल सहिताः समयैश्चलेश्याः।
तत्त्वानि संयमगती सहिता पदार्थैरंगप्रवेदमनिशं वद चास्तिकायम्।।

अर्थात् धर्म के दो भेद कौन–कौन हैं, तीन प्रकार काल कौन से है, कर्म सब कितने है? छह द्रव्य कौन कौन हैं, उनमें काय सहित कौन कौन द्रव्य हैं, काल किसे कहते हैं? लेश्या कितनी और कौन कौन हैं? तत्त्व कितने

और कौन कौन हैं? संयम कितने और कौन– कौन हैं? गति कितनी और कौन–कौन हैं? पदार्थ कितने और कौन कौन हैं? श्रुतज्ञान के अंग कितने और कौन–कौन हैं? अनुयोग कितने और कौन कौन हैं? इन सबको आप बतलाइए।

इन्द्रभूति गौतम को इसका उत्तर समझ में नहीं आया। वह अभिमान में आकर कहने लगा कि चल ! तेरे गुरु से ही शास्त्रार्थ करता हूँ। वहीं मैं तुम्हारे प्रश्न का उत्तर दूँगा। ऐसा कहकर अपने पाँच सौ शिष्यों के साथ महावीर की धर्मसभा की ओर चल पड़ा। समवसरण में प्रतिपक्षियों के मान को गलित करने वाले मानस्तम्भ को देखकर उसका मान खण्डित हो गया। समवसरण की विभूति और महावीर के व्यक्तित्व ने उसे प्रभावित किया। उसने जाकर भगवान के चरण कमल में नमस्कार किया और अपने पाँच सौ शिष्यों सहित दिगम्बर दीक्षा ले ली। उसके दोनों भाईयों ने भी अपने शिष्यों के साथ दिगम्बर दीक्षा ले ली।

गौतम स्वामी तथा उनके भाईयों ने भगवान् से जीवादिक के विषय में प्रश्न किए। भगवान् की दिव्यध्वनि मे उन सबको समाधान प्राप्त हुआ। गौतम ने पूर्वाह्न में दीक्षा के साथ निर्मल परिणामो के द्वारा तत्काल बुद्धि, औषधि, अक्षय, ऊर्ज्ज, रस, तप और विक्रिया इन सात लब्धियों को प्राप्त किया। उसी दिन अपराह्न में उन्होंने उपांग सहित द्वादशांग श्रुत की रचना की। वे भगवान के उपदेशानुसार भव्य जीवों को उपदेश देने लगे। अनन्तर तपश्चरण के फलस्वरूप उन्हें कैवल्य लाभ हुआ। उनकी गणना भगवान् के प्रमुख गणधर के रूप में की जाती है। केवलज्ञान के अनन्तर देवों ने उनकी गन्धकुटी की रचना की। इन्द्रादिक ने उनकी वन्दना की। अनेक देशों में विहार कर धर्मोपदेश देते हुए अन्त मे उन्होंने मुक्ति की प्राप्ति की। इन्द्रादि ने उनका मोक्षकल्याणक मनाया। उनके भाई अग्निभूति और वायूभूति ने भी कैवल्य तथा मोक्षलाभ किया। गौतम गणधर का मोक्षस्थल विपुलगिरि माना जाता है।

सुधर्माचार्य

विक्रम पूर्व ४७० में कार्तिक कृष्ण अमावस्या को प्रातःकाल भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ, उसी दिन सन्ध्याकाल में गौतम को केवलज्ञान हुआ। बारह वर्ष तक केवली रूप से धर्मोपदेश देते रहकर जिस दिन गौतम निर्वाण को प्राप्त हुए, उसी दिन महावीर के दूसरे प्रधान शिष्य सुधर्मा को कैवल्य की प्राप्ति हुई और ये बारह वर्ष तक संघ के प्रधान के रूप में धर्मोपदेश

देते हुए विचरण कर निर्वाण को प्राप्त हुए। पूर्वजन्म में वे मगधदेश के वर्द्धमान नामक ग्राम में भावदेव नामक ब्राह्मण थे। किसी जैन मुनि के उपदेश से उन्होंने दिगम्बर दीक्षा धारण कर ली। वे समाधि पूर्वक मरण कर सनत्कुमार स्वर्ग में देव हुए। आयु का अन्त होने पर वे वज्रदन्त राजा के पुत्र सागरचन्द्र हुए। घोर तप व व्रत पालन करने के बाद मरण कर सागरचन्द्र भरतक्षेत्र के मगध देश में संवाहनपुर नगर में सुप्रतिष्ठित राजा की पटरानी रूपवती से सुधर्म नामक पुत्र हुआ। वह क्रम से बढ़कर थोड़े ही वर्षों में सर्व शास्त्रों का ज्ञाता हो गया। वह कुमारवय में ही घर में दीपक के समान शोभित था। एक दिन सुप्रतिष्ठ राजा पटरानी सहित श्री महावीर भगवान के समवसरण में वन्दना के लए पधारे। उन्होंने श्री वर्द्धमान भगवान् के मुखकमल से धर्मोपदेश सुना। सुनकर उसका मन भोगों से उदास हो गया। अपने मन में वह विचार करने लगा कि यह संसार असार है, चंचल है, धनादि सब जल के बुदबुद के समान क्षणिक हैं। उसी दिन उस राजा ने आठ कर्मों का नाश करने के लिए सर्वपरिग्रहों का त्याग कर स्वर्ग व मोक्ष सुख देने वाली निर्ग्रन्थ दीक्षा को ग्रहण कर लिया। कुछ दिनो के पीछे सुप्रतिष्ठ मुनि सर्वश्रुत के पारगामी हो गए तथा वर्द्धमान जिनेश्वर के ग्यारह गणधरों में चौथे गणधर हुए।

अपने पिता गणधर को एक दिन देखकर सुधर्म ने भी कुमार वय में वैराग्यवान् हो मुनिपद स्वीकार कर लिया। वह फिर श्री वीर भगवान् के पाँचवें गणधर हो गए।

जिस दिन सुधर्म स्वामी निर्वाण को प्राप्त हुए, उसी दिन उनके प्रमुख शिष्य जम्बू केवली पद को प्राप्त हुए। जम्बू स्वामी श्रमण संघ के प्रधान आचार्य अथवा कुलपति बने और जैनधर्म व श्रुत का प्रचार–प्रसार करते रहकर ई. पू. ४६३ में विपुलाचल से निर्वाणगामी भी हुए। विद्युच्चर मुनि अपने पाँच सौ साथियों के साथ मथुरा आए। वहाँ उन पर व्यन्तरों ने उपसर्ग किया। समताभावर्पूक उपसर्ग सहन कर विद्युच्चर मुनि सर्वार्थ सिद्धि में अहमिन्द्र हुए। अन्य मुनि भी अपने अपने परिणामो के अनुसार देवपद को प्राप्त हुए।

जम्बूस्वामी

जम्बूस्वामी की कथा बड़ी रोचक है। अनका जन्म राजगृह नगर के सेठ अर्हद्दास की पत्नी जैनमती से हुआ था। उनके जन्म होने पर सेठ ने प्रभूत मात्रा में दान दिया। पुण्यात्मा जम्बुकमार लाड़ प्यार से पाला जाने लगा। कुमारावस्था में एक दिन सुधर्माचार्य के उपदेश से उन्हें वैराग्य हो गया।

उसने आचार्य से दीक्षा देने का अनुरोध किया व आचार्य के आदेश से घर जाकर माता-पिता से दीक्षा लेने की अनुमति माँगी। माता-पिता के अनेक प्रकार से पुत्र को समझाने पर और सांसारिक सुख भोगने के लिए प्रेरित करने पर जब वह किसी प्रकार नहीं माना तो उन्होंने चार कन्याओं के पिताओं के पास यह सन्देश भिजवाया कि वे अपनी कन्याओं के लिए अन्य वर देख लें। कन्यायें किसी अन्य से विवाह करने को तैयार नहीं हुई। अन्त में जम्बुकुमार को इस बात के लिए राजी कर लिया गया कि वे केवल एक दिन के लिए विवाह कर लें। अगले दिन यदि वे चाहें तो दीक्षा ले लें। इस शर्त पर विवाह कर लें। अगले दिन यदि वे चाहें तो दीक्षा ले लें। इस शर्त पर विवाह सम्पन्न हुआ। विवाह के उपरांत जम्बू स्वामी चारों बधुओं के साथ अपने घर आए। इतने में सांयकाल हो गया व थोड़ी देर में अंधकार छा गया। जम्बुकुमार वधुओं सहित अपने वासगृह में प्रविष्ट हुए। समागत मित्र सम्बन्धी आदि के विदा होने पर वे कन्यायें जम्बुकुमार को वश में करने के लिए अनेक प्रकार की रागपूर्ण चेष्टायें करने लगीं। कुमार को इन्द्रिय सुखों की ओर उन्मुख करते हुए उन्होंने अनेक कथायें कहीं। कुमार वैराग्यपूर्ण कथाओं के द्वारा उनका उत्तर देते रहे। उसी मध्य एक विद्युच्चर चोर चोरी करने आया। वह कुमार और उसकी वधुओं के वार्तालाप को ध्यान से सुनने लगा। माता जिनमती भी बाहर टहल रही थी, वह यह जानना चाहती थी कि कुमार का मन स्त्रियों के राग में रंञ्जित होता है या नहीं? उसने इच्छानुकूल धन देने का प्रलोभन देकर चोर को कुमार को समझाने हेतु भेजा। विद्युच्चर कुमार का मामा बनकर उनके पास गया और दुनियाँ के राग से भरी अनेक कथायें कहीं, कुमार ने उनका कथाओं के द्वारा ही उत्तर देकर उसे भी वशीभूत कर लिया। कुमार के उपदेश से वे कन्यायें और वह चोर भी प्रातः दीक्षा के लिए तैयार हो गये। प्रातः कुमार के साथ माता, पिता, चार वधुओं, चोर तथा चोर के ५०० साथियों ने दीक्षा ले ली। पुरुष निर्ग्रन्थ साधु हो गए और स्त्रियों ने आर्यिका-दीक्षा धारण की।

भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद इन्द्रभूति गौतम लगभग बारह वर्ष तक रहे और बाद में उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया। अनन्तर सुधर्माचार्य ने आध्यात्मिक नेतृत्व किया तथा निर्वाण प्राप्त किया। सुधर्माचार्य के बाद ४०३ ई. पू. में जम्बूस्वामी मोक्ष गए।

संघ भेद

जम्बू स्वामी तक जैनसंघ एक रहा। जम्बूस्वामी के बाद श्वेताम्बर परम्परा

प्रभव, स्वयम्भव, सम्भूतिविजय और भद्रबाहु का नाम निर्दिष्ट करती है, जबकि दिगम्बर परम्परा नन्दी, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्द्धन और भद्रबाहु का नाम निर्देश करती है। इतिहास की यह महत्त्वपूर्ण घटना है। ये वह भद्रबाहु थे जो मौर्यवंशी राजा चन्द्रगुप्त के गुरु थे। भीषण अकाल की आशंका से भद्रबाहु अपने १२००० (बारह हजार) शिष्यों के साथ दक्षिण की ओर प्रयाण कर गए। चन्द्रगुप्त भी अपने गुरु के साथ थे। श्रवणबेलगोला के शिलालेख तथा अन्य साहित्यिक उल्लेख इस घटना के साक्ष्य है। बारह हजार मुनियों के संघ का दक्षिण की ओर जाना यह सिद्ध करता है कि उस समय दक्षिण भारत में जैनधर्म भली भाँति फलफूल रहा था। चन्द्रगुप्त २९७ ई. पूर्व में राज्य सिंहासन का परित्याग कर जैन श्रमण हो गए। इसके १२ वर्ष बाद श्रवणबेलगोला में उनकी सल्लेखनापूर्वक समाधि हुई।

भद्रबाहु तक की परम्परा को दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो स्वीकर करते हैं, यद्यपि उनके जीवन परिचय के विषय में दोनों परम्पराओं मे मतभेद है। यहाँ तक कि उनके उत्तराधिकारी के नाम के विषय में एकरूपता नहीं है, बीच के धर्मगुरुओं के नाम भी भिन्न है। सम्पूर्ण दृश्य पर गौर करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि भद्रबाहु नाम के दो आचार्य दोनों परम्परा में हुए, सम्भवतः वे समसामयिक थे। श्वेताम्बर विवरणों से ज्ञात होता है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु महावीर निर्वाण के १७० वर्ष बाद हुए, जबकि दिगम्बर परम्परा में निर्देश है कि भद्रबाहु की मृत्यु महावीर निर्वाणके १६२ वर्ष बाद हुई।

श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार गुरु भद्रबाहु नेपाल की ओर चले गए और वहाँ ध्यान की विशिष्ट साधना में संलग्न हो गए। ये भद्रबाहु श्रुतकेवली भद्रबाहु से भिन्न जान पड़ते है। स्थूलभद्र तथा दूसरे साधु इन भद्रबाहु से दृष्टिवाद की शिक्षा लेने के लिए नेपाल गए। दिगम्बर परम्परा भद्रबाहु तथा अन्य साधुओं का दक्षिण जाना स्वीकार करती है।

डॉ. विलास ए. संगवे ने जैन संघ में मतभेद के कुछ कारणों का निर्देश अपनी पुस्तक 'जैन कम्युनिटी : ए सोसल सर्वे' में किया है।

पहली बात तो यह है कि विभिन्न कालों में देश के विभिन्न भागों में भिन्न भिन्न परिस्थितियाँ, रीति रिवाज, तौर तरीके तथा जीवन पद्धतियाँ प्रचलित रही हैं। इन्होंने भिन्न–भिन्न धर्मसाधनाओं के उदय को प्रभावित किया तथा अन्ततः जैनधर्म के अनुयायों में भेद पैदा कर दिया।

दूसरी बात यह है कि जैनधर्म के सिद्धान्त, मान्यतायें, जिनकी कि शिक्षा भगवान् महावीर ने दी थी, स्वयं उनके समय में या तत्काल बाद लिपिबद्ध

नहीं हुई। महावीर के उपदेशों को उनके उत्तराधिकारियों ने स्मृति में सुरक्षित रखा और वे अपने उत्तराधिकारियों को पीढ़ी दर पीढ़ी सौंपते गए। ऐसा तृतीय शताब्दी ई. पूर्व में प्रारम्भ हुई पाटलिपुत्र वाचना के पूर्व तक होता रहा, किन्तु तब तक गंगा का पानी बहुत बह चुका था तथा आगम के नाम पर जो कुछ संकलित हुआ, वह सबको स्वीकार्य नहीं था। इन लोगों ने यह बात कही कि इस आगम में महावीर की शिक्षायें जैसी की तैसी निहित नहीं हैं। आगे, जो कुछ संकलित हो गया था उसकी व्याख्या का सवाल था। जैसे जैसे समय बीतता गया था, बहुत से सिद्धान्तों की व्याख्या के विषय में वैचारिक मतभेद उठते गए। जो मतभेद रखते थे, उन्होंने विचारों के पृथक् सम्प्रदाय की स्थापना की तथा सम्प्रदाय अथवा उपसम्प्रदायों को जन्म दिया।

तृतीय बात यह कही जा सकती है कि उपदेशक साधुओं या संघधिपतियों के कार्यों और नीतियों के प्रति विद्रोह के सीधे परिणाम स्वरूप सम्प्रदाय तथा उपसम्प्रदायों का उदय हुआ। कुछ यथास्थिति को कायम रखना चाहते थे, कुछ बदलती हुई परिस्थितियों के अनुरूप परिवर्तन चाहते थे। दोनों ही स्थितियों में विचाराभिन्नता की परिणति एक नए सम्प्रदाय के गठन के रूप में हुई।

दिगम्बर और श्वेताम्बरों में प्रमुख मतभेद

दोनों सम्प्रदायों मे प्रमुख भेद यह है कि दिगम्बर साधु वस्त्र धारण नहीं करते हैं, श्वेताम्बर साधु श्वेत वस्त्र धारण करते हैं। दिगम्बर का अर्थ है— दिशायें ही जिसके अम्बर वस्त्र है। श्वेताम्बर का अर्थ है जिनके अम्बर वस्त्र श्वेत हैं। जम्बूस्वामी तक संघ एक ही था। उनके बाद दोनों के प्रमुख अलग अलग हो गए और तदनुसार उनके अनुयायी भी विभाजित हो गए। यह विभाजन अब भी है। अन्य प्रमुख अन्तर निम्नलिखित हैं—

१. दिगम्बरों की मान्यता है कि कोई भी आगम अपने मूल रूप में अब अस्तित्व मे नहीं है। श्वेताम्बरों के यहाँ अब भी लिपिबद्ध आगम हैं।

२. दिगम्बरों के अनुसार केवली कंवलाहारी नहीं होते हैं। श्वेताम्बर इस बात को नहीं मानते हैं।

३. दिगम्बर इस बात पर दृढ़ हैं कि नग्नत्व के बिना मुक्ति नहीं होती है। चूँकि स्त्रियाँ वस्त्र के बिना नहीं रह सकती। अतः वे मोक्ष के अयोग्य हैं। श्वेताम्बर कहते हैं कि मुक्ति के लिए नग्नता अनिवार्य नहीं है, अतः स्त्रियाँ भी मोक्ष की अधिकारिणी हैं।

४. दिगम्बर कहते हैं कि महावीर विवाहित नहीं थे। श्वेताम्बरों के अनुसार

महावीर विवाहित थे और उनकी एक पुत्री भी थी।

५. दिगम्बर अपनी प्रतिमाओं को वस्त्राभूषणों से नहीं सजाते, जबकि श्वेताम्बर उन्हें वस्त्राभूषणों से सजाते हैं।

६. दिगम्बरों का कहना है कि देवानन्दा के गर्भ को त्रिशला की कुक्षि में स्थापित नहीं किया गया था, अपितु महावीर त्रिशाला के गर्भमें ही आए थे, श्वेताम्बर ऐसा नहीं मानते हैं।

७. दिगम्बर मल्लिनाथ भगवान् को पुरुष और श्वेताम्बर स्त्री मानते हैं।

८. श्वेताम्बरों के अनुसार भरत अपने ही महल में मोक्ष को प्राप्त हो गए थे, दिगम्बर इस बात को नहीं मानते। उनके अनुसार मुक्ति के लिए पूरी तरह अपरिग्रही होना आवश्यक है, अतः जब भरत ने समस्त सांसारिक भोगों का परित्याग कर दिया, तभी उन्हें मुक्ति की प्राप्ति हुई। सम्पूर्ण परित्याग में उनका महल भी सम्मिलित है।

९. श्वेताम्बरों के अनुसार मरुदेवी को हाथी पर बैठे हुए केवलज्ञान हो गया, दिगम्बर ऐसा नहीं मानते हैं।

१०. दिगम्बर परम्परानुसार द्रव्यमन का स्थान सम्पूर्ण शरीर नही है, केवल हृदय है। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार मन शरीर के भीतर सब जगह रहता है, किसी विशिष्ट स्थान मे नहीं; क्योंकि शरीर के भिन्न भिन्न स्थानों में स्थित इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किए गए सभी विषयों में मन की गति है, जो इसे देहव्यापी माने बिना सम्भव नहीं है।[६३]

११. दिगम्बर परम्परा में भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिष्क तीन निकाय के देवों में कृष्ण से तेज पर्यन्त चार लेश्यायें मानी गई हैं? पर श्वेताम्बर परम्परा में भवनवासी व व्यन्तर दो निकायों में ही उक्त चार लेश्यायें मानी गई हैं और ज्योतिष्क निकाल में केवल तेजोलश्या।[६४]

१२. दिगम्बर परम्परा में सोलह कल्पों की मान्यता है, अतः उनमें ब्रह्मोत्तर, कापिष्ठ, शुक्र और शतार ये चार कल्प अधिक हैं, जो क्रमशः छठे, आठवें, नवें और ग्याहरवें हैं। श्वेताम्बर परम्परा में बारह कल्प माने गए हैं[६५]।

१३. दिगम्बर परम्परा में काल को सर्वसम्मति से द्रव्य माना गया है। श्वेताम्बर परम्परा में मान्य सूत्रपाठ 'कालश्चेत्येके' कहा गया है अर्थात् कोई आचार्य काल को भी द्रव्य मानते हैं।[६६]

१४. नाग्न्य परीषह के विषय में दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परा में मतभेद है। दिगम्बर शास्त्र सभी मुनियों के लिए नग्नत्व का विधान करते हैं। श्वेताम्बरों के यहाँ जिनकल्पी नग्न रहते हैं और स्थविरकल्पी मर्यादित

वस्त्र–पात्र रखते हैं।

१५. तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में केवल ग्यारह ही परीषह सम्भव हैं। वे है– क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मल। शेष ग्यारह घाति कर्मजन्य होते हैं। दिगम्बर परम्परा के अनुसार 'एकादश जिने' सूत्र का यह अर्थ किया जाता है कि जिन (सर्वज्ञ) में क्षुधा आदि ग्यारह परीषह (वेदनीय कर्मजन्य) हैं, लेकिन मोह न होने से वे क्षुधा आदि वेदना रूप न होने के कारण उपचार मात्र से द्रव्य परीषह हैं। दूसरी व्याख्या के अनुरार न शब्द का अध्याधार करके यह अर्थ किया जाता है कि जिन में वेदनीय कर्म होने पर भी तदाश्रित क्षुधा आदि ग्यारह पीरषह मोह के अभाव के कारण बाधा रूप न होने से है ही नही।[६७]

१६. श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार कषाय कुशील यदि परिहार विशुद्धि वाला हो तब तो तेज आदि तीन लेश्यायें होती है; और यदि साम्पराय चारित्र वाला हो तो एक शुक्ल लेश्या ही होती है। दिगम्बर ग्रन्थों मे कहा गया है कि कषाय कुशील यदि परिहार विशुद्धि चारित्र वाला हो तब चार लेश्यायें होती है। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार पुलाक आदि चार निर्ग्रन्थो का जघन्य उपपात सौधर्म कल्प मे पल्योपम पृथक्त्व स्थिति वाले देवों में होता है। दिगम्बर ग्रन्थो मे दो सागरोपम की स्थिति का उल्लेख है।[६८]

१६. डॉ. जैकोबी का कहना है कि पाटलिपुत्र नगर में जो अग संकलित किए गये थे, वे श्वेताम्बर सम्प्रदाय के ही थे, समस्त जैन समाज के नहीं; क्योकि उस सघ में भद्रबाहु स्वामी सम्मिलित नहीं हो सके थे।[६९]

भद्रबाहु श्रुतकेवली के समय में ऐसी घटना अवश्य घटित हुई थी, जिसने आगे जाकर स्पष्ट संघभेद का रूप धारण कर लिया। भगवान् महावीर का अचेलक सम्प्रदाय जम्बू स्वामी के बाद बिना किसी विशेष कारण के अचेलता को छोड बैठे और उसकी कोई चर्चा भी न रहे, यह मान्यता बुद्धि ग्राहय नहीं है। अतः भद्रबाहु के समय में संघभेद होने की जो कथायें दिगम्बर साहित्य मे पाई जाती हैं और जिनका समर्थन शिलालेखों में होता है, उनमें अर्वाचीनता तथा स्थानादि का मतभेद होने पर भी उनकी कथावस्तु को एकदम काल्पनिक नहीं कहा जा सकता। भ द्रबाहु श्रुतकेवली के अवसान के साथ ही अन्त के चार पूर्व विच्छिन्न हो गए और केवल दस पूर्व का ज्ञान अवशिष्ट रहा, फिर कालक्रम से विच्छिन्न होते–होते वीर निर्वाण के ६८३ वर्ष बीत जाने पर जब अंगों और पूर्वों के एकदेश के ज्ञान का भी लोप होने का प्रसंग उपस्थित हुआ, तब दूसरे अग्रायणीय पूर्व के चयनलब्धि नामक अधिकार के चतुर्थ पाहुड

कर्म प्रकृति आदि से षट्खण्डागम की रचना की गई और इस प्रकार लुप्तप्राय अंग ज्ञान का कुछ अंश दिगम्बर परम्परा में सर्वप्रथम पुस्तक रूप में निबद्ध हुआ, जो आज भी अपने उसी रूप में सुरक्षित है। श्वेताम्बर परम्परा में जो ग्यारह अंग आज उपलब्ध हैं, उन्हें वीर निर्वाण संवत् ६८० (वि. सं. ५१०) में देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने पुस्तकारूढ़ किया। यह बात उल्लेखनीय है कि जो पूर्वज्ञान श्वेताम्बर परम्परा में सर्वथा लुप्त हो गया, उसी का एक अंश दिगम्बर सम्प्रदाय में सुरक्षित है।[७०] **"तं जहाथरेस्स णं भज्जभद्दस्स तुंगियायणसगुत्तस्स अंतेवासी दुवे थेरा थेर अज्जसंभूअविजए माठरसगुत्तस्स अंतेवासी थेरे अज्जथूलभद्दे गोयम सगुत्ते– श्री कल्पसूत्र स्थविरावली २. कल्पसूत्रनी प्रस्तावना**

दिगम्बर परम्परा में विक्रम राजा की मृत्यु के १३६ वें वर्ष से श्वेताम्बर सम्प्रदाय की उत्पत्ति का उल्लेख मिलता है और श्वेताम्बर सम्प्रदाय वीर निर्वाण सवत् ६०९ (वि.स. १३९) में अष्टम निहव ? दिगम्बर परम्परा की उत्पत्ति होने का उल्लेख आवश्यक निर्युक्ति आदि ग्रन्थों में विद्यमान है। दोनो उल्लेखों में केवल तीन वर्ष का अन्तर है, जो विशेष महत्वपूर्ण प्रतीत नहीं होता।[७१]

१८. दिगम्बर परम्परानुसार गौतम गणधर ने सर्वप्रथम अन्तर्मुहूर्त काल में द्वादशांग की रचना की थी और फिर सुधर्मा स्वामी को उसे सौपा था, जब कि श्वेताम्बर परम्परा में द्वादशांग ग्रथन जैसा महत्व का कार्य गौतम ने न करके सुधर्मा स्वामी ने किया है। दि. जैन कथाग्रन्थों में श्रेणिक के प्रश्न पर गौतम स्वामी उत्तर देते हैं, जब कि श्वेताम्बर परम्परा मे यह सब साहित्यिक कार्य सुधर्मा स्वामी करते रहे हैं। इन्हीं ने सर्वप्रथम द्वादशांग की रचना की थी।[७२] एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि दिगम्बर परम्परा के उपलब्ध प्राचीन सिद्धान्त ग्रन्थ कषाय पाहुड तथा षट्खडागम जिन मूल कषायपाहुड और महाकर्म प्रकृति पाहुड से निकले हैं, वे दृष्टिवाद के ही एक भाग थे और आचार्य गुणधर तक परम्परा से आए हुए पूर्व साहित्य के संकलन का प्रयत्न श्वेताम्बर परम्परा में नहीं हुआ, जबकि दिगम्बर परम्परा में उन्हीं को संक्षिप्त करके ग्रन्थ रचना करने की परम्परा है। श्वेताम्बर परम्परा में जो कर्म साहित्य है, यद्यपि उसका उद्गम अग्रायणीय पूर्व से बताया जाता है, पर उसके रचयिता कर्म ग्रन्थिक आचार्यों को उस पूर्व का सीधा ज्ञान था या नहीं, इसका कोई स्पष्ट उल्लेख देखने में नहीं आया।

दृष्टिवाद के विषय में श्वेताम्बर परम्परा में जो अनेक कल्पनायें रूढ हैं, उनसे ज्ञात होता है कि वे दृष्टिवाद से पूर्ण परिचित न थे; यथा प्रभावक

चरित (पद्य ११४) में लिखा है कि चौदह ही पूर्व संस्कृत भाषा में निबद्ध थे, वे कालवश व्युच्छिन्न हो गए। जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण तो भूतवाद अर्थात् द्रष्टिवाद में समस्त वाङ्‌मय का समावेश मानते हैं। ग्यारह अंगों की रचना को वे मन्दबुद्धिजन एवं स्त्री आदि के अनुग्रह के लिए बताते हैं। इस तरह भगवान महावीर के द्वारा अर्थतः उपदिष्ट और गणधर द्वारा द्वादशांग रूप से गूँथा गया श्रुत काल–क्रम से विच्छिन्न होता गया। श्वेताम्बर परम्परा में बौद्धों की भाँति वाचनायें की गई। दिगम्बर परम्परा में ऐसा कोई प्रयत्न हुआ या नहीं, इस विषय में कोई प्रमाण नहीं मिलता। हाँ, जो प्राचीन श्रुत परिपाटी से चला आता था, उसके आधार से बहुमूल्य विविधविषयंक साहित्य रचा गया है।

१६. द्वादशांग के पदों की संख्या का दिगम्बर परम्परा में सर्वप्रथम आचार्य कुन्दकुन्दकृत प्राकृत श्रुतविभक्ति में उल्लेख मिलता है। उसमें सर्वप्रथम आचारांग के १८ हजार पद बताए हैं। श्वेताम्बर परम्परा में नन्दी सूत्र में आचारांग के १८ हजार तथा आगे के अंगों के दूने–दूने पदों का निर्देश किया गया है। दिगम्बर परम्परा में यह गिनती मध्यम पद से बताई गई है। एक मध्यम पद १६३४८३०७८८८ अक्षर प्रमाण बताया है। श्वेताम्बर परम्परा में यद्यपि टीकाकारों ने पद का लक्षण अर्थबोधक शब्द या विभक्त्यन्त शब्द किया है, पर मलयगिरि आचार्य जिस पद से अंग ग्रन्थों की संख्या गिनी जाती है, उस पद का प्रमाण बताने में अपने को असमर्थ बताते हैं। वे कर्मग्रन्थीय टीका में लिखते हैं कि–

'पदंतु अर्थसमाप्ति परम् इत्याद्युक्ति सद्भावेऽपि येन केनचित् पदेन अष्टाब्द सहस्रादि प्रमाणा आचारादि ग्रन्थगीयन्ते तदिह गृह्यते तस्यैव द्वादशांग श्रुत परिमाणेऽधिकृतत्वात् श्रुतभेदनामैव चेह प्रस्तुतत्वात्। तस्य च पदस्य तथाविधाम्नायात् प्रमाणेन ज्ञायते।

इस तरह श्वेताम्बर टीकाकार ऐसी अम्नाय से अपरिचित मालूम पड़ते हैं, जिसमें कि अंग ग्रन्थों के रूप में प्रयोजन पद के अक्षरों का परिमाण बताया गया है। दिगम्बर ग्रन्थों में वैसी आम्नाय पहले से देखी जाती है। सकल श्रुत की अक्षर संख्या निकालने का जो प्रकार दिगम्बर परम्परा में है कि प्रत्येक अक्षर ६४ और इनके एक संयोगी आदि चौंसठ संयोगी जितने अक्षर हो सकें, उतने श्रुत के सकल अक्षर होते हैं, वैसा ही प्रकार श्रुतज्ञान के समस्त भेदों के निकालने का श्वेताम्बर परम्परा में भी आवश्यकनिर्युक्ति की निम्नलिखित गाथा से सूचित होता है–

पत्तेयमक्खराइं अक्खरसंजोग जत्तिया लोए।
एवइया सुयनाणे पयडीओ होंति नायव्वा।।[७३]

२०. श्वेताम्बर ग्रन्थों में केवलज्ञान तथा केवलदर्शन का क्रमभावित्व सहभावित्व और अभेद ये तीन पक्ष हैं, परन्तु दिगम्बर ग्रन्थों में सहभावित्व का एक ही पक्ष है। २१ लेश्या तथा आयु के बन्धाबन्ध की अपेक्षा से कषाय के जो चौदह और बीस भेद गोम्मटसार में हैं, वे श्वेताम्बर ग्रन्थों में नहीं देखे गए।

२२. अपर्याप्त अवस्था में औपशमिक सम्यक्त्व पाए जाने और न पाए जाने के सम्बन्ध में दो पक्ष श्वेताम्बर ग्रन्थों मे हैं, परन्तु गोम्मटसार में उक्त दो में से पहिला पक्ष ही है।

२३.दूसरे गुणस्थान के समय ज्ञान तथा अज्ञान मानने वाले, ऐसे दो पक्ष श्वेताम्बर ग्रन्थों में हैं, परन्तु गोम्मटसार में सिर्फ दूसरा पक्ष है।

२४. जीव सम्यक्त्व सहित मरकर स्त्री रूप में पैदा नहीं होता, यह बात दिगम्बर सम्प्रदाय को मान्य है, परन्तु श्वेताम्बर संम्प्रदाय को यह मन्तव्य इष्ट नहीं हो सकता; क्योंकि उसमे भगवान् मल्लिनाथ का स्त्रीवेद तथा सम्यक्त्व सहित उत्पन्न होना माना गया है।[74]

२५. जैन तर्कग्रन्थों में धारावाहिक ज्ञानों के प्रामाण्य और अप्रामाण्य के विषय में दो परम्परायें हैं—दिगम्बरीय और श्वेताम्बरीय। दिगम्बर परम्परा के अनुसार धारावाहिक ज्ञान तभी प्रमाण है, जब वे क्षणभेदादि विशेष का भान करते हो और विशिष्ट प्रमाजनक होते हों। जब वे ऐसा न करते हों, तब प्रमाण नहीं हैं। उसी तरह उस परम्परा के अनुसार यह भी समझना चाहिए कि विशिष्ट प्रमा जनक होते हुए भी धारावाहिक ज्ञान जिस द्रव्यांश में विशिष्ट प्रमा जनक नहीं है, उस अंश मे वे अप्रमाण और विशेषांश में विशिष्ट प्रमा जनक होने के कारण प्रमाण है, अर्थात् एक ज्ञान व्यक्ति में विषय भेद की अपेक्षा से प्रामाण्याप्रामाण्य है। अकलंक के अनुगामी विद्यानन्द और माणिक्यनन्दि के अनुगामी प्रभाचन्द्र के टीकाग्रन्थों का पूर्वापर अवलोकन उक्त नतीजे पर पहुँचता है।[75] श्वेताम्बर परम्परा के सभी विद्वान् एक मत से ध ारावाही ज्ञान को स्मृति की तरह प्रमाण मान के पक्ष में है। अतएव किसी ने अपने प्रमाणलक्षण में 'अनधिगत' अपूर्व आदि जैसे पद को स्थान नहीं दिया। इतना ही नहीं, उन्होंने स्पष्टरूपेण यह कह दिया कि चाहे ज्ञान ग्रहीतगाही हो, तब भी अगृहीतग्राही के समान ही प्रमाण है। ग्रहीतग्राहित्व प्रामाण्य का विघातक नहीं, अतएव उनके मत से एक धारावाहिक ज्ञान व्यक्ति में विषयभेद की अपेक्षा से प्रामाण्य—अप्रामाण्य मानने की जरूरत नहीं और न कभी किसी को अप्रमाण मानने की जरूरत है।[76]

दिगम्बर साहित्य में करण अपर्याप्त के बदले निर्वृत्ति अपर्याप्त शब्द मिलता है। अर्थ मे भी थोड़ा—सा फर्क है। निर्वृत्ति शब्द का अर्थ शरीर ही

किया हुआ है। अतएव शरीर पर्याप्ति पूर्ण न होने तक ही दिगम्बरीय साहित्य जीव को निवृत्ति अपर्याप्त कहता है। शरीर पर्याप्ति पूर्ण होने के बाद वह निवृत्रि अपर्याप्त का व्यवहार करने की सम्मति नहीं देता। यथा–

पज्जत्तस्स य उदये णियणियपज्जत्ति णिट्ठिदो होदि।
जाव सरीरमपुण्णं णिव्वत्तिअपुण्णओ ताव।। जीवकाण्ड।।

सारांश यह कि दिगम्बर साहित्य में पर्याप्त नाम कर्म का उदय वाला ही शरीर पर्याप्ति पूर्ण न होने तक 'निवृत्ति अपर्याप्त' शब्द से अभिमत है, परन्तु श्वेताम्बरीय साहित्य में 'करण' शब्द का शरीर, इन्द्रिय आदि पर्याप्तियाँ इतना किया हुआ अर्थ मिलता हैं यथा–

करणानिशरीरादीनि।। लोक प्र.स. श्लो. १०

अतएव श्वेताम्बरीय सम्प्रदाय के अनुसार जिसने शरीर पर्याप्ति पूर्ण की है, पर इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण नहीं की है, वह भी 'करण पर्याप्त' कहा जा सकता है। अर्थात् शरीर रूप करण पूर्ण करने से 'करणपर्याप्त' और इन्द्रिय रूप करण पूर्ण न करने से करण अपर्याप्त कहा जा सकता है। इस प्रकार श्वेताम्बरीय सम्प्रदाय की दृष्टि से शरीर पर्याप्ति से लेकर मनः पर्याप्ति पर्यन्त 'पूर्व पर्याप्ति के पूर्ण होने पर 'करण पर्याप्त और उत्तरोत्तर पर्याप्ति के पूर्ण न होने से 'करण अपर्याप्त' कह सकते है। परन्तु जब जीव स्वयोग्य सम्पूर्ण पर्याप्तियों को पूर्ण कर ले, तब उसे करण अपर्याप्त नही कह सकते।[७७]

२६. श्वेताम्बर मानते हैं कि भगवान् ऋषभदेव ने एक युगलिया स्त्री को अपनी रानी बनाया। दिगम्बर ऐसा नही मानते हैं।

२७. श्वेताम्बरों का कहना है कि भरत चक्रवर्ती ने अपनी बहिन सुन्दरी को अपनी रानी बनाने के लिए कितने ही दिन तक दीक्षा नहीं लेने दी। दिगम्बर ऐसा नहीं मानते हैं।[७८]

२८. श्वेताम्बरों के अनुसार साधुओं को २७ मूलगुण और महाव्रत पालना चाहिए। सर्वपरिग्रह का त्याग कर चार उपकरण रखना परिग्रह नहीं है। दिगम्बर साधुओं के २८ मूलगुण मानते हैं, इनमे पचमहाव्रत भी गर्भित हैं। उनके अनुसार साधु को तिल–तुषमात्र भी परिग्रह नहीं रखना चाहिए।

२९. दिगम्बर परम्परा में तीर्थकरों के चिन्ह इस प्रकार हैं–बैल, हाथी, घोड़ा, बन्दर, चकवा, कमल, स्वस्तिक, चन्द्रमा, मकर, श्रीवृक्ष, गेण्डा, भैंसा, शूकर, सेही, वज्र, मृग, बकरा, मत्स्य, कलश, कछुआ, नीलकमल, शंख, सर्प और सिंह।[७९] तिलोयपण्णत्ती (४/६०४) में सुपार्श्वनाथ का चिन्ह नन्द्यावर्त और शीतलनाथ का चिन्ह 'सोतीय' कहा गया है, जिसका अर्थ स्वास्तिक किया गया हैं। अरहनाथ का चिन्ह 'तगर कुसुम' कहा है, जिसका अर्थ मत्स्य किया है। श्वेताम्बराचार्य हेमचन्द्र ने शीतलनाथ का चिन्ह श्रीवत्स, अनन्तनाथ का चिन्ह श्येन और अरहनाथ का चिन्ह नन्द्यावर्त कहा है। इस तरह चिन्हों

में मतभेद है।

३०. दिगम्बरों के अनुसार श्री चन्द्रप्रभ और पुष्पदन्त तीर्थंकर के शरीर का वर्ण कुन्दपुष्प के समान श्वेत है। पद्मप्रभ के शरीर का वर्ण लाल कमल के समान और वासुपूज्य का पलाश के समान लाल है। मुनिसुव्रत नाथ और नेमिनाथ के शरीर का रंग काला है। पार्श्व और सुपार्श्व का शरीर हरितवर्ण है। शेष सोलह तीर्थंकरों का शरीर सुवर्ण के समान है।[८०] तिलोयपण्णत्ती में मुनिसुव्रत और नेमिनाथ को नीलवर्ण कहा है। श्वेताम्बराचार्य हेमचन्द्र ने मल्लि और पार्श्व को नीलवर्ण कहा है। हरितवर्ण किसी भी तीर्थंकर को नहीं कहा। सुपार्श्व को शेष सोलह में लिया है।

३१. श्वेताम्बर ग्रन्थ बृहत्कल्पभाष्य (गा. ६४०२–७) में कहा है कि प्रथम तीर्थंकर और अन्तिम तीर्थंकर के धर्म में तो पांचयाम थे, किन्तु शेष बाईस तीर्थकरों का धर्म चातुर्याम था। उसमें मैथुन त्याग को परिग्रह त्याग में ही ले लिया था। इसका कारण बताते हुए कहा है कि भगवान ऋषभदेव के समय साधु ऋजुजड़ थे। इसलिए यदि परिग्रहव्रत में ही अन्तर्भाव करके मैथुन व्रत का साक्षात् उपदेश न दिया जाता तो वे जड़ होने से यह नहीं समझ सकते थे कि हमें मैथुन भी छोड़ना चाहिए। जब पृथक्तः स्पष्ट रूप से मैथुन का निषेध किया गया तो उन्होंने सरलता से उसका त्याग कर दिया। भगवान् महावीर के समय के साधु वक्रजड़ थे अतः मैथुन का साक्षात् निषेध न करने पर यह जानते हुए भी कि परिग्रह में मैथुन भी आता है, वक्र होने से पराई स्त्री का भी सेवन कर लेते और पूछने पर कह देते कि यह हमारा परिग्रह नहीं है। इसलिए भगवान् ऋषभ और महावीर ने पंचयाम धर्म की स्थापना की, किन्तु मध्य के बाईस तीर्थंकरों के साधु ऋजु, प्राज्ञ थे। अतः परिग्रह का निषेध कर देने पर प्राज्ञ होने से उपदेश मात्र से ही समस्त हेय, उपादेय को समझ लेते थे। अतः मैथुन का सेवन भी त्याज्य है। इस प्रकार मैथुन को परिग्रह में अन्तर्भूत करके मध्य के बाईस तीर्थंकरों ने चातुर्याम धर्म का उपदेश दिया।[८१] दिगम्बर साहित्य में पंचयाम धर्म का ही उपदेश प्राप्त होता है, चातुर्याम का पृथक से कहीं उल्लेख नहीं हैं।

३२. दिगम्बर परम्परा के अनुसार मुनिधर्म पालन के तीन ही अधिकारी हैं— १ ब्राह्मण २. क्षत्रिय ३. वैश्य। शूद्र क्षुल्लक के व्रत धारण कर सकता है। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार चारों वर्ण के लोग साधु दीक्षा के योग्य हैं।

३३. श्वेताम्बर परम्परा द्रोपदी को पंचभर्तारी मानती है, दिगम्बर परम्परा उसे अर्जुन की पत्नी मानती है।

३४. दिगम्बर परम्परा मानती है कि तीर्थंकर के गर्भ में आने से पूर्व माता को सोलह स्वप्न होते हैं। श्वेताम्बर इन स्वप्नों की संख्या १४ ही मानते हैं।

भद्रबाहु श्रुतकेवली

पुण्ड्रवर्द्धन देश के कोट्टपुर नगर के राजा पद्मरथ के समय सोमशर्मा नामक पुरोहित रहता था। उसकी स्त्री का नाम श्रीदेवी था। उन दोनों के भद्रबाहु पुत्र था। एक बार जब भद्रबाहु ८ वर्ष के थे तो बच्चों के साथ खेलते हुए गोवर्द्धनाचार्य ने उन्हें देख लिया। गोवर्द्धनाचार्य ने एक के ऊपर एक गोली, इस प्रकार ऊपर–ऊपर चौदह गौलियाँ चढ़ाते हुए भद्रबाहु को देखा। उनके खेल की चतुराई को देख निमित्त ज्ञान से गोवर्द्धनाचार्य ने जान लिया कि पांचवें होने वाले श्रुतकेवली ये ही हैं। नाम आदि जानने पर उन्हें और भी दृढ़ निश्चय हो गया। उन्होंने सोमशर्मा के घर जाकर पढ़ाने हेतु भद्रबाहु को माँग लिया और अपने स्थान पर लाकर अच्छी तरह पढ़ाकर सब विषयों का विद्वान् बना दिया। पढकर गुरु आज्ञा से वापिस आए। एक बार उन्होंने पद्मधर राजा की सभा में मदोद्धत ब्राह्मणों से शास्त्रार्थ कर उन्हें हरा दिया। राजा ने भ द्रबाहु का प्रभाव देखकर जैनधर्म स्वीकार कर लिया। एक दिन माता पिता से अनुमति लेकर भद्रबाहु दिगम्बर मुनि हो गए। उन्होने गोवर्द्धनाचार्य के पास द्वादशांग पढ़े। बाद में गोवर्द्धनाचार्य ने उन्हें अपना आचार्य पद दे दिया और स्वयं समधिपूर्वक मरण कर स्वर्ग में देव हुए।

एक बार आचार्य भद्रबाहु उज्जयिनी में जिनदास सेठ के घर आहार लेने के लिए गए। वहाँ पालने में झूलने वाले एक साठ दिन के बालक ने जाओ!! जाओ!! ऐसा कहा। बालक के वचन सुनकर मुनिराज ने पूछा— वत्स ! कितने वर्ष तक। बालक ने कहा— बारह वर्ष तक। बालक के वचन से मुनिराज ने निमित्त ज्ञान से जाना कि मालव देश में बारह वर्ष का भीषण दुर्भिक्ष पडेगा। उस दिन अन्तराय जानकर वे उसी समय घर से वापिस हो वन में चले गए। सन्ध्या काल में अपने सघ को इकट्ठाकर उन्होंने कहा— साधुओ ! यहाँ बारह वर्ष का अकाल पड़ने वाला है। इस अवस्था में धर्म का निर्वाह कठिन हो जाएगा, अतः दक्षिण की ओर जाना ठीक रहेगा। इस प्रकार निश्चय कर वह बारह हजार दिगम्बर मुनियों के साथ दक्षिण की ओर चले गए। श्रावकों के अत्यधिक आग्रह के कारण रामल्य, स्थूलाचार्य तथा स्थूलभद्रादि मुनि वहीं रह गए, शेष दक्षिण चले गए। किसी गहन अटवी में पहुँचकर अपनी आयु का अन्त निकट जान उन्होंने समस्त संघ को विशाखाचार्य के नेतृत्व में आगे दक्षिण की ओर खाना कर दिया। चन्द्रगुप्त मुनि इस समय भी भद्रबाहु के साथ रहे। भद्रबाहु चार प्रकार की आराधनाओं की आराधना कर समाधिपूर्वक शरीर त्याग कर स्वर्गवासी हुए।

चाणक्य मुनि

बृहत्कथाकोषकार (६३१ ई.) के अनुसार चाणक्य पाटलिपुत्र निवासी कपिल ब्राह्मण और देविला ब्राह्मणी का पुत्र था। शीघ्र ही वह वेद, वेदांग में पारंगत हो गया। युवावस्था को प्राप्त होते ही उसका विवाह यशोमति नामक एक ब्राह्मण कन्या के साथ हो गया। चाणक्य की बुआ बन्धुमती का विवाह नन्दनरेश के कावी नामक एक मन्त्री के साथ सम्पन्न हुआ। अन्य किसी समय प्रत्यन्तवासी किसी शत्रुराजा ने मगध पर आक्रमण कर दिया तो अपने मन्त्रियों की सलाह से नन्दनरेश के आदेशानुसार मन्त्री कावी के कोषागार से प्रचुर मात्रा में धन देकर शत्रु को शान्तकर वापिस लौटा दिया। बाद में नन्द ने अपने कोषागार को खाली देखकर तथा कुछ चुगलखोरों के बहकावे में आकर कावी को सपरिवार अन्धकूप मे डाल दिया और उसे प्रतिदिन भोजन के रूपमें सकोरा भर सत्तू एव पानी देने लगा। भूख के कारण परिवार के लोग तो मर गये, किन्तु कावी किसी प्रकार जीवित रहा।

तीन वर्ष बाद उसी शत्रु ने मगध पर पुनः आक्रमण किया। तब नन्द ने राजसभा में कावी से क्षमायाचना कर शत्रु को पुनः शान्त करने का अनुरोध किया। कावी ने पुनः राजकोष से धन देकर शत्रु को सन्तुष्ट कर वापिस लौटा दिया।

एक दिन कावी ने किसी को दर्भसूची खोदते हुए देखकर उससे उसका कारण पूछा। तब उसने अपना नाम चाणक्य बतलाकर कहा कि दर्भसूची ने मेरे पैर में गड़कर धाव कर दिया, अतः उन्हें जड़मूल से नष्ट कर रहा हूँ। कावी उसे दृढनिश्चयी एव चतुर जानकर बड़ा प्रसन्न हुआ तथा उसे नन्दनरेश से अपना बदला लेने का उत्तम माध्यम सोचकर उसने उसे अपना मित्र बना लिया।

एक दिन चाणक्य की पत्नी ने चाणक्य से कहा कि राजा नन्द ब्राह्मणों को काली गाय भेट करता है, अतः जाकर ले आना चाहिए। चाणक्य गाय प्राप्ति के लोभ में नन्द की राजसभा में पहुँचकर अग्रासन पर बैठ गया तथा अन्य आसनों पर अपने दर्भासन, कदम्बक, कुण्डिका आदिवस्तुयें रख दीं। अग्रासन पर एक कुरूप व्यक्ति को देखकर राजा नन्द को क्रोध आ गया और उसे उसने अर्द्धचन्द्र दिलवाकर राज्यसभा से बाहर निकलवा दिया। कावी तो यह चाहता ही था। चाणक्य ने क्रोध में भरकर नन्दवंश को समूल नष्ट करने की प्रतिज्ञा कर अपने कार्य में सहायता करने हेतु एक सुयोग्य युवक की खोज की। उसी समय चन्द्रगुप्त से उसकी भेंट हुई और चाणक्य उसका

हाथ पकड़कर नगर के बाहर चला गया। वे दोनों तीव्रगामी घोड़ों पर सवार होकर राज्य प्राप्ति का उपाय खोजते खोजते दूर देश जाकर एक जलदुर्ग में छिप गए।

चाणक्य के पाटलिपुत्र पलायन का वृत्तान्त सुनकर एक प्रत्यन्तवासी राजा चाणक्य को खोजकर अपने यहाँ ले आया। प्रत्यन्तवासी सभी राजा इकट्ठे हुए और नन्दनरेश को पराजित करने का निर्णय कर राजा पर्वत के साथ युद्ध करने हेतु धन संचय करने लगे। इतना ही नहीं, उन्होंने प्राथमिक प्रक्रिया के रूप में नन्द के शासन के रहस्यभेदों की जानकारी हेतु गुप्तचर छोड़ दिए। चाणक्य ने शीघ्र ही अत्यन्त चतुराईपूर्वक सभी को सुसंगठित कर राजा नन्द को मरवा डाला तथा चन्द्रगुप्त को कुसुमपुर (पाटलिपुत्र) का राजा बनाया। अपना लक्ष्य पूरा कर चाणक्य ने जैन दीक्षा ले ली। वह अपने ५०० शिष्यों के साथ पदयात्रा कर दक्षिणापथ स्थित वनवास स्थल पहुँचा और वहाँ से पश्चिम दिशा में महाक्रौञ्चपुर के एक गोकुल नामक स्थान में ससंघ कायोत्सर्ग मुद्रा में बैठ गया।

महाक्रौञ्चपुर नरेश का नाम था सुमित्र। नन्दनदेश की मृत्यु के बाद उसका सुबन्धु नामका एक मन्त्री चाणक्य से क्रुद्ध होकर तथा पाटलिपुत्र छोड़कर सुमित्र के मन्त्री के रूप में कार्य करने लगा था और चाणक्य से प्रतिशोध लेने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ था। जब राजा सुमित्र को विदित हुआ कि उसके राज्य में चाणक्य मुनि का संघ आया है तो वह सुबन्धु के साथ उसके दर्शनार्थ गया। सुबन्धु ने बदले की भावना से चाणक्य के चारों ओर घेराबन्दी कर आग लगवा दी, जिससे सभी साधुओं के साथ उसकी मृत्यु हो गयी।

कवि हरिषेण ने अन्त में लिखा है— दिव्यक्रौञ्चपुर की पश्चिम दिशामें चाणक्य मुनि की एक निषद्या बनी हुई है जहाँ आजकल (हरिषेण के समय में) भी साधुजन दर्शनार्थ जाते रहते है।[८२]

मुनि चन्द्रगुप्त

तिलोयपण्णत्ती के अनुसार मुकुटधारी राजाओं में अन्तिम राजा चन्द्रगुप्त ही था, जिसने जिनदीक्षा धारण की। उसके बाद कोई भी मुकुटधारी राजादीक्षित नहीं हुआ।

मउडधरेसुं चरिमो जिणदिक्खं धरिदं चंदगुत्तोय।
तत्तो मउडधरा दुप्पव्वज्जं णेव गेण्हंति।। ४/१४८१

चन्द्रगुप्त का जन्म मौर्यवंशी क्षत्रिय कुल में मयूर पोषकों के ग्राम में हुआ था। कहा जाता है कि इस बालक ने 'राजक्रीडा' नामक खेल का आविष्कार कर जन्मजात नेता होने का परिचय दिया। इस खेल में वह एक राजा की

भूमिका का आयोजन करता था और उसकी अध्यक्षता कर न्याय करता था। इस स्थिति में देखकर चाणक्य ने उसकी परीक्षा लेने हेतु कुछ भेंट माँगने का निश्चय किया। चाणक्य के द्वारा गायें माँगे जाने पर बालक ने उत्तर दिया कि सामने चरती हुई गायों में से अपनी इच्छानुसार ले लो। जब चाणक्य ने कहा कि ये गायें तो दूसरे की हैं तो चन्द्रगुप्त ने कहा— तुम इन्हें ले लो, कोई तुम्हें रोक नहीं सकता। यह अपहरण नहीं है, राजा चन्द्रगुप्त द्वारा दिया हुआ दान है। चन्द्रगुप्त के इस उत्तर से कौटिल्य ने निश्चय कर लिया कि यह बालक भाग्यवान् है। उसने बालक के माता—पिता से लेकर उसे अपना शिष्य बनाया और विद्याओं तथा अस्त्र कौशल में निपुण बनाया। अस्त्र शस्त्र की विशेष शिक्षा देने के लिए कौटिल्य ने चन्द्रगुप्त को सिकन्दर की सेना में भर्ती करा दिया। धीरे धीरे चन्द्रगुप्त ने अपनी सेना संगठित की और पाटलिपुत्र को जीतकर धननन्द को उसकी पुत्री दोनो पत्नियों तथा रथ पर आने लायक सम्पत्ति लेकर पाटलिपुत्र से चला जाने दिया। चन्द्रगुप्त की सेना में छह लाख सैनिक थे। उसके समय सेल्यूकस ने भारत पर आक्रमण किया, जिसे विफल कर चन्द्रगुप्त ने हेरात, कन्दहार, काबुल और बलोचिस्तान का कुछ प्रदेश प्राप्त किया। सेल्यूकस ने अपनी बेटी का विवाह भी चन्द्रगुप्त के साथ कर दिया।

चन्द्रगुप्त ने चौबीस वर्ष राज्य किया। एक बार उन्हें सोलह स्वप्न दिखाई दिए। स्वप्नों का अनिष्ट फल जान चन्द्रगुप्त को वैराग्य हो गया, उन्होंने श्रुतकेवली भद्रबाहु के निकट दिगम्बर जैन दीक्षा ले ली। बारह वर्ष के मगध के दुर्भिक्ष के समय वे दक्षिण भारत चले गए और कटवप्र पर्वत पर गुरु की सल्लेखना के समय उनकी परिचर्या करते रहे। वन में श्रावकों का अभाव होने से उन्हें प्रोषध करना पड़ता था। एक दिन स्वामी भद्रबाहु ने उनसे कहा— वत्स ! निराहार तो रहना किसी प्रकार उचित नहीं है। इसलिए तुम वनमें भी आहार के लिए जाओ; क्योंकि यह जैन शास्त्रों की आज्ञा है। चन्द्रगुप्त मुनि गुरुआज्ञा से आहार के लिए वन भ्रमण करने लगे। वहाँ एक देवी ने उन्हें आहार देना चाहा, किन्तु उस देवी का हाथ तथा भोजन सामग्री ही दिखाई दे रही थी। चन्द्रगुप्त मुनि ने सोचा— भोजन भले ही तैयार हो, किन्तु दाता के बिना लेना योग्य नहीं है। ऐसा सोचकर निराहार आ गए और गुरु से निवेदन कर दिया। गुरु ने कहा— वत्स ! तुमने ठीक किया; क्योंकि जब दाता प्रतिग्रहादि विधि से आहार दे, तभी हम लोगों को लेना चाहिए। दूसरे दिन चन्द्रगुप्त पुनः अहार के लिए गए परन्तु वन में उन्होंने केवल भोजन

सामग्री देखी। चन्द्रगुप्त मुनि ने सोचा— साधुओं को अपने आप दूसरों का अन्न ग्रहण करना योग्य नहीं हैं। इसी प्रकार तीसरे दिन भी गुरु के चरण कमलों में प्रणाम कर आहार के लिए गए। उस दिन केवल एक स्त्री को देखकर अपने आहार की योग्यता न समझ शीघ्र ही लौट आए। गुरु ने कहा— वत्स ! तुमने ठीक किया; क्योंकि जहाँ केवल एक स्त्री हो, वहाँ साधु को आहार लेना योग्य नहीं है।

चौथे दिन जब चन्द्रगुप्त आहार के लिए अन्यत्र वन में घूमनेलगे, तब वन देवी ने उन्हे निश्चल व्रत को धारण करने वाले तथा पवित्र हृदय समझकर उसी समय वन में गृहस्थजनों से पूर्ण नगर रचा। मुनिराज ने उसमें प्रविष्ट होकर नवधा भक्ति पूर्वक श्रावकों द्वारा दिए गए आहार को ग्रहण किया। आकर गुरु को नगर का वृत्तान्त बतलाया और आहार ग्रहण करने की बात कही। गुरु ने उनकी प्रशंसा कर कहा— तुमने ठीक शास्त्रानुसार किया।

विचारशील और विनयगुण के धारक चन्द्रगुप्त मुनि निरन्तर उसी नगर में आहार करते हुए गुरु के चरण कमलों की सेवा करने लगे। भद्रबाहु मुनि ने समाधिपूर्वक शरीर त्याग किया। चन्द्रगुप्त वहीं रहकर गुरु के चरण चिन्हों की पूजा कर मुनिचर्या की साधना करने लगे। बारह वर्ष का दुर्भिक्ष समाप्त होने पर विशाखाचार्य आदि मुनि जो भद्रबाहु की आज्ञा से उन्हें छोड़ आगे प्रयाण कर गए थे, जब वापिस आए, तब मन में विचारा कि श्रावक के बिना ये यहाँ कैसे रहे होंगे? इसी विचार से प्रतिवन्दना भी नहीं की। उस जगह श्रावकों का अभाव समझ कर उस दिन सब मुनियों ने उपवास किया। तब चन्द्रगुप्त मुनिराज बोले— भगवन् ! उत्तम लोगों से परिपूर्ण बड़ा भारी यहाँ एक नगर है। उसमें श्रावक लोग निवास करते हैं। वहाँ आप जाकर आहार कीजिए। चन्द्रगुप्त मुनि के वचनों से सब साधुओं को आश्चर्य हुआ। वे वहीं पारणा के लिए गए। नगर में पद पद पर श्रावकों ने नमस्कार किया। विधि पूर्वक आहार कर जब वे अपने स्थान पर आए, उस समय नगरमें एक ब्रह्मचारी अपना कमण्डुल भूल आया था, जब वह फिर उसे लेने को गया तो वहाँ पर नगर न देखा, किन्तु किसी वृक्ष की डाली पर कमण्डलु टँगा हुआ दीख पड़ा। उसे लेकर ब्रह्मचारी गुरु के पास आया और आश्चर्यजनक समाचार ज्यों का त्यों कह सुनाया। विशाखाचार्य मन में विचार करने लगे—

ओह ! ये चन्द्रगुप्त मुनि शुद्ध चारित्र के धारक हैं। इन्हीं के पुण्य के प्रताप से देवता लोगों ने यह नगर रचा था। इस प्रकार शुद्धचारित्र के धारक चन्द्रगुप्त मुनि की प्रशंसा कर उन्हें वहाँ का सब वृतान्त कह सुनाया

और फिर प्रतिवन्दना कर कहा कि देवों द्वारा कल्पना किया हुआ आहार साधुओं को लेना उचित नहीं है। अतः सबको प्रायश्चित्त लेना चाहिए। विशाखाचार्य के कहे अनुसार चन्द्रगुप्त मुनिराज ने प्रार्यश्चित्त लिया और उसी समय सारे संघ ने भी प्रायश्चित्त लिया। विशाखाचार्यादि उज्जयिनी की ओर विहार कर गए।

शक संवत् ५७२ के दो शिलालेखों में (जो चन्द्रगिरी पर उत्कीर्ण हैं) कहा गया है कि भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त मुनीन्द्र के तेज से जैनधर्म भारी समृद्धि को प्राप्त हुआ था। चन्द्रगुप्त के तप प्रभाव से वन देवता तक मुनिसंघ की आराधना में लगे रहते थे।

भद्रबाहु स्वामी के शरीरत्याग के बारह वर्ष बाद चन्द्रगुप्त ने सल्लेखना पूर्वक समाधिमरण किया। चन्द्रगुप्त मौर्य की स्मृति में ही कलवप्पु चन्द्रगिरि कहा जाने लगा। वहाँ चन्द्रगुप्त के नाम पर चन्द्रगुप्त वसदि विद्यमान है[८३]।

इतिहास वेत्ता राईस डेविड्स ने कहा है— चूँकि चन्द्रगुप्त जैन धर्मानुयायी हो गया था, इसी कारण जैनेतरों द्वारा वह अगली १० शताब्दियों तक इतिहास में उपेक्षित बना रहा।[८४] मेगस्थनीज के विवरणों से यह विदित होता है कि चन्द्रगुप्त ने ब्राह्मणो के सिद्धान्तों के विरोध में श्रमणों के उपदेशों को स्वीकार किया था।[८५]

सिकन्दर का दिगम्बर साधुओं से साक्षात्कार

सिकन्दर और उसके यूनानियों को पश्चिमोत्तर प्रदेशवर्ती गान्धार, तक्षशिला आदि के निकटवर्ती वन्य प्रदेशों में ही नहीं, वरन् सम्पूर्ण पंजाब और सिन्ध में यत्र तत्र अनेकों नग्न दिगम्बर साधु मिले थे। इनका यूनानियों ने जिम्नोसोफिस्ट या जिम्नेटाई नामों से उल्लेख किया है और उसके वर्णनों से इस विषय में प्रायः कोई मतभेद नहीं है कि इन शब्दों से आशय तत्कालीन दिगम्बर जैन साधुओं का है। सिन्धुघाटी के ऐसे ही कुछ साधुओं का उन्होने ओरेटाइ एवं वैरिटाइ नामों से भी उल्लेख किया है। इनमें प्रथम शब्द 'आरातीय' शब्द का यूनानी रूप है। जैन साहित्य में जैन मुनियों का एक प्राचीन वर्ग 'आरातीय' नाम से सूचित किया है। वैरिटाइ एक जाति के लिए प्रयुक्त हुआ है जो व्रातयः का यूनानी रूप प्रतीत होता है।

जिम्नोसोफिस्ट या श्रमण साधुओं के सम्बन्ध में यूनानी लेखकों का कथन है कि उनमें कुछ तो वनवासी थे जो नितान्त निष्परिग्रह, निस्पृह एवं नग्न तपस्वी थे, वनों में रहते थे, अल्पभोजी और विशुद्ध शाकाहारी थे, हाथ में लेकरही भोजन करते और जल पीते थे, मृत्यु के उपरान्त शव को जीव

जन्तुओं द्वारा भक्षण किए जाने के लिए वन में ही छोड़ देते थे और मृत्यु निकट जानकर विविध उपायों से जीवन का अन्त कर देते थे, अर्थात् समाधिमरण करते थे। वे देह और भोगों की चिन्ता से सर्वथा मुक्त थे, ज्ञान –ध्यान और तप में लीन रहते थे। यह सब वर्णन दिगम्बर जैन मुनियों के अतिरिक्त अन्य किसी सम्प्रदाय के साधु पर पूर्णतया लागू नहीं होता। तक्षशिला के निकट ऐसे ही मण्डन नामक एक प्रसिद्ध मुनि से सिकन्दर ने साक्षात्कार चाहा। मुनि ने उसके निमन्त्रण का तिरस्कार कर दिया, इस पर सम्राट् स्वयं मुनि के पास गया। प्रश्न करने पर मुनि ने कहा कि यदि हमसे कुछ पूछना और लेना चाहता है तो पहले हमारी ही तरह अन्तर, बाह्य से नग्न हो जा। फिर उन्होंने राज्यतृष्णा और भोगलिप्सा का त्याग कर आत्मा की चिन्ता करने का उपदेश दिया।[८६] यूनानी लेखकों ने तीर्थंकर ऋषभदेव और उनके पुत्र भरत चक्रवर्ती से सम्बन्धित लोकप्रचलित अनुश्रतियों का भी उल्लेख किया है।

कल्याण मुनि

जब सिकन्दर ससैन्य यूनान लौटा तो उसके भारी आग्रह से कल्याण मुनि उसके साथ गए। किन्तु ईरान में ही उनका देहावसान हो गया। अपना अन्त समय जानकर उन्होंने जैनव्रत सल्लेखना का पालन किया था। नंगे रहना, भूमिशोध कर चलना, हरितकाय का विराधन न करना, किसी का निमन्त्रण स्वीकार न करना इत्यादि जिन नियमों का पालन मुनि कल्याण और उनके सभी मुनिगण करते थे, उनसे उनका जैन मुनिहोना सिद्ध है।[८७] आधुनिक विद्वान् यही प्रकट करते हैं। मुनि कल्याण ज्योतिष शास्त्र में निष्णात थे।[८८] उन्होंने बहुत सी भविष्यवाणियाँ की थीं और सिकन्दर की मृत्यु को भी उन्होंने पहले से घोषित कर दिया था। इन भारतीय सन्तों की शिक्षा का यूनानियों पर विशेष प्रभाव पडा था। यहाँ तक कि तत्कालीन डायजिनीस नामक यूनानी तत्त्ववेत्ता ने दिगम्बर वेष धारण कर लिया था और यूनानियों ने भी नंगी मूर्तियाँ बनवायी थीं। यूनानी लेखकों ने इन दिगम्बर मुनियों के विषय में खूब लिखा है। वे बताते हैं कि यह साधु नंगे रहते थे। सर्दी, गर्मी की परीषह सहन करते थे। जनता में इनकी विशेष मान्यता थी। हाट बाजार में यह धर्मोपदेश देते थे। बड़े बड़े शिष्ट घरों के अन्तःपुरों में भी ये पाये जाते थे। राजागण इनकी विनय करते और सम्मति लेते थे। ज्योतिष के अनुसार ये लोगों को भविष्य का फलाफल भी बताते थे। कोई सभ्य उन्हें भोजन दान देता तो उसे ये ग्रहण कर लेते थे।[८९]

मेगस्थनीज के यात्रा वर्णन में दिगम्बर साधु का उल्लेख

ईसा से ३०५ वर्ष पहले सीरिया के सुप्रसिद्ध बादशाह सेल्यूकस ने भारतवर्ष पर चढ़ाई की थी, परन्तु इस चढ़ाई में उसे पराजित होकर सन्धि करनी पड़ी, अपनी कुछ भूमि उसे चन्द्रगुप्त को देनी पड़ी और उसके साथ अपनी पुत्री का विवाह भी करना पड़ा। सेल्यूकस ने मेगस्थनीज को दूत बनाकर चन्द्रगुप्त के दरबार में भेजा। वह चन्द्रगुप्त की राजधानी पाटलीपुत्र में कई वर्षों तक रहा। इस बीच में उसने भारत के विषय में इण्डिका नामक ग्रन्थ ग्रीक भाषा में लिखा। यद्यपि यह ग्रन्थ नष्ट हो चुका है तो भी ग्रीकादि देशों के उसके पश्चाद्वर्ती कई ग्रन्थकारों ने जो उद्धरण दिए हैं, उनका संग्रह प्रकाशित किया गया है। उसमें श्रमणों को नग्न रहने वाला, मद्य, मांस तथा इन्द्रिय विषयों का त्यागी बतलाया गया है। इससे ज्ञात होता है कि श्रमण दिगम्बर जैन साधु ही होंगे। उसके अनुसार वे साधु मत्स्य, मांस और अग्निपक्व खाद्य को नहीं खाते हैं, फलभोजन करके ही सन्तुष्ट रहते है, फलों को वृक्षों से तोड़ते नहीं हैं। जो फल पृथ्वी पर गिर पड़ते हैं, वे उन्हीं को ग्रहण कर लेते हैं और तुंगभद्रा नदी का जलपान करते हैं। वे जीवनभर नग्न होकर विचरण करते हैं और कहा करते हैं कि इस शरीर की सृष्टि आत्मा के लिए एक प्रकार से परिच्छद रूप में हुई है। जैन साधु को उसने जो पृथ्वी पर पड़े हुए फलों को खाने वाला लिखा है, वह उसने श्रमणों को वन में तपश्चर्या करते हुए देखकर, परन्तु नगरों में आहार के लिए जाते न देखकर अन्य वेदानुयायी साधुओं के समान यह अनुमान कर लिया होगा कि जब ये वनों में रहते हैं, तब अवश्य ही यहीं से फल चुनकर लेते होंगे। अग्निपक्व खाद्य नहीं खाते हैं, इसका अभिप्राय इतना ही हो सकता है कि वे स्वयं अग्नि से पकाकर कोई वस्तु नहीं खाते हैं, किसी के द्वारा पकाई हुई मिलने पर खाते हैं और फल तोड़कर नहीं खाते हैं। स्वयं पड़े हुए खाते हैं, इसका अभिप्राय यह हो सकता है कि वृक्षों से तोड़कर नहीं खाते हैं। कोई श्रावक फल लाकर देता है तो खाते हैं।

मेगस्थनीज ने इन साधुओं में से मन्दनीस वा दन्दमिस नामके साधु का उल्लेख किया है। वह नग्न रहता था और एक सम्प्रदाय का प्रधान गुरु व अधिकारी था। जिस समय सिकन्दर ने मन्दनीस की कीर्ति सुनी, उस समय उसने उसे उसके धर्म की शिक्षा प्राप्त करने के लिए बुलाया। ईजिना निवासी सीनिक सम्प्रदाय के प्रसिद्ध दार्शनिक अनिसिक्रेटस बुलाने के लिए भेजे गए। उन्होंने महात्मा मन्दनीस के समीप उपस्थित होकर कहा— 'हे ब्राह्मण कुल

के शिक्षक कल्याण हो। महान् देव जियूस के पुत्र और समग्र मानव जाति के प्रभु राजा सिंकन्दर आपको बुलवाते हैं। यदि आप उनके समीप चलेंगे तो आप प्रचुर और बहुमूल्य उपहार प्राप्त करेंगे और यदि नहीं जावेंगे तो वे आपका सिर काट डालेंगे। मन्दनीस ने मृदु और मधुर हास्य के साथ राजदूत की बातें सुनी। उन्होंने पत्तों की शय्या पर से मस्तक नहीं उठाया। पड़े पड़े ही उदासीनता के साथ उत्तर दिया कि 'महतो महीयान्' परमेश्वर किसी का अपकार करना नहीं जानता है। किन्तु इस लोक का त्याग करने वालों को वह जीवनालोक प्रत्यर्पण करता है। इसलिए वह ही हमारा एक मात्र प्रभु है। उसने नरहत्या का निषेध किया है। और युद्ध के लिए कभी किसी को उत्तेजित नहीं किया है। सिकन्दर कभी ईश्वर नहीं हो सकता; क्योंकि उसे मृत्यु के मुख में पतित होना पड़ेगा। वह अब भी 'टिबेरबोया' नदी को पार नहीं कर सकता है, समग्र पृथ्वी में वासगृह नहीं बना सका है। जगत् के मध्यभाग में सूर्य का अयनकक्ष नहीं देख सका है। फिर यह कैसे ईश्वर हो जायगा? बहुत सी जातियाँ तो आज तक उसका नाम नहीं जानती है। यदि अपने अधिकृत भूखण्ड में उसको सन्तोष नहीं हो सकता है तो वह गंगा नदी को पार करे। वह इस पार ऐसा देश पाएगा, जो मनुष्योपयोगी आहार जुटाने को समर्थ है। सिकन्दर जो कुछ देना चाहता है और जो कुछ उपहार तुम्हारे मुहँ से देना सुना है, वह सर्व ही मेरे समीप तुच्छ, अकिंचित्कर है। ये पत्ते हमारे गृह हैं, समीपवर्ती वनस्पतियाँ हमारे खाद्य द्रव्य हैं, जल पेय है। इनके अतिरिक्त लोग और जो कुछ पदार्थों का आकुलता से श्रम पूर्वक संग्रह करते हैं, वे सब हमारे समीप तुच्छ हैं; क्योंकि वे सब पदार्थ विनाशीक है। उन्हें जो चाहते हैं और जिन्हें वे प्राप्त हैं, उन सबके लिए ही वे दुःख के कारण हैं। इसलिये इस समय निराकुलता निरुद्वेग पूर्वक विराम करते हैं। अभी हम नेत्र बन्द करके पर्णशय्या पर सोते हैं; क्योंकि हमारे पास रक्षा करने के लिए कुछ भी नहीं है। किन्तु यदि हमें स्वर्णरक्षा करनी होती तो निद्रा दूर भाग जाती। माता जिस तरह सन्तान को दूध पिलाती है, उसी तरह पृथ्वी हमारे सारे अभावों को पूर्ण करती है। हम जहाँ जाने की इच्छा करते हैं, जाते हैं और नहीं जाना चाहते हैं, तो कोई दुश्चिन्ता हमको जाने के लिए विवश नहीं कर सकती है। सिकन्दर हमारा शिरश्छेद करना चाहता है, पर वह हमारे आत्मा का छेद नहीं कर सकता है। वह केवल भू पतित मस्तक को पा सकेगा। आत्मा तो पृथिवी से जिस देह को पाई है, उसे जीर्ण वस्त्र के समान पृथ्वी पर ही पड़ी छोड़कर अपने प्रभु के पास

पहुँच जायगा। जिस समय उसने हमें देह से आच्छादित किया था, उस समय उसका अभिप्राय यह देखने का था कि हम इस लोक में अवतीर्ण होकर किस प्रकार जीवन व्यतीत करते हैं और पीछे जब हम उसके सम्मुख उपस्थित होवेंगे, तब वह हमसें जीवन का हिसाब पूछेगा। उसके पास खड़े होकर हम अपना अपकार करने वालों का निरीक्षण करेंगे और जिन्होंने हमारा उपकार किया है, उनका भी विचार पर्यवेक्षण करेंगे; क्योंकि उत्पीड़ित की गहरी निःश्वास और क्रन्दन उत्पीड़क के दण्ड में परिणत होता है।

"जो धन की आकांक्षा रखते हैं अथवा मृत्यु से डरते हैं, सिकन्दर उनको ये सब भय और विभीषिकायें प्रदर्शित करे। हम धन और मृत्यु दोनों को तुच्छ समझते हैं; क्योंकि ब्राह्मण स्वर्ण का लोभ नहीं करते हैं और मृत्यु से भी नहीं डरते हैं। यदि आप समझे कि उससे कुछ प्रयोजन है तो उसके पास जाने के लिए आप कुछ संकोच व घृणा नहीं करें।

जिस समय द्विभाषी के द्वारा सिकन्दर ने ये सब बातें सुनीं, उस समय वह ऐसे विलक्षण पुरुष को देखने के लिए और भी व्यग्र हुआ, जिसे नाना जातियों को जीतने वाले को एक नग्नशरीर वृद्ध ने थोड़े से शब्दों में ही पराजित कर दिया।

पाण्ड्य राजाओं के समय दिगम्बर मुनि

'शिलप्पदिकारम्' नामक तमिल काव्य से प्रकट होता है कि उसके मुख्य पात्र मधुरा की यात्रा करने गए थे। मधुरा उस समय जैन तीर्थ समझा जाता था। वहाँ पास में अनेक जैन गुफायें थीं, जिनमें जैन मुनि तप किया करते थे। आराधना कथाकोष से ज्ञात होता है कि भगवान् महावीर के बाद वहाँ एक सुगुप्ताचार्य नामके साधु हुए थे। मदुरा की यात्रा को चलकर वे पहले जैन साधुओं की एक पल्लि में ठहरे थे। वहाँ चिकने संगमरमर का चबूतरा था, जिस पर से जैनाचार्य उपदेश दिया करते थे। उन्होंने उसकी परिक्रमा दे वन्दना की। वहाँ से चलकर उन्हें कावेरी नदी के तट पर आर्यिकाओं का आश्रम मिला। देवनिधि आर्यिका मुख्य थी, वह भी उनके साथ गयी। जैन आर्यिकाओं का प्रभाव उस समय तमिल स्त्री समाज में खूब था। आगे कावेरी के बीच टापू में भी उन्होंने जैन साधु के दर्शन किए। सारांश यह है कि उन्हें ठौर–ठौर पर जैन मुनियों और आर्यिकाओं के दर्शन होते थे। इससे वहाँ जैन धर्म का बहुप्रचलित होना स्पष्ट है।[१०] चेर राजकुमार इलन्गोवर्द्ध जैन मुनि हुए थे। 'नालडियार' जैन मुनियों की कृति है। इस ग्रन्थ के बारे में एक कथा है। वह यह है कि पाण्ड्य राजा जैन था। वह हजारों मुनिराजों

को आश्रय देता था। वह बड़ा मुनिभक्त था। उनके राज्य में आठ हजार मुनिराज विराजमान थे। राजा सेवाभावी होने के कारण मुनियों पर बड़ा प्रेम करता था। अतः उन मुनिराजों को कहीं जाने नहीं देता था। मुनिमहाराजों का विचार यह था कि मुनियों को एक ही जगह ज्यादा दिन रहना नहीं चाहिए। अतः मुनियों ने राजा से बिना कहे एक एक पद्य लिखकर अपनीअपनी चटाई के नीचे रख दिया और प्रातः काल रवाना हो गए। राजा सुबह आकर देखता है कि वहाँ कोई मुनि नहीं है।[११] उसने चटाई के नीचे से श्लोकों का संग्रह कराया। वह संग्रह एक काव्य ग्रन्थ बन गया। यह 'नालदियार' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। सन् १३८ में तमिल राज्य में अलैक्जेण्ड्रिया से पन्टेनस नामक एक ईसाई पादरी आया था, उसने लिखा है कि वहाँ उसने श्रमण (जैनसाधु), ब्राह्मण और बौद्ध गुरुओं को देखा था, जिनको भारतवासी खूब पूजते थे; क्योंकि उनका जीवन पवित्र था।[१२] 'श्रमण' शब्द का प्रयोग पहले जैनो ने अपने साधुओं के लिए किया था। उपरान्त बौद्धों ने भी उस शब्द को ग्रहण कर लिया और उनके साधु 'शाक्यपुत्रीय श्रमण' नाम से प्रसिद्ध हुए थे—

"The Jainas used the term 'Sramana' prior to the Buddhists is also conclusively proved by the fact that the latter styled the mselves 'Shakyaputtiya' sramanas as distinguished from the already existing Nigganth sramanas.

Buddhist India P. 143

ई. पू. २५ में तत्कालीन पाण्ड्य नरेश ने एक जैन श्रमणाचार्य को सुदूर रोम के सम्राट् आगस्टस के दरबार में अपना राजदूत बनाकर भेजा था। भड़ौच के बन्दरगाह से जलपोत द्वारा यह यात्रा प्रारम्भ हुई थी। उक्त मुनि ने अपना अन्त निकट जानकर रोम नगर में सल्लेखना द्वारा देह त्याग दी थी। वहाँ उनकी समाधि बनी हुई है। राजधानी मदुरा में ही सर्वप्रथम तमिल भाषा के संगम साहित्य का प्रणयन हुआ। एलाचार्य (कुन्दकुन्द) आदि जैन गुरु संगम साहित्य की प्रवृत्ति के नेता थे। उक्त साहित्य के आद्य ग्रन्थ तिरिक्कुरल तोलकप्पियम, नालदियार आदि का प्रणेता जैनों को माना जाता है। कुन्दकुन्द के पश्चात् बलाकपिच्छ, समन्तभद्र आदि आचार्यों ने द्रविड़ देश मे जैन धर्म का पोषण किया।[१३]

तमिल महाकाव्यों से प्रकट है कि निर्ग्रन्थ साधु ग्रामों और नगरों के बाहर पल्लियों या विहारों मे रहते थे, जो शीतल छाया से युक्त लाल रंग से पुती हुई ऊँची दीवालों से वेष्टित थे। उनके आगे छोटे छोटे बगीचे भी होते थे।

उनके मन्दिर तिराहों और चौराहों पर बने होते थे। उनके अपने प्लेटफार्म बने हुए थे, जिन पर से धर्मोपदेश देते थे। उन विहारों के साथ साथ ही आर्यिकाओं के विश्राम भी हुआ करते थे, जिनसे प्रकट है कि तमिल स्त्री समाज पर जैन आर्यिकाओं का अच्छा प्रभाव था। मदुरा की समीपवर्ती गुफाओं में जैन मुनियों के आवास का पता चलता है। वे मुनिगण दिगम्बर मूर्तियों की वन्दना करते थे, यह बात उन गुफाओं में मिली हुई प्रतिमाओं से स्पष्ट है।[६४]

कदम्बनरेशों द्वारा जैन मुनियों को प्रश्रय

कदम्बवंश का दूसरा राजा शिवस्कन्द अथवा शिवकोटि अपने भाई शिवायन के साथ जैनाचार्य समन्तभद्र द्वारा जैनधर्म में दीक्षित हो गया था। मृगेशवर्मन् (४५०–४७८ ई.) जैनधर्म का अनुयायी था। उसके कई ताम्रशासनों में इस नरेश द्वारा जैन मन्दिरों का निर्माण कराने, निर्ग्रन्थ जैन गुरुओं, श्वेतपट जैन साधुओं और जैनों के कूर्चक नामक एक अन्य समुदाय के साध ुओं को दान देने के उल्लेख हैं। स्वयं राजधानी पलाशिका में उसने अपने पिता शान्तिवर्मन की स्मृति में एक भव्य जिनालय बनवाया था।[६५] मृगेश के पुत्र रविवर्मन के धर्मगुरु जैन मुनि कुमारदत्त तथा हरिदत्त थे।[६६] रविवर्मन् का पुत्र हरिवर्मन कूर्चक संघ के जैनाचार्य वारिषेण का बहुत आदर करता था।

गंगवंश और दिगम्बर जैन मुनि

दक्षिण भारत का गंगवंश जैनधर्म की सबसे प्रथम राजनैतिक देन है। पहले इस वंश की अवस्थिति उत्तर या उत्तर पूर्व में थी। ईसा की दूसरी शताब्दी के लगभग इस वंश के दो राजकुमार (दिदिग और माधव) दक्षिण में आए। वहाँ उनकी भेंट जैन गुरु सिहनन्दि से हुई। सिंहनन्दि ने उन्हें शासन कार्य की शिक्षा दी। एक पत्थर का स्तम्भ साम्राज्य की देवी के प्रवेश मार्ग को रोके हुए था। सिहंनन्दि की आज्ञा से उसे एक राजकुमारने काट डाला। सिंहनन्दि ने उन्हें एक राज्य का शासक बना दिया। यह कथा मैसूर राज्य से प्राप्त ११२२ ई. के एक शिलालेख में अंकित है। यह शिलालेख कुल्लूरगुड्ड के सिद्धेश्वर मन्दिर के पास से प्राप्त हुआ है। उसमें सिंहनन्दि को मूलसंघ, कुन्दकुन्दान्वय, काणूरगण, मेषपाषाण गच्छ का तथा दक्षिणवासी बतलाया है। चौथी से बारहवीं शताब्दी तक के शिलालेखों से प्रमाणित होता है कि गंगवंश के शासकों ने जैनमन्दिरों का निर्माण कराया, जैनमूर्तियाँ प्रतिष्ठित करायीं और जैन साधुओं के निवास के लिए गुफायें बनवायीं और जैन आचार्यों

को दान दिया।[९६] गंगवंशी राजा जैनाचार्य की कृपा से राज्य प्राप्ति होने की स्मृति में अपने ध्वज में मयूरपिच्छि चिन्ह रखते थे, जो दिगम्बर जैन मुनियों का एक उपकरण है। गंगवंशीय मारसिंह के प्रधान सेनापति चामुण्डराय के दीक्षा गुरु अजितसेन स्वामी थे। गंग नरेश मारसिंह के प्रधान सेनापित चामुण्डराय के दीक्षा गुरु अजितसेन स्वामी थे। आचार्य जिनसेन से चामुण्डराय ने सिद्धान्त, विद्या और कला की शिक्षा प्राप्त की थी। आचार्य महाराज के अनेक गुण उन्होंने धारण कर लिए थे। उपरान्त श्री नेमिचन्द्राचार्य के निकट रहकर उन्होंने अपना आध्यात्मिक ज्ञान उन्नत बनाया।[९८] श्री नेमिचन्द्राचार्य स्वयं कहते हैं कि उनकी वचन रूपी किरणों से गुणरूपी रत्नों से शोभित चामुण्डराय का यश जगत में विस्तारित हो।[९९] ऊपर उल्लिखित सिंहनन्दि के निकटतम उत्तराधिकारी वक्रग्रीव 'नव स्तोत्र' के रचयिता वज्रनन्दिन और 'त्रिलक्षण सिद्धान्त' के खण्डनकर्ता पात्रकेसरी थे। पात्रकेसरी आचार्य समन्तभद्र के देवागम स्तोत्र को सुनकर जैनधर्म में दीक्षित हो गए थे। यहाँ तक कि अन्ततः दिगम्बर जैन मुनि हो गए। भगवज्जिनसेनाचार्य ने पात्रकेसरी की स्तुति की है। गंगकाल के प्रमुख जैन आचार्यों में सुमति, श्री कुमारसेन, चिन्तामणि, श्रीवर्द्धदेव, महेश्वर उच्चारणाचार्य, देवनन्दि, इन्दुसेन, कनकनन्दि, पुष्पसेन, विमलचन्द्र, इन्द्रनन्दि, श्रीधराचर्य, श्री पालदेव, प्रभाचन्द्र, माणिक्यनन्दी, जिनसेन गुणभद्र, मल्लिषेण, नन्दिमुनि, यशोभद्र, श्रीदत्त, कविपरमेष्ठी, विजयकीर्ति, सर्वनन्दि, गर्गाचार्य, ऋषिपुत्र, वृषभनन्दि, चन्द्रसेनाचार्य, जोइन्दु, महासेन, जटासिंहनन्दि, रविषेण, पद्मनन्दि, अपराजितसूरि, कुमारनन्दी, धनञ्जय, विद्यानन्दि, एलाचार्य, वर्द्धमान गुरु, बालचन्द्र, आर्यनन्दि, विमलचन्द्राचार्य, नागदेव, कनकसेन, गुणचन्द्र भट्टारक तथा मुनिचन्द्र आदि हैं।

चालुक्य काल में दिगम्बर मुनि

चालुक्य वंश का मूल विजयादित्य था तथापि इस वंश का प्रथम वास्तविक नरेश और राज्य संस्थापक पुलकेशी महान् (मृगराज) प्रथम ही था। उसके राज्य में जैन धर्म का पर्याप्त प्रचार था, जैन गुरुओं का निरन्तर विहार होता था और उसके अनेक सामन्त सरदार और कर्मचारी जैन थे। शक सं. ४६४ (सन् ५४२ ई.) में सम्भवतया अपने राज्य के ११ वें वर्ष में उसने अपने सैन्द्रकवंशी सामन्त सामियार के सहयोग से अलक्तक नगर (अल्तम) में एक जिनालय का निर्माण कराया था, जिसमें कनकोपल शाखा के जैनाचार्य सिद्धनन्दि, चित्तकाचार्य, नागदेव और जिननन्दि के नामोल्लेख हैं।[१००] चालुक्य

कालीन एक उपराजा की पत्नी ने सुप्रसिद्ध जैनाचार्य भट्टाकलंकदेव को जन्म दिया था। सम्राट् पुलकेशी द्वितीय के आदरपूर्ण प्रश्रय में ही उनकी प्रतिभा, विद्वत्ता, वाग्मिता इस समय चमकनी आरम्भ हुई थी। पुलकेशी द्वितीय सत्याश्रय ने दिग्विजय के बाद सन् ६३४ ई. में अपने गुरु जैनाचर्य रविकीर्त्ति को उनके द्वारा निर्मित ऐहोलके जिनमन्दिर एवं अधिष्ठान के लिए उदार दान देकर सम्मानित किया। रविकीर्ति भारी विद्वान् एवं महाकवि थे। उनकी काव्य प्रतिभा की तुलना महाकवि कालिदास और भारवि के साथ की जाती थी। इस दान के उपलक्ष्य में स्वयं रविकीर्ति ने ही ऐहोल के जिनमन्दिर में उत्कीर्ण सम्राट् पुलकेशी की वह विस्तृत भाव एवं कलापूर्ण संस्कृत प्रशस्ति रची थी, जो उक्त सम्राट् के चरित्र और कार्यकलापों के लिए हमारा सर्वप्रधान ऐतिह्य आधार है। सन् ६३८–४० ई. के लगभग चीनीयात्री ह्वेनसांग ने पुलकेशी के राज्य और राजधानी की यात्रा की थी। इस चीनी यात्री के विवरणों से ज्ञात होता है कि चालुक्य साम्राज्य में बौद्धों की अपेक्षा निर्ग्रन्थ साधुओं और गृहस्थ अनुयायियों की संख्या कहीं अधिक थी।[१०१] रविकीर्ति के पश्चात् ऐहोल के विद्यापीठ की अध्यक्षता अकलंक को प्राप्त हुई थी, उनके पश्चात् उनका शिष्य समुदाय उक्त ज्ञानकेन्द्र का सफलतापूर्वक संचालन करता रहा। विजयदित्य द्वितीयके प्रश्रय में अकलक के सधर्मा पुष्पसेन और उनके शिष्य विमलचन्द्र तथा कुमारनन्दि और अकलंक के शिष्य प्रथम वृहत् अनन्तवीर्य हुए[१०२]। विजयदित्य द्वितीय (७३३–७४४ ई.) अपने पूर्वजों की भाँति जैनधर्म का भक्त था और अकलंक की परम्परा के विजय पण्डित उसके राजगुरु थे। वे भारी वादी और विद्वान् थे। राजा ने शंख जिनालय आदि मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराया और जैनगुरुओं को दान दिया।[१०३] विष्णुवर्द्धन तृतीय ने जैनाचार्य कलिभद्र का सम्मान किया और उन्हें दान दिया।[१०४]

त्रिकलिंग (आन्ध्र) देशके वेंगि प्रदेश की समतल भूमि में स्थित रामगिरि पर्वत अनेक जैन गुहामन्दिरों, जिनालयों एवं अन्य धार्मिक कृतियों से सुशोभित था। अनेक विद्वान् जैनमुनि वहाँ निवास करते थे। विविध विद्याओं एवं विषयों की उच्च शिक्षा के लिए यह संस्थान एक महान् विद्यापीठ था। वेंगि के चालुक्य नरेशों के संरक्षण एवं प्रश्रय में यह संस्थान फल–फूल रहा था। वह आयुर्वेद आदि विभिन्न विषयों में निष्णात थे, स्वयं महाराज विष्णुवर्द्धन उनके चरणों की पूजा करते थे। इन आचार्य के प्रधान शिष्य उग्रादित्याचार्य थे, जो आयुर्वेद एवं चिकित्साशास्त्र के उद्‌भट विद्वान् थे। सन् ७६६ ई. के कुछ पूर्व ही उन्होंने अपने सुप्रसिद्ध वैद्यक ग्रन्थ कल्याणकारक

की रचना की थी।[१०५]

१० वीं शती ई. में जैनधर्म आन्ध्रप्रदेश में अत्यधिक लोकप्रिय एवं उन्नत दशा में था। राजा अम्म द्वितीय स्वयं शिव और जिनेन्द्र का समान रूप से भक्त था। एक लेख के अनुसार इस नरेश ने पट्टवर्द्धक घराने की राजमहिला माचकाम्बे के निवेदन पर जैनगुरु सकलचन्द्र सिद्धान्त के प्रशिष्य और अय्यपोटि के शिष्य अर्हनन्दी को 'सर्वलोकाश्रय जिनभवन' के लिए दान दिया था।[१०६] अम्म का प्रधान सेनापति दुर्गराज था। उसने धर्मपुरी के निकट कटकाभरण नामका भव्य जिनालय बनवाया था और उसे यापनीय संघ के जैनगुरु जिननन्दि के प्रशिष्य एवं दिवाकर के शिष्य श्रीमन्दरदेव को सौंप दिया था।[१०७]

देशी गण के आचार्य त्रिकाल योगी सिद्धान्तदेव चालुक्यवंशीय राजा शक्तिवर्मन् के गुरु थे।

जयसिंह तृतीय के शासन काल में आचार्य वादिराज, दयापाल और पुष्पषेण सिद्धान्तदेव हुए। श्रवणबेलगोल के शिलालेख नं. ५५ (६६) में मलधारि मुनीन्द्र गुणचन्द्र के लिए 'बलिपुरे मल्लिकामोदशान्तीशचरणार्च्यकः' कहा गया है।

जयसिह तृतीय का पुत्र एवं उत्तराधिकरी सोमेश्वर प्रथम था। इसकी उपाधियाँ आहवमल्ल और त्रैलोक्यमल्ल थीं। इसने १०४२ ई. से १०६८ ई. तक राज्य किया। इसकी रानी केवलदेवी के अधीन चाकिराज ने त्रिभुवन तिलक जिनालय में तीन वेदियाँ बनवाईं। इस राजा ने अजितसेन भट्टारक को शब्द चतुर्मुख की उपाधि दी थी। अजितसेन भट्टारक की अन्य उपाधियाँ वादीभसिह और तार्किक चक्रवर्ती भी थी। इस राजा के ज्येष्ठ पुत्र सोमेश्वर द्वितीय ने जैनधर्म का संरक्षण किया था। इसने सन् १०७४ मे शान्तिनाथ मन्दिर के लिए मूल संघान्वय और काणूरगण के कुलचन्द्रदेव को भूमिदान किया था।[१०८]

राष्ट्रकूटकाल और दिगम्बर जैन मुनि

राष्ट्रकूट राजा जैनधर्म के परम भक्त थे। जिनसेनाचार्य अमोघवर्ष प्रथम के गुरु थे। उन्हीं के राज्यकाल में वीरसेनाचार्य ने अपनी धवला टीका फाल्गुण शुक्ला १० शक सं. ७६६ को समाप्त की थी। अमोघवर्ष के शासनकाल की यही अन्तिम तिथि है। इस समय तक वे लगभग चौसठ वर्ष शासन कर चुके थे।[१०९] सज्जन दानपत्र (श्लो. ४७) से यह स्पष्ट है कि अमोघवर्ष ने अपने अन्तिम जीवन में राजगद्दी छोड़कर वैराग्य धारण किया था। वे अन्ततः संसार

में पूर्ण विरक्त होकर दिगम्बर मुनि हो गए थे। उनका स्वर्गवास सम्भवतः सन् ६०० ई. में हुआ था।[११०] धवलाकर आचार्य वीरसेन राष्ट्रकूट राजधानी के निकट ही वाटनगर में आ बसे और वहाँ के चन्द्रप्रभु जिनालय एवं चामरलेण के गुहामन्दिर में उन्होंने अपना विद्याकेन्द्र स्थापित किया। जैनाचार्य विमलचन्द्र (७२५–७५०) ने जो निर्गुण्ड युवराज परमगुल हुण्डराज के राजनैतिक गुरु थे और बड़े भारी वादी थे, राष्ट्रकूट दन्तिदुर्ग से तथा गंगनरेश श्रीपुरुष मुत्तरस शत्रुभयंकर से सम्मान प्राप्त किया था।[१११] विमलचन्द्र के प्रशिष्य परवादिमल्ल थे, जिन्हेंाने दिंङ्नाग के न्यायबिन्दु पर धर्मोत्तर द्वारा लिखे गए टिप्पण पर भाष्य लिखा था। ये बड़े तार्किक और वादी थे। वे कृष्णराज प्रथम द्वारा सम्मानित हुए थे।[११२] हरिवंशपुराणकार जिनसेन ने ७८३ ई. में अपने हरिवंश पुराण को समाप्त करते हुए कहा है कि इस ग्रन्थ का बहुभाग पहले वर्द्धमान के पार्श्वनाथ मन्दिर में बैठकर रचा था और शेष भाग शन्तिनाथ के उस शान्तिपूर्ण मन्दिर में जहाँ दोस्तटिका के लोगों ने एक बृहत्पूजा का अयोजन किया था। उस समय उत्तर दिशा में इन्द्रायुध, दक्षिण में कृष्ण के पुत्र श्रीवल्लभ, पूर्व और पश्चिम में अवन्तिनरेश वत्सराज तथा सौरमण्डल (सौराष्ट्र) में वीर जयवराह राज्य करते थे।[११३] श्री वल्लभ राष्ट्रकूट वंशीय था।

राष्ट्रकूट राजधानी के निकट वाटनगर (वाट ग्रामपुर) में पंचस्तूपान्वयी स्वामी वीरसेन का सुप्रसिद्ध ज्ञानकेन्द्र था। वहाँ रहते हुए ही इस महान् जैनाचार्य ने ध्रुवराज के शासन काल में सन् ७८० ई. में अपने महान् ग्रन्थ श्रीधवल को पूर्ण किया था। तदनन्तर जयधवल का एक तिहाई के लगभग अंश तथा महाधवल की रूपरेखा तैयार की थी। सिद्धभूपद्धति आदि अन्य ग्रन्थ भी उन्होंने रचे थे। इस दिग्गज विद्वान् ने अकेले लगभग एक लक्ष श्लोक प्रमाण ग्रन्थ रचना की थी। दिगम्बर आगम ग्रन्थों की सर्वमहान् एवं सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण टीकायें वीरसेनाचार्य के उपर्युक्त ग्रन्थ ही हैं। उनके विद्यापीठ में एक विशाल पुस्तक संग्रह था– उतना बड़ा जैन पुस्तकालय उस काल में भारतवर्ष में अन्य नहीं था। उनका शिष्य समुदाय भी विशाल था। सन् ७९० ई. के लगभग स्वामी वीरसेन की समाधि हुई। इनके अतिरिक्त स्वामी विद्यानन्दि, परवादिमल्ल और गुरु कुमार सेन उस समय में राष्ट्रकूट राज्य केप्रसिद्ध जैनाचार्य थे।[११४]

स्वामी वीरसेन के पट्टशिष्य स्वामी जिनसेन शान्तिपूर्वक गुरु द्वारा अधूरे छोड़े गए कार्य की पूर्ति के लिए प्रयत्नशील थे। उनके सधर्मा अनन्त

कीर्ति, रविभद्र शिष्य अनन्तवीर्य आदि अनेक जैन गुरु राष्ट्रकूट राज्य को सुशोभित कर रहे थे। महाकवि स्वयम्भू भी मुनि हो गए थे।

वीरसेन स्वामी के पट्टशिष्य जिनसेन थे। आचार्य जिनसेन के माता–पिता, जन्मस्थान आदि की कोई प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं है। जयधवला टीका की प्रशस्ति के अनुसार कर्णच्छेदन से भी पहले उन्होंने वीरसेन स्वामी के संघ में रहना प्रारम्भ कर दिया था। आसन्नभव्यता, मोक्षलक्ष्मी की समुत्सुकता और ज्ञान लक्ष्मी के वरण हेतु इन्होंने बाल्यावस्था से ही ब्रह्मचर्य व्रत धरण कर लिया था। उनका शारीरिक आकार अधिक सुन्दर नहीं था और न वे अधिक चतुर थे। श्री, शम और विनय उनके नैसर्गिक गुण थे, जिसके कारण विद्वज्जन भी उनकी आराधना करते थे; क्योंकि गुणों के द्वारा कौन व्यक्ति आराधना को प्राप्त नहीं होता है। वे यद्यपि शरीर से कृश थे, किन्तु तपोगुण से कृश नहीं थे। शरीर से दुर्बल व्यक्ति दुर्बल नही होता है जो व्यक्ति गुणों से दुर्बल है, वहीं वास्तव में दुर्बल है। ज्ञान की आराधना में उनका समय निरन्तर व्यतीत होता था, अतः तत्त्वदर्शी उन्हें ज्ञानमय पिण्ड कहा करते थे।[95]

श्री गुणभद्राचार्य ने उत्तर पुराण में लिखा है कि जिनको प्रणाम करने से राजा अमोघवर्ष अपने को पवित्र मानता था, वह श्री जिनसेनाचार्य जगत् के मंगल रूप हैं–

यस्य प्रांशुनखांशुजाल विरद्धारान्तराविर्भवत्
पादाम्भोजरजः पिशंग मुकुटप्रत्यग्ररत्नद्युतिः।
संस्मर्ताऽस्यममोघवर्षनृपतिः पूतोऽहमेद्यत्यलं।
स श्रीमान्जिनसेन पूज्य भगवत्पादो जगन्मंगलम्।। उत्तरपुराण

सम्राट् अमोघवर्ष ने जैनाचार्य श्री गुणभद्र सूरि को अपने पुत्र और उत्तराधिकारी श्री कृष्णराज द्वितीय का गुरु नियत किया था। श्री गुणभद्राचार्य ने अपना उत्तरपुराण इन्हीं के राज्यकाल में समाप्त किया था।

श्रवणबेलगोल की पार्श्वनाथ वसदि शिलालेख से प्रकट है कि सम्राट् कृष्णराज की राजसभा में जैनगुरुओं का गमनागमन होता था और सम्राट् उनका आदर करते थे।

एक बार 'घट–वाद–घटा–कोटि–कोविद' साक्षात् (बृहस्पति) देव श्री परवादिमल्लदेव नामक प्रसिद्ध जैन गुरु सम्राट् कृष्ण के राजदरबार में आए। सम्राट् ने उनका समुचित आदर सत्कार किया और उनसे उनका नाम पूछा। उन जैनाचार्य ने जो उत्तर दिया, उससे उनका पाण्डित्य प्रकट होता है।

उन्होंने कहा—

घटवादघटाकोटि कोविदः कोविदां प्रवाक्।

परवादिमल्लदेवो देव एव न संशयः।। २८।। चूर्णि.

गृहीत पक्ष से भिन्न पक्ष पर है, जो उसको धारण करते हैं वे 'परवादिनः' हैं और जो उन परवादियों से मल्लयुद्ध करते हैं, वह परवादिमल्ल कहलाते हैं। राजन् ! सज्जन पुरुष मेरा यही नाम बताते हैं।

राष्ट्रकूट राजाओं के सामन्तों में रट्टवंश के लोग प्रमुख थे। राष्ट्रकूटों से इनका वंशगत सम्बन्ध था। जैन मुनि चन्द्र इस वंश के प्रतिष्ठापक आचार्य कहे गए हैं। शिलालेखों में मुनिचन्द्र रट्टराजाओं के धार्मिक गुरु रट्ट राज्य संवर्द्धक और संरक्षक, मित्रों के लिए साक्षात् चन्द्र और शत्रु राजाओ रूपी कमलों को हतप्रभ करने के लिए साक्षात् चन्द्र थे। उन्होंने रट्ट राज्य समुद्र तक विस्तृत कर दिया था। अपने आत्मज्ञान के कारण ही वह नृप कार्तवीर्य के धर्मगुरु हुए थे।[११६]

होय्सल राजवंश और दिगम्बर मुनि

पश्चिमी घाट की पहाड़ियो में कादुजिले के मुदगेरे तालुका में अंगडि एक स्थान है। यही स्थान होयसल नरेशों का उद्गम स्थान है। यहॉ पर 'सल' नामक सामन्त ने एक व्याघ्र से जैन मुनि की रक्षा करने के कारण पोयसल नाम प्राप्त किया।[११७]

होय्सल नरेश विष्णुवर्द्धन की पट्टराज्ञी शान्तलादेवी एक धर्मपरायण महिला थीं। वे **प्रभाचन्द्र मुनि** की शिष्या थी। प्रभाचन्द्र **मेघचन्द्र त्रैविद्यदेव** के शिष्य थे। वीरनन्दि उनके गुरुभाई थे। प्रभाचन्द्र आगम के अच्छे ज्ञाता और वीरनन्दि भारी सैद्धान्तिक थे।[११८]

होयसल राजा उदयादित्य का पादपद्मोपजीवी दण्डनायक गंगराज था। कुन्दकुन्दान्वयी मलधारिदेव के शिष्य **शुभचन्द्र** गंगराज के पुत्र बोप्पके गुरु थे। बोप्पदेव ने रजतमय कैलाशके समान जिनमन्दिर बनवाया। गंगराज की मृत्यु के स्मारक में बोप्प ने मूर्ति की स्थापना की, प्रतिष्ठापक **नयकीर्ति सिद्धान्तचक्रवर्ती** थे।

बल्लाल नरेश के दण्डाधिपति हुल्ल जिनपदभक्त थे। शक वर्ष १०६५ के विजय संवत्सर के पौष्य बहुल चौथ मंगलवार को उत्तरायण संक्रान्ति में **गुणभद्र** के शिष्य **नयकीर्ति** के शिष्य **भानुकीर्ति व्रतीन्द्र** को बल्लालनरेश ने पार्श्व और चतुर्विंशति तीर्थंकर की पूजन हेतु मारुहल्लि ग्राम का दान दिया।[११९]

गंगराज ने अपने गुरु मूल संघ, देशिय गण, पुस्तक गच्छ के श्री शुभचन्द्र सिद्धान्तदेव की परोक्षविनय कर निषद्या निर्माण कराई और महापूजा कर महादान दिया। यह उल्लेख चामुण्डराय वसदि के दक्षिण की ओर मण्डप में प्रथम स्तम्भ (शक संवत १०४५) पर किया गया है।[१२०] प्रभाचन्द्र सिद्धान्तदेव ने महाप्रधान दण्डनायक गंगराज द्वारा अपने गुरु मेघचन्द्र त्रैविद्य की निषद्या निर्मित कराई।[१२१] यह शक सं. १०३७ की घटना है।

जिननाथपुर में अरेगल वसदि के पूर्व की ओर के शक सं. १०५७ के शिलालेख से ज्ञात होता है कि गंगराज के पुत्र बोप्पदेव दण्डनायक ने अपने भ्राता एचिराज की निषद्या निर्माण करायी। बसदियों के लिए गंग समुद्र की कुछ भूमि का दान शुभचन्द्रदेव के शिष्य माघवचन्द्र देव को दिया।

श्रवणबेलगोल की पार्श्वनाथ बसदि ११२६ ई. के शिलालेख से प्रकट है कि गुरु शन्तिदेव की पादपूजा के प्रसाद से पोयसल नरेश विनयादित्य ने अपने राज्यको श्री सम्पन्न किया था। १०६२ ई. मे अंगडि में ही शान्तिदेव ने समाधिमरण किया और उस उपलक्ष्य में राजा तथा उसके समस्त नागरिक जनो ने वहाँ उनका स्मारक स्थापित किया था। इस राजगुरु के उपदेश से महाराज विनयादित्य ने प्रसन्नतापूर्वक अनेक जिनमन्दिर, देवालय, सरोवर, ग्राम और नगर निर्माण किये। उत्तरायण संक्रमण के अवसर पर १०६२ ई. में इस नरेश ने मेघचन्द्र के शिष्य बेलवे के जैनगुरु अभयचन्द्र का भूमिदान देकर सम्मान किया।

विष्णुवर्द्धन की ज्येष्ठपुत्री राजकुमारी हरियब्बरसि जो सिंह सामन्त से विवाही थी, बड़ी धर्मात्मा थी। उसके गुरु **गण्डविमुक्त सिद्धान्तदेव** थे।[१२२]

१३०० ई. में राजधानी द्वारसमुद्र में महामुनि **रामचन्द्र मलधारी देव** ने समाधिमरण किया था। इस अवसर पर जनता ने बड़ा उत्सव किया और मुनि की मूर्तियाँ बनवाकर स्थपित की थीं।[१२३] बल्लालराय होयसल के गुरु श्री **वासुपूज्य व्रती** थे। राजा पुनिस होयसल के गुरु **अजितमुनि** थे।[१२४]

द्वारसमुद्र जैनियों का केन्द्र था, उसका वह भाग जहाँ जैनमन्दिर स्थित थे 'बस्तिहल्लि' कहलाता था। अनेक जैनाचार्यों और उनके भक्तों ने वहीं से अहिंसा संस्कृति की शीतलधारा बहाई थी। उदाहरणार्थ मूलसंघ देशीगण के आचार्य **बाहुबलि सिद्धान्ति** के शिष्य सकलचन्द्र मुनि थे। उन्होंने जैन धर्म प्रकाश के लिए सारे देश में विहार किया था— ग्राम, खेटों और नगरों में धर्म प्रभावना करके वह बिलीच नामक ग्राम में सन् १२३६ ई. में समाधिस्थ हो गए। द्वारसमुद्र के भव्य नागरिकों ने जब यह सुना तो वह

गुरुभक्ति से प्रेरित होकर वहाँ गए और उनका स्मारक निषधिका बना दी।[१२५]

सन् १२७४ ई. में द्वारसमुद्र में एक और घटना घटी। वहाँ श्री समुदाय, देशीयगण और इंगुलेश्वर बलि के गुरु बालचन्द्र पण्डितदेव प्रसिद्ध थे। तपधर्म पर उन्होंने वह देशना दी कि लोक में उनका नाम प्रसिद्ध हो गया। सारचतुष्टय आदि सिद्धान्तग्रन्थों पर जब उन्होंने टीका टिप्पण किया तो उनके दीक्षागुरु नेमिचन्द्र भट्टारक ने बड़े चाव से सुना। एक दिन चतुर्विध संघ के समक्ष बालचन्द्र पण्डितदेव बोले 'अमुक दिन मध्याहन को मैं संन्यास लूँगा। आप सबको धर्मलाभ हो। मुझे आप क्षमा करें। वे पर्यंकासन से लेट गए। संन्यास की विधि का उन्होंने पालन किया और पञ्चपरमेष्ठी का स्मरण करते हुए उन्होंने ऐसी सुन्दर रीति से समाधि मरण किया कि अन्य सम्प्रदायों ने भी प्रशंसा की। द्वारसमुद्र के भव्यजनों में पुण्यप्रभावना जागृत हुई। उन्होंने विधिवत् उत्सव मनाया— स्वयं उन गुरु की मूर्ति प्रतिष्ठित कराई। इसके ठीक पाँच वर्ष पश्चात् सन् १२७६ ई. में फिर ऐसा ही प्रसंग उपस्थित हआ। इस बार श्री अभयचन्द्र सिद्धान्तदेव ने समाधिमरण किया। यह श्री बालचन्द्र पण्डितदेव के श्रुतगुरु थे। निस्सन्देह वह महाविद्वान थे— 'प्रमाणद्वयी' के साथ वह छन्द, व्याकरण, न्याय, सिद्धान्त और काव्यशास्त्र के ज्ञाता थे। वे एक महान् वादी के रूप में प्रसिद्ध थे। सन् १२६६ ई. मे एक रात्रि को उन्होंने अपना अन्त समय निकट जाना और अन्नजल का त्याग कर दिया। पर्यंकासन से विधिवत् उन्होंने समाधिमरण किया।[१२६]

अंगडि के शिलालेख से प्रकट है कि सन् १०६२ ई. में मूलसंघ के आचार्य शान्तिदेव, जो कि विनयादित्य के गुरु थे, ने सल्लेखनाव्रत धारण कर स्वर्ग सुख प्राप्त किया। उनके निधन पर राजा के साथ ही सारे नगर समूह ने उनकी स्मारक निषधिका स्थापी थी। शान्तिदेव के सदुपदेश से राजा विनयादित्य ने इतने अधिक जिनमन्दिर बनवाए कि उनके लिए ईंटों हेतु जहाँ से मिट्टी ली गई, वहाँ तालाब हो गए, जिन पहाड़ों से पाषाण लिए गए वहाँ मैदान हो गए और जहाँ से चूने से भरी गाड़ियाँ निकलीं, वहाँ बडे बड़े भरके हो गए।[१२७]

उस समय के जैन आचार्य और मुनिगण पूर्ण निर्ग्रन्थ वृत्ति के पालक थे। वे दिगम्बर वेष में रहते थे और मूलगुणों का पालन करते थे। उनका सारा समय ज्ञान ध्यान और धर्मप्रभावना में व्यतीत होता था। धार्मिक संस्थाओं की व्यवस्था करते हुए अपने वीतरागता गुण और आत्मभाव को वे बढ़ाते थे। जैन सिद्धान्त और लौकिक ज्ञान में उनकी समता करना दुर्लभ था।

चारुकीर्ति आचार्य कविगमक–वादिवाग्मी–वितान–प्रवर थे। माघनन्दि जिनागभोद्धारक थे। अभयचन्द्रयतीश छन्द, न्याय, निघण्टु, शब्दशास्त्र, अलंकार में निष्णात थे। वे षट्खण्ड वाग्भूचक्र विवृत प्रमाणद्वयी के प्रणेता और सिद्धान्तचक्रवर्ती थे।[१२८] श्रीपाल योगीन्द्र की आज्ञा सब ही नरेश शिरोधार्य करते थे— उन्होंने न्याय–तर्क के षट्दर्शन रूपी समुद्र का शोषण कर लिया था, जिससे अगस्त्य भी हतप्रभ हो गया था। उनके शिष्य वासुपूज्य व्रतीन्द्र भव्यजनों से सेव्य सेवाधर्म के लिए प्रसिद्ध थे और उदारता में स्वयं दानस्वरूप थे। वे भव्यजनों को शिक्षादीक्षा देकर उनकी रक्षा किया करते थे। इस लोकसभा के द्वारा ही वे जगद्विजयी हुए थे।[१२९] वर्द्धमान जगदकेमल्ल वादिराज देव ऐसे तर्कवादी थे कि जैसे सूर्य के समक्ष चन्द्र निस्तेज होता है, इसी प्रकार अन्य वादी उनके समक्ष निस्तेज होते थे। वह गत सर्वज्ञाभिमान, अर्हन्मताम्भोनिधि और विभववादि राजेन्द्र थे।[१३०] विद्या के साथ ही जैनाचार्य और साधुवर्ग व्रत तथा चारित्र पालन के लिए भी प्रसिद्ध थे। भट्टारक अजितसेन के अग्रपुत्र कलियुग गणधर मल्लिषेण मलधारिदेव 'दुर्द्धर तपोविभूति' थे। कुमारसेन सैद्धान्तिक भी एक प्रसिद्ध तपस्वी थे।[१३१] मुनिचन्द्र भट्टारक आचार्य के ३६ गुणों से युक्त पंचाचार का पालन करते थे।[१३२] गंडविमुक्त मलधारिदेव भूलकर भी लौकिक कार्य सम्बन्धी शब्द नहीं बोलते थे। उन्होंने कभी अपनी देह खुजलाई नहीं। दूसरों को कष्ट न हो, इसका उन्होंने पूरा ध्यान रखा।[१३३]

विजयनगर साम्राज्य के काल में जैनमुनि

विजयनगर साम्राज्य के अधिकांश शासक हिन्दू थे, किन्तु वे वैष्णव, शैव और जैनों के प्रति समान व्यवहार करते थे। राज्य की बहुसंख्यक प्रजा जैन थी। इस साम्राज्य के अनेक दिगम्बर जैन मुनियों का उल्लेख प्राप्त होता है। हरिहर के शासन काल में १३५५ ई. में भोगराज नामक एक प्रतिष्ठित राजपुरुष ने रायदुर्ग में अनन्त जिनालय की स्थापना करके अपने गुरु नन्दि संघ बलात्कारगण सरस्वती गच्छ के अमरकीर्ति के शिष्य माघनन्दि सिद्धान्ति को समर्पित किया था। इस राजा ने अन्तिम वर्ष १३६५ ई. में कम्पा के जैनगुरु मल्लिनाथ को दान दिया था। हरिहर का पुत्र राजकुमार विरूपाक्ष ओडेयर १३६३ ई. में मालेराज का शासक था। इस समय महान्वादी सिंहकीर्ति हुए।[१३४] दण्डेश इरुग के गुरु आचार्य सिंहनन्दि थे। राजकुमार बुक्काराय द्वितीय का दण्डनायक इरुगप्प था। उसने अपने गुरु पुष्पसेन मुनि के उपदेश से त्रैलोक्यनाथवसदि के सम्मुख एक सुन्दर मण्डप बनवाया। इरुगप्प का

सहयोगी ब्राह्मण मन्त्री कूचिराज भी परम जैन था, वह चन्द्रकीर्ति देव का शिष्य था।[१३५] राजा हरिहर द्वितीय के राज्यकाल में अभिनव श्रुतमुनि ने मल्लिषेण कृत सज्जनचित्तवल्लभ की कन्नड टीका लिखी।[१३६] राजाधिराज परमेश्वर देवराय प्रथम जैनाचार्य वर्द्धमान मुनि के पट्टशिष्य और महान् व्याख्याता धर्मभूषण् गुरु के चरण पूजता था।[१३७] देवराय द्वितीय (१४१९–१४४६ ई.) के शासनकाल में जैनाचार्य नेमिचन्द्र ने राजसभा में अन्य विद्वानों के साथ शास्त्रार्थ कर इस राजा से विजय पत्र प्राप्त किया था। १४२२ ई. में महासेनापित इरुगप ने भी बेलगोल के गोम्मटेश की पूजा के लिए गुरु श्रुतमुनि के उपदेश से एक गाँव प्रदान किया था।[१३८]

महाराज विरूपाक्ष की राजसभा में उद्‌भट विद्वान् एवं महान्‌वादी जैनाचार्य विशालकीर्ति ने परवादी विद्वानों को शास्त्रार्थ में पराजित कर राजा से जयपत्र प्राप्त किया था। राजा के एक प्रमुख सामन्त अरग के शासक देवप्प दण्डनाथ की राजसभा में भी इस जैनाचार्य ने जिनधर्म पर एक महत्त्वपूर्ण व्याख्यान देकर ब्राह्मण विद्वानों की भी श्रद्धा और विनय प्राप्त की थी।[१३९] महाराजा कृष्णदेव की राजसभा में विभिन्न दर्शनों एवं मतों के विद्वानों के साथ शास्त्रार्थ कर जैन गुरु विद्यानन्द संसार प्रसिद्ध हो गए।[१४०] महाराज स्वयं इनका बड़ा आदर करते थें ये वादी विशालकीर्ति के शिष्य थे। काव्यसार नामक ग्रन्थ इनकी कृति बतायी जाती है। १५५७ ई. में रत्नाकरनन्दि ने त्रिलोक शतक नामका दस हजार श्लोक प्रमाण ग्रन्थ ६ मास में रचकर तैयार किया था। भरतेश्वरचरित और पदजाति इनकी अन्य रचनायें हैं।[१४१]

मुसलमानी काल में दिगम्बर जैन मुनि

लगभग १४२४ ई. में दिल्ली के मूलसंघी भट्टारक शुभचन्द्र के उपदेश से बाजबहादुर नामक सुलतान के राज्य के संघपति होलीचन्द्र आदि अनेक धनी श्रावकों ने देवगढ़ में तीर्थंकरों और गुरुओं की कई प्रतिमायें निर्माण कराकर भारी प्रतिष्ठोत्सव किया था। शिलालेख में सुल्तान की प्रशंसा है। मालवा में इस काल में दिगम्बर आम्नाय के नन्दि, काष्ठा और सेन संघों के कई पट्ट विद्यमान थे।[१४२]

१४ वीं सदी में चित्तौड़ में कीर्ति स्तम्भ के निर्माता जैनी साहजीजा ने १०८ प्राचीन मन्दिरों का जीर्णोद्धार तथा उतने ही नवीन मन्दिरों का निर्माण एवं प्रतिष्ठा करायी थी। अठारह स्थानों में अठारह विशाल श्रुतभण्डार स्थापित किए थे और सवालाख बन्दियों से मुक्त कराया था। उसके गुरु दिगम्बराचार्य सोमसेन भट्टारक थे।[१४३]

महाराणा सांगा के राज्यकाल में दिल्ली के मूलसंघी पट्टाचार्य जिनचन्द्र सूरि के शिष्य अभिनव प्रभाचन्द्र (१५१४–१५२४ ई.) ने चित्तौड़ में स्वतन्त्र पट्ट स्थापित किया था। मण्डलाचार्य धर्मचन्द्र (१५२४–१५४६ ई.) उनके उत्तराधिकारी थे। इनके प्रशिष्य के समय चित्तौड़ का पतन होने पर यह पट्ट आमेर को स्थानान्तरित हो गया था। चित्तौड़ के इस पट्ट के आश्रय में अनेक ग्रन्थों की रचना हुई। आचार्य नेमिचन्द्र ने गोम्मटसार की संस्कृत टीका १५१५ ई. में चित्तौड़ में ही पार्श्व जिनालय में की। राणा ने जैनाचार्य धर्मरत्नसूरि का भी हाथी, घोड़े, सेना और बाजे–गाजे के साथ स्वागत किया था तथा उनके उपदेश से प्रभावित होकर शिकार आदि त्याग दिया था।[१४४]

अलाउद्दीन खिलजी (१३६६–१३१६ ई.) के समय दिल्ली का नगरसेठ पूर्णचन्द्र नामक अग्रवाल जैन था। सुल्तान उसे काफी मानता था। इसी सेठ से कहकर सुल्तान ने दिगम्बराचार्य माधवसेन को दिल्ली बुलवाया था। सुल्तान ने अपने दरबार में उनका व्याख्यान सुना और सम्मान किया। राधो और चेतन नामक विद्वानों के साथ जैनाचार्य ने विजय प्राप्त की। दिल्ली काष्ठासंघ के संस्थापक भी यही आचार्य थे। इस सुल्तान से इन्होंने कई फरमान प्राप्त किए। नन्दिसंघ के आचार्य प्रभाचन्द्र ने भी इसी समय के लगभग अपना पट्ट स्थापित किया था। गुजरात के अपने पहले आक्रमण में भड़ौच के दिगम्बर जैन साधु श्रुतवीर स्वामी से भी इस सुल्तान का साक्षात्कार हुआ था, ऐसा कहा जाता है।[१४५]

कहा जाता है कि जब मुहम्मद गौरी भारत में रहकर अपने सेनानियों द्वारा देश के विभिन्न भागों की विजय करा रहा था तो उसने अपनी मलिका के आग्रह पर एक दिगम्बर जैन साधु को, जिन्हें उसने इलियट के अनुसार बहुसंख्या में पाया था, अपने दरबार में बुलाकर सम्मानित किया था। सम्भव है उक्त साधु के प्रभाव को सुनकर अथवा केवल जिज्ञासा के लिए उसने वैसा किया हो।[१४६]

सुल्तान मुहम्मद तुगलक के समय में दिल्ली में नन्दिसंघ के पट्टाधीश प्रसिद्ध भट्टारक प्रभाचन्द्र थे, जिनसे सुल्तान बहुत प्रसन्न था।[१४७] फीरोजशाह तुगलक ने नन्दि संघ के भट्टारक प्रभाचन्द्र को जो दिगम्बर मुनि थे, अपने महल में बुलवाया था।[१४८]

बहलोल लोदी का एक उच्च पदाधिकारी गढ़साव था, जिसके पुत्र तारणस्वामी (१४४८–१५१५ ई.) अपने समय के प्रसिद्ध जैन सुधारक थे। इन्होंने मूर्तिपूजा का विरोध किया और तारणपंथ चलाया।[१४९]

अकबर के ऊपर जैनधर्म का बहुत प्रभाव पड़ा था। अबुलफजल ने आईने अकबरी भाग ३ पृ. ८७ में दिगम्बर मुनियों का स्पष्ट उल्लेख किया है और लिखा है कि वे नग्न रहते थे।[१५०]

कविवर बनारसीदास जी बादशाह शाहजहाँ के कृपापात्रों में से थे। एक बार कवि आगरा में थे तब वहाँ पर दो नग्न मुनियों का आगमन हुआ। सब ही लोग उनके दर्शन और वन्दन के लिए आते थे। कविवर परीक्षा प्रधानी थे। उन्होंने उन मुनियों की परीक्षा की थी।[१५१]

अंग्रेजी काल में प्रमुख दिगम्बर जैन मुनि

अंग्रेजी काल में भारतीयों को धार्मिक स्वतन्त्रता थी। अंग्रेजो ने किसी का बालत् धर्मपरिवर्तन नहीं कराया। इस युग में यद्यपि दिगम्बर मुनियों की प्रचुरता नहीं थी, किन्तु सर्वथा अभाव भी नहीं था। सं: १८७० में ढाका शहर में नरसिंह नामक मुनि के अस्तित्व का पता चलता है।[१५२] उत्तर भारत मे साधु विरल थे, किन्तु दक्षिण में वे अधिक संख्या में थे।

संवत् १९७४ में मुरैना में दक्षिण के एक साधु अनन्तकीर्ति का चातुर्मास हुआ। एक बार जाड़े के दिनों में किसी भक्त ने उनके तख्त के नीचे जलती हुई अँगीठी रख दी। तेज दहकती अग्नि से तख्त की लकड़ी भी तप्त हो गई, जिससे मुनि के शरीर की खाल लकड़ी से चिपक गई, किन्तु इस उपसर्ग को उन्होंने समतापूर्वक सहन किया। कुछ समय श्रावकों ने उनका उपचार भी किया, किन्तु शरीर की स्थिति ठीक न देख उन्होने सल्लेखनापूर्वक शरीर त्याग कर दिया।

सन् १८६६ ई. में अंकली ग्राम, महाराष्ट्र में सिद्धगौड़ा शंगार गौड़ा पाटिल तथा अक्कबाई के यहाँ शिवगौड़ा नामक बालक का जन्म हुआ, जो बचपन से बलवान् हुआ। युवावस्था में उनकी बलवत्ता की कई कहानियाँ प्रचलित हैं। एक बार इनके साथियों ने इन्हें एक कमरे में बन्द कर दिया तो इन्होंने एक मुक्के से किवाड़ को तोड़ डाला और बाहर आ गए। एक बार मित्रमण्डली के साथ विनोद में आपने कद्दू को हाथ से दबाकर तोड़ डाला और उसे कच्चा खाकर पचा गए। १९०६ ई. में उन्होंने क्षुल्लक दीक्षा ली। इसके सात वर्ष बाद मुनि दीक्षा ले ली और आदिसागर अंकलीकर के नाम से प्रसिद्ध हुए। वे बड़े कठोर तपस्वी साधु थे। सात दिन बाद एक दिन आहार लेते थे। कभीकभी आहार में एक ही वस्तु लेते थे। उनका अन्तिम चातुर्मास सांगली के पास ऊदगाँव में हुआ। सन् १९४३ के ४ मार्च के दिन उनका स्वर्गवास हो गया। इनके बाद इनके शिष्य मुनि महावीर कीर्ति जी महाराज ने आचार्य

पद सँभाला।

आचार्य शान्तिसागर[१५३]

उत्तर भारत में जब लोग दिगम्बर मुनिराज के दर्शन के लिए तरसते थे, मुनिमार्ग में कुछ–कुछ शिथिलाचार का प्रवेश हो गया था, उस समय आषाढ़ वदी छठ सन् १८७२ ई. को माता सत्यवती के गर्भ से भीमगौडा पाटिल के पुत्र के रूप में सातगौडा नामक एक बालक ने जन्म लिया, जो आगे जाकर आचार्य शान्तिसागर के नाम से विश्वविख्यात हुए। बचपन से ही आप दयालु प्रकृति के थे। घर का प्रमुख व्यवसाय खेती था। सातगौडा कभी अपने खेतों में से पक्षियों को नहीं भगाते थे। खेतों के पास वे उन्हें पानी पीने के लिए रख देते थे और स्वयं एक स्थान पर बैठ जाते थे, फिर भी उनके खेतों में सबसे अधिक धान्य होता था। उनके यहाँ कपडे की दूकान भी थी। वे बड़े उदासीन भाव से दूकान पर बैठते थे। ग्राहक से कह देते थे कि अपने मन का कपड़ा चुनकर अपने हाथ से नापकर फाड़ लीजए और यदि उधार लेना हो तो अपने ही हाथों से बही में लिख दीजिए।

गृहस्थ अवस्था में वे परम मुनिभक्त थे। मुनि श्री आदिसागरजी का जब उनके गाँव भोज गाँव (तहसील चिकोड़ी, महाराष्ट्र) में आगमन होता तो वे उन्हें भक्तिपूर्वक आहार देते थे। ४१ वर्ष की आयु में उन्होंने मुनि श्री देवेन्द्रकीर्ति जी से क्षुल्लक दीक्षा ली। उनका दीक्षानाम शान्तिसागर रखा गया। ब्रह्मचर्य व्रत उन्होंने १८ वर्ष की उम्र में ही ले लिया था। फाल्गुन शुक्ल १४ सन् १९२० ई. में उन्होंने मुनिदेवेन्द्र कीर्तिजी से मुनिदीक्षा ले ली। आपने पूर्णतया वस्त्र परित्याग कर आगम के अनुसार चर्या प्रारम्भ कर दी।

विक्रम संवत् १९८१ आश्विन शुक्ल ११ सन १९२४ के दिन समडोली नामक ग्राम में श्री वीरसागर एवं श्री नेमिसागर जी की निर्ग्रन्थ दीक्षा के समय उनको आचार्य पदसे अलंकृत किया गया। संवत् १९९७ (१९३७ ई.) में गजपंथा पंचकल्याण के शुभावसर पर आपको चारित्र चक्रवर्ती पद से विभूषित किया गया। आचार्य श्री ने सन् १९२० से १९५५ ई. तक ३६ चातुर्मास किए। उत्तर और दक्षिण में स्थान–स्थान पर भ्रमण कर उन्होंने दिगम्बरत्व की पताका फहराई। जहाँ–जहाँ भी उनका विहार होता था, वहाँ हजारों की संख्या में नरनारी उनके दर्शनों और उपदेश श्रवण हेतु एकत्रित होते थे। ३६ वर्ष के मुनिजीवन में उन्होंने २७ वर्ष ६ माह उपवास किए। उनकी प्रेरणा से मूडबिद्री में जीर्ण शीर्ण स्थिति में विराजित आगम ग्रन्थ ताम्रपत्रों पर लिखकर सुरक्षित किए गए।

१४ अगस्त रविवार (सन् १९५५) को उन्होंने सल्लेखना ग्रहण करली। इस बीच आहार के रूप में वे किसी किसी दिन जल ग्रहण करते रहे। अन्त में जल का भी परित्याग कर १८ सितम्बर सन् १९५५ ई. में भाद्रपद शुक्ल द्वितीया को प्रातः ७.५० पर नश्वर शरीर का त्याग कर दिया। वे घोर उपसर्ग विजेता थे। कई बार उनके शरीर के ऊपर साँप लिपट गया, फिर भी वे ध्यानस्थ रहे। २२ अगस्त १९५५ ई. को विधिवत् उन्होंने अपना आचार्य पद श्री १०८ वीरसागरजी महाराज को प्रदान किया। उनके द्वारा दीक्षित मुनियों की तालिका इस प्रकार है—

१. श्री १०८ वीरसागर जी महाराज (पट्टाचार्य)
२. श्री १०८ नेमिसागर जी महाराज (आचार्य)
३. श्री १०८ वर्द्धमान सागर जी महाराज
४. श्री १०८ देवसागर जी महाराज
५. श्री १०८ पायसागर जी महाराज
६. श्री १०८ चन्द्रसागर जी महाराज
७. श्री १०८ नमिसागर जी महाराज (पुत्तरकर)
८. श्री १०८ पद्मसागर जी महाराज
९. श्री १०८ आदिसागर जी महाराज
१०. श्री १०८ श्रुतसागर जी महाराज
११. श्री १०८ कुन्थुसागर जी महाराज (आचार्य)
१२. श्री १०८ सुधर्मसागर जी महाराज
१३. श्री १०८ नेमिसागर जी महाराज
१४. श्री १०८ धर्मसागर जी महाराज
१५. श्री १०८ अनन्तकीर्ति जी महाराज
१६. श्री १०८ पार्श्वकीर्ति जी महाराज
१७. श्री १०८ चन्द्रसागर जी महाराज (पुत्तरकर)
१८. श्री १०८ समन्तभद्र जी महाराज।

यहाँ यह बात विशेष उल्लेखनीय है कि आचार्य शान्तिसागर जी महाराज की आगमोक्त निर्दोषचर्या को देख उनके गुरु ने पुनः उनसे दीक्षा ली थी। इस प्रकार वे गुरूणां गुरु के रूप में स्मरण किए जाते रहे। वर्तमान युग में भारत में सर्वत्र दिगम्बर मुनियों का सद्भाव है, उसका बहुत कुछ श्रेय आपको ही है। इस युग में सच्चे मुनिमार्ग के वे मार्गदर्शक थे।

आचार्य शान्तिसागर छाणी[१५४]

प्राचीन काल में अनन्तानन्त जीवों ने निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुद्रा धारण कर

मोक्षसुख और स्वर्गसुख को प्राप्त किया, किन्तु उन्नीसवीं सदी में यह परम्परा अवरुद्धसी प्रतीत हो रही थी। शास्त्रों में मुनिमहाराजों के स्वरूप के सम्बन्ध में पढ़ते थे, किन्तु उनका दर्शन असम्भव था, इस असम्भव को दो महान् आचार्यों ने सम्भव बनाया, जिनकी परम्परा से आज भी हम अपने को धन्य मानते हैं। ये दो आचार्य हैं— १. आचार्य श्री १०८ शान्तिसागर जी महाराज (दक्षिण) तथा आचार्य १०८ श्री शान्तिसागर जी महाराज (छाणी)। दोनों में से एक ने दक्षिण भारत में तो दूसरे ने उत्तर भारत में मुनिपरम्परा को वृद्धिगत किया। दोनों आचार्यों में परस्पर मेल था। ब्यावर (राजस्थान) में दोनों आचार्यों के संघों ने एक साथ चातुर्मास किया था।

आचार्य श्री १०८ श्री शान्तिसागर जी महाराज (छाणी) का जन्म छाणी (जिला–उदयपुर, राजस्थान) में संवत् १९४५ में पिता श्री भागचंद व माता श्रीमती मणिकाबाई के घर हुआ। बचपन का नाम केवलदास था। केवलदास अपने नामानुरूप आगे चलकर केवल (अकेला–अद्वितीय) ही हुआ। परिवार के धार्मिक वातावरण में ही केवलदास की शिक्षा–दीक्षा हुई। कुछ नौकरी व रोजगार भी किया, किन्तु उनका मन गृहस्थी में नहीं लगा। एक दिन अपने बहनोई से भगवान् नेमिनाथ का चरित्र सुनकर और संसार की असारता का चिन्तन कर आपको संसार असार प्रतीत होने लगा। रात्रि में दो स्वप्न आए। प्रथम–सम्मेद शिखर की यात्रा और द्वितीय–भगवान् बाहुबलि का अष्ट द्रव्य से पूजन।

तभी आपको तीर्थक्षेत्र केशरिया जी की यात्रा का सौभाग्य मिला, वहीं आपने विवाह न करने और दिन में एक ही बार भोजन करने का नियम ले लिया। पिता द्वारा विवाह का आग्रह करने पर आपने कहा कि पिताजी ! इस संसार में अनन्त बार विवाह कर चुका हूँ, तो भी विषयों से मन तृप्त नहीं हुआ, अब ऐसा विवाह करूँगा, जिससे भविष्य में विवाह करने की आवश्यकता ही न रहे। मै अब सम्मेद शिखर की यात्रा पर जाऊँगा।

सम्मेदशिखर पहुँचकर वहाँ पाँच यात्रायें करके भगवान् पार्श्वनाथ के स्वर्णभद्र कूट पर दीक्षा का विचार किया और भगवान् के समक्ष कहा— हे भगवान् ! मुझे ब्रह्मचर्य दीक्षा दो, ऐसा कहकर केशलोंच कर कपड़ों की मर्यादा लेकर सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग कर दिया। यहीं से आपका त्यागमय जीवन प्रारम्भ हो गया।

ब्रह्मचारी अवस्था में अनेक तीर्थों की यात्रायें कीं। धर्मप्रचारार्थ आप गढ़ी राजस्थान पहुँचे और वहाँ विधान के समय भगवान आदिनाथ की प्रतिमा के

समक्ष क्षुल्लक दीक्षा ले ली और केवलदास क्षुल्लक शान्तिसागर बन गए।

अनेक स्थानों पर चातुर्मास करके सं. १९८० में आपने सागवाड़ा (राजस्थान) में चातुर्मास किया और वहीं भाद्रपद शुक्ल १४ को आदिनाथ स्वामी के मन्दिर में आदिनाथ भगवान् के समक्ष दिगम्बर दीक्षा धारण कर ली और निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि बन गए। संवत् १९८५ में आचार्य पद प्राप्त किया।

आचार्य श्री शन्तिसागर (छाणी) के अनेक शिष्य हुए, जिनमें आचार्य सूर्य सागर, मुनि ज्ञानसागर, आदिसागर नेमिसागर तथा वीरसागर आदि प्रमुख हैं।

आचार्य श्री शान्तिसागर जी महाराज के उपदेशों में वह मधुरता थी, जो आबालवृद्ध सभी को तृप्त करती थी। उनसे प्रभावित होकर सभी कुछ न कुछ त्याग का नियम लेते थे। छाणी में उपदेश के समय वहाँ के जमीदार ठाकुर मनोहर सिंह ने दशहरा के अवसर पर भैंसा काटने की प्रथा को रोक दिया तथा सभी प्रकार की हिंसा पर रोक लगा दी। बड़वानी में जैनेतर लोगों ने सामायिक के समय आप पर मोटर चलाने का प्रयत्न किया, किन्तु मोटर खराब हो गयी। अनेक स्थानों पर आपके सदुपदेश से विद्याश्रम, श्राविकाश्रम तथा पाठशालायें स्थापित हुईं।

विक्रम संवत् २००१ की ज्येष्ठ वदी दशमी (सन् १९४४ ई.) को आपकी समाधि हुई।

उत्तरवर्ती परम्परा

छाणी महाराज के परम्परागत आचार्यों में उनके परमशिष्य चारित्ररत्न प्रथम पट्टाचार्य श्री १०८ सूर्य सागर जी महाराज थे। द्वितीय पट्टाचार्य श्री विजयसागर तथा तृतीय पट्टाचार्य श्रीविमलसागर जी (भिण्ड वाले) थे। चतुर्थ पट्टाचार्य कुछ लोग आचार्य श्री सुमति सागर जी को तथा कुछ लोग आचार्य निर्मलसागर जी को मानते हैं। आचार्य सुमति सागर जी ने अपना आचार्यपद विद्याभूषण मुनि श्री सन्मतिसागरजी को दिया है। आचार्य सुमतिसागर द्वारा दीक्षित साधुओं की तालिका इस प्रकार है— आचार्य सन्मतिसागर, उपाध्याय ज्ञानसागर, मुनि श्री श्रुतसागर, विजय सागर, सम्भवसागर, वर्द्धमान सागर, जम्बू सागर, पार्श्व सागर, शान्तिसागर, शीतलसागर, सुपार्श्वसागर, मल्लिसागर, मुक्तिसागर, समाधिसागर, चन्द्रसागर, भरतसागर, ज्ञानभूषण, बाहुबलीसागर, संभवसागर, विनयसागर, समतासागर, क्षमासागर, गुणसागर, सन्तोषसागर, वीरसागर, अजितसागर, श्रेयांससागर, आदिसागर, वैराग्यसागर,

नेमिसागर तथा तपसागर।

आचार्य सूर्यसागर

आचार्य श्री सूर्यसागर का जन्म पेमसर ग्राम (शिवपुरी) में कार्तिक शुक्ल ६ विक्रम संवत् १९४० की शुभ मिति में हीरालाल जैन पोरवाल के घर में हुआ था। आपकी माता का नाम गेंदाबाई था। माता–पिता ने आपका नाम हजारी लाल रखा। झालरापटन में आपके चाचा रहते थे। उन्होंने आपका पालनपोषण कर गोद ले लिया। उस जमाने में शिक्षा का प्रसार कम था। अतः आपकी शिक्षा प्रारम्भिक हिन्दी ज्ञान तक सीमित रही। गृहस्थावस्था में कुछ दिन रहने के बाद संवत् १९८१ को रात्रि में एक स्वप्न के कारण संसार से विरक्ति हो गयी। विक्रम संवत् १९८१ असौज शुक्ल ६ को इन्दौर में पूज्य आचार्य शान्तिसागर महाराज (छाणी) के पास आपने ऐलक दीक्षा ग्रहण कर ली। आचार्य श्री ने आपको दीक्षा देकर सूर्यसागर नाम रखा। मगसिर कृष्ण ११ को गुरु से हाटपीपल्या में मुनिपद की दीक्षा ग्रहण की। आपकी विद्वत्ता से प्रभावित होकर समाज ने आपको आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया।[१५५] मुनिजीवन में स्वात्मोत्थान के साथ संसार के प्राणियों का उत्थान कैसे हो इस हेतु आपने अनेक स्थानों पर पाठशालायें, औषधालय आदि खुलवाए। सैकड़ों स्थानों पर समाज के आपसी मतभेदों को मिटाया। माघ शुक्ल ११ संवत् २००७ की मध्याह्न फीरोजाबाद में व्रती सम्मेलन का आयोजन हुआ, उसमें पूज्य गणेशप्रसाद वर्णी ने आचार्य महाराज के दर्शन कर अपने को कृतकृत्य माना। उस सम्मेलन में आचार्य महाराज ने कहा—

त्यागी को ज्ञान का अभ्यास अच्छा करना चाहिए। जो अपने आचार, विचार में पूरा दक्ष हो तथा जिसे गुरु आज्ञा दे दें, उस मुनि को ही एकल विहार करना चाहिए। मुनि को आगम विरुद्ध आचरण नहीं करना चाहिए।

आचार्य श्री ने अनेक ग्रन्थों की रचना की, जिनमें संयम प्रकाश विशेष महत्वपूर्ण है। उनका विचार था—

१. पंचामृत अभिषेक शास्त्रविहित नहीं है।

२. स्त्री को प्रक्षाल करने का अधिकार नहीं है। वह तो सिर्फ पूजन कर सकती है।

३. पूजन खड़े होकर ही करना चाहिए, बैठकर नहीं।

४. जिनेन्द्र भगवान् के सामने ताजे फूल चढ़ाना उचित नहीं।[१५६]

आचार्य श्री जब अस्वस्थ हुए तब वर्णी जी सागर में थे और आचार्य श्री डालमियानगर में विराजमान थे। वर्णीजी को जब उनकी अस्वस्थता का

समाचार मिला तो बहुत व्याकुल हुए। लेकिन उनकी विवशता यह थी कि उनके किसी भी प्रकार की सवारी का त्याग था, अतः न जा सके। श्रावण कृष्णा ८ सं. २००६ को डालमियानगर में सोमवार को रात्रि १२ बजकर १५ मिनट पर श्री सूर्यसागर जी महाराज का समाधिपूर्वक देहावसान हो गया। डालमियानगर में दाहसंस्कार के स्थान पर साहू शान्तिप्रसाद जी द्वारा निर्मित इनकी संगमरमर की भव्य समाधि बनी हुई है।

आधुनिक युग के प्रमुख दिगम्बर जैन मुनि

मुनि गणेशकीर्ति जी महाराज

मुनि गणेशकीर्ति जी महाराज का जन्म सवत् १९३१ को कुँवार वदी ४ को हँसेरा ग्राम (तहसील महरोनी, जिला–ललितपुर) में हुआ था। उनका बचपन का नाम गणेशप्रसाद था। उनकी जाति वैष्णवधर्मानुयायी असाटी थी। जब गणेशप्रसाद की आयु ६ वर्ष की थी, तब उनके पिता मड़ावरा आ गए थे। यह स्थान रमणीक है। यहाँ पर १० जिनालय और जैनियों के उस समय १५० घर थे। यहीं पर गणेशप्रसाद ने ७ वर्ष की अवस्था में विद्यारम्भ किया और १४ वर्ष की अवस्था में मिडिल पास हो गए। उनके घर के सामने एक जिनालय है। वे जिनालय भी जाया करते थे। उस मुहल्ले में सब घर जैनों के होने के कारण उनके पिता का आचरण जैनों के सदृश हो गया था। उनके पिता रात्रि भोजन नहीं करते थे। जैन मन्दिर के चबूतरे पर प्रतिदिन पुराण–प्रवचन होता था। एक दिन त्याग का प्रकरण आया। बहुत से लोगों ने प्रतिज्ञा ली, उस दिन गणेशप्रसाद ने भी आजन्म रात्रि भोजन त्याग दिया। इसी त्याग ने उन्हें जैनी बना दिया। धीरे धीरे उन्होंने अपने श्रद्धान को दृढ़ किया और मदनपुर गाँव में अध्यापन करना प्रारम्भ कर दिया। बाद में वे जतारा ग्राम में अध्यापक हो गए। वहाँ पर पं. मोतीलाल वर्णी तथा कड़ोरेलाल भायजी के साथ स्वाध्याय करने लगे। एक दिन भाय जी उन्हें सिमरा लिवा ले गए। वहाँ उनका धर्ममाता चिरोजीबाई से साक्षात्कार हुआ। प्रथम साक्षात्कार में ही माँ और पुत्र जैसा सम्बन्ध हो गया, जो अन्त तक बना रहा। उस समय समाज में अज्ञान अन्धकार छाया हुआ था। गणेशप्रसाद के मन में ज्ञान की अदम्य लालसा थी, वे अनेक स्थानों पर विद्यार्जन हेतु गए। उनकी प्रेरणा से बनारस, सागर, मड़ावरा, द्रोणगिरि आदि अनेक स्थानों पर पाठ्शालायें स्थापित हुईं। सं. २००१ में उन्होने दशम प्रतिमा धारण की और फाल्गुन कृष्ण सप्तमी सं. २००४ को क्षुल्लक हो गए। अनेक स्थानों पर परिभ्रमण कर धर्म की ज्योति जलाते हुए क्षुल्लक गणेश प्रसाद वर्णी ने संवत्

२००६ में सागर में चातुर्मास किया। चातुर्मास के बाद ७०० मील की लम्बी यात्रा ७६ वर्ष की अवस्था में की और शिखर जी पहुँचे। उनकी इच्छा थी कि वृद्धावस्था में पार्श्वप्रभु की शरण में रहें। अतः संवत: २००६ में जीवन के अन्त तक वे ईसरी रहे। वे बड़े निस्पृही, उदार प्रकृति के सरल सन्त थे। समयसार को उन्होंने अपने जीवन में उतारा। आज जैन समाज में विद्वान् पण्डितों की जो परम्परा दिखायी देती है, वह उन्हीं के पुरुषार्थ का फल है। उनका दर्शन कर हजारों नरनारी कृतार्थ हुए। भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्रप्रसाद ने १६५६ई. में दर्शन किए और आचार्य विनोबा भावे ने उनके कई बार दर्शन किए।

८७ वर्ष की उम्र में उन्होंने शरीर को शिथिल जान १३ सितम्बर, १६६१ ई. को यम सल्लेखना ग्रहण की। १५ सितम्बर को उन्होंने मुनिदीक्षा ग्रहण की। उनका नाम अब गणेशकीर्ति रखा गया। १५ सितम्बर को ही रात्रि डेढ़ बजे उन्होंने समाधिपूर्वक देहत्याग किया। बीसवीं सदी के महान् आध्यात्मिक सन्त के रूप मे वे सदैव याद किए जाएंगे।

आधुनिक युग के दिगम्बर साधुओं में आचार्य श्री महावीर कीर्ति महाराज, मुनि श्री नेमिसागर, मुनि श्री कुन्थुसागर, मुनि श्री सम्भव सागर, आचार्य विमल सागर, आचार्य सन्मतिसागर, आचार्य वीर सागर, मुनि श्री सन्मतिसागर, आचार्य कल्प श्री श्रुतसागर, मुनि श्री पद्मसागर, मुनि श्री आदिसागर, मुनि श्री सुमतिसागर, मुनि श्री जयसागर, मुनि श्री श्रुतसागर, आचार्य शिवसागर, आचार्य धर्मसागर, आचार्य अजित सागर, मुनि श्री श्रेयाँस सागर, मुनि श्री अभिनन्दन सागर, आचार्य पाय सागर, आचार्य जयकीर्ति, मुनि श्री मल्लिसागर, मुनि श्री नेमसागर, मुनि श्री शुभचन्द्र, मुनि श्रीसुबल सागर, आचार्य बाहुबलिसागर, आचार्य विद्यानन्द, मुनि श्री सिद्धसेन, आचार्य विमलसागर, मुनि श्री सुवर्ण सागर, चन्द्र सागर, पार्श्व सागर, अरहसागर, सुमतिसागर, सम्भवसागर, सन्मति सागर, वीरसागर, सुधर्मसागर, नेमीसागर, अनन्तसागर, सुव्रतसागर, विनय सागर, विजय सागर, वासुपूज्य सागर, सकलकीर्ति, बाहुबलिसागर, भरतसागर, शीलसागर, आनन्दसागर, नमिसागर, पार्श्वकीर्ति, भूतबलि,, पुष्पदन्त, वर्द्धमानसागर, श्रवण सागर, विराग सागर, सिद्धान्तसागर, नेमीसागर, निरंजनसागर, अमरसागर, गोम्मट सागर, मद्दुसागर, देवसागर, निरंजन सागर, सोमप्रभसागर, सुहागसागर, विष्णु सागर, चिदानन्द सागर, चैत्य सागर, अनेकान्तसागर, आचार्य विद्या सागर, मुनि श्री समाधि सागर, गुप्तिसागर, सुधासागर, प्रमाणसागर, समतासागर, मल्लिसागर,

कनकोज्जवलनन्दि आचार्य समन्तभद्र, आचार्य कुन्थुसागर, आचार्य वर्द्धमानसागर, उपाध्याय गुप्तिसागर, उपाध्याय ज्ञानसागर, मुनि श्री आनन्द सागर, आचार्य श्री पार्श्व सागर, आचार्य श्री आर्यनन्दी, आचार्य श्री शान्तिसागर, आचार्य पुष्पदंत सागर, मुनि श्री पुलक सागर, प्रसन्न सागर, सौरभसागर, बालाचार्य योगीन्द्र सागर, आचार्य सिद्धान्त सागर, आचार्य अभिनन्दन सागर, आचार्य दर्शन सागर, विद्या भूषण आचार्य श्री सन्मति सागर, आचार्य सुधर्मसागर, आचार्य निर्मल सागर, आचार्य नेभीसागर, आचार्य दयासागर, आचार्य विरागसागर, आचार्य रयण् सागर, आचार्य सुबाहुसागर, मुनि श्री धर्मभूषण, उपाध्याय श्री समतासागर, मुनि श्री निजानंद सागर, बालाचार्य श्री नेमसागर, एलचार्य श्री भरत सागर, मुनि श्री वर्द्धमान सागर, तरूण सागर, प्रज्ञासागर, समता सागर, कल्पवृक्ष नन्दी, निश्चय सागर, आचार्य कनकनंदी, मुनि श्री शीतलसागर, वीरसागर, ज्ञान सागर, वैराग्य सागर, नियम सागर, माघनन्दी, प्रज्ञाश्रमण श्री देवनन्दी, कामकुमार नन्दी, आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज, आचार्य श्री वर्द्धमानसागर, आचार्य श्री भरतसागर जी महाराज तथा उनके संघ के अनेक दिगम्बर साधु महाराज। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक पूज्यनीय दिगम्बर जैन सन्त विचरण कर इस भारत वसुन्धरा को पवित्र कर रहे है।

---

१. *चन्द्रगिरि पर कूगे ब्रह्मदेव स्तम्भ का लेख (शक सं. ८९६)*
२. *चन्द्रगिरि पर महानवमी मण्डप में शक सं. १०८५ का लेख।*
३. *चन्द्रगिरि पर महानवमी मण्डप में दक्षिणमुख शक सं. १०८५ का लेख।*
४. *महानवमी मण्डप के उत्तर में एक स्तम्भ पर शक सं. १०९९ का लेख।*
५. *चन्द्रगिरि पर चामुण्डराय वसदि के दक्षिण की ओर मण्डप में प्रथम स्तम्भ पर शक सं. १०४५ का लेख।*
६. *चामुण्डराय मण्डप में द्वितीय स्तम्भ पर शक सं. १०४३ का लेख।*
७. *चामुण्डराय मण्डप में तृतीय स्तम्भ पर शक सं. १०४४ का लेख।*
८. *श्रवणबेलगोल की भण्डारि वसदि में पूर्व की ओर द्वितीय स्तम्भ पर लगभग शक सं. १०८० का लेख।*
९. *जिननाथपुर में अरेगल बसदि के पूर्व की ओर का लगभग शक सं. १०५७ का लेख।*
१०. *चन्द्रगिरि पर कत्तले बसदि के सम्मुख शक सं. ६२२ का एक लेख।*
११. *बोम्मेनहल्लि ग्राम में जैन बसदि के सम्मुख एक पाषाण पर शक सं. ११०४ का लेख।*
१२. *तगडूरू ग्राम में पुरानी नगरी के स्थल पर एक पाषाण पर लगभग शक सं. १०५० का लेख।*
१३. *मतलकेरे ग्राम में ईश्वरमन्दिर के सम्मुख एक पाषाण पर शक सं. ११७० का लेख।*
१४. *सोमवार ग्राम में पुरानी बसदि के समीप एक पाषाण पर शक सं. १००१ का लेख।*

१५. *इलाहाबाद के पास पभोसा का द्वितीय या प्रथम ईसवी पूर्व का लेख।*
१६. *मथुरा शिलालेख (बिना काल निर्देशका), १७. मथुरा का लग. १४–१३ ई. पू. का लेख।*
१८. *मथुरा का शिलालेख (बिना कालनिर्देश का) १६. मथुरा का शिलालेख (बिना कालनिदेशिका) २०. मथुरा का शिलालेख (बिना कालनिर्देशका) २१. मथुरा का शिलालेख (बिना कालनिर्देशका) २२. मथुरा का कनिष्क सं. ५ का लेख। २३. मथुरा लेख (बिना कालनिर्देशका) २४. मथुरा लेख (बिना काल निर्देशका) २५. मथुरा लेख।*
२६. *मथुरा लेख, २७. मथुरा लेख, २८. मथुरा शिलालेख।*
१. देवरहल्लि (देवलापुर प्रदेश) में पटेल कृष्णय्य के ताम्रपत्रों पर शक सं. ६६८, -७७६ ई. का लेख
२. शिलालेख पर कालनिर्देश नहीं है।
३. तट्टेकेरे का १०७१–१०७६ ई. का संस्कृत तथा कन्नड शिलालेख।
४. सम्भवतः १०८० का शिलालेख
५ बेलूर में सौम्यनायकी मन्दिर की छत के पत्थर पर का लेख।
६. बादमी का शक ११३६ ई. का लेख। ७. कसलेगेरी का ११४२ का शिलालेख।
८. यल्लादहल्लि का ११५४ ई. का लेख। ६. होळलकेरे का ११५४ ई. का लेख।
१० कुरुगुण्ड का ११५८ ई का लेख।
११ कबली का ११६० ई का शिलालेख। १२. पण्डितरहल्लि का ११६० ई. का शिलालेख। १३. दोडगूरु का लगभग ११६० ई. का शिलालेख। १४. हेग्गेरी का शक ११६१ का लेख। १५ अंगडि का ११६४ ई. का लेख। १६. बन्दूर का ११६८ ई. का लेख। १७. हट्‌ण में वीरभद्र मन्दिर के पास एक पाषण पर ११७८ ई. का लेख। १८. अलेसन्द्र के ११८३ ई. के लेख। १६. गुण्डलूपेट का ११६६ ई का शिलालेख। २०. अद्रिके ११६७ ई के लेख।
२१ आर्सीकेरे के लेख १२१६ ई। २२ बेतूरू के १२७१ के लेख। २३. तवनन्दि का १२६२ का शिलालेख। २४. १३८३ ई. का बस्तीपुर का लेख। २५. रावन्दूर का १३८४ ई. का लेख। २६. कुप्पटूरू का १४०८ ई. का लेख। २७. विजयनगर का १४२६ ई. का लेख। २८. होगेकेरी का १४६० ई. का लेख।
२६. अधिक जानकारी के लिए जैनशिलालेख संग्रह भाग–४ तथा ५ भी देखिए। उपर्युक्त जानकारी उक्त संग्रह के भाग–१, २, ३ से दी गयी है।
३०. महापुराण पर्व ४१ श्लो ८७–८८ पृ. ३२३–३२४
३१-३४. वही पर्व ४१ श्लो. ८६–६२ पृ. ३२४
३५. जिनसेन : हरिवंशपुराण ६/२१२–२१४, ३६. वही ११/१–२, ३७. वही ११–५६,
३८. वही ११–५७–६२
३६. हरिवंशपुराण ११/६३–६०, ४०. वही ११/६१–६३
४१. हरिवंश पुराण ११–६८–१०२
42. Now we turn to the solar dynasty which comprises the three lines of

Ayodhya, Vidheha Vaishal, and ahesaryatas. These are the only branches that are importanti of the lines produced by the nine noils of Manu.

The Vedic age P. 275

43. Brahmanical Puranas prove Rishabha to be the father of that Bharata, from whom India took to name Bharatavarsh.

Kalpsutra, Intro, P XVI

४४. संस्कृति के चार अध्याय पृ. १२६
४५. भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान पृ. १६
४६. H. Zimmer : Philosophies of India, P. 183
४७. मज्झिमनिकाय : महासिंहनाद सुत्त १/१२
४८. अंगुत्तरनिकाय–५
४६. महावग्ग २, १, १
५०. अशग : महावीर चरित्र १७/८४
५१. अशग : महावीर चरित्र १७/८५–८६
५२. वही १७/६०
५३. वही १७/६१
५४. महावीर जयन्ती समारिका (जयपुर) पृ. २३ वर्ष १६७२
५५. मिथ्यासमूहो मिथ्याचेन्नमिथ्यैकान्ततास्तिनः।
निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु ते ऽ र्थकृत।।

समन्तभद्रः आप्तमीमासा–१०४

५६. श्रेणिक चरित्र ५/५६–५८
५७ आराधना कथा प्रबन्ध, कथा संख्या ७८ पृ. २१०–२११
५८. शुभचन्द्र : श्रेणिकचरित्र ७/८३–८६
५६. श्रेणिकचरित्र–चतुर्दश सर्ग
६०. श्रेणिक चरित्र १४/५१–७०
६१. आचार्य देशभूषण : भगवान् महावीर और उनका तत्त्वदर्शन पृ. ५५१
६२. आराधना कथा प्रबन्ध २३
६३ पं. सुखलाल संघवी : तत्त्वार्थसूत्र टीका पृ. ६०
६४ वही पृ. ६५, ६५. वहीं पृ. ८६
६६. पं. सुखलाल संघवी : तत्त्वार्थसूत्र ओका पृ. १५७
६७. वहीं पृ. २१४–२१५, ६८. वही पृ. २३३
६६. कषायपाहुड, भाग १ प्रस्तावना पृ ३, ७०. वही पृ. ४
७१ कषायपाहुड प्र. भाग प्रस्तावना पृ. ४, ७२. वहीं पृ. ८८
७३. कषायपाहुड, भाग–१ प्रस्तावना पृ. ८६
७४. पं. सुखलाल संघवी · दर्शन और चिनतन पृ. ३४२–३४३

७५. गृहतमगृहीतं वा स्वार्थं यदि व्यवस्यति। तन्न लोके न शास्त्रेषु विजहाति प्रमाणताम्।। तत्त्वार्थश्लोक वार्तिक १/१०/७८ प्रमाणान्तरागृहीतार्थ प्रकाशित्वं प्रपञ्चतः। प्रामाण्यं च गृहीतार्थ ग्राहित्वे ऽपि कथंचन।। तत्त्वार्थश्लो. १/१३/६४ गृहीत ग्रहणात् तत्र न स्मृते श्चेत्प्रमाणता। धारावाहिक विज्ञानस्यैवं लभ्येत केन सा।। तत्त्वार्थ श्लोकं १/१३/१५ नन्वेवमपि प्रमाण संप्लववादिता व्याघातः प्रमाण प्रतिपन्ने ऽर्थे प्रमाणान्तराप्रतिपत्तिरित्यचोद्यम्। अर्थपरिच्छित्ति विशेष सद्भावे तत्प्रवृत्तेरप्यम्युपगमात्। प्रथम प्रमाण प्रतिपन्ने हि वस्तुन्याकार विशेषं प्रतिपद्यमानं प्रमाणान्तरमपूर्वार्थमेव वृक्षो न्यग्रोध इत्यादिवत्।।
प्रमेयकमलमार्त्तण्ड पृ. १६

७६. दर्शन और चिनतन पृ. १६५–१६६

७७ पं. सुखलाल संघवी : दर्शन और चिन्तन पृ. ३०४–३०५, ७८. संयम प्रकाश पृ. ४६४–४६५, ७६. अनगार धर्मामृत टीका में उद्धृत पद्य पृ. ५८३ (ज्ञानपीठ प्रकाशन)

८०. अनगार धर्मामृत टीका में उद्धृत पृ. ५८४ (ज्ञानपीठ प्रकाशन)

८१ अनगार धर्मामृत (पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री लिखित टीका) पृ. ६८७

८२. भद्रबाहु चरित्र (डॉ. राजाराम जैन द्वारा लिखित प्रस्तावना। पृ. २४–२५

८३ महाभिषेक स्मरणिका पृ. १७७

84. Buddhist India p.164

85. Jainism or early faith of Ashoka P. 23

८६ भारतीय इतिहास : एक दृष्टि पृ. ७६–७७

८७. वीर वर्ष ६ पृ. १७६ व ३४१

88. The Term Digambara : is refered to in the well known greek phrase, Gymnosophists, used early by Megasthenes, Which applies very aptly to the Niganthas (Digambara Jainas)

८६ डॉ कामता प्रसाद जैन : दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि पृ. ६१–६२

६०. डॉ कामता प्रसाद जैन : संक्षिप्त जैन इतिहास (भाग ३ खण्ड १) पृ. १२६

६१. पं. मल्लिनाथ शास्त्री : तमिलनाडु का जैन इतिहास पृ. ५७

६२. संक्षिप्त जैन इतिहास भाग ३ खण्ड १

६३ डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन : भारतीय इतिहास : एक दृष्टि पृ. २४६

६४ संक्षिप्त जैन इतिहास, भाग३ खण्ड १ पृ. १३३–१३४

६५. भारतीय इतिहास एक दृष्टि पृ. २५३–२५४, ६६. वही पृ. २५५

६७ महाभिषेक स्मरणिका पृ. १७८, ६८. संक्षिप्त जैन इतिहास तृ. भाग दि, खण्ड पृ. ८०, ६६. गोम्मटसार गाथा ६६७

१०० भारतीय इतिहास : एक दृष्टि पृ. २८०

१०१. वही पृ. २८३

१०२. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि पृ. २८७, १०३. वही पृ. २८८, १०४. वही पृ. २८६, १०५. वही पृ. २६०, १०६. वही पृ. २६१, १०७. वही पृ. २६१
१०८. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री : जैन धर्म पृ. ६०
१०६. संक्षिप्त जैन इतिहास भाग ३, खण्ड ३ पृष्ठ ४२, ११०. वहीं प्र. ४३
१११. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि पृ. २६४, ११२. वही पृ. २६४–२६५, ११३. हरिवंशपुराण ६६/५२–५३
११४. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि पृ. २६६
११५. पाश्वभ्युिदय प्रस्तावना पृ. २६, २७ (ले. डॉ रमेशचन्द जैन)
११६. संक्षिप्त जैन इतिहास भाग ३ खंड ३ पृ. ६५–६६
११७. जैन शिलालेख संग्रह प्रथम भाग भूमिका पृ. ८३
११८. वही पृ. ७१–८० चन्द्रगिरि पर्वत पर गन्धवारण वसदि के प्रथम मण्डप में एक स्तम्भ पर लेख (शक सं. १०६८)
११६. वही पृ. ३६०, १२०. वही पृ. ४२–४८
१२१. वही पृ ६ एरडु कट्टे वसदि के पश्चिम की ओर मण्डप में दूसरे स्तम्भ पर यह लेख अंकित है।
१२२. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि पृ. ३४६ ३४७
१२३. वही पृ. ३६०, १२४. *दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि* पृ. ६६
१२५. इपीग्राफिया कर्नाटका–२ पृ २२ २३ व मैडिएवल जैनिज्म पृ २११
१२६. संक्षिप्त जैन इतिहास भाग ३ खण्ड ४
१२७. Epigraphia Karnatica Vol 2 P. 70-71
१२८. वही भाग ५ (B १ १३३) पृष्ठ ८८
१२६. इपीग्रेफियाः कर्नाटका भाग ५ A.K.I. (1169):-
श्री पालत्रैविद्य विद्यापति पदकमलाराधनालब्धबुद्धिः।
सिद्धान्ताम्भोनिधान प्रविसरद् अमृतास्वादपुष्ट प्रमोदः।।
दीक्षा शिक्षा सुरक्षा क्रम कृति निपुणः संततं भव्यसेव्यः।
सो ऽ यं दाक्षिण्यमूर्तिः जगति विजयते वासुपूज्य व्रतीन्द्रः।।
१३०. वहीं भाग५ पृ. ४८, १३१. वही भाग २–५ पृ. १८१
१३२. वही भाग४ पृ. १३२, १३३. वही भाग २ पृ. ४६,
१३४. भारतीय इतिहास एक दृष्टि पृ. ३६५
१३५. वही पृ. ३६८. १३६. भारतीय इतिहास एक दृष्टि पृ. ३६८, १३७. वही पृ. ३७०,
१३८. वही पृ. ४७१, १३६. वही पृ. ३७४, १४०. वही पृ. ३७७, १४१. वही पृ. ३८१
१४२. वही पृ. ४३०,
१४३. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि पृ. ४४७, १४४. वही पृ. ४४६, १४५. वही पृ. ४११, १४६. वही पृ. ४०४
१४७. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि पृ. ४१५, १४८. वही पृ. ४१८, १४६. वहीं पृ.

४२०, १५०. दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि पृ. १०३, १५१. वही पृ. १४६

१५२. संवत् अष्टादश शतक व सत्तर वरस प्रमाण।
ढाका शहर सुहामण देश बंग के माँहि। जैन धर्म धारक जहाँ श्रावक अधिक सुहाहिं। तासु शिष्य विनयी विबुध हर्षचंद गुणवंत। मुनिनरसिंह धिनेयविधि पुस्तक एह लिखंत।।
(दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि पृ. १४८)

१५३. विशेष परिचय हेतु प. सुमेरूचन्द्र दिवाकर की पुस्तक चारित्र चक्रवर्ती और पं. वंशीधर शास्त्री द्वारा लिखित श्री शान्तिसागर महामुनि का चारित्र देखिए।

१५४ आचार्य शान्तिसागर (छाणी) के विशेष परिचय हेतु देखिए-- प्रशान्त मूर्ति आचार्य श्री १०८ शान्तिसागर महाराज (छाणी) स्मारिका। प्रकाशन शाहपुर (जि मुजफ्फरनगर) उ.प्र.

१५५ प्रशान्तमूर्ति आचार्य श्री १०८ शान्तिसागर महाराज (छाणी) स्मारिका पृ. ५६

१५६ वही पृ ६०

श्रुतधर परम्परा

भगवान् महावीर के पश्चात् गणधरादि अनेक मुनि श्रुत के धारी हुए, उनकी परम्परा तिलोयपण्णत्ति, धवला, हरिवंशपुराण आदि ग्रन्थों एवं शिलालेखों और पट्टावलियों में वर्णित है। यहाँ हम तिलोयपण्णत्ती तथा धवला के आधार पर उक्त परम्परा का वर्णन करते हैं।

जिस दिन भगवान् महावीर सिद्ध हुए, उसी दिन गौतम गणधर केबल ज्ञान को प्राप्त हुए। पुनः गौतम के सिद्ध होने पर उनके पश्चात् सुधर्मस्वामी केवली हुए।[1]

सुधर्मस्वामी के कर्मनाश करके अर्थात् मुक्त होने पर जम्बूस्वामी केवली हुए, पश्चात् जम्बूस्वामी के भी सिद्धि को प्राप्त होने पर फिर कोई अनुबद्ध केवली नहीं रहे। गौतमादिक केवलियों में अन्तिम श्रीधर कुण्डलगिरि से सिद्ध हुए और चरणऋषियों में अन्तिम सुपार्श्व चन्द्र नामक ऋषि हुए।

प्रज्ञाश्रमणों में अन्तिम वज्रयश और अवधिज्ञानियों मे अन्तिम श्रुत, विनय एवं सुशील आदि से सम्पन्न श्री नामक ऋषि हुए। मुकुट धरों में अन्तिम चन्द्रगुप्तमौर्य ने जिनदीक्षा धारण की। इसके पश्चात् मुकुटधारी प्रव्रज्या को ग्रहण नहीं करते।

प्रथम नन्दी, द्वितीय नन्दि मित्र, तृतीय अपराजित, चतुर्थ गोवर्द्धन और पंचम भद्रबाहु इस प्रकार ये पांच पुरूषोत्तम जग में चौदह पूर्वी इस नाम से विख्यात हुए। ये बारह अंगो के धारक पाँचों श्रुतकेवली श्री वर्द्धमान स्वामी के तीर्थ में हुए। इन पॉचों श्रुतकेवलियों का काल मिलाकर सौवर्ष होता है। पाँचवें श्रुतकेवली के पश्चात् फिर भरत क्षेत्र में कोई श्रुतकेवली नहीं हुआ। विशाख, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जयनाग, सिद्धार्थ, धृतिषेण, विजय, बुद्धिल, गंगदेव ओर सुधर्म ये ग्यारह आचार्य दशपूर्व के धारी विख्यात हुए हैं। परम्परा से प्राप्त इन सबका काल एक सौ तेरासी वर्ष है। काल के वश इन सब श्रुत केवलियों के अतीत होने पर भरत क्षेत्र के भव्य रूपी कमलों के विकसित करने वाले दशपूर्व धर रूप सूर्य फिर नहीं हुए।

नक्षत्र, जयपाल, पाण्डु, ध्रुवसेन और कंस ये पाँच आचार्य वीर भगवान के तीर्थ मे ग्यारह अंग के धारी हुए। इसके काल का प्रमाण पिण्डरूप से दो सौ तीस वर्ष है इनके स्वर्गस्थ होने पर फिर भरतक्षेत्र में कोई ग्यारह

अंगों के धारक नहीं रहे। समुद्र, यशोभद्र, यशोबाहु और लोहार्य ये चार आचारांग के धारक हुए उक्त चारों आचार्य आचारांग के सिवाय शेष ग्यारह अंग और चौदह पूर्वो के एक देश के धारक थे। इनके काल का प्रमाण एक सौ अठारह वर्ष है। इनके स्वर्गस्थ होने पर भरतक्षेत्र में फिर कोई आचारांग के धारक नहीं हुए। गौतम मुनि प्रभृति के काल का प्रमाण छह सौ तेरासी वर्ष होता है[2]।

धवला में निबद्ध श्रुतपरम्परा

वीरसेन स्वामी ने षट्खण्डागम की धवला टीका में श्रुतपरम्परा का वर्णन इस प्रकार किया है—

.......उक्त पाँच अस्तिकायादिक क्या हैं? ऐसे सौधर्मेन्द्र के प्रश्न से सन्देह को प्राप्त हुए, पाँच सौ, पाँच सौ शिष्यों सहित, तीन भ्राताओं से वेष्टित, मानस्तम्भ के देखने से मान से रहित हुए, वृद्धि को प्राप्त होने वाली विशुद्धि से संयुक्त, वर्द्धमान भगवान् के दर्शन करने पर असंख्यात भवों में अर्जित महान् कर्मों को नष्ट करने वाले, जिनेन्द्रदेव की तीन प्रदक्षिणा करके, पंचमुष्टियों से अर्थात् पाँच अंगों द्वारा भूमिस्पर्शपूर्वक वन्दना करके एवं हृदय से जिन भगवान का ध्यान कर संयम को प्राप्त हुए। विशुद्धि के बल से अन्तर्मुहूर्त के भीतर उत्पन्न हुए, समस्त गणधर के लक्षणों से संयुक्त तथा जिनमुख से निकले हुए बीजपदों के ज्ञान से सहित ऐसे गौतम गोत्र वाले इन्द्रभूति ब्राह्मण द्वारा चूँकि आचाराग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्यारव्याप्रज्ञप्ति अंग, ज्ञातृधर्मकथांग, उपासकाध्ययनांग, अन्तकृतदशांग, अनुत्तरोपपादिक दशांग, प्रश्न व्याकरणांग, विपाक सूत्रांग व दृष्टिवादांग इन बारह अंगों तथा सामायिक, चतुर्विंशति स्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्पाकल्प, महाकल्प, पुण्डरीक, महापुण्डरीक व निषद्धिका इन चौदह अंग बाह्य प्रकीर्णकों की श्रावण मास के कृष्ण पक्ष में युग के आदिम प्रतिपदा दिन के पूर्वाण्ह में रचना की गयी थी, अतएव इन्द्रभूति भट्टारक वर्द्धमानजिन के तीर्थ में ग्रन्थकर्ता हुए। कहा भी है— वर्ष के प्रथम मास व प्रथम पक्ष श्रावण कृष्ण की प्रतिपदा के पूर्व दिन में अभिजित् नक्षत्र में तीर्थ की उत्पत्ति हुई।

इस प्रकार उत्तर तंत्रकर्ता की प्ररूपणा की।

अब उत्तरोत्तर तंत्रकर्ताओं की प्ररूपणा करते हैं। वह इस प्रकार है—कार्तिक मास के कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी की रात्रि के पिछले भाग में अतिशय महान महावीर भगवान के मुक्त होने पर केवल ज्ञान की सन्तान को धारण

करने वाले गौतम स्वामी हुए। बारह वर्ष तक केवल विहार से विहार करके गौतमस्वामी के मुक्त हो जाने पर लोहार्य आचार्य केवलज्ञान परम्परा के धारक हुए। बारह वर्ष केवलविहार से विहार करके लोहार्य भट्टारक के मुक्त हो जाने पर जम्बूभट्टारक केवलज्ञान की परम्परा के धारक हुए। अड़तालीस वर्ष केकेवल विहार से विहार करके जम्बूभट्टारक के मुक्त हो जाने पर भरतक्षेत्र में केवलज्ञान परम्परा का विच्छेद हो गया। इस प्रकार भगवान् के निर्वाण को प्राप्त होने पर बासठ वर्षों से केवल ज्ञान रूपी सूर्य भरतक्षेत्र में अस्त हुआ। विशेष यह है कि उस काल में सकल श्रुतज्ञान की परम्परा को धारण करनेवाले विष्णु आचार्य हुए। पश्चात अविच्छिन्न सन्तान रूप से नन्दि आचार्य, अपराजित, गोवर्द्धन, और भद्रबाहु ये सकल श्रुतके धारक हुए। इन पाँच श्रुतकेवलियों के श्रुत का योग १०० वर्ष है। पश्चात् भद्रबाहु भट्टारक के स्वर्ग को प्राप्त होने पर भरतक्षेत्र में श्रुतज्ञान रूपी पूर्णचन्द्र अस्तमित हो गया। अब भरतक्षेत्र अज्ञान अन्धकार से परिपूर्ण हुआ। विशेष इतना है कि उस समय ग्यारह अंगों और विद्यानुवाद पर्यन्त दृष्टिवाद अंग के भीधारक विशाखाचार्य हुए। विशेषता यह है कि इसके आगे के चार पूर्व उनका एकदेश धारण करने से व्युच्छिन्न हो गए। पुनः वह विकल श्रुतज्ञान प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जय, नाग, सिद्धार्थ, धृतिषेण, विजय, बुद्धिल्ल, गंगदेव और धर्मसेन इन आचार्यों की परम्परा से एक सौ तेरासी वर्ष आकर व्युच्छिन्न हो गया। पश्चात् धर्मसेन भट्टारक के स्वर्ग को प्राप्त होने पर दृष्टिवाद प्रकाश के नष्ट हो जाने से ग्यारह अंगों और दृष्टि वाद के एकदेश धारक नक्षत्राचार्य हुए। तदनन्तर वह एकादशांग श्रुतज्ञान जयपाल, पाण्डु, ध्रुवसेन, और कंस इन आचार्यों की परम्परा से दो सौ बीस वर्ष आकर व्युच्छिन्न हो गया। तत्पश्चात् कंसाचार्य के स्वर्ग को प्राप्त हाने पर ग्यारह अंग रूप प्रकाश के व्युच्छिन्न हो जाने पर सुभद्राचार्य आचारांग के और शेष अंगो एवं पूर्वों के एकदेश धारक हुए। तत्पश्चात् वह आचारांग भी यशोभद्र, यशोबाहु और लोहाचार्य की परम्परा से एक सो अठारह वर्ष आकर व्युच्छिन्न हो गया। इस सबका योग छहसौ तिरासी वर्ष होता है (६२ + १०० + १८३ + २२० + ११८ = ६८३)। पुनः इसमें सात मास अधिक सतहत्तर वर्षों को (७७ वर्ष सात मास) कम करने पर पाँच मास अधिक छह सौ पांच वर्ष होते हैं। यह वीर जिनेन्द्र के निर्वाण प्राप्त होने के दिन से लेकर जब तक शक काल प्रारम्भ होता है उतना काल है।[3]

वर्द्धमान तीर्थंकर के निमित्त से गौतम गणधर श्रुतपर्याय से परिणत हुए,

इसीलिए द्रव्यश्रुत कर्ता गौतम गणधर हैं। इस तरह गौतम गणधर से ग्रन्थरचना हुई। उन गौतम गणधर ने दोनों प्रकार का श्रुतज्ञान लोहाचार्य को दिया। लोहाचार्य ने जम्बूस्वामी को दिया। परिपाटीक्रम से ये तीनों ही सकल श्रुत के धारण करने वाले कहे गए हैं। यदि परिपाटीक्रम की अपेक्षा न की जाय तो संख्यात हजार सकल श्रुत के धारी हुए। गौतमस्वामी, लोहाचार्य और जम्बूस्वामी ये तीनों ही सात प्रकार की ऋद्धियों से युक्त और सकल श्रुत रूपी सागर के पारगामी होकर अन्त मे केवल ज्ञान को उत्पन्न कर निर्वाण को प्राप्त हुए। इसके बाद विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्द्धन और भद्रबाहु ये पाँचों ही आचार्य परिपाटीक्रम से चौदह पूर्व के पाठी हुए।

तदनन्तर विशाखाचार्य, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जयाचार्य, नागाचार्य, सिद्धार्थदेव, धृतिसेन, विजयाचार्य, बुद्धिल, गंगदेव और धर्मसेन ये ग्यारह ही महापुरूष परिपाटी क्रम से सम्पूर्ण ग्यारह अंग और उत्पादपूर्व आदि दशपूर्वों के धारक हुए। इसके बाद नक्षत्राचार्य, जयपाल, पाण्डुस्वामी, ध्रुवसेन, कंसाचार्य ये पाँचों ही आचार्य परिपाटीक्रम से सम्पूर्ण ग्यारह अंगों के और चौदह पूर्वों के एकदेश के धारक हुए। तदनन्तर सुभद्र, यशोभद्र, यशोबाहु और लोहाचार्य ये चारों ही आचार्य सम्पूर्ण आचारांग के धारक ओर शेष अंग तथा पूर्वों के एकदेश के धारक हुए। इसके बाद सभी अंग और पूर्वों का एकदेश आचार्य परम्परा से आता हुआ धरसेन आचार्य को प्राप्त हुआ।[४]

दिगम्बरों में संघभेद

मूलसंघ : दिगम्बर सम्प्रदाय मूलसंघ के नाम से प्रारम्भ में प्रसिद्ध था। बाद में इसके अनेक भेद प्रभेद हो गए। आचार्य इन्द्रनन्दि ने अपने श्रुतावतार में लिखा है कि पुण्डवर्द्धन पुर में अर्हद्बलि नामक आचार्य हो गए है। वे पाँच वर्ष के अन्त में सौ योजन बसने वाले मुनियों को एकत्र कर युगप्रति क्रमण किया करते थे। एक बार युगप्रतिक्रमण के लिए आये हुए मुनियों से उन्होने पूछा कि क्या सब मुनि आ गए? तब उन्होने उत्तर दिया-- हाँ भगवान। हम सब अपने अपने संघसहित आ गए। यह सुनकर आचार्य ने विचार किया कि अब यह जैनधर्म गण पक्षपात के सहारे ठहर सकेगा, उदासीन भाव से नहीं। तब उन्होनें संघ या गण स्थापित किए। जो मुनि गुहाओ से आये थे, उनमें से कुछ कों नन्दि और कुछ को वीर नाम दिया, जो अशोक वाटिका से आये थे, उनमें से कुछ को अपराजित और कुछ को देव नाम दिया, जो मुनि पञ्चस्तूप्य निवास से आये थे, उनमे से कुछ को सेन और कुछ को भद्र नाम दिया। जो मुनि शाल्मलि महावृक्ष के मूल से आये थे, उनमें से

कुछ को गुणधर और कुछ को गुप्त नाम दिया। जो खण्ड केसर वृक्षों के मूल से आये थे, उनमें से कुछ को सिंह और कुछ को चन्द्र नाम दिया।

इन नामों के विषय में कुछ मतभेद भी है, जिसका उल्लेख भी आचार्य इन्द्रनन्दि ने किया है। कुछ के मत से जो गुहाओं से आए थे, उन्हें नन्दि, जो अशोक वन से आए थे, उन्हें देव, जो पञ्चस्तूपों से आए थे, उन्हें सेन, जो शाल्मलिवृक्ष के मूल से आए थे, उन्हे वीर और जो खण्डकेसर वृक्षों के मूल से आए थे, उन्हे भद्र नाम दिया गया। कुछ के मत से गुहावासी नन्दि, अशोकवन से आने वाले देव, पञ्चस्तूपवासी सेन, शाल्मीलवृक्ष वाले वीर और खण्डकेसर वाले भद्र और सिंह कहलाए। इन मतभेदों से मालूम होता है कि आचार्य इन्द्रनन्दि को भी इस संघभेद का स्पष्ट ज्ञान नहीं था। इसीलिए इस बात का भी पता नहीं चलता कि अमुक को अमुक संज्ञा ही क्यों दी गयी। इन सब संज्ञाओं में नन्दि सेन, देव, और सिंह नाम ही विशेष परिचित हैं।[५] भट्टारक इन्द्रनन्दि आदि ने अर्हदबलि आचार्य के द्वारा इन्हीं चार संघों की स्थापना किए जाने का उल्लेख किया है।[६] इन चार संघों के भी आगे चलकर अनेक भेद प्रभेद हो गए। धीरे धीरे इनमें से कुछ संघों में शिथिलाचार आता चला गया, जिसके कारण वे जैनाभासी कहलाने लगे। इनमें छः प्रसिद्ध हैं—१.श्वेताम्बर, २.गोपुच्छ या काष्ठा, ३. द्रविड़, ४. यापनीय या गोप्य ५. निष्पिच्छ या माथुर और और ६–भिल्लक। भगवान महावीर के निर्वाण के पश्चात् उनका यह मूल सघ १६२ १६२ वर्ष के अन्तराल में होने वाले गौतम गणधर से लेकर अन्तिम श्रुतकेपली भद्रबाहु स्वामी तक अविच्छिन्न रूप से चलता रहा। इनके समय में अवन्ती देश में पड़ने वाले द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष के कारण इस संघ के कुछ आचार्यों ने शिथिलाचार को अपनाकर आचार्य स्थूलभद्र की आम्नाय में इससे विलग एक श्वेताम्बर संघ की स्थापना की, जिससे भगवान् का एक अखण्ड संघ दो भागों में विभाजित हो गया। आचार्य भद्रबाहु स्वामी की परम्परा में दिगम्बर मूलसंघ श्रुतज्ञानियों के अस्तित्व कीअपेक्षा वीर निर्वाण ६८३ तक बना रहा, परन्तु संघ व्यवस्था की दृष्टि से इसकी सत्ता आचार्य अर्हदबली के काल में समाप्त हो गयी।[७]

देवगण : शिलालेखों के निर्देशानुसार मूलसंघ के अन्यगणों से देवगण कुछ प्राचीन है। इस गण का अस्तित्व लक्ष्मेश्वर से प्राप्त चार लेखों से तथा कडवन्ति से प्राप्त ११वी शताब्दी के एक लेख से ज्ञात होता है। इसके पश्चात् और लेखों में इसका उल्लेख नहीं मिलता। देवगण यह नाम कैसे पड़ा, यह

तो तत्कालीन लेखों से ज्ञात नहीं होता , पर उक्त गण के सभी आचार्यों के नाम देवान्त देख यह लगता है कि इससे ही देवगण नाम पड़ा हो। आचार्यों के नाम इस प्रकार हैं—पूज्यपाद, उदयदेव, रामदेव, जयदेव, विजयदेव, एकदेव, जयदेव, अंकदेव, महीदेव। इनमें पूज्यपाद को कुछ इतिहासज्ञ अकलंकदेव पूज्यपाद मानते हैं। यदि यह सत्य है तो कहना होगा कि अकलंकदेव ही इस गण के प्रतिष्ठापक थे।[८]

सेनगण : पद्मपुराण के कर्ता आचार्य रविषेण को इस संघ का आचार्य माना गया है। रविषेण ने आचार्य परम्परा इस प्रकार दी है—१. इन्द्रसेन २. दिवाकर सेन ३. अर्हत्सेन ४. लक्ष्मणसेन ५. रविषेण। इस संघके कुछ अन्य आचार्यों के नाम हैं—वीरसेन, जिनसेन, गुणभद्र, सोमसेन, समन्तभद्र, छत्रसेन, नरेन्द्रसेन। उत्तर पुराण की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि सेनगण का पूर्व रूप पंचस्तूपान्वय था। प्राचीन लेखों मं सेनगण के साथ पोगरिगच्छ का उल्लेख आता है। उत्तरकालीन लेखों में इसका स्थान पुष्करगच्छ ने लिया है। सूरत से प्राप्त ताम्रपत्र[६] जो कि ८२१ ई. का है, में इसका प्राचीन उल्लेख है। पोगरीगच्छ के साथ इसके दो ओर उपभेद थे—

पुस्तक गच्छ एवं चन्द्रकवाट अन्वय। पोगरिगच्छ का उल्लेख होगरिगच्छ के रूप में भी हुआ है। पुस्तक गच्छ का एक उपभेद पनसोगे (अथवा हनसोगे) बलि था, दूसरा उपभेद इंगुलेश्वर बलि थां सेनगण के अन्तर्गत ही सूरस्थगण तथा उसके २ उपभेद कौरूरगच्छ तथा चित्रकूटान्वय थे। हिरे आविल से इस गण के पाँच लेख प्राप्त हुए हैं, जो कि १२ वीं से १५ वी शताब्दी के बीच के हैं। जिनसे प्रतीत होता है कि यह स्थान इस गण के साधुओं का प्रमुख केन्द्र रहा है।[१०] सन १६१४ के सोनागिरि के मूर्तिलेख में पुष्करगच्छ ऋषभसेनान्वय के विजयसेन व लक्ष्मीसेन के नाम उल्लिखित हैं यहाँ सेनगण का नाम नहीं है, किन्तु उक्त गच्छ व अन्वय इसी गण के अन्तर्गत थे। सोनागिर के सन् १८७३ के दो मूर्तिलेखों में इस गण के लक्ष्मीसेन का उल्लेख है।[११]

नन्दि संघ : मूल संघ कोण्डकुन्दान्वय देशियण, पुस्तकगच्छ से सम्बन्धित तथा १११५ से ११७६ ई. के बीच के श्रवण बेलगोल से प्राप्त कुछ लेखों में आचार्यों की पट्टावलियाँ दी गयी हैं। इनमें बीच या अन्त में आचार्यों के साथ मूलसंघ देशियगण आदि लिखा है, पर आदि में दो चार मंगलाचरण के श्लोको के बाद केवल नन्दि संघ का उल्लेख कर एक परम्परा दी गई है, जो इस प्रकार है—

पद्मनन्दि (कोण्डकुन्द)
उनके अन्वय में
|
उमास्वाति (गृद्धपिच्छ)
|
बलाकपिच्छ
|
गुणनन्दि
|
देवेन्द्र सैद्धान्तिक
|
कलधौत नन्दि

लेख नं. ३६२ में थोड़ी विशेषता यह है कि बलाकपिर्च्छ के बाद समन्तभद्र, देवनन्दि (पूज्यपाद) और अकलंक का नाम दिया गया है। ये नाम द्रविड संघ से सम्बन्धित नन्दिगण के ११ वीं शताब्दी के लेखों में भी दिखाई देते हैं। इससे अनुमान होता है कि दोनों संघों में प्राचीन नन्दि संघ सम्मिलित किया गया होगा। यापनीय संघ के नन्दि संघ को ही द्रविड संघ और मूलसंघ ने अपनाया होगा। देशीगण नन्दिगण का ही एक प्रभेद है।[१२] शिलालेखों में नन्दिगण के उल्लेख के पश्चात् देशीगण पुस्तगच्छ का उल्लेख है। देशीगण में गोल्लाचार्य नामके प्रसिद्ध मुनि हुए। देशिय गण देशिक, देशिग, देसिय, देसिग एवं महादेशिगण नाम से शिलालेखों में उल्लिखित है। देशिय शब्द देश शब्द से निकला हैं देश का साधारण अर्थ प्रान्त होता है। दक्षिण भारत में कन्ड प्रान्त के उस हिस्से को जो कि पश्चिमी घाट के उच्चभूमिभाग (बालाघाट) और गोदावरी नदी के बीच में है, एक समय देश नाम से कहते थे। वहाँ के ब्राह्मण अब भी देशस्थ ब्राह्मण कहलाते है। संभव है देश नामक प्रान्त में रहने वाले साधु समुदाय को प्रारम्भ में देशिय कहा जाता हो ओर पीछे वही एक प्रमुख गणं के रूप में परिणत हुआ हो।[१४]

सन १०८७ के पुदूर के लेख में इस गण के पुस्तक गच्छ के पद्मनन्दि मलधारिदेव को मिले हुए भूमिदान का वर्णन है हलेवीड के ११ वीं सदी के लेख मं इसी गच्छ के नेमिचन्द्र भट्टारक के शिष्यों द्वारा मूर्तिस्थापना का उल्लेख है। हगरिटगें के सन् १२२४ के लेख में पुस्तक गच्छ के गोमिनि अन्वय

के देवचन्द्र आचार्य के समाधिमरण का उल्लेख है। देशीगण के अन्य उपभेद आर्यसंघग्रहकुल, चन्द्रकराचार्याम्नाय तथा मैणदान्वय हैं पुस्तक गच्छ के उपभेदों में पिछले संग्रह में पनसोगेबलि, इंगुलेश्वर बलि तथा बाणदबलि इन तीन के नाम उल्लिखित हैं।[१५]

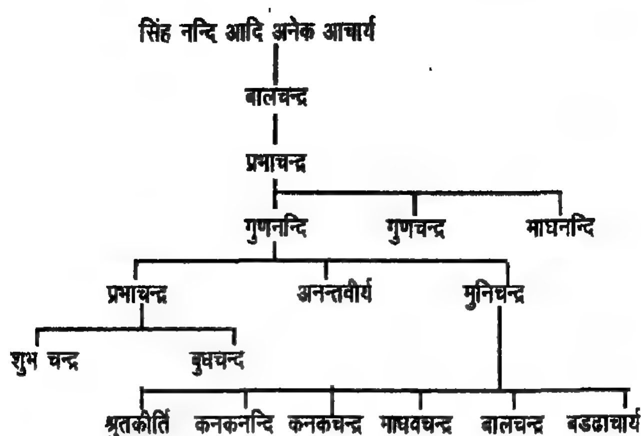
कुन्दकुन्द के प्राप्त होने पर नन्दि संघ दो शाखाओं में विभक्त हो गया। एक शाखा उमास्वामी के आम्नय की ओर चली गयी और दूसरी समन्तभद्र की ओर जिसमें आगे जाकर अकलंक भट्ट हुए। उमास्वामी की आम्नाय पुनः दो शाखाओं में विभक्त हो गई। एक तो बलात्कार गण की मूल शाखा, जिसके अध्यक्ष गोलाचार्य तृतीय हुए ओर दूसरी बलाक पिच्छशाखा , जो देशिय गण नाम से प्रसिद्ध हुई यह गण पुनः तीन शाखाओं में विभक्त हुआ– गुणनन्दि शाखा, गोलाचार्य शाखा और नयकीर्तिशाखा।[१६]

सिंह संघ : सिंह की गुफा पर वर्षा योग धारण करने वाले आचार्य की अध्यक्षता में जिस संघ का गठन हुआ, उसका नाम सिंह संघ पड़ा।

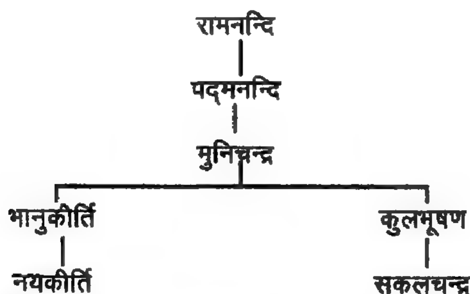
अन्यसंघों का नामकरण- देवदत्ता नामक गणिका के नगर में वर्षायोग धारण करने वाले तपस्वी के द्वारा गठित संघ देवसंघ कहलाया।

वृषभ संघ : तृण तल में वर्षा योग धारण करने वाले जिनसेन का नाम वृषभ पड़ गया था। उनके द्वारा गठित संघ वृषभ संघ कहलाया। इसका ही दूसरा नाम सेन संघ है। धवलाकार श्री वीर सेन स्वामी ने जिस संघ को महिमान्वित किया उसका नाम पंचस्तूप संघ है। इसी में आगें जाकर जैनाभासी काष्ठासंघ के प्रवर्तक श्री कुमारसेन हुए। हरिवंशपुराण के रचयिताश्री जिनसेनाचार्य जिस संघ में हुए, वह पुन्नाटसंघ के नाम से प्रसिद्ध है।[१७]

काणूरगण : इस गण के अस्तित्व का पता दसवीं सदी से सोलहवीं सदी तक के शिलालेखों से प्रमाणित होता है। काणूरगण के तीन उपभेदों के उल्लेख मिलते हैं– १. तिन्त्रिणी गच्छ २. मेषपाषाण गच्छ और पुस्तक गच्छ।[१८] काणूर नाम किसी स्थान विशेष का सूचक है। मेषपाषाण का अर्थ है मेषों के बैठने का पाषाण। यह कोई स्थल विशेष होना चाहिए, जहाँ से इस गण के साधुओ का प्रारम्भ में सम्बन्ध रहा होगा। तिन्त्रिणीक एक वृक्ष का नाम है। ये पाषाणान्त और वृक्ष परक नाम इस गण के यापनीय संघ के साथ पूर्व सम्बन्ध की स्मृति दिलाते हैं।[१९] मेषपाषाण गच्छ की गुरूपरम्परा इस प्रकार मिलती है –



काणूर गण के तिन्त्रिणीक गच्छ की आचार्य परम्परा इस प्रकार मालूम होती है।[२०]



बलात्कार गण : इस गण का नामकरण सबसे प्राचीन लेखों में बलात्कार गण यही पाया जाता है। किन्तु इसका मूलरूप बकगारगण यही मालूम पड़ता है। इसके दूसरे रूप बलत्कार और बलात्कार भी है। इस गण के प्राचीन उल्लेख ज्यादातर कर्नाटक के मिले हैं, किन्तु इन्ही में एक से इसका सम्बन्ध चित्रकूट मालव जोड़ा गया हैं। चौदहवी सदी से इसके साथ सरस्वती गच्छ और उसके पर्यायवाची भारती, वागेश्वरी, शारद आदि नाम जुड़े हैं। इस नाम का सम्बन्ध उस बाद से जोड़ा जाता है। जिसमें दिगम्बर संघ के आचार्य पद्मनन्दि ने श्वेताम्बरों से विवाद कर पाषाण की सरस्वती मूर्ति से मन्त्रशक्ति द्वारा निर्णय कराया था। यह वाद गिरनार पर्वत पर हुआ कहा जाता है। ये पद्मनन्दि सम्भवतः

आचार्य कुन्दकुन्द ही हैं। इन्हीं से इस गण का तीसरा विशेषण कुन्दकुन्दान्वय प्रचलित हुआ है। कहीं कहीं इसे नन्दि संघ या नंद्याम्नाय भी कहा है।[२१] बलात्कार गण का सबसे पहले उल्लेख आचार्य श्री चन्द्र ने किया है। आपके दीक्षागुरू आ. श्री नन्दि और विद्यागुरू आ. सागर सेन थे। आपका निवास धारानगरी में था। जहाँ उस समय महाराज भोज राज्य कर रहे थे। आपने संवत १०.७० में पुराणसार, संवत १०८० में उत्तरपुराण टिप्पण और संवत् १०८७ में पद्मचरित टिप्पण की रचना की।[२२]

चौदहवीं सदी से बलात्कार गण के साथ सरस्वती गच्छ का उल्लेख मिलता है। भट्टारक सम्प्रदाय ग्रन्थ में इस गण के श्री नन्दि से लेकर धर्मभूषण तक २७ आचार्यों की परम्परा दी है।[२३] इसी ग्रन्थ में इसकी कारंजीशाखा, लातूरशाखा, उत्तरशाखा दिल्लीजयपुरशाखा, नागौर शाखा, अटेरशाखा, ईडरशाखा, मानपुरशाखा, सूरतशाखा तथा जेरहट शाखा के लेख उदघृत किए हैं और भट्टारक परम्परा का परिचय भी दिया है।

कूर्चक संघ : कर्नाटक प्रान्त में ईस्वी पांचवी शताब्दी या उसके पहले जैनों का एक सम्प्रदाय कूर्चक नाम से था। कदम्बवंशी राजाओं के लेखों से ज्ञात होता है कि वह निर्ग्रन्थ संघ श्वेत पट संघ एवं यापनीय संघ से पृथक था। पं. नाथूराम प्रेमी का अनुमान है कि यह जैन साधुओं का ऐसा सम्प्रदाय होना चाहिए जो दाढ़ी मूछ रखता था। वरांगचरित के कर्ता जटाचार्य सिंहनन्दि सम्भव है ऐसे ही साधुओं में से थे, जिनकी जटाओं का वर्णन आचार्य जिनसेन ने अपने आदिपुराण में किया है। कदम्बवंशी राजाओं के एक लेख में इस सम्प्रदाय का यापनीय और निर्ग्रन्थकों के साथ उल्लेख है। लेख में 'यापनीयनिर्ग्रन्थकूर्चकाना' लिखा हैं यदि इस लेख में कूर्चक पद को बहुवचनान्त मान निर्ग्रन्थ पद को उसका विशेषण मान लें तो कहना होगा कि यह संघ निर्ग्रन्थ दिगम्बर सम्प्रदाय का ही एक भेद था।[२४]

द्राविड़ संघ : पूज्य पाद देवनन्दि आचार्य के शिष्य वज्रनन्दि द्रविड संघ को उत्पन्न करने वाले थे। वे समयसार आदि प्राकृत ग्रन्थो के ज्ञाता और महापराक्रमी थे। मुनिराजों ने उन्हें अप्रासुक या सचित्त चने खाने से रोका, परन्तु वे न माने और बिगड़कर प्रार्याश्चतादि विषयक विपरीत शास्त्रों की रचना कर डाली। उनके विचारानुसार बीजों में जीव नही होते। जगत में कोई वस्तु अप्रासुक नहीं है। वे मुनियों के लिए खड़े भोजन लेनें की विधि को नहीं अपनाते थे। उनके अनुसार कुछ सावद्य नहीं है न वे गृहकल्पित अर्थ को कुछ गिनते हैं। कच्छार, खेत, वसतिका, वाणिज्य आदि कराके जीवन

निर्वाह करते हुए उन्होंने पाप का संग्रह किया अर्थात् उन्होंने ऐसा उपदेश दिया कि मुनिजन यदि खेती करायें, वसतिका निर्माण करायें, वाणिज्य करायें और अप्रासुक् जल में स्नान करें तो कोई दोष नहीं है। विक्रम राजा की मृत्यु के ५२६ वर्ष बीतने पर दक्षिण मथुरा में यह महामोह रूप द्राविड संघ उत्पन्न हुआ।[२५] हरिवंश पुराण के कर्ता जिनसेन ने वज्रनन्दिकी प्रशंसा की है कि जो हेतु सहित विचार करती हैं ऐसी वज्रनन्दि की उक्तियाँ धर्मशास्त्रों का व्याख्यान करने वाले गणधरों की उक्तियों के समान प्रमाण हैं।[२६] इस संघ से संबंधित सभी शिलालेख १०–११ वीं शताब्दी या उसके बाद के हैं। ये लेख प्रायः कोङ्गाल्ववंशी शान्तरवंशी तथा होय्सलवंशी राजाओ के राज्यकाल के हैं।

इस संघ के अन्तर्गत नन्दिसंघ के साथ प्रत्येक लेख में अरूङ्.गुलान्वय का उल्लेख मिलता है। अरूंगुलान्वय किसी स्थान विशेष की अपेक्षा सूचित करता है। अरूङ्गुल नामका स्थान भी तमिल प्रान्त के गुडियपतन तालुका में है, जो कि एक प्राचीन जैन स्थान था। तमिल प्रान्त में यापनीय नन्दिसंघ का अस्तित्व पूर्वी चालुक्यों के राज्य में था। द्रविड़ संघ नन्दिसंघ, अरूंगुलान्वय इन तीन शब्दों का एकत्र प्रयोग हमें निःसन्देह सूचित करता है कि वह तमिल प्रान्त का नन्दिसंघ था, जो कि अरूंगुल स्थान से उद्‌भूत हुआ था।[२७] अंगड़ि से प्राप्त कन्नड शिलालेख (१०४० ई) में 'मूलसंघ द्रविणान्वय' शब्द आया है। इससे द्योतित होता है कि प्रारम्भ में इस संघ का आधार मूलसंघ था।

काष्ठासंघ : काष्ठासंघ की उत्पत्ति के सम्बन्ध में मतभेद है। दसवीं शताब्दी के दर्शनसार ग्रन्थ में आचार्य देवसेन ने लिखा है कि दक्षिण प्रान्त में आचार्य जिनसेन के सतीर्थ्य विनयसेन के शिष्य कुमारसेन ने काष्ठासंघ की स्थापना की थी। इसने मयूर पिच्छ को छोड़कर गाय के बालों की पीछी धारण की थी और समस्त बागड़ देश में उन्मार्ग का प्रसार किया था। वह स्त्रियों को जिनदीक्षा देता था, क्षुल्लकों की वीरचर्या का विधान करता था और एक छठा गुणव्रत (अणुव्रत) पालता था। इसने पुराने शास्त्रों को अन्यथा रचकर मूढ़लोगों में मिथ्यात्व का प्रचार किया था। इससे उसे श्रमण संघ से निकाल दिया गया था। तब उसने काष्ठासंघ की स्थापना की थी।[२८]

१७ वीं शताब्दी के एक ग्रन्थ वचनकोश में लिखा है कि उमास्वामी के पट्टधर लोहाचार्य ने उत्तरभारत के अगरोहा नगर में इस संघ की स्थापना की थी। मूर्ति लेखों में काष्ठासंघ के साथ लोहाचार्यान्वय का उल्लेख मिलता है। इस संघ से सम्बंधित लेख भी प्रायः उत्तर पश्चिम भारत से प्राप्त हुए

हैं काष्ठासंघ की प्रमुख शाखायें या गच्छ चार थे--नन्दितट, माथुर, बागड और लाटवागड़।[२९] इनमें माथुर संघ विशेष प्रसिद्ध हुआ। दर्शनसार में कहा है कि इस काष्ठासंघ के २०० वर्ष पश्चात् अर्थात् विक्रम ६५३ में मथुरा नगरी में माथुरसंघ का प्रधान गुरू रामसेन हुआ। उसने निःपिच्छक रहने का उपदेश दिया।[30] उसने पीछी का सर्वथा निषेध कर दिया। उसने अपने और पराए प्रतिष्ठित किए हुए जिनबिम्बों की ममत्वबुद्धि द्वारा न्यूनाधिक भाव से पूजा वन्दना करने, मेरा यह गुरू है, दूसरा नहीं , इस प्रकार के भाव रखने, अपने गुरूकुल का अभिमान करने और दूसरे गुरूकुलों का मानभंग करने के रूप सम्यक्त्व प्रकृति मिथ्यात्व का उपदेश दिया। काष्ठासंघ की उत्पत्ति के विषय में डॉ. कामता प्रसाद जैन का कहना है कि यह संघ मथुरा के निकट जमुना तट पर स्थित काष्ठा ग्राम से निकला है।[31] पं. नाथूराम प्रेमी का कहना है कि दिल्ली के उत्तर में यमुना के किनारे काष्ठा नगरी थी, जिस पर नागवंशियों की एक शाखा का राज्य था। इसी के नाम पर काष्ठासंघ नाम पड़ा हो। काष्ठासंघ में अमितगति (सुभाषित रत्नसन्दोह के कर्ता), धर्मरत्नाकर के कर्ता जयसेन, प्रद्युम्नचरित के कर्ता महासेन आदि अनेक समर्थ आचार्य हुए। माथुर गच्छ का एक अन्य पुष्करगण था। ई. सन् १०८८ के दुबकुण्ड शिलालेख से ज्ञात होता है कि लाटवागटगण के तिलक देवसेन थे। उनके शिष्य कुलभूषण, उनके शिष्य दुर्लभसेन सूरि हुए। उनके बाद गुरू शान्तिषेण हुए, जिन्होंने राजा भोज की सभा में पण्डित शिरोरत्न अम्बरसेन आदि के समक्ष सैकड़ो वादियों को हराया था। उनके शिष्य विजयकीर्ति थे।[32]

उपर्युक्त विवरण में गण, गच्छ, अन्वय आदि शब्द आए हैं। साधारणतः संघों के भेदों को गण और प्रभेदों या उपभेदों को गच्छ कहने की परम्परा मिलती है। कहीं कहीं संघों को गण भी कहा है। जैसे--नन्दिगण, सेनगण आदि। कहीं कहीं संघों को अन्वय भी कहा है। जैसे--सेनान्वय। इन संघ, गण और गच्छों की प्रव्रज्या आदि क्रियाओं में कोई भेद नहीं है।[33]

हमारे साहित्य मनीषी दिगम्बराचार्य

आचार्य गुणधर : द्वादशाड्.ग श्रुत के बारहवे अंग के जो पाँच भेद शास्त्रों मे निरूपित हैं, उनमें से चौथे भेद पूर्वगत के चौदह भेदों मे से दूसरे अग्रायणीय पूर्व की १४ वस्तुओं में से पाँचवीं चयनलब्धि के २० प्राभृतों में से चौथे कर्म प्रकृति प्राभृत के २४ अनुयोगद्वारों में से भिन्न भिन्न अनुयोगद्वार एवं उनके अवान्तर अधिकारों से षट्खण्डागम के विभिन्न अंगों की उत्पत्ति हुई। पाँचवे ज्ञान प्रवाद पूर्व की दशवी वस्तु के तीसरे पेज्जदोसपाहुड से कषायपाहुड की उत्पत्ति हुई।

गुणधराचार्य ने कषायपाहुड़ की रचना षट्खण्डागम से पूर्व की। गणधर ग्रथित जिस पेज्जदोसपाहुड में सोलह हजार मध्यम पद थे, अर्थात् जिनके अक्षरों का परिमाण दो कोटाकोटी इकसठ लाख सत्तावन हजार दो सौ बानवे करोड़, बासठ लाख आठ हजार था, इतने महान् विस्तृत ग्रन्थ का सार २३३ गाथाओं में आचार्य गुणधर (विक्रम की दूसरी शती का पूर्वार्ध) ने कषायपाहुड़ में निबद्ध किया। कषाय पाहुड पन्द्रह अधिकारों में बँटा हुआ है– १. पेज्जदोसविभक्ति २. स्थिति विभक्ति ३. अनुभागविभक्ति ४. प्रदेश विभक्ति झीणा झीणस्थित्यन्तिक ५. बन्धक ६. वेदक ७. उपयोग ८. चतुःस्थान ९. व्यञ्जन १०. दर्शनमोहोपशमना ११. दर्शनमोहक्षपणा १२. संयमासंयमलब्धि १३. संयमलब्धि १४. चारित्र मोहोपशमना १५. चारित्रमोहक्षपणा।

२३३ गाथाओं द्वारा सूचित अर्थ की सूचना यतिवृषभ ने ६००० श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्रों द्वारा दी और उनका व्याख्यान उच्चारणाचार्य ने १२००० श्लोक प्रमाण उच्चारणवृत्ति के द्वारा किया। उसका आश्रय लेकर ६० हजार श्लोक प्रमाण जयधवला टीका रची गयी।

कषायपाहुड का दूसरा नाम पेज्जदोसपाहुड है। पेज्ज का अर्थ राग है। यह ग्रन्थ राग और द्वेष का निरूपण करता है। क्रोधादि कषायों की रागद्वेष परिणति और उनकी प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बन्ध सम्बन्धी विशेषताओं का विवेचन ही इस ग्रन्थ का मूल वर्ण्य विषय है। यह ग्रन्थ सूत्र शैली मे निबद्ध है। गुणधर ने गहन और विस्तृत विषय को अत्यंत संक्षेप में प्रस्तुत कर सूत्र परम्परा का आरम्भ किया है। उन्होनें अपने ग्रन्थ के निरूपण की प्रतिज्ञा करते हुए गाथाओं को सुत्तगाहा कहा है।[३४]

आचार्य धरसेन : भगवान् महावीर के निर्वाण से ६८३ वर्ष वीत जाने पर आचार्य धरसेन हुए। नन्दिसंघ की पट्टावली के अनुसार धरसेनाचार्य का काल वीर निर्वाण से ६१४ वर्ष पश्चात् जान पड़ता है।

आचार्य धरसेन अष्टांग महानिमित्त के ज्ञाता थे। जिस प्रकार दीपक से दीपक जलाने की परम्परा चालू रहती है, उसी प्रकार आचार्य धरसेन तक भगवान महावीर की देशना आंशिक रूप में पूर्ववत् धारा प्रवाह रूप से चली आ रही थी। आचार्य धरसेन काठियाबाड में स्थित गिरिनगर (गिरिनार पर्वत) की चन्द्रगुफा में रहते थे। जब वे वृद्ध हो गए और अपना जीवन अत्यल्प अवशिष्ट देखा, तब उन्हें यह चिन्ता हुई कि अवसर्पिणी काल के प्रभाव से श्रुतज्ञान का प्रतिदिन ह्रास होता जाता है। इस समय मुझे जो कुछ श्रुत प्राप्त है, उतना भी आज किसी को नहीं है। यदि मैं अपना श्रुत दूसरे को नहीं

दे सका तो यह भी मेरे ही साथ समाप्त हो जाएगा। उस समय देशेन्द्र नामक देश में वेणाकतटीपुर में महामहिमा के अवसर पर विशाल मुनि समुदाय विराजमान था। श्री धरसेनाचार्य ने एक ब्रह्मचारी के हाथ वहाँ मुनियों के पास एक पत्र भेजा। उसमें लिखा था --

"स्वस्ति श्रीमत इत्यूर्जयन्त तटनिकट चन्द्र गुहावासाद् धरसेनगणी वेणाक तट समुदित यतीन अभिवन्द्य कार्यमेवं निगदत्यस्माक मायुरवशिष्टम्। स्वल्प तस्मादस्मच्छुतस्य शास्त्रस्य व्युच्छिन्तिः।। न स्यात्तथा द्वौ यतीश्वरौ ग्रहण धारण समर्थौ निशितप्रज्ञौ यूयं प्रस्थापयत...........।।"

'स्वस्ति श्रीमान् ऊर्जयन्त तट के निकट स्थित चन्द्रगुहावास से धरसेनाचार्य वेणाक तट पर स्थित मुनि समूहों की वन्दना करके इस प्रकार से कार्य को कहते हैं कि हमारी आयु अब अल्प ही अवशिष्ट रही है। इसीलिए हमारे श्रुतज्ञानरूप शास्त्र का व्युच्छेद जिस प्रकार न हो, उसी तरह से आप लोग तीक्ष्ण बुद्धि वाले श्रुत को ग्रहण और धारण करने में समर्थ दो यतीश्वरों को मेरे पास भेजो।'

मुनिसंघ ने आचार्य धरसेन के श्रुतरक्षा सम्बन्धी अभिप्राय को जानकर दो मुनियों को गिरिनार भेजा। वे मुनि विद्या ग्रहण करने में तथा उसका स्मरण रखने में समर्थ थे, अत्यन्त विनयी तथा शीलवान थे, उनके देश कुल और जाति शुद्ध थे और वे समस्त कलाओ में पारंगत थे। जब वे दो मुनि गिरिनगर की ओर जा रहे थे। तब यहाँ श्री धरसेनाचार्य ने ऐसा शुभ स्वप्न देखा कि दो श्वेत वृषभ आकर उन्हें विनयपूर्वक वन्दना कर रहें हैं । उस स्वप्न से उन्होनें जान लिया कि आने वाले दोनों मुनि विनयवान एवं धर्मधुरा को वहन करने में समर्थ हैं। उनके मुख से 'जयउ सुयदेवदा' ऐसे आशीर्वादात्मक वचन निकले। दूसरे दिन दोनों मुनिवर आ पहुँचे और विनयपूर्वक उन्होने आचार्य के चरणों में वन्दना की। दो दिन पश्चात् श्री धरसेनाचार्य ने उनकी परीक्षा की। एक को अधिक अक्षरों वाला और दूसरे को हीन अक्षरों वाला विद्यामन्त्र देकर दो उपवास सहित उसे साधने को कहा। ये दोनों गुरू द्वारा दी गयी विद्या को लेकर और उनकी आज्ञा से नेमिनाथ तीर्थकर की सिद्धभूमि जाकर नियमपूर्वक अपनी अपनी विद्या की साधना करने लगे। जब उनकी विद्या सिद्ध हो गई तब वहाँ पर उनके सामने दो देवियाँ आईं। उनमें से एक देवी के एक आँख थी और दूसरी देवी के दांत बड़े बड़े थे।

मुनियों ने जब सामने देवियों को देखा तो जान लिया कि मन्त्रों में कोई त्रुटि है; क्योंकि देव विकृतांग नहीं होते हैं। तब व्याकरण की दृष्टि से उन्होंने मन्त्र पर विचार किया। जिसके सामने एक आँख वाली देवी आई थी, उन्होंने

अपने मन्त्र में एक वर्ण कम पाया तथा जिसके सामने लम्बे दाँतों वाली देवी आयी थी, उन्होंने अपने मन्त्र में एक वर्ण अधिक पाया। दोनों ने अपने अपने मन्त्रों को शुद्ध कर पुनः अनुष्ठान किया, जिसके फलस्वरूप देवियाँ अपने यथार्थ स्वरूप में प्रकट हुई और बोली कि हे नाथ! आज्ञा दीजिए। हम आपका क्या कार्य करें दोनों मुनियों ने कहा—देवियो ! हमारा कुछ भी कार्य नहीं है। हमने तो केवल गुरूदेव की आज्ञा से ही विद्यामन्त्र की आराधना की है। यह सुनकर वे देवियाँ अपने स्थान को चली गईं।

मुनियों की इस कुशलता से गुरू ने जान लिया कि सिद्धान्त का अध्ययन करने के लिए वे योग्य पात्र हैं आचार्य श्री ने उन्हें सिद्धान्त का अध्ययन कराया। वह अध्ययन आषाढ़ शुक्ल एकादशी के दिन पूर्ण हुआ। उस दिन देवों ने दोनों मुनियों की पूजा की। एक मुनिराज के दाँतों की विषमता दूर कर देवों ने उनके दाँत कुन्दपुष्प के समान सुन्दर करके उनका पुष्पदन्त यह नामकरण किया तथा दूसरे मुनिराज को भी भूत जाति के देवों ने तूर्यनाद, जयघोष, गन्धमाला, धूप आदि से पूजा कर 'भूतबलि' नाम से घोषित किया।

अनन्तर श्री धरसेनाचार्य ने विचार किया कि मेरी मृत्यु का समय निकट है। इन दोनों को संक्लेश न हो, यह सोचकर वचनों द्वारा योग्य उपदेश देकर दूसरे दिन ही वहाँ से कुरीश्वर देश की ओर विहार करा दिया। यद्यपि वे दोनो गुरू के चरण सान्निध्य मे कुछ समय रहना चाहते थे, तथापि गुरू के वचन अनुल्लंघनीय हैं, ऐसा विचार कर वे उसी दिन वहाँ से चल दिए और अंकलेश्वर (गुजरात) में आकर उन्होनें वर्षाकाल बिताया। वर्षाकाल व्यतीत कर पुष्पदन्त आचार्य तो अपने भानजे जिनपालित के साथ वनवास देश को चले गए और भूतबलि भट्टारक द्रविड़ देश को चले गए।[३५]

पुष्पदन्त और भूतबलि : डॉ. ज्योति प्रसाद जैन ने पुष्पदन्त का समय ई. सन ५०—८० तथा भूतबलि का समय ई. सन् ६६—९० तक माना है।[३६] उपर्युक्त विवरण के अनुसार ये दोनों धरसेनाचार्य के शिष्य थे। पुष्पदन्तमुनिराज अपने भानजे को पढ़ाने के लिए महाकर्म प्रकृति प्राभृत का छह खण्डों में उपसंहार करना चाहते थे, अतः उन्होंने बीस अधिकार गर्भित सत्प्ररूपणा सूत्रों को बनाकर शिष्यों को पढ़ाया और भूतबलि मुनि का अभिप्राय जानने के लिए जिनपालित को यह ग्रन्थ देकर उनके पास भेज दिया। इस रचना को ओर पुष्पदन्त मुनि के षट्खण्डागम रचना के अभिप्राय को जानकर व उनकी आयु भी अल्प है, ऐसा समझकर भी भूतबलि आचार्य ने द्रव्यप्ररूपणा आदि अधिकारों को बताया। इस तरह पूर्व के सूत्रों सहित छह हजार श्लोक प्रमाण में इन्होने पाँच खण्ड बनाए ओर तीस हजार प्रमाण सूत्रों में माहाबन्ध, बन्धस्वामित्व, वेदनाखण्ड, वर्गणखण्ड और महाबन्ध।

भूतबलि आचार्य ने इस षट्खण्डागम सूत्रों को पुस्तक बद्ध किया ओर ज्येष्ठ सुदी पंचमी के दिन चतुर्विधिसंघ सहित कृतिकर्मपूर्वक महापूजा की। इसी दिन से इस पंचमी का 'श्रुतपंचमी' नाम से प्रसिद्ध हो गया और तब से लेकर लोग श्रुतपंचमी के दिन श्रुत की पूजा करे हैं। पुनः भूतबलि ने जिनपालित का षट्,खण्डागम ग्रन्थ देकर पुष्पदन्त मुनि के पास भेजा। उन्होंने अपने चिन्तित कार्य को पूरा हुआ देखकर महान हर्ष किया और श्रुत के अनुराग से चातुर्वर्ण संघ के मध्य महापूजा की।

षट्खण्डागम यथानाम छह खण्डों की रचना हैं। इन छह खण्डों का विशेष परिचय इस प्रकार है –

जीव स्थान

इस खण्ड में गुण स्थान और मार्गणा स्थान का आश्रय लेकर सत्, संख्या, क्षेत्र , स्पर्शन, काल, अन्तर , भाव और अल्पबहुत्व इन आठ अनुयोग द्वारों से तथा प्रकृति समुत्कीर्तना, स्थान समुत्कीर्तना, तीनमहादण्डक, जघन्य स्थिति, उत्कृष्ट स्थिति, सम्यक्त्वोत्पति और गति आगति इन नौचूलिकाओं के द्वारा जीव की विविध अवस्थाओं का वर्णन किया गया है। राग द्वेष और मिथ्यात्व भाव को मोह कहते है। मन, वचन, काय, के निमिन्त से आत्मप्रदेशों के चंचल होने को योग कहते हैं। इन्ही मोह ओर योग के दर्शन, ज्ञान , चरित्र रूप आत्म गुणों की विकास रूप अवस्थाओं को गुणस्थान कहते है।

२. **खुद्दाबन्ध :** इसमें कर्मबन्धक के रूम में जीव की प्ररूपणा इन ग्यारह अनुयोग द्वारों द्वारा की गई है–१. एक जीव की अपेक्षा स्वामित्व २. एक जीव की अपेक्षा काल ३. एक जीव की अपेक्षा अन्तर ४. नाना जीवों की अपेक्षा भंगविचय ५. द्रव्य प्रमाणानुगम ६. क्षेत्रानुगम ७. स्पर्शानुगम ८. नाना जीवों की अपेक्षा काल ९. नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर १०. भागाभागानुगम ओर ११. अल्पबहुत्वानुगम। इन अनुयोगद्वारों के प्रारम्भ में भूमिका के रूप मे बन्ध के सत्व की प्ररूपणा की गई है और अन्त में सभी अनुयोगद्वारों को चूलिका रूप से अल्पबहुत्व महादण्डक दिया गया है।

३. **बन्धस्वामित्वविचय :** इस खण्ड में कर्मों की विभिन्न प्रकृतियों के बन्ध करने वाले स्वामियों का विचय अर्थात् विचार किया गया है।

४. **वेदनाखण्ड :** इसमें छह अनुयोग द्वारों में वेदना नामक दूसरे अनुयोग का विस्तार से वर्णन किया गया है।

५. **वर्गणाखण्ड :** महाकर्मप्रकृति प्राभृत के २४ अनुयोगद्वारों में स्पर्श, कर्म और प्रकृति ये तीन अनुयोगद्वार स्वतन्त्र हैं और भूतबलि आचार्य ने इनका

स्वतंत्र रूप से ही वर्णन किया है, तथापि छठे बन्धन अनुयोग द्वार के अन्तर्गत बन्धनीय का अवलम्बन लेकर पुद्गल वर्गणाओं का विस्तार से वर्णन किया गया है और आगे के अनुयोग द्वारों का वर्णन आचार्य भूतबलि ने नहीं किया है, इसलिए स्पर्श अनुयोगद्वार से लेकर बन्धन अनुयोगद्वार तक का वर्णित अंश वर्गणाखण्ड के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

६. महाबन्ध : षट्खण्डागम के दूसरे खण्ड में कर्मबन्ध का संक्षेप से वर्णन किया गया है। अतः उसका नाम खुद्दाबन्ध या क्षुद्रबन्ध प्रसिद्ध हुआ। किन्तु छठे खण्ड में बन्ध के प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश रूप चारों प्रकार के बन्धों का अनेक अनुयोग द्वारों से विस्तार पूर्वक विवेचन किया गया है, इसलिए इसका नाम महाबन्ध रखा गया।

आचार्य आर्यमंक्षु और नागहस्ति : ये दोनों आचार्य दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं में प्रतिष्ठित हैं। धवला टीका में इन दोनों को महाश्रमण और महावाचक लिखा है। जय धवला में आर्यमंक्षु ओर नागहस्ति का उल्लेख करते हुए इन दोनों को आचार्य परम्परा का अभिज्ञ माना है। वहाँ कहा गया है कि विपुलाचल के ऊपर स्थित भगवान् महावीर रूपी दिवाकर से निकल कर गौतम, लोहार्य, जम्बूस्वामी आदि आचार्य परम्परा से आकर गुणधराचार्य को प्राप्त होकर वहाँ गाथा रूप से परिणमन करके पुनः आर्यमंक्षु और नागहस्ति आचार्य के द्वारा आर्य यतिवृषभ को प्राप्त होकर चूर्णिसूत्र रूप से परिणत हुई दिव्यध्वनि किरण रूप से अज्ञान अन्धकार को नष्ट करती है।[३७]

इससे स्पष्ट है कि ये दोनों आचार्य अपने समय में कर्मसिद्धान्त के महान् वेत्ता और आगम के पारगामी थे। आचार्य वीरसेन ने लिखा है–

गुणहरवयण विणिग्गिय - गाहाणत्थो अवहारियो सव्वो।
जेणज्जमंखुणा सो सणागहत्थी वरं देऊ।।७।।
जो अज्जयमुंखुसीसो अंतेवासी वि णागहत्थिस्स।
सो वित्तिसुत्तकत्ता जइवसहो मे वरं देऊ।।८।।

अर्थात् जिन आर्यमंक्षु और नागहस्ति ने गुणधराचार्य के मुखकमल से विनिर्गत कसायपाहुड की गाथाओं के समस्त अर्थ को सम्यक् प्रकार ग्रहण किया, वे हमें वर प्रदान करें।

डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन ने नागहस्ति की तिथि ई. सन् १३०–१३२ निर्धारित की है और आर्यमंक्षु को नागहस्ति से पूर्ववर्ती मानकर उनका समय ई. सन् ५० माना है।[३८]

षट्खण्डागम के टीकाकार

विक्रम की ६ वीं शताब्दी और शक संवत् की ८ वीं शताब्दी में आचार्य वीरसेन जैनदर्शन के दिग्गज विद्वान् आचार्य थे। षट्खण्डागम ग्रन्थ की रचना के आठ सौ वर्ष बाद आप ही एक ऐसे अद्वितीय आचार्य हुए हैं कि षट्खण्डागम से धवला नामक टीका लिखकर एक अद्वितीय कार्य किया। यह टीका बहत्तर हजार श्लोक प्रमाण है तथा सैकड़ों वर्षों से मूडबिद्री में ताडपत्रों पर लिखी हुई सुरक्षित हैं। कषाय प्राभृत के रचयिता गुणधर स्वामी हैं। यतिवृषभ स्वामी ने चूर्णिसूत्रों द्वारा उसे स्पष्ट किया है। आचार्य वीरसेन के गुरू का नाम एलाचार्य था। उनके पास ही उन्होंने सिद्धान्त ग्रन्थों का अध्ययन किया था। कषाय पाहुड की जयधवला टीका लिखने के पश्चात वे स्वर्गस्थ हो गए, तब उनके अनन्यतम शिष्य जिनसेन ने ४० हजार श्लोक प्रमाण टीका लिखकर एक अनुपम उदाहरण जगत के समक्ष रखा। अपने गुरू वीरसेनाचार्य की महिमा बतलाते हुए जिनसेन स्वामी ने कहा है कि षट्खण्डागम में उनकी वाणी अस्खलित्त रूप से प्रवर्तती थी। उनकी सर्वार्थगामिनी नैसर्गिक प्रज्ञा को देखकर किसी भी बुद्धिमान् को सर्वज्ञ की सत्ता में शंका नहीं रही थी। वीरसेन की धवला टीका ने षट्खण्डागम सूत्रों को चमका दिया। जिनसेन ने उन्हें कवियों का चक्रवर्ती तथा अपने आपके द्वारा परलोक का विजेता कहा है।

नन्दिसंघ की पट्टावली के अनुसार भगवान महावीर की २६ वीं पीढी में अर्हदबलि मुनिराज हुए। तीसवीं पीढी में माघनन्दी मुनिराज हुए। माघनन्दी स्वामी के दो शिष्य थे--१. जिनसेन २.धरसेन। जिनसेन स्वामी के शिष्य श्री कुन्दकुन्दाचार्य और धरसेन स्वामी के शिष्य श्री पुष्पदन्त और भूतबलि थे। इस हिसाब से धरसेन स्वामी तीर्थंकर वर्द्धमान की ३१ वीं तथा पुष्पदन्त भूतबलि आचार्य ३२ वीं पीढ़ी में हुए , इसीलिए धरसेन स्वामी आचार्य कुन्दकुन्द के काकागुरू होते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द तथा पुष्पदन्त एवं भूतबलि आचार्य गुरूभाई होते हैं। षट्खण्डागम सूत्र पर जो अनेकों टीकायें रची गयी हैं, उनमें सबसे पहली टीका परिकर्म है। उस परिकर्म की रचना कौण्डकौण्डपुर में श्री पद्मनन्दि मुनि आचार्य कुन्दकुन्द ने की थी। षट्खण्डागम के छह खण्डों में से प्रथम तीन खण्ड़ों पर परिकर्म नामक बारह हजार श्लोक प्रमाण टीका ग्रन्थ की रचना उन्होंने की। धवल--जयधवल टीका में वीर सेन स्वामी ने अपने कथन की पुष्टि के लिए कितने ही स्थानों पर परिकर्म के कथन का उल्लेख किया है। षट्खण्डागम में छह खण्ड हैं। उनमें

छठे खण्ड का नाम महाबन्ध है, इसकी टीका खूब विस्तृत है और वही महाधवल के रूप में प्रसिद्ध है। इस महाबन्ध की भी ताड़पत्र पर लिखी हुई प्रति मूडबिद्री के शास्त्र भण्डार में सुरक्षित है।

षट्खण्डागम और कषायप्राभृत दोनों सिद्धान्तों पर अनेकों टीकायें रची गई हैं, जिनमें षट्खण्डागम की धवला टीका, कषायप्राभृत के चूर्णिसूत्र एवं जयधवला टीका तथा महाबन्ध पर महाधवला नामक टीका उपलब्ध है, अन्य टीकायें उपलब्ध नहीं हैं। इन टीकाओं का विवरण निम्नलिखित है –

टीका के नाम	**आचार्य**	**श्लोक प्रमाण**	**शताब्दी**
परिकर्म	आचार्य कुन्दकुन्द	१२०००	द्वितीय शताब्दी
पद्धति	" शामकुण्ड	१२००	तृतीय "
चूडामणि	" तुम्बुलूर	६१०००	चौथी "
———	समन्तभद्राचार्य	४८००५	पंचम "
व्याख्याप्रज्ञप्ति	वप्पदेवगुरू	८०००	षष्ठ "
धवला	आचार्य वीरसेन	७२०००	आठवीं "
महाधवला	" जिनसेन	——	नवमं

आचार्य यतिवृषभ : जयधवलाकार के उल्लेखानुसार आचार्य यतिवृषभ ने आर्यमंक्षु और नागहस्ती के पास कसायपाहुड की गाथाओं का सम्यक् प्रकार अर्थ अवधारण करके सर्वप्रथम उनपर चूर्णिसूत्रों की रचना की। श्वेताम्बर ग्रन्थों में एक स्थान पर चूर्णिपद का लक्षण इस प्रकार दिया गया है–

अत्थबहुलं महत्थं हेउ निवाओवसग्ग गंभीरं।
बहुपायमवोच्छिन्नं गम णय सुद्धं तु चुण्णपयं।।

अर्थात् जो अर्थ बहुल हो, महान अर्थ का धारक या प्रतिपादक हो, हेतु, निपात और उपसर्ग से युक्त हो, गम्भीर हो, अनेक पाद समन्वित हो अव्यवच्छिन्न हो, अर्थात् जिसमें वस्तु का स्वरूप धारा प्रवाह से कहा गया हो तथा जो अनेक प्रकार के जानने के उपाय और नयों से शुद्ध हो, उसे चूर्णिसम्बन्धी पद कहते हैं।

चूर्णिसूत्रों की रचना संक्षिप्त होते हुए भी बहुत स्पष्ट, प्राञ्जल और प्रौढ है, कहीं एक शब्द का भी निरर्थक प्रयोग नहीं हुआ है। कहीं कहीं संख्यावाचक पद के स्थान पर गणनांकों का भी प्रयोग किया गया है तो जयधवलाकार ने उसकी भी महत्ता और सार्थकता प्रकट की है। चूर्णिसूत्रों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि चूर्णिकार के सामने जो आगमसूत्र उपस्थित थे और उनमें

जिन विषयों का वर्णन उपलब्ध था, उन विषयों को प्रायः यतिवृषभ ने छोड़ दिया है। किन्तु जिन विषयों का वर्णन उनके सामने उपस्थित आगमिक साहित्य में नहीं था और उन्हें जिनका विशेष ज्ञान गुरूपरम्परा से प्राप्त हुआ था, उनका उन्होंने प्रस्तुत चूर्णि में विस्तार से वर्णन किया है। इसके साक्षी बन्ध और संक्रम आदि अधिकार हैं। यतः महाबन्ध में चारों प्रकारों के बन्धों का अति विस्तृत विवेचन उपलब्ध था, अतः उसे एक सूत्र में ही कह दिया कि यह चारों प्रकार का बन्ध बहुशः प्ररूपित है। किन्तु संक्रमण सत्व उदय और उदीरण का विस्तृत विवेचन उनके समय तक किसी ग्रन्थ में निबद्ध नहीं हुआ था, अतएव उनका प्रस्तुत चूर्णि में बहुत विशद एवं विस्तृत वर्णन किया है। इसी से यह ज्ञात होता है कि यति वृषभ का आगमिक ज्ञान कितना अगाध, गम्भीर और विशाल था।

यतिवृषभ को आर्यमंक्षु और नागहस्ती जैसे अपने समय के महान् आगम वेत्ता और कसायपाहुड़ के व्याख्याता आचार्यों से प्रकृत विषय का विशिष्ट उपदेश प्राप्त था। तथापि उनके सामने और भी कर्मविषयक आगम साहित्य अवश्य रहा है, जिसके कि आधार पर वे अपनी प्रोढ़ और विस्तृत चूर्णि को सम्पन्न कर सके हैं ओर कसायपाहुड की गाथाओं के एक एक पद के आधार पर एक स्वतत्र अधिकार की रचना करने में समर्थ हो सके हैं।

आचार्य यतिवृषभ की दूसरी कृति के रूप से तिलोयपण्णती प्रसिद्ध है और वह सानुवाद मुद्रित होकर प्रकाशित है। कम्मपयडी की गाथाओं को कसायपाहुड चूर्णि का आधार बनाया गया है। इस आधार पर कम्मपयडी भी यतिवृषभ कृत मानी जाती है। इसी प्रकार सतक और सित्तरी के रचयिता यतिवृषभ कहे गए हैं।

यतिवृषभ आचार्य पूज्यपाद से पूर्व में हुए हैं। इसका कारण यह है कि उन्होने अपनी सर्वार्थसिद्धि में उनके एक मतविशेष का उल्लेख किया है।

अथवा येषां मते सासादन एकेन्द्रियेषु नोत्पद्यते तन्मतापेक्षया द्वादश भागा न दत्ता।

अर्थात जिन आचार्यों के मत से सासादन गुणस्थानवर्ती जीव एकेन्द्रियों में उत्पन्न नहीं होता है, उनके मत की अपेक्षा १२/१४ भाग स्पर्शन क्षेत्र नहीं कहा गया है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि सासादन गुणस्थान वाला मरे तो नियम से देवों में उत्पन्न होता है। यह आचार्य यतिवृषभ का मत है।

इस उल्लेख से स्पष्ट है कि आ. यतिवृषभ आचार्य पूज्यपाद से पहले

हुए हैं। चूंकि पूज्यपाद के शिष्य वज्रनन्दि ने वि.सं. ५२६ में द्रविड़ संघ की स्थापना की है और यतिवृषभ के मत का पूज्यपाद ने उल्लेख किया है, अतः उनका वि. सं. ५२६ के पूर्व होना निश्चित है। इससे यह स्पष्ट फलित होता है कि यतिवृषभ का समय विक्रम की छठी शताब्दी का प्रथम चरण है।[३९]

उच्चारणाचार्य : भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् उनका उपदेश श्रुतकेवलियों के समय तक तो मौखिक ही चलता रहा, किन्तु उनके पश्चात् विविध अंगों पूर्वों के विषयों को कुछ विशिष्ट आचार्यों ने उपसंहार करके गाथासूत्रों मे निबद्ध किया। गाथा शब्द का अर्थ है गाये जाने वाले गीत। सूत्र का अर्थ है–महान ओर विशाल अर्थ के प्रतिपादकशब्दों की संक्षिप्त रचना, जिसमें कि संकेतित बीज पदों के द्वारा विवक्षित विषय का पूर्ण समावेश रहता है। इस प्रकार के गाथा सूत्रों की रंचना करके उनके रचयिता आचार्य अपने सुयोग्य शिष्यों को गाथासूत्रों के द्वारा सूचित अर्थ के उच्चारण करने की विधि ओर व्याख्यान करने का प्रकार बतला देते थे और वे लोग जिज्ञासु जनों को गुरू प्रतिपादित विधि से उन गाथा सूत्रों का उच्चारण और व्याख्यान किया करते थे। इस प्रकार के गाथासूत्रों के उच्चारण या व्याख्यान करने वाले आचार्यों को उच्चारणाचार्य, व्याख्यानाचार्य या वाचक कहा जाता था।

जय धवलाकार ने उच्चारण, मूल उच्चारण, लिखित उच्चारण, वप्पदेवाचार्य लिखित उच्चारण और स्वलिखित उच्चारण का उल्लेख किया है। इन विविध संज्ञाओं वाली उच्चारणाओं के नामों पर विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि चूर्णिसूत्रों पर सबसे प्रथम जो उच्चारण की गई , वह मूल उच्चारण कहलाई। गुरू शिष्य परम्परा कुछ दिनों तक उस मूल उच्चारण के उच्चरित होने के अनन्तर जब वह समष्टि रूप से लिखी गयी तो उसी का नाम लिखित उच्चारण हो गया। इस प्रकार उच्चारण के लिखित हो जाने पर भी उच्चारणाचार्यों की परम्परा तो चालू ही थी, अतएव मौखिक रूप से भी वह प्रवाहित होती हुई प्रवर्तमान रही। तदनन्तर कुछ विशिष्ट व्यक्तियों ने अपने विशिष्ट गुरूओं से विशिष्ट उपदेश के साथ उस उच्चारण को पाकर व्यक्ति रूप से भी लिपिबद्ध किया और वह वप्पदेवाचार्य लिखित उच्चारणा वीरसेन लिखित उच्चारणा आदि नामों से प्रसिद्ध हुई।[४०]

आचार्य कुन्दकुन्द : आचार्य कुन्दकुन्द विक्रम की प्रथम शताब्दी के आचार्यरत्न माने जाते हैं। जैन परम्परा में भगवान् महावीर और गौतम गणधर के बाद कुन्दकुन्द का नाम लेना मंगलकारक माना जाता है–

मंगलं भगवान्वीरो मंगलं गौतमोगणी।
मंगलं कुन्दकुन्दाद्यो जैनधर्मो ऽस्तु मंगलम्।।

दिगम्बर जैन साधु गण स्वयं को कुन्दकुन्दाचार्य की परम्परा का कहलाने में गौरव मानते हैं। भगवान्कुन्दकुन्द के शास्त्र साक्षात गणधरदेव के वचनों जैसे ही प्रमाणभूत माने जाते हैं। उनके अनन्तर हुए ग्रन्थकार आचार्य स्वयं के किसी कथन को सिद्ध करने के लिए कुन्दकुन्द आचार्य के शास्त्रों का प्रमाण देते हैं, जिससे उनका कथन निर्विवाद सिद्ध होता है। विक्रम संवत् ६६० में हुए देवसेनाचार्य अपने दर्शनसार नामक ग्रन्थ में कहते हैं–

जइ पउमणंदिणाहो सीमंधर सामिदिव्वणाणेण।
णा विवोहइ तो समणा कहं सुमग्गं पयाणंति।।

"विदेह क्षेत्र के वर्तमान तीर्थकर श्री सीमन्धर स्वामी से प्राप्त किए हुए दिव्य ज्ञान के द्वारा श्री पद्मनन्दिनाथ ने (आचार्य कुन्दकुन्द ने) बोध नहीं दिया होता तो मुनिजन सच्चे मार्ग को कैसे जानते ?"

वन्द्यो विभुर्भुवि न कैरिह कौण्डकुन्दः। कुन्दप्रभा प्रणयि कीर्तिविभूषिताशः।
यश्चारु-चरण-कराम्बुजचंचरीकश्चक्रे श्रुतस्य भरते प्रयतः प्रतिष्ठाम्।।

(चन्द्रगिरि का शिलालेख)

कुन्दपुष्प की प्रभा को धारण करने वाली जिनकी कीर्ति के द्वारा दिशायें विभूषित हुई हैं, जो चारण ऋद्धिधारी महामुनियों के हस्तकमलों के भ्रमर थे और जिस पवित्रात्मा ने भरत क्षेत्र में श्रुत की प्रतिष्ठा की है, वे विभु कुन्दकुन्द इस पृथ्वी पर किसके द्वारा वन्द्य नहीं हैं ?

..कोण्डकुन्दो यतीन्द्रः।।
रजोभिरस्पृष्टतमत्वमन्त वाह्ये अपि संव्यञ्जयितुं यतीशः।
रजःपदं भूमितलं विहाय चचार मन्ये चतुरंगुलं सः।।

(विन्ध्यगिरि शिलालेख)

यतीश्वर (श्री कुन्दकुन्दस्वामी) रजः स्थान को भूमितल को छोड़कर चार अंगुल ऊपर आकाश में चलते थे, उससे मैं यह समझता हूँ कि वे अन्तरंग तथा बहिरंग रज से (अपना) अत्यन्त अस्पृष्टत्व व्यक्त करते थे (वे अन्तरंग में रागादि मल से और बाह्य में धूलि से अस्पृष्ट थे।)

आचार्य कुन्दकुन्द के द्वारा निर्मितग्रन्थ निम्नलिखित हैं–

१. नियमसार २. पंचास्तिकाय ३. प्रवचनसार ४. समयसार ५. बारस अणुवेक्खा ६. दंसणपाहुड ७. चरित्रपाहु ८. सुत्तपाहुड ९. बोधपाहुड १०. भावपाहुड ११. मोक्खपाहुड १२. सीलपाहुड १३. लिंग पाहुड १४. दसभत्तिसंगहो।

कहा जाता है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने चौरासी पाहुडों की रचना की थी।

बारस अणुवेक्खा के अन्त में कुन्दकुन्द ने अपने नाम का निर्देश किया है। बोध प्राभृत के अन्त में हम पाते हैं कि इसकी रचना भद्रबाहु के शिष्य ने की। कुछ लोगों ने कुन्दकुन्द को भद्रबाहु का साक्षात् शिष्य न मानकर परम्परया शिष्य माना है। आचार्य कुन्दकुन्द की तीन कृतियाँ पंचास्तिकाय प्रवचनसार और समयसार सम्भवतः वेदान्त के प्रस्थान के साम्य पर नाटकत्रय अथवा प्राभृतत्रय कहलाते हैं। इससे यह ध्वनित होता है कि जैनों के लिए ये कृतियां उतनी ही पवित्र और अधिकारिक है, जितनी वेदान्तियों के लिए उपनिषद ब्रहासूत्र और भगवद्गीता। उनके अधिकांश कथन साम्प्रदायिकता से परे हैं। उनके समयसार का अध्ययन दिगम्बर, श्वेताम्बर और स्थानकवासियों ने समान रूप से प्रकट किया है तथा हजारों आध्यात्मिक व्रती पुरूषों तथा साधुओं ने कुन्दकुन्द से धार्मिक अभिप्रेरणा और आत्मिक सान्त्वना प्राप्त की है। कुन्दकुन्द के प्राभृत ग्रन्थ आध्यात्मिक उददेश्य से निर्मित या सम्पादित किए गए थे। ये परमात्पा को भक्ति पूर्ण भेंट हैं। जयसेन ने प्राभृत की व्याख्या करते हुए कहा है कि जैसे कोई देवदत्त नामक पुरूष राजा के दर्शन के लिए कोई सारभूत वस्तु राजा को देता है, वह सारभूत वस्तु प्राभृत कहलाती है। इसी प्रकार परमात्माराधक पुरूष के निर्दोष परमात्मराज के दर्शन के लिए यह शास्त्र भी प्राभृत है।

दशभक्तियाँ सशक्त मताग्रह तथा धार्मिक भूमिका के साथ भक्तिपूर्ण प्रार्थनायें हैं। तित्थयर भक्ति दिगम्बर तथा श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं को मान्य है। दोनों परम्पराओं ने इसे विरासत रूप में पाया होगा। अवशिष्ट भक्तियों की रचना भी पारम्परिक ज्ञानके आधार पर हुई होगी। कुन्दकुन्द के अष्टपाहुडों में से कुछ में विषयवस्तु की व्याख्या बड़ी सुव्यवस्थित है, जैसे चरित्रपाहुड तथा बोधपाहुड। सुत्त तथा बोध भावपाहुड में विषयवस्तु केवल सम्पादित प्रतीत होती है। भावपाहुड विषय वस्तु की अपेक्षा विविध है। उसमें जो पौराणिक सन्दर्भ पाए जाते हैं वे यह निर्देश करते हैं कि बहुत से जैन पौराणिक सन्दर्भो की उपस्थिति ईसा के प्रारम्भ में प्रवाहित थी। इन पाहुडों का पश्चातकालीन लेखकों पर बहुत बड़ा प्रभाव पडा। पूज्य पाद ने अपनी समाधि शतक की रचना अधिक व्यवस्थित रूप में सुदृढ़ वस्तु वैज्ञानिक अभिव्यक्ति शैली में की, जो प्रमुखतः मोक्षपाहुड पर आधारित है। अमृतचन्द्राचार्य के बहुत से पद्य इन पाहुड़ों की गाथाओं की याद दिलाते हैं, जिन्हें वे उदधृत भी करतें हैं। गुणभद्र ने अपने आत्मानुशासन में भावपाहुड़ आदि की गाथाओं का घनिष्ठता से अनुसरण किया है। बारस अणुवेक्खा

में बारह भावनाओं का विवेचन है। कर्मों के आस्रव को रोकने के लिए ये आवश्यक है। नियमसार में १८७ गाथायें हैं इसकी रचना का लेखक का उद्‌देश्य त्रिरत्न पर मूलतः विचार करना है, जो कि नियम रूप मोक्ष का मार्ग निर्मित करते हैं।

पंचास्तिकाय में समय को पाँच अस्तिकायों के रूप में पारिभाषित किया गया है। पाँच अस्तिकायों में काल को मिलाकर छह द्रव्य हैं। समयसार की रचना का उद्देश्य नैश्चयिक दृष्टि से शुद्ध आत्मा का अनुभव कराना है। प्रत्येक मुमुक्षु को समस्त आसक्तियों से ऊपर उठकर पूर्ण शुद्ध आत्मा का अनुभव करना चाहिए। प्रवचनसार एक शैक्षणिक धर्मग्रन्थ तथा नवदीक्षित के लिए व्यावहारिक नियम पुस्तिका है। पूरी कृति प्रौढ़ मस्तिष्क की स्वामित्वपूर्ण पकड़ है। इसमें ज्ञान, द्रव्य, गुण, पर्याय, जीव पुद्‌गल, सर्वज्ञ तथा स्याद्वाद आदि विषयों का अच्छा विवेचन है।

उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त रयणसार, तिरुक्कुरल, मूलाचार आदि कृतियाँ भी आचार्य कुन्दकुन्द कृत मानी जाती हैं। कहा जाता है कि आ. कुन्दकुन्द ने षट्‌खण्डागम पर परिकर्म नामक टीका लिखी थी। आचार्य कुन्दकुन्द की सर्वाधिक प्रसिद्धकृति समयसार है। समयसार मे लेखक का उद्देश्य पाठकों पर यह प्रभाव डालना है कि कर्म से सम्बद्धता के अज्ञान के फलस्वरूप अनेक आत्माओं के आत्म साक्षात्कार में बाधा पड़ी हुई है। अतः प्रत्येक मुमुक्षु को समस्त आसक्तियों से ऊपर उठकर पूर्ण शुद्ध आत्मा का अनुभव करना चाहिए। अज्ञानी आत्मा की विभिन्न दूसरी वस्तुओं से एकता स्थापित करते हैं। उन्हें इस बात की परवाह नहीं है कि ये सारी वस्तुयें पुदगल के रूप हैं, जिनसे यथार्थ में आत्मा का स्वरूप अलग है। जीव में पुदगल के गुण नहीं हैं। इसका गुणस्थान और मार्गणास्थान से कोई प्रयोजन नहीं है। ये सब कर्मजन्य अवस्थायें हैं। संसारावस्था में ये जीव की व्यवहार से कही जाती है। यदि इन सारी पौद्‌गलिक अवस्थाओं का जीव के साथ एकत्व हो तो जीव और पुद्‌गल के मध्य कोई भेदक रेखा ही न हो। जीव के भेद ओर संयोग नामकर्म की निष्पत्तियाँ हैं। व्यक्ति को जीव और कर्मास्रव भेद का अनुभव होना चाहिए तथा उसे क्रोधादि अवस्थाओं को छोड़ देना चाहिए, क्योंकि इन अवस्थाओं के रहते हुए जीव कर्मों से बँधा है। जब अशुद्धता का खतरा जान लिया जाता है, तब आत्मा आस्रव के कारणों से अलग हो जाता है।

आचार्य वट्टकेर : आचार्य वट्टकेर कृत मूलाचार दिगम्बर परम्परा में

आचारांग के रूप में माना जाता है। आचार्य वीरसेन (८–९ वीं शती) ने षट्खण्डागम की धवला टीका (८१६ ई.) में मूलाचार को आचारांग के नाम से उल्लिखित करते हुए मूलाचार के पंचम अधिकार की गाथा संख्या २०२ इस प्रकार उद्‌धृत की है–

पंचत्थिकाय छज्जीवणिकाये कालदव्वमण्णे य ।
आणागेज्झे भावे आणाविचयेण विचिणादि ।।

आचार्य वसुनन्दि ने मूलाचार के मंगलाचरण की वृत्ति तथा आचार्य सकलकीर्ति ने अपने मूलाचार ग्रन्थ के प्रारम्भ में यह उल्लेख किया है कि आचारांग ग्रन्थ का उद्धार कर प्रस्तुत मूलाचार ग्रन्थ की रचना की गयी है।[४१]

कुछ लोग मूलाचार को आचार्य कुन्दकुन्द कृत मानते हैं; क्योंकि मूलाचार सद्‌वृत्ति नामक कर्नाटक टीका मेघचन्द्राचार्य तथा मुनिजनचिन्तामणि नामक एक कर्नाटक टीका में इसे आचार्य कुन्दकुन्द की रचना होने का उल्लेख किया गया है।[४२] मूडबिद्रीस्थित पं. लोकनाथशास्त्री सरस्वती भण्डार (जैनमठ) की मूलाचार की ताडपत्रीय प्रतिसंख्या ५६ के अन्त में आचार्य वसुनन्दी की टीका की समाप्ति में एक प्रशस्ति पद्य दिया गया है, जिसमें आचार्य कुन्दकुन्द रचित होने की सूचना है।[४३] पं. कैलाश चन्द्र शास्त्री ने लिखा है–इसमें सन्देह नहीं कि मूलाचार कुन्दकुन्द का ऋणी है, किन्तु कुन्दकुन्द रचित प्रतीत नहीं होता। कुन्दकुन्द रचित नियमसार, प्रवचनसार, समयसार आदि ग्रन्थों में जो रचना वैशिष्ट्य, निरूपण की प्रांजलता तथा अध्यात्म का पुट है, वह मूलाचार में नहीं। प्रवचनसार के अन्त में आगत मुनि धर्म के संक्षिप्त, किन्तु सारपूर्ण वर्णन से मूलाचार के किन्हीं वर्णनों मे उनके साथ एक रूपता भी नहीं है। मूलाचार के समयसाराधिकार में कुन्दकुन्द के समयसार ग्रन्थ की छाया भी नहीं है।[४४]

मूलाचार की कुछ गाथायें आवश्यकनिर्युक्ति, पिण्डनिर्युक्ति, जीवसमास तथा आतुरप्रत्याख्यान में मिलती हैं। कुछ गाथाओं का आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों की गाथाओं से भी साम्य है। इस आधार पर कुछ विद्वान् मूलाचार को संग्रह ग्रन्थ मानते हैं। यथार्थ में ये गाथायें उस काल की हैं, जब दिगम्बर और श्वेताम्बर भेद का उदय नहीं हुआ था। अतः कुछ गाथायें बाद में दोनों सम्प्रदायों की सम्पत्ति बन गयीं। इस प्रकार यह एक संग्रह ग्रन्थ नहीं कहा जा सकता।

वट्टकेर आचार्य का मूल नाम न होकर उनके ग्राम का नाम हो सकता है। दक्षिण में बेट्टकेरिया या बेट्टगेरि नाम वाले कुछ ग्राम अब भी है। इसमें सन्देह नहीं कि मूलाचार बहुत पुराना है। आचार्य यतिवृषभ ने तिलोयपणत्ती

में मूलाचार का उल्लेख किया है।[४५] मूलाचार अपनी विषय वस्तु और भाषा आदि की दृष्टि से तृतीय शती के आस पास का सिद्ध होता है।[४६] इसके बारह अधिकार इस प्रकार हैं– मूलगुण, बृहत्प्रत्याख्यान संस्तरस्तव, संक्षेप प्रत्याख्यान, समाचार, पंचाचार, पिण्डशुद्धि, षडावश्यक, द्वादशानुप्रेक्षा, अनगार भावना, समयसार, शीलगुण और पर्याप्ति।

शिवार्य : भगवती आराधना के रचयिता शिवार्य ने जो अपना परिचय दिया है, उससे इतना ही ज्ञात होता है कि आर्य जिननन्दि गणि, सर्वगुप्त गणि और आचार्य मित्रनन्दि के पादमूल में सम्यक, रूप से श्रुत और अर्थ को जानकार हस्तपुट में आहार करने वाले शिवार्य ने पूर्वाचार्य कृत रचना को आधार बनाकर यह आराधना रची। गाथा २१६० में वह 'ससत्तीए' अपनी शक्ति से पूर्वाचार्य निबद्ध रचना को उपजीवित करने की बात कहते हैं। उपजीवित का अर्थ पुनः जीवित करना होता है, अतः ऐसा भी अभिप्राय हो सकता है। कि पूर्वाचार्य निबद्ध जो आराधना लुप्त थी, उसे उन्होंने अपनी शक्ति से जीवित किया है।[४७]

जैन परम्परा की किसी पट्टावली आदि में न तो शिवार्य नाम ही मिलता है और न उनके गुरुजनों का नाम मिलता है। भगवज्जिनसेनाचार्य ने अपने महापुराण के प्रारम्भ में एक शिवकोटि नामक आचार्य का स्मरण किया है–

'शीती भूतं जगद्यस्य वाचा ऽऽ राध्य चतुष्टयम्।
मोक्षमार्गं स पायान्नः शिवकोटिमुनीश्वरः ।।

अर्थात जिनकी वाणी द्वारा चतुष्टयरूप (दर्शन, ज्ञान, चरित्र और तप रूप) मोक्षमार्ग आराधना करके जगत् शीतीभूत हो रहा है, वे शिवकोटि मुनीश्वर हमारी रक्षा करें।

इस पद्य में जो आराध्य चतुष्टय' तथा शीती भूत पद है, ये दोनों पद शिवआर्य रचित भगवती आराधना की ही सूचना करते प्रतीत होते हैं; क्योंकि उसी में चार आराधनाओं का कथन है।[४८]

भगवती आराधना विक्रम की प्रारम्भिक शताब्दी के आसपास की रचना होना चाहिए। अतः उसे कुन्दकुन्द की रचनाओं के समकालीन माना जा सकता है।

भगवती आराधना में आराधना का वर्णन है। दर्शन, ज्ञान, चरित्र और तप ये चार आराधनायें है। इनके प्रति आदरभाव व्यक्त करने के लिए भगवती विशेषण लगाया है। दर्शन, ज्ञान, चरित्र और तप का वर्णन जिनागम मे अन्यत्र भी है, किन्तु वहाँ उन्हें आराधना शब्द से नहीं कहा है। इस ग्रन्थ में मुख्य

रूप से मरणसमाधि का कथन है मरते समय की आराधना ही यथार्थ आराधना है, उसी के लिए जीवन भर आराधना की जाती है। उस समय विराधना करने पर जीवन भर की आराधना निष्फल हो जाती है। अतः जो मरतेसमय आराधक होता है, यथार्थ मे उसी के सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चरित्र और सम्यक् तप की साधना को आराधना शब्द से कहा जाता है।

कुमार या स्वामी कुमार अथवा कार्तिकेय

ऐसा माना जाता है कि स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाके कर्ता कार्तिकेय या स्वामी कार्तिकेय हैं। ग्रन्थ के अन्त में जो प्रशस्ति दी गयी हैं, वे निम्न प्रकार हैं–

जिणवयण भावणट्ठं सामिकुमारेण परमसद्धाए।
रइया अणुवेहाओ चंचलमणरुंभणट्ठंच ।।
वारस अणुवेक्खाओ भणिया हु जिणागमाणुसारेण।
जो पढइ सुणइ भावइ सो पावइ सासयं सोक्खं।।
तिहुयण पहाणसाभि, कुमार कालेण तवियतवयरणं।
वसुपुज्जसुयं मल्लिं चरमतियं संथुवे णिच्चं।।

यह अनुप्रेक्षा नामक ग्रन्थ स्वामी कुमार ने श्रद्धापूर्वक जिनवचन की प्रभावना तथ चंचल मन रोकने के लिए बनाया।

ये बारह अनुप्रेक्षाये जिनागम के अनुसार कही गयी हैं। जो भव्य जीव इनको पढ़ता, सुनता और भावना करता है, वह शाश्वत सुख प्राप्त करता है। यह भावनारूप कर्त्तव्य अर्थ का उपदेशक है। अतः भव्य जीवों को इन्हें पढना सुनना ओर चिन्तन करना चाहिए।

कुमार काल में दीक्षा ग्रहण करने वाले वासुपूज्य जिन, मल्लिजिन, नेमिनाथजिन, पार्श्वनाथजिन एवं वर्द्धमान इन पाँचों बाल यतियों का मैं सदैव स्तवन करता हूँ।

उक्त प्रशस्ति से स्पष्ट है कि ग्रन्थ के लेखक स्वामिकुमार हैं तथा ग्रन्थ का नाम वारसअणुवेक्खा है। भट्टारक शुभचन्द्र ने इस पर संवत १६१३ (ई. सन् १५५६) में संस्कृत टीका लिखी है। इस टीका में अनेक स्थानों पर ग्रन्थ का नाम कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा दिया है और ग्रन्थकार का नाम कार्तिकेय मुनि प्रकट दिया है। सम्भवतः कार्त्तिकेय शब्द कुमार या स्वामी कुमार के पर्यायवाची के रूप मे दिया है।

वारस अणुवेक्खा में कुल ४६६ गाथायें हैं। इनमें बारह अनुप्रेक्षाओं का

विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है। आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार ने वारस अणुवेक्खा केसमय के विषय में लिखा है -- "मेरी समझ में यह ग्रन्थ उमास्वामि के तत्त्वार्थ सूत्र से अधिक बाद में नहीं, उसके निकटवर्ती किसी समय का होना चाहिए। इस प्रकार स्वामि कुमार का समय विक्रम की दूसरी तीसरी शती होना चाहिए।

गृद्धपिच्छाचार्य

आचार्य वीरसेन (जिन्होंने शक सं. ७३८ में धवला टीका समाप्त की थी) ने धवला टीका में तत्त्वार्थ सूत्र के कर्ता के रूप में गृद्धपिच्छ आचार्य का उल्लेख किया है--

'तहगिद्ध पिंछाइरियप्पयासिद तच्चन्य सुत्ते निवर्तना परिणामक्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य इदि दव्वकालो परूविदो।'

आचार्य विद्यानन्द ने श्लोक वार्तिक मे आचार्य गृद्धपिच्छ नाम की सार्थकता और कुन्दकुन्द के वंश में उनकी उत्पत्ति बतलाते हुए उनका उमास्वाति नाम भी दिया।

यथा--

अभूदुमास्वामि मुनिः पवित्रे वंशे तदीये सकलार्थ वेदी
सूत्रीकृतं येन जिनप्रणीतं शास्त्रार्थजातं मुनिपुंगवेन।।
स प्राणिसंरक्षण सावधानो बभार योगी किल गृद्धपक्षान्।
तदा प्रभृत्येव बुधा यमाहुराचार्य शब्दोत्तर गृद्धपिच्छम्।।

आचार्य कुन्दकुन्द के पवित्र वंश मे सकलार्थ के ज्ञाता उमास्वाति मुनिश्वर हुए, जिन्होंने जिनप्रणीत द्वादशांग वाणी को सूत्रों मे निबद्ध किया। इन आचार्य ने प्राणिरक्षा हेतु गृद्धपिच्छों को धारण किया। तब से लेकर विद्वान् इन्हें गृद्धपिच्छाचार्य कहने लगे।

इस प्रकार दिगम्बर साहित्य तत्त्वार्थसूत्र के रचयिता को गृद्धपिच्छाचार्य अपरनाम उमास्वामि या उमास्वाति मानता है। ये आचार्य कुन्दकुन्द के शिष्य थे कुछ पाठ भेद के साथ श्वेताम्बर परम्परा भी उमास्वाति कृत तत्त्वार्थसूत्र को मानती है। इसमें तत्त्वार्थ सूत्र के अर्थगाम्भीर्य को देखते इस पर अनेक टीकायें लिखी गयीं जिनमें पूज्यपाद कृत सवार्थसिद्धि वाचक उमास्वातिकृत तत्त्वार्थाधिगम भाष्य, श्रीमद्भट्ट अकलंकदेव कृत तत्त्वार्थवार्तिक, विद्यानन्द आचार्य कृत तत्त्वार्थ वृति, गृहस्थाचार्य लक्ष्मी देव कृत तत्त्वार्थ टीका, गृहस्थाचार्य योगदेव कृत तत्त्वार्थ टीका तथा अभयनन्दसूरि कृत टीका विशेष प्रसिद्ध हैं। इन टीकाओं से ही इस ग्रन्थ की महत्ता का पता चलता है। प्रोफेसर

ए. चक्रवर्ती ने आचार्य कुन्दकुन्द का समय अनेक प्रमाणों के आधार पर ईसा की प्रथम शताब्दी निर्णीत किया है। अतः उमास्वामी का समय प्रथम शताब्दी का अन्त या द्वितीय शताब्दी का प्रारम्भ निश्चित होता है।

आचार्य समन्तभद्र : स्वामी समन्तभद्र (विक्रम की दूसरी तीसरी शताब्दी) का जन्म क्षत्रिय कुल में हुआ था। उनके पिता फणिमण्डलान्तर्गत उरगपुर के राजा थे। उरगपुर पाण्ड्य देश की राजधानी जान पड़ता है। श्री गोपालन ने इसकी पहिचान उरैप्यूर से की है। श्रवणबेल गोल के विन्ध्यगिरि पर मल्लिषेण रचित एक शिलालेख में कहा गया है–

कांच्यां नग्नाटकोऽहं मलमलिनतनु र्लाम्बुशे पाण्डु पिण्डः।
पुण्ड्रोण्ड्रे शाक्यभिक्षुः दशपुरनगरे मिष्टभोजी परिव्राट् ।
वाराणस्यामभूवं शशधरधवलः पाण्डु रागस्तपस्वी।
राजन् यस्या ऽस्ति शक्ति : स वदतु पुरतो जैननिर्ग्रन्थवादी।।

मैं काञ्ची नगरी में दिगम्बर साधु था। उस समय मेरा शरीर मलिन था। लम्बुशनगर में मैने अपने शरीर में भस्म लगायी थी, उस समय मैं पाण्डुरंग था। मैने पुण्ड्र नगर में बौद्धभिक्षु का रूप धारण किया था। दशपुर नगर में मिष्ठान्न भोजी परिव्राजक बनां वाराणसी में आकर मैंने चन्द्र समान धवल कान्तियुक्त शैव तपस्वी का वेष धारण किया। हे राजन्! मैं जैन निर्ग्रन्थ मुनि हूँ। जिसकी शक्ति हो, वह मेरे समक्ष आकर शास्त्रार्थ करे।

इस पद्य से ज्ञात होता है कि परिस्थितिवश आचार्य समन्तभद्र को भिन्न भिन्न परम्पराओं के अनुसार साधु पद ग्रहण करना पड़ा, किन्तु उनकी यथार्थ श्रद्धा जैन धर्म के प्रति थी। यही कारण है कि उन्होंने गर्व के साथ अपने को कांची का नग्नाटक (नग्न भ्रमण करने वाला) और जैननिर्ग्रन्थवादी कहा है।

आचार्य समन्तभद्र का सम्पूर्ण भारतवर्ष में परिभ्रमण हुआ था। एक पद्य[४६] में उनके द्वारा कहलाया गया है कि पहले मैंने पाटलीपुत्र (आधुनिक पटना) नगर में (वाद के हेतु) भेरी बजायी, पश्चात् मालवा, सिन्धु, ठक्क (पंजाब), कांचीपुर (कांजीवरम्) और वैदिश में भेरी ताडन की। इसके पश्चात मैं विद्वानों तथा शूरवीरों से समलङ्कृत करहाटक देश में गया। हे नरपति। मैं शास्त्रार्थ का इच्छुक हूँ। मैं सिंह के समान निर्भय होकर विचरण करता हूँ।

विक्रम संवत ८४० में समाप्ति को प्राप्त पुन्नाट संघीय आचार्य जिनसेन ने आचार्य समन्तभद्र के विषय में लिखा है–

जीवसिद्धि विधायीह कृत युक्त्यनुशासनम्।
वचः समन्तभद्रस्य वीरस्येव विजृम्भते।।

अर्थात् जिन्होंने जीवसिद्धि की रचनाकर युक्त्यनुशासन बनाया। उन समन्तभद्र के वचन जितेन्द्र भगवान् कें वचनों के समान वृद्धि को प्राप्त हैं। यहाँ समन्तभद्राचार्य के वचनों को भगवान् महावीर के वचनों के समान बताया है, उससे महत्ता सुस्पष्ट होती है।

भगवज्जिनसेनचार्य ने उन्हें कवि ब्रह्मा कहकर नमस्कार किया है—

नमः समन्तभद्राय महते कविवेधसे ।
यद्वचो वज्रपातेन निर्भिन्नः कुमताद्रयः।। आदिपुराण १/४३

कवियों के ब्रह्मस्वरूप समन्तभद्र को नमस्कार हो, जिनकी वाणी रूपी वज्रपात द्वारा कुमत रूपी पर्वत विभिन्न हो जाते हैं।

कवीनां गमकानां च वादिनां वग्मिनामपि।
यशः समन्तभद्रीयं मूर्ध्नि चूडामणीयते।। आदिपुराण १/४४

समन्तभद्र का यश कवियों, गमकों, वादियों तथा वाग्मियों के मस्तक पर चूडामणि के सदृश शोभा को प्राप्त होता है।

जैन परम्परा में तर्क युग या न्याय की विचारणा की नीव डालने वाले ये समर्थ आचार्य हुए , जिनकी उक्तियों को विकसित कर भट्ट अकलंकदेव और विद्यानन्द जैसे आचार्यों ने जैन न्याय की परम्परा का पोषण और सवर्द्धन किया। उनके व्यक्तित्व को उजागर करने वाला यह आत्मपरिचयात्मक पद्य किंचित् भी अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं लगता, जिसमें वे कहते हैं—

आचार्यो ऽहं भिषगहमहं वादिराट् पण्डितो ऽहं
दैवज्ञोऽहं भिषगहमहं मान्त्रिकस्तान्त्रिको ऽहं।
राजन्नस्यां जलधिवलयामेखलायामिलायां
आज्ञासिद्धः किमिति बहुना सिद्ध सारस्वतो ऽहं।।

हे राजन् ! इस समुद्रवलय रूप पृथ्वी पर मैं आचार्य, कवि, वादिराट्, पण्डित, दैवज्ञ, भिषक्, मान्त्रिक, तान्त्रिक, आज्ञासिद्ध और सिद्ध सारस्वत हूँ। मैं आज्ञासिद्ध हूँ— जो आदेश देता हूँ, वही होता है मुझे सरस्वती सिद्ध है।

आचार्य समन्तभद्र द्वारा प्रणीत रचनायें निम्नलिखित मानी जाती हैं—

१. बृहत् स्वयम्भू स्तोत्र, २. स्तुतिविद्या जिनशतक, ३. देवागम स्तोत्र आप्तमीमांसा, ४. युक्त्यनुशासन, ५. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, ६. जीवसिद्धि, ७. प्रमाण पदार्थ, ८. तत्त्वानुशासन, ६. प्राकृत व्याकरण, १०. कर्मप्राभृत टीका,

११. गन्धहस्ति महाभाष्य।

सिद्धसेन : विद्वानों ने अनेक प्रमाणों के आधार पर सन्मतिसूत्र के कर्त्ता सिद्धसेन के समय निर्धारण का प्रयत्न किया है, तदनुसार उनका समय पूज्यपाद (विक्रम की छठी शती) और अकलंक (विक्रम की ७ वीं शती) का मध्यकाल अर्थात् विक्रम संवत् ६२५ के आसपास माना जाता है। सिद्धसेन नामके एक से अधिक आचार्य हुए हैं। सन्मतिसूत्र और कल्याण मन्दिर जैसे ग्रन्थों के रचयिता सिद्धसेन दिगम्बर सम्प्रदाय में हुए हैं। इनके साथ दिवाकर विशेषण नहीं है। दिवाकर विशेषण श्वेताम्बर सम्प्रदाय में हुए सिद्धसेन के साथ पाया जाता है, जिनकी कुछ द्वात्रिंशिकायें, न्यायावतार आदि रचनायें हैं। इनका समय सन्मतिसूत्र के कर्ता सिद्धसेन से भिन्न है। प्रो. सुखलाल संघवी ने दोनों को एक मानकर उनका काल विक्रम की पांचवी शताब्दी माना है।

जैन साहित्य के क्षेत्र में दिग्नाग जैसे प्रतिभा सम्पन्न विद्वान की आवश्यकता ने ही प्रतिभामूर्ति सिद्धसेन को उत्पन्न किया है। आचार्य सिद्धसेन का समय विभिन्न दार्शनिकों के वाद विवाद का समय था। उनकी दृष्टि में अनेकान्तवाद की स्थापना का यह श्रेष्ठ अवसर था। अतः उन्होंने सन्मति तर्क की रचना की। उनकी विशेषता यह है कि उन्होंने तत्कालीन नानावादों को सन्मति तर्क में विभिन्न नयवादों में समाविष्ट कर दिया। अद्वैतवादों को उन्होंने द्रव्यार्थिक नय के संग्रहनय रूप प्रभेद में समाविष्ट किया। क्षणिकवादी बौद्धों की दृष्टि को सिद्धसेन ने पर्यायनयान्तर्गत ऋजुसूत्रनयानुसारी बताया। सांख्य दृष्टि का समावेश द्रव्यार्थिक नय में किया और काणाद दर्शन को उभयनयाश्रित सिद्ध किया।[५०] उनका तो यहाँ तक कहना है कि संसार में जितने वचन प्रकार हो सकते है, जितने दर्शन एवं नाना मतवाद हो सकते हैं, उतने ही नयवाद हैं। उन सबका समागम ही अनेकान्तवाद है।[५१] सांख्य की दृष्टि संग्रहनयावलम्बी है, अभेदगामी है। अतएव वह वस्तु को नित्य कहे, यह स्वाभाविक है, उसकी वही मर्यादा है और बौद्ध पर्यायानुगामी या भेद दृष्टि होने से वस्तु को क्षणिक या अनित्य कहे, यह भी स्वाभाविक है, उसकी वही मर्यादा है किन्तु वस्तु का सम्पूर्ण दर्शन न तो केवल द्रव्यदृष्टि में पर्यवसित है और न पर्याय दृष्टि में, अतएव सांख्य या बौद्ध को परस्पर मिथ्यावादी कहने का स्वातन्त्रय नहीं है।[५२]

श्रीदत्त : तपस्वी और प्रवादियों के विजेता के रूप में श्रीदत्त का उल्लेख आदिपुराण में किया गया है।[५३] ये वादी और दार्शनिक विद्वान् थे। आचार्य

विद्यानन्द ने इनको ६३ वादियों को पराजित करने वाला लिखा है। विक्रम की ६ वीं शती के विद्वान् देवनन्दी ने जैनेन्द्र व्याकरण में 'गुणे श्रीदत्तस्य स्त्रियाम् (१/४/३४) सूत्र में श्रीदत्त का उल्लेख किय है। इनका समय वि. स. की ३–४ शती होगा। इनके 'जलपनिर्णय' नामके एक ग्रन्थ का उल्लेख मिलता है।[५४]

यशोभद्र : प्रखर तार्किक के रूप में जिनसेन ने इनका स्मरण किया है।[५५] इनके सभा में पहुँचते ही वादियों का गर्व खर्व हो जाता था। जैनेन्‍ व्याकरण में 'क्ववृषिमृजां यशोभद्रस्य (२/१/६६) सूत्र आया है। अतः जिनसेन द्वारा उल्लिखित यशोभद्र और देवनन्दी के जैनेद्रव्याकरण में निर्दिष्ट यशोभद्र एक ही हैं तो इनका समय विक्रम संवत् की छठी शती के पूर्व होना चाहिए।[५६]

आचार्य पूज्यपाद

भारतीय परम्परा में जो अपने समय के विख्यात दार्शनिक, श्रेष्ठ वैयाकरण, लब्धप्रतिष्ठ तत्त्वद्रष्टा शास्त्रकार हुए हैं, उनमें सारस्वताचार्य श्री पूज्यपाद स्वामी अपरनाम देवनन्दि, जिनेन्द्रबुद्धि, यशःकीर्ति का नाम प्रमुख रूप से लिया जाता है। इन्हें विद्वत्ता और प्रतिभा दोनों का समान रूप से वरदान प्राप्त था। अपने अतलस्पर्श ज्ञानगाम्भीर्य की अपूर्वता से वह बहुश्रुत की परिधि को पारकर सर्वश्रुत हो गए थे। वे सच्चे अर्थों में स्व-पर हित पुण्यात्मा साधु थे और भव्यात्माओं केलिए तारणतरण जहाज थे। जैन परम्परा में आचार्य समन्तभद्र और सिद्धसेन की कोटि के सर्वश्रेष्ठ विद्वान् थे। इन्होंने अपने पीछे जो साहित्य छोड़ा है, उसका प्रभाव दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं में समान रूप से दिखायी देता है। यही कारण है कि उत्तरवर्ती प्रायः अधिकतर साहित्यकारों व इतिहासमर्मज्ञों ने इनकी महत्ता, विद्वत्ता और बहुज्ञता स्वीकार करते हुए इनके चरणों में श्रद्धा के सुमन अर्पित किए हैं। आदिपुराण के कर्त्ता आचार्य जिनसेन इन्हें कवियों में तीर्थंकर मानते हुए इनकी स्तुति मे कहते हैं–

कवीनां तीर्थकृद्देवः किंतरां तत्र वर्ण्यते।
विदुषां वाङ्. मलध्वंसि तीर्थं यस्य वचोमयम् १/५२

शिलालेखो तथा दूसरे प्रमाणों से विदित होता है कि इनका गुरू के द्वारा दिया हुआ दीक्षानाम देवनन्दि था। बुद्धि की प्रखरता के कारण इन्हें जितेन्द्र बुद्धि कहते थें और देवों के द्वारा इनके चरण युगल पूजे गए थे, इसलिये वे पूज्यपाद नाम से भी लोक में प्रख्यात थे। इस अर्थ को व्यक्त करने वाले उद्धरण ये हैं–

प्रागल्भ्यधारी गुरुणा किल देवनन्दी बुद्धया पुनर्विपुलया स जिनेन्द्र बुद्धिः।

श्री पूज्यपाद इति चैष बुधैः प्रचख्ये सत्पूजितः पदयुगे वनदेवताभिः।[५७]

इन शिलालेखों के अतिरिक्त अन्यत्र[५८] भी पूज्यपाद का अन्य नामों से पुण्यस्मरण किया गया है–

यशः कीर्ति यशोनन्दी देवनन्दि महामतिः। श्री पूज्यपादापराख्योयः स गुणनन्दि गुणाकरः।।

श्री वादिराज कवि ने श्री पूज्यपाद देव का स्मरण करते हुए लिखा है–

अचिन्त्यमहिमा देवः सो अभिवन्द्यो हितैषिणा।।
शब्दाश्च येन सिध्यन्ते साधुत्वं प्रतिलम्भितः।।[५९]

इस प्रकार विदित होता है कि इनका नाम देव भी था। यह देवनन्दि संक्षिप्त रूप ज्ञात होता है।

कवि, वैयाकरण एवं दार्शनिक इन तीनों व्यक्तित्वों का आचार्य पूज्यपाद देवनन्दि में अद्भुत समवाय था। कर्नाटक देश के कोले नामक ग्राम के माधवभट्टनामक ब्राह्मण और धीदेवी ब्राह्मणी से पूज्यपाद का जन्म हुआ। ज्योतिषियों ने बालक को त्रिलोकपूज्य बतलाया। इस कारण उनका नाम पूज्यपाद रखा गया। पूज्यपाद के पिता ने अपनी पत्नि के आग्रह से जैन धर्म स्वीकार किया था। उन्होने बचपन मे ही एक बगीचे में एक साँप के मुँह में फँसे हुए मेढ़क को तडपता देख वैराग्य से ओत प्रोत होकर मुनिदीक्षा ले ली थी। उन्होंने अपने जीवन काल मे गगनगामी लेप के प्रभाव से कई बार विदेह क्षेत्र की यात्रा की थी। विदेह क्षेत्र में जाकर भगवान सीमंधर की दिव्यध्वनि सुनकर उन्होंने अपना मानव जीवन पवित्र किया था। उनको तप के प्रभाव से औषधि व चारण ऋद्धि प्राप्त थी। श्रवणबेल गोल के एक शिलालेख के आधार से यह भी कहा जा सकता है कि जिस जल से उनके चरण धोए जाते थे, उसके स्पर्श से लोहा भी सोना बन जाता था। उनके चरणस्पर्श से पवित्र हुई धूलि में पत्थर को सोना बनाने की क्षमता थी। पूज्यपाद मुनि बहुत समय तक योगाभ्यास करते रहे। फिर एक देवविमान में बैठकर उन्होंने अनेक तीर्थों की यात्रा की। मार्ग में एक जगह उनकी दृष्टि तिमिराच्छन्न हो गयी थी, जिसे उन्होंने शान्त्यष्टक का निर्माण कर दूर कर दिया।

'शान्तिः शान्ति जिनेन्द्र शान्तमनसा त्वत्पादपद्माश्रयात्।
सम्प्राप्ताः पृथिवीतलेषु बहवः शान्त्यर्थित : प्राणिनः।।
कासायान्मम शाक्तिकस्य च विभो दृष्टिं प्रसन्नांकुरु।
त्वत्पादद्वयदैवतस्य गदतः शान्त्यष्टकं भक्तितः।।

इस प्रकार स्तवन करते ही उनकी दृष्टि निर्मल हो गयी, किन्तु इस घटना का उनके ऊपर ऐसा प्रभाव पड़ा, जिससे उन्होंने तीर्थयात्रा से लौटकर अपने ग्राम में आकर समाधिमरण किया।

पूज्यपाद आचार्य का समय विक्रम ५ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से लेकर छठी शताब्दी के पूर्वार्द्ध के मध्य का माना जाता है। उनके द्वारा निर्मित रचनायें निम्नलिखित हैं–

१. सर्वार्थसिद्धि २. जैनेन्द्र व्याकरण ३. इष्टोपदेश ४. समाधि तन्त्र ५. दशभक्ति ६. शान्त्यष्टक ७. सारसंग्रह ८. चिकित्सा शास्त्र ९. जैनाभिषेध १०. सिद्धिप्रिय स्तोत्र ११. जैनेन्द्र न्यास तथा १२. शब्दावतार न्यास

पात्रकेसरी : स्वामी पात्रकेसरी के समय की सीमा विक्रम की नवम् शताब्दी से पूर्व निश्चित रूप से सिद्ध होती है; क्योंकि महापुराण के प्रारम्भ मे जिनसेनाचार्य ने उनका उल्लेख किया है। दिङ्.नाग के त्रैरूप्य हेतु के लक्षण का खण्न करने के लिए उन्होने त्रिलक्षण कदर्थन नामक ग्रन्थ लिखा, अतः पात्रकेसरी दिङ्.नाग (ईसा की पाँचवी शताब्दी) के पश्चात् होने चाहिए। त्रिलक्षण कदर्थन विषयक उनका श्लोक निम्नलिखित है–

अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।।

बौद्ध दार्शनिक शान्तरक्षित ने 'तत्वसंग्रह' के अनुमान परीक्षा नामक प्रकरण में पात्रकेसरी के "त्रिलक्षण कदर्थन" नामक ग्रन्थ से कारिकायें उद्धृत कर उनकी आलोचना की है। अकलंकदेव भी शान्तरक्षित के पूर्व समाकालीन थे, अतः उन्होंने भी उस ग्रन्थ को देखा होगा। न्याय शास्त्र के मुख्य अंग हेतु आदि के लक्षण का उत्पादन अवश्य ही पात्रकेसरी की देन है।[६१]

सुमति : बौद्ध दार्शनिक शान्तरक्षित ने अपने ग्रन्थ तत्वसंग्रह के अन्तर्गत स्याद्वाद परीक्षा (कारिका १२६२ आदि) और बहिरर्थ परीक्षा (कारिका १६४०) आदि में सुमति नामक दिगम्बराचार्य के मत की आलोचना की है। सुमति ने सिद्धसेन के सन्मतितर्क पर विवृति लिखी थी। ऐसा स्पष्ट उल्लेख मिलता है। यह उल्लेख वादिराज सूरि के पार्श्वनाथचरित के प्रारम्भ में है और श्रवण बेलगोल की मल्लिषेण प्रशस्ति में उन्हें सुमतिसप्तक का रचयिता कहा है। सुमति का दूसरा नाम सन्मति भी था।[६२]

जोइन्दु : जोइंदु कवि के जीवन के सम्बन्ध में किसी भी साधन से कोई प्रामाणिक सूचना प्राप्त नहीं होती है। परमात्मप्रकाश में बताया गया है कि

यह ग्रन्थ भट्टप्रभाकर के निमित्त से लिखा जा रहा है। ग्रन्थकार ने लिखा है–

इत्थु ण लेवउ पंडियहिं गुण दोसु वि पुणरुत्तु।
भट्ट पभायर कारणइँ मइँ पुणुवि पउत्तु।।[६३]

अर्थात हे भव्यजीवों ! इस ग्रन्थ में पुनरुक्त नामका दोष पण्डितजन ग्रहण नही करेंगे और न काव्यकला की दृष्टि से ही इसका परीक्षण करेंगे। यतः मैने प्रभाकर भट्ट को सम्बोधित करने के लिए परमात्मतत्व का कथन किया है। इस कथन से यह निष्कर्ष निकलता है कि भट्ट प्रभाकर कोई मुमुक्षु था, जिसके लिए इस ग्रन्थ का प्रतिपादन किया गया है। यह ग्रन्थ मुख्य रूप से मुनियों को लक्ष्य कर लिखा गया है और इसके लेखक भी अध्यात्मरसिक मुनि ही हैं।[६४]

अन्तिम मंगल के लिए आशीर्वाद रूप में नमस्कार करते हुए लिखा है कि इस लेख में विषयी जीव जिसे नहीं पा सकते, ऐसा यह परमात्मतत्त्व जयवन्त हो। विषयातीत वीतरागी मुनि ही इस आत्मतत्त्व को प्राप्त कर सकते हैं। जो मुनि भावपूर्वक इस परमात्मप्रकाश का चिन्तन करते हैं। वे समस्त मोह को जीतकर परमार्थ के ज्ञाता होते हैं। अन्य जो भी भव्यजीव इस परमात्मप्रकाश को जानते हैं, वे भी लोक और अलोक का प्रकाश करने वाले ज्ञान को प्राप्त कर लेते हैं।[६५]

जोइंदु का समय छठी शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जाता है। उनकी रचनायें निम्नलिखित हैं— १. परमात्मप्रकाश (अपभ्रंश) २. नौकार श्रावकाचार (अपभ्रंश) ३. योगसार (अपभ्रंश) ४. अध्यात्म सन्दोह (संस्कृत) ५. सुभाषित तंत्र (संस्कृत) और ६. तत्त्वार्थटीका (संस्कृत)।

परमात्मप्रकाश साक्षात् मोक्षमार्ग का प्रतिपादक है। जिस तरह आचार्य कुन्दकुन्द की नाटकत्रयी है, उसी प्रकार यह भी अध्यात्मविषय की परमसीमा है, क्योंकि ग्रन्थकर्त्ता ने स्वयं इस ग्रन्थ के पढ़ने का फल लिखा है कि इसका सतत अभ्यास करने वालों का मोहकर्म दूर होकर केवल ज्ञान पूर्वक मोक्ष अवश्य ही हो सकता है।

विमलसूरि : पउमचरिय और हरिवंस चरिय के लेखक के रूप में ख्यात आचार्य विमलसूरि यापनीय परम्परा के प्रसिद्ध आचार्य थे। पउमचरिय के उल्लेखानुसार पउमचरिय की रचना प्रथम शताब्दी ई. में हुई थी। डॉ० हर्मन जैकोबी पउमचरिय को तृतीय शताब्दी ईसवी से पहले का नहीं मानते।

विमलसूरि विजय के शिष्य थे। विजय नाइल कुलवंश के गौरव थे। वे

राहु के शिष्य थे। पुष्पिका से सूचित होता है कि पूर्वों में वर्णित नारायण और बलदेव के चरित को सुनने के बाद विमलसूरि ने राघवचरित लिखा। पुष्पिका में विमलाचरिय को राहु का प्रशिष्य लिखा है। राहु नाइल वंश के यथार्थ सूर्य थे। वे महान् आत्मा और पूर्वधर थे। पूर्वधरों की परम्परागत सूची में विमलसूरि का नाम नहीं है। श्वेताम्बर परम्परा कहती है कि महावीर निर्वाण के बाद एक हजार वर्ष तक पूर्वधर होते रहे। विमलसूरि के कुछ विश्वास दिगम्बर परम्परा सम्मत हैं तो कुछ श्वेताम्बर सम्मत। इस आधार पर विद्वानों ने उन्हें यापनीय परम्परा का आचार्य माना है। बेलगाँव के दोडवस्ती अभिलेख से यह ज्ञात होता है कि यापनीयों द्वारा प्रतिष्ठित प्रतिमा दिगम्बरों द्वारा पूजी जाती थी। अतः यह माना जा सकता है कि यापनीय संघ के आचार्य दिगम्बरों में प्रतिष्ठित थे। विमलसूरि का हरिवंसचरिय वर्तमान में उपलब्ध नहीं है। पउमचरिय महाकाव्य में जैन दृष्टि से रामकथा वर्णित है।

रविषेण : अठारह हजार अनुष्टुप श्लोक प्रमाण पद्मचरित के कर्त्ता आचार्य रविषेण ने किसी संघ, गण, गच्छ का उल्लेख नहीं किया है और न स्थानादि की चर्चा की है। अपनी गुरूपरम्परा के विषय में इन्होंने स्वयं लिखा है कि इन्द्रगुरु के शिष्य दिवाकर यति थे, उनके शिष्य अर्हद् यति थे, उनके शिष्य लक्ष्मणसेन मुनि थे और उनका शिष्य मैं रविषेण हूँ।[66] पं. नाथूराम प्रेमी ने रविषेण के सेनान्त नाम से अनुमान लगाया है कि ये शायद सेन संघ के हों और इनकी गुरुपरम्परा के पूरे नाम इन्द्रसेन, दिवाकरसेन, अर्हत्सेन और लक्ष्मणसेन हों।[67] इनके निवास स्थान, माता-पिता आदि के विषय में कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती है।

पद्मचरित की रचना के विषय में रविषेण ने लिखा है— जिनसूर्य श्री वर्द्धमान जिनेन्द्र के द्वारा कहा हुआ यह अर्थ इन्द्रभूति नामक गणधर को प्राप्त हुआ, अनन्तर धरणी पुत्र सुधर्मा को प्राप्त हुआ, अनन्तर प्रभव को प्राप्त हुआ, प्रभव के अनन्तर कीर्तिधर आचार्य को प्राप्त हुआ। कीर्तिध-र आचार्य के अनन्तर अनुत्तरवाग्मी आचार्य को प्राप्त हुआ तथा अनुत्तरवाग्मी आचार्य का लिखा हुआ प्राप्त कर यह रविषेण का प्रयत्न प्रकट हुआ है।[68] ग्रन्थ के अन्तिम पर्व में इसी प्रकार का उल्लेख मिलता है।[69] तदनुसार समस्त संसार के द्वारा नमस्कृत श्री वर्द्धमान जिनेन्द्र ने पद्ममुनि का जो चरित कहा था, वही इन्द्रभूति (गौतमगणधर) ने सुधर्मा और जम्बूस्वामी के लिए कहा। वही जम्बूस्वामी के प्रशिष्य उत्तरवाग्मी आचार्य के द्वारा प्रकट हुआ। ये

उत्तरवाग्मी कौन थे? इसके विषय में अभी तक कोई जानकारी प्राप्त नहीं हुई। इनके द्वारा लिखित रामकथा भी आज उपलब्ध नहीं है। रविषेण दिगम्बर परम्परा के अनुयायी थे। इन्होंने पद्मचरित की रचना ७३४ विक्रम (६६७ ई.) में पूर्ण की। जैन परम्परा में इक्ष्वाकुवंशी अयोध्याधिपति दाशरथि रामचन्द्र का अपरनाम पद्म विशेष प्रसिद्ध रहा है। अत एवं पद्मचरित से आशय रामचरित, रामकथा या रामायण का होता है।[७०]

जटासिंह नंदी : जटाचार्य के नामसे भी इनका उल्लेख मिलता है। ये तपस्वी और कवि थे।[७१] इनका समाधिमरण कोप्पण में हुआ था। कोप्पण के समीप 'पल्लवकीगुण्डु' नाम की पहाड़ी पर इनके चरण चिन्ह अंकित हैं। इनका समय विक्रम संवत् की ७ वीं शती है। इनकी एक रचना 'वरांगचरित' नामक उपलब्ध है।[७२]

काणभिक्षु : आचार्य जिनसेन के काणभिक्षु का कथा ग्रन्थ रचयिता के रूप में उल्लेख किया है।[७३] अतएवं स्पष्ट है कि इनका कोई प्रथमानुयोग सम्बन्धी ग्रन्थ रहा है। जिनसेन द्वारा उल्लिखित होने के कारण इनका समय विक्रम संवत् की नवीं शती के पूर्व है।[७४]

भट्टाकलंक : भट्ट अकलंक प्राचीन भारत के अद्भुत विद्वान् तथा लोकोत्तर विवेचक ग्रन्थकार एवं जैन वाङ्मय रूपी नक्षत्र लोक के सबसे अधिक प्रकाशमान तारे हैं। अकलंक ने न्याय प्रमाण शास्त्र का जैन परम्परा में जो प्राथमिक निर्माण किया, जो परिभाषायें, जो लक्षण व परीक्षण किया, जो प्रमाण, प्रमेय आदि का वर्गीकरण किया और परार्थानुमान तथा वाद, कथा आदि परमत प्रसिद्ध वस्तुओं के सम्बन्ध में जो जैन प्रणाली स्थिर की। अन्य परम्पराओं में प्रसिद्ध तर्कशास्त्र के अनेक पदार्थों को जैन दृष्टि से जैन परम्परा में जो सात्मीभाव किया तथा आगमसिद्ध अपने मन्तव्यों को जिस तरह दार्शनिकों के सामने रखने योग्य बनाया, यह सब छोटे–छोटे ग्रन्थों में विद्यमान उनके असाधारण व्यक्तित्व का तथा न्याय प्रमाण स्थापना युग का द्योतक है।[७५]

अकलंक देव का समय ७२०–७८० सिद्ध होता है।[७६] उनके ग्रन्थों में अन्य दर्शनों के आचार्यों के साथ बौद्ध आचार्य धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकरगुप्त, धर्माकरदत्त (अर्चट), शान्तभद्र, धर्मोत्तर, कर्णकगोमि तथा शान्तरक्षित के ग्रन्थों का उल्लेख या प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। अकलंक जैन न्याय के प्रतिष्ठाता माने जाते हैं। उनके पश्चात् जो ग्रन्थकार हुए, उन्होंने अपनी न्यायविषयक रचनाओं में अकलंदेव का ही अनुसरण करते हुए जैन न्याय

विषयक साहित्य की श्रीवृद्धि की और जो बातें अकलंकदेव ने अपने प्रकरणों में सूत्र रूप में कहीं थीं, उनका उपपादन तथा विश्लेषण करते हुए दर्शनान्तरों के विविध मन्तव्यों की समीक्षा में बृहत्काय ग्रन्थ रचे, जिससे जैन न्याय रूपी वृक्ष पल्लवित और पुष्पित हुआ। अकलंकदेव की रचनायें निम्नलिखित हैं—

१. तत्त्वार्थवार्तिक २. अष्टशती ३. लघीयस्त्रय सविवृत्ति ४. न्याय विनिश्चय ५. सिद्धिविनिश्चय और ६. प्रमाण संग्रह[७७]।

वज्रसूरि : ये देवनन्दी या पूज्यपाद के शिष्य द्राविड़संघ के संस्थापक जान पड़ते हैं। हरिवंशपुराणकार जिनसेन प्रथम ने इनके विचारों को प्रवक्ताओं या गणधर देवों के समान प्रमाणभूत बतलाया है। और उनके किसी ऐसे ग्रन्थ की ओर संकेत किया है, जिसमें बन्ध और मोक्ष तथा उनके हेतुओं का विवेचन किया गया है। दर्शनसार के उल्लेखानुसार ये छठी शती के प्रारम्भ के विद्वान ठहरते हैं।[७८]

महासेन : इन्हें जिनसेन प्रथम ने सुलोचना कथा का कर्ता कहा है।

शान्त : इनका पूरा नाम शान्तिषेण जान पड़ता है। इनकी उत्प्रेक्षा अलंकार से युक्त वक्रोक्तियों की प्रशंसा की गयी है। जिनसेन प्रथम ने अपनी गुरु परम्परा का वर्णन करते हुए जयसेन के पूर्व एक शान्तिषेण नामक आचार्य का नामोल्लेख किया है। बहुत कुछ सम्भव है कि यह शान्त वही शान्तिषेण हों।[७९]

कुमारसेन गुरु : चन्द्रोदय ग्रन्थ के रचयिता प्रभाचन्द्र के आप गुरु थे। आपका निर्मल सुयश समुद्रान्त विचरण करता था। इनका समय निश्चित नहीं है। चामुण्डरायपुराण के पद्य सं. १५ में भी इनका स्मरण किया गया है। डॉ. ए.एन. उपाध्ये ने इनका परिचय देते हुए जैन सन्देश के शोधांक १२ में लिखा है कि ये मूलगुणु नामक स्थान पर आत्मत्याग को स्वीकार करके कोप्पणाद्रि पर ध्यानस्थ हो गए तथा समाधिपूर्वक मरण किया।[८०]

वीरसेन आचार्य : ये उस मूलसंघ पञ्चस्तूपान्वय के आचार्य थे, जो सेनसंघ के नाम से लोक विश्रुत हुआ है। ये आचार्य चन्द्रसेन के प्रशिष्य और आर्यनन्दी के शिष्य तथा महापुराण आदि के कर्ता जिनसेन के गुरु थे। ये षट्खण्डागम पर बहत्तर हजार श्लोक प्रमाण धवला टीका तथा कषायप्रामृत पर बीस हजार श्लोक प्रमाण जयधवला टीका लिखकर दिवंगत हो गए। जिनसेन ने उन्हें कवियों का चक्रवर्ती तथा अपने आपके द्वारा परलोक का विजेता कहा है। इनका समय विक्रम ६ वीं शती का पूर्वार्द्ध है।[८१] गुणभद्राचार्य के उल्लेख से ज्ञात होता है कि वीरसेनाचार्य द्वारा 'सिद्ध भू पद्धति' नामक

ग्रन्थ की रचना की गयी थी।

जिनसेन प्रथम : हरिवंश पुराण के रचयिता आचार्य जिनसेन पुन्नाट संघ के थे। ये महापुराणदि के कर्त्ता जिनसेन से भिन्न हैं। इनके गुरु का नाम कीर्तिषेण और दादा गुरु का नाम जिनसेन था। महापुराणादि के कर्त्ता जिनसेन के गुरु वीरसेन और दादा आर्यनन्दी थे। पुन्नाट कर्नाटक का प्राचीन नाम है। इसलिए इस देश के मुनिसंघ का नाम पुन्नाट संघ था। जिनसेन का जन्मस्थान, माता–पिता तथा प्रारम्भिक जीवन का कुछ भी उल्लेख उपलब्ध नहीं है। जिनसेन बहुश्रुत विद्वान् थे। हरिवंश पुराण तो है ही, साथ ही इसमें जैन वाङ्मय के विविध विषयों का अच्छा निरुपण किया गया है। इसलिए यह जैन साहित्य का अनुपम ग्रन्थ है।[८२]

श्रीपाल : ये वीरसेन स्वामी के शिष्य और जिनसेन के सधर्मा समकालीन विद्वान् हैं। जिनसेन ने जयधवला को इनके द्वारा सम्पादित बतलाया है। इनका समय विक्रम की ६ वीं शती है।

जयसेन : ये उग्रतपस्वी, प्रशान्त मूर्ति, शास्त्रज्ञ और पण्तिजनों में अग्रणी थे। हरिवंश पुराण के कर्त्ता जिनसेन ने अमितसेन के गुरु जयसेन का उल्लेख किया है। इनका समय विक्रम की आठवीं शती है। जयसेन के नाम से एक निमित्तज्ञान सम्बन्धी ग्रन्थ भी प्राकृत भाषा में लिखा मिलता है, पर यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि आदिपुराणोल्लिखित जयसेन से वह अभिन्न हैं।[८३]

कवि परमेश्वर : आदि पुराण में कवि परमेश्वर या परमेष्ठी को 'वागर्थसंग्रह' नामक पुराण ग्रन्थ का रचयिता कहा गया है। चामुण्डराय ने अपने पुराण में कवि परमेश्वर, के नाम से अनेक पद्य उद्धृत किये हैं। कन्नड कवि आदि पम्प, अभिनव पम्प, नयसेन, अग्गलदेव और कमलभव आदि ने आदरपूर्वक कवि परमेश्वर का स्मरण किया है। आचार्य गुणभद्र ने परमेश्वर के कथाकाव्य को छन्द, अलंकार और गूढार्थ युक्त बतलाया है। इनके इस कथाग्रन्थ की रचना गद्य में बतलायी गयी है।[८४]

जिनसेन द्वितीय : पंचस्तूपान्वयी स्वामी वीरसेन के पट्टशिष्य सेनसंघी आचार्य जिनसेन के माता–पिता, जन्मस्थान आदि की कोई प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं है। जयधवला टीका की प्रशस्ति के अनुसार कर्णच्छेदन से भी पहले उन्होंने वीरसेन स्वामी के संघ में रहना प्रारम्भ कर दिया था। आसन्नभव्यता, मोक्षलक्ष्मी की समुत्सुकता और ज्ञानलक्ष्मी के वरण हेतु इन्होंने बाल्यावस्था से ही ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर लिया था। उनका

शारीरिक आकार अधिक सुन्दर नहीं था और न वे अधिक चतुर थे। श्री, शम और विनय उनके नैसर्गिक गुण थे, जिसके कारण विद्वज्जन भी उनकी आराधना करते थे; क्योंकि गुणों के द्वारा कौन व्यक्ति आराधना को प्राप्त नहीं होता है। वे यद्यपि शरीर से कृश थे, किन्तु तपोगुण से कृश नहीं थे। शरीर से दुर्बल व्यक्ति दुर्बल नहीं होता है, जो व्यक्ति गुणों से दुर्बल है, वहीं वास्तव में दुर्बल है। ज्ञान की आराधना में उनका समय निरन्तर व्यतीत होता था, अतः तत्त्वदर्शी उन्हें ज्ञानमय पिण्ड कहा करते थे।[८५] उनके द्वारा रचित कृतियाँ निम्नलिखित हैं—

१. आदिपुराण २. पार्श्वाभ्युदय ३. जयधवलाटीका

जिनसेन का काल ई. सन् की नवम शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जाता है।

विद्यानन्द : आचार्य विद्यानन्द ७७०-८४० ई. के विद्वान् माने जाते हैं। उन्होंने इतरदार्शनिकों के साथ नागार्जुन, वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर तथा धर्मोत्तर इन बौद्धदार्शनिक ग्रन्थों का सर्वांगीण अभ्यास किया था। इसके साथ ही साथ जैन दार्शनिक तथा आगामिक साहित्य भी उन्हें विपुल मात्रा में प्रापत था। उनके द्वारा रचित ग्रन्थ निम्नलिखित हैं— १. विद्यानन्द महोदय २. तत्त्वार्थ श्लोकवार्त्तिक ३. अष्टसहस्री ४. युक्त्यनुशासनालंकार ५. आप्तपरीक्षा ६. प्रमाण परीक्षा ७. पत्र परीक्षा ८. सत्य शासन परीक्षा ६. श्रीपुरपार्श्वनाथ स्तोत्र।

विद्यानन्द महादेय सम्प्रति अनुपलबध है। तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक की रचना तत्त्वार्थसूत्र पर भाष्य के रूप में मीमांसा श्लोकवार्तिक के अनुकरण पर की गयी। भट्टाकलंक की अष्टशती के गूढ़ रहस्य को समझाने के लिए अष्टसहस्री की रचना की गयी। इसके गौरव को आचार्य विद्यानन्द ने स्वयं इन शब्दों में व्यक्त किया है— "हजार शास्त्रों के सुनने से क्या लाभ है, केवल इस अष्टसहस्री को सुन लीजिए। इतने से ही स्वसिद्धान्त और परसिद्धान्त का ज्ञान हो जायगा।" युक्तयनुशासनालंकार आचार्य समन्तभद्र के युक्त्यनुशासन की टीका है। आप्तपरीक्षा, प्रमाण परीक्षा और सत्यशासन परीक्षा परीक्षान्त ग्रन्थ हैं, जो दिङ्नाग की आलंवन परीक्षा और त्रिकालपरीक्षा, धर्मकीर्ति की सम्बन्धपरीक्षा, धर्मोत्तर की प्रमाणपरीक्षा व लघुप्रमाणपरीक्षा तथा कल्याणरक्षित की श्रुतिपरीक्षा जैसे परीक्षान्त ग्रन्थों की याद दिलाते हैं। विद्यानन्द को परीक्षान्त नाम रखने में इनसे प्रेरणा मिली हो, इसमें आश्चर्य नहीं। पहले शास्त्रार्थों में जो पत्र दिए जाते थे, उनमें क्रियापद गूढ़ रहते थे, जिनका

आशय समझना कठिन होता था। उसी के विवेचन के लिए विद्यानन्द ने पत्र परीक्षा नामक एक छोटे से प्रकरण की रचना की थी। जैन परम्परा में इस विषय की सम्भवतया यह प्रथम और अन्तिम रचना है। श्रीपुरपार्श्वनाथ स्तोत्र की रचना अतिशय क्षेत्र श्रीपुर के पार्श्वनाथ के प्रतिबिम्ब को लक्ष्य में रखकर की गयी है।

अष्टसहस्री की अन्तिम प्रशस्ति में बताया है कि कुमारसेन की युक्तियों के वर्द्धनार्थ ही यह रचना लिखी जा रही है। इससे ध्वनित होता है कि कुमारसेन ने आप्तमीमांसा पर कोई विवृति या विवरण लिखा होगा, जिसका स्पष्टीकरण विद्यानन्द ने किया है। निश्चयतः कुमारसेन इनके पूर्ववर्ती हैं। कुमारसेन का समय ई. सन् ७८३ के पूर्व माना गया है।[८५]

अनन्तवीर्य : जैन साहित्य में दो अनन्तवीर्य का नाम मिलता है। इनमें से एक अनन्तवीर्य ने अकलंक के सिद्धिविनिश्चय पर टीका लिखी है। प्रभाचन्द्र ने न्यायकुमुदचन्द्र में इनका स्मरण किया है और प्रमेयरत्न माला में अनन्तवीर्य ने प्रभाचन्द्र का स्मरण किया है। इससे सिद्ध होता है कि दोनों अनन्तवीर्य भिन्न हैं। उत्तरवर्ती होने से प्रमेयरत्न माला के रचयिता अनन्तवीर्य को लघु अनन्तवीर्य के नाम से भी कहा जाता है।अपने टिप्पण के प्रारम्भ में टिप्पणकार ने इनका लघु अनन्तवीर्य देव के नाम से उल्लेख किया है। इन्होने मणिक्यनन्दि के परीक्षामुख सूत्रों की संक्षिप्त किन्तु विशद व्याख्या की है, साथ ही चार्वाक, बौद्ध, सांख्य, न्यायवैशेषिक मीमांसा और वेदान्तदर्शन के कुछ विशिष्ट सिद्धान्तों का स्पष्ट विवेचन एवं निराकरण किया है। इससे इनके गम्भीर पाण्डित्य का पता चलता है। इनकी एक मात्र कृति प्रमेयरत्नमाला है। अनन्तवीर्य का समय विक्रम की बारहवीं शताब्दी माना जाता है।[८६]

अनन्त कीर्ति : आचार्य अनन्तकीर्ति रचित लघुसर्वज्ञसिद्धि और वृहत सर्वज्ञसिद्धि नाम से दो प्रकरण लघीयस्त्रयादि संग्रह में छपे हैं। उनके अध्ययन से प्रकट होता है कि वे एक प्रख्यात दार्शनिक थें उन्होंने इन प्रकरणों में वेदों के अपौरूषेयत्व का खण्डन करके आगम की प्रमाणता मे सर्वज्ञ प्रणीतता को ही कारण सिद्ध किया है। उन्होंने सर्वज्ञता के पूर्वपक्ष में जो श्लोक उद्धृत किए हैं, उनमें कुछ मीमांसा श्लोकवार्तिक के, कुछ प्रमाणवार्तिक के, और कुछ तत्वसंग्रह के हैं। प्रभाचन्द्र ने न्याय कुमुद चन्द्र और प्रमेयकमल मार्त्तण्ड के सर्वज्ञ साधक प्रकरणों में अनन्तकीर्ति के बृहत्सर्वज्ञसिद्धि का शब्द परक अनुकरण किया है।[८७]

आचार्य मणिक्यनन्दि : ये जैन न्याय के आद्य सूत्रकार हैं। इनका समय ईसा की नौ वीं शताब्दी है। इन्होने अकलंक देव के वचन रूपी अमृत का मन्थन करके न्यायविद्या रूपी अमृत का उद्धार किया था।[८८] यद्यपि इनकी रचना परीक्षामुख सूत्र का प्रधान आधार समन्तभद्र, सिद्धसेन और अकलंकदेव के ही ग्रन्थ हैं, तथापि सूत्ररचना मे विशेष रूप से हेतु के भेद प्रभेदों के बतलाने में उन्होंने अपने पूर्ववर्ती बौद्धग्रन्थ न्यायबिन्दु का भी भरपूर उपयोग किया है।[८९] दोनों ग्रन्थों की तुलना से यह बात स्पष्ट हो जाती है।

प्रभाचन्द्र : आचार्य प्रभाचन्द्र का काल ६५० ई. के मध्य का माना जाता है। वे एक बहुश्रुत विद्वान् थे। सभी दर्शनो के प्रायः सभी मौलिक ग्रन्थों का इन्होंने अभ्यास किया था। इतर दर्शनो के ग्रन्थों के उद्धरण के साथ उन्होंने बौद्धो के अभिधर्मकोश, न्याय बिन्दु, प्रमाणवार्तिक , माध्यमिक वृति आदि ग्रन्थों के उद्धरण दिए हैं। इनके द्वारा लिखित चार ग्रन्थ माने जाते हैं–

१. प्रमेय कमल मार्त्तण्ड २. न्यायकुमुदचन्द्र ३. तत्वार्थवृति ४. शाकटायनन्यास। प्रमेयकमल मार्त्तण्ड मणिक्यनन्दि के परीक्षा मुख नामक सूत्र ग्रन्थ का विस्तृत भाष्य है। अकलंकदेव के लघीयस्त्रय तथा उसकी विवृति के व्याख्यान ग्रन्थ का नाम न्याय कुमुदचन्द्र है। तत्वार्थ वृतिआचार्य पूज्यपाद कृत सर्वार्थसिद्धि नामक टीका की लघुवृति है। अन्तिम ग्रन्थ शाकटायनन्यास के प्रभाचन्द्रकृत होने में अभी सर्वसम्मत निर्णय नहीं हो सका है।[९०]

वादिराज : ये प्रमेयकमल मार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र के रचयिता प्रभाचन्द्र के समकालीन और अकलंकदेव के ग्रन्थों के व्याख्याता हैं। चालुक्यनरेश जयसिंह की राजसभा में इनका बड़ा सम्मान था। इनका काल १०१० से १०६५ ई. माना जाता है। इनके द्वारा निम्नलिखित ग्रन्थ प्रणीत हुए–१. पार्श्वनाथ चरित २. यशोधरचरित ३. एकीभावस्तोत्र ४. न्यायविनिश्चयविवरण ५. प्रमाण निर्णय। इनमें से अन्तिम दो दार्शनिक कृतियाँ है। न्यायविनिश्चय विवरण अकलंकदेव के न्यायविनिश्चय ग्रन्थ का बीस हजार श्लोक प्रमाण भाष्य है। बौद्धमत समीक्षा में धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक और प्रज्ञाकर के वर्तिकालंकार की इतनी गहरी और विस्तृत आलोचना अन्यत्र देखने में नहीं आयी। वार्तिकालंकार का आधा भाग इसमें आलोचित है। इसके अतिरिक्त न्यायविनिश्चय विवरण में धर्मोत्तर, शान्ति भद्र, अर्चट आदि प्रमुख बौद्ध दार्शनिकों की समीक्षा है।[९१] प्रमाणनिर्णय एक लघुकायग्रन्थ है। इसके चार प्रकरण हैं–१. प्रमाण निर्णय २. प्रत्यक्ष निर्णय ३. परोक्ष निर्णय ४. आगम

निर्णय।

गुणभद्र : जिनसेन द्वितीय के पट्टशिष्य आचार्य गुणभद्र थे, जिनका अमोघवर्ष तथा उसका पुत्र कृष्ण द्वितीय दोनों ही सम्मान करते थे। इन्हें अमोघवर्ष ने अपने पुत्र का शिक्षक नियुक्त किया था। इन्होंने गुरू द्वारा प्रारम्भ किए गए महापुराण को संक्षेप में पूरा किया। इनके द्वारा लिखा गया भाग उत्तरपुराण कहलाता है। इसके अतिरिक्त, आत्मानुशासन, जिनदत्तचरित आदिग्रन्थ भी उन्होंने रचे।[६२]

देवसेन : आचार्य देवसेन स्वयं भी गणी थे अर्थात् गण के नायक थे और विक्रम संवत ६६० में ये हुये हैं। इन्होंने अन्य अपने बनाए हुए ग्रन्थों मे अपना परिचय नही दिया है और न उन ग्रन्थों की रचना का समय बताया है। दर्शनसार ग्रन्थ के पढ़ने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वे मूलसंघ के आचार्य थे। दर्शनसार में उन्होने काष्ठासंघ, द्रविडसंघ, माथुरसंघ और यापनीय संघ आदि सभी दिगम्बर संघों की उत्पत्ति बतलाई है। और उन्हें मिथ्यात्वी कहा है, परन्तु मूलसंघ के विषय मे कुछ नहीं कहा है अर्थात् उनकें विश्वास के अनुसार यही मूल से चला आया है। और यही वास्तविक संघ है।[६३] इनके द्वारा ये ग्रन्थ लिखे गए– १. दर्शनसार, २. नयचक्र ३. आलाप पद्धति ४. श्रुतभवन दीपक ५.तत्वसार ६.आराधनासार ७. धर्मसंग्रह।

अमितगतिप्रथम : ये देवसेन के शिष्य और नेमिषेण के गुरू थे। इनके साथ त्यक्तनिःशेषसँग विशेषण प्राप्त होता है। इनका समय विक्रम सं. १००० माना जाता है। इनकी एक मात्र कृति योगसार प्राभृत मानी जाती है।

अमितगति द्वितीय : अमितगति की शिष्य परम्परा का ज्ञान अमरकीर्ति के 'छक्कम्मोवएस' से होता है। इस ग्रन्थ के अनुसार अमितगति प्रथम शान्तिषेण, अमरसेन (द्वितीय), श्रीषेण, चन्द्रकीर्ति, और अमरकीर्ति इस प्रकार गुरू–शिष्य परंपरा प्राप्त होती है। अमितगति द्वितीय का काल विक्रम संवत् की ११ वीं शताब्दी माना जाता है। इनकी रचनायें निम्नलिखित हैं–

१. धर्मपरीक्षा २. सुभाषित रत्नसन्दोह ३. उपासकाचार ४. पञ्चसंग्रह, ५. आराधना ६. भावनाद्वात्रिंशिका ७. चन्द्रप्रज्ञप्ति ८. सार्द्धद्वयद्वीप प्रज्ञप्ति ६. व्याख्या प्रज्ञप्ति।

आचार्य अमृत चन्द्र सूरि : ये आचार्य कुन्दकुन्द के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ समयसार, प्रवचनसार ओर पंचास्तिकाय के टीकाकार के रूप में विख्यात हैं। ये टीकायें बड़ी प्रौढ़ अर्थगाम्भीर्य को लिए हुए तथा ग्रन्थकार के हार्द को अभिव्यक्त करने मे राक्षम हैं। इनका काल दशवीं शताब्दी का अन्तिम

भाग माना जाता हैं। इनकी रचनाओं में अध्यात्म और व्यवहार का सुन्दर समन्वय पाया जाता है। आचार्यकुन्दकुन्द के ग्रन्थों की टीकायें अध्यात्मप्रधान हैं तो उनके साथ व्यवहार का सुमेल स्थापित करने के लिए आपने तत्त्वार्थसार और पुरूषार्थसिद्धयुपाय का प्रणयन किया। वे एक अच्छे स्तुतिकार भी थे। अनेकान्त शैली का आश्रय लेकर २५–२५ छन्दों के २५ अधिकारों में उन्होंने तीर्थंकरों की स्तुति लिखी हैं। यहाँ वे आचार्य समन्तभद्र की शैली को अपनाते हुए दिखायी देते हैं। पुरूषार्थ सिद्धयुपाय में हिंसा–अहिंसा का जैसा सूक्ष्म वर्णन है, वैसा अन्यत्र विरल है। अमृतचन्दसूरि की निम्नलिखित रचनायें हैं—१. पुरूषार्थ सिद्ध्युपाय २. तत्वार्थसार ३. समयसार कलश ४. समयसार टीका ५. प्रवचनसार टीका ६. पंचास्तिकाय टीका और ७. लघुतत्वस्फोट।

आचार्य जयसेन (प्रथम) : आचार्य जयसेन प्रथम लाडवागड संघ के आचार्य थे। इनकी गुरुपरम्परा इस प्रकार थी–धर्मसेन के शिष्य शान्तिषेण, शान्तिषेण के गोपसेन, गोपसेन के भावसेन ओर भावसेन के शिष्य जयसेन थे। इन्होंने अपने वंश को योगीन्द्रवंश कहा है। इनके एकमात्र ग्रन्थ धर्मरत्नाकर में पुरूषार्थसिद्ध्युपाय के १२४ पद्य उद्धृत हैं। आचार्य सोमदेवसूरि के उपासकाध्ययन के भी अनेक पद्य इन्होंने उद्धृत किए हैं। एक पद्य रामसेन के तत्वानुशासन का भी उद्धृत है। धर्मरत्नाकर में उसका रचनाकाल विक्रम संवत् १०५५ दिया गया है।

जयसेन (द्वितीय) : आचार्य जयसेन कुन्दकुन्द के समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय ग्रन्थों के सुप्रसिद्ध टीकाकार हैं। इनके गुरू का नाम सोमसेन और दादा गुरू का नाम वीरसेन था। इन्होंने त्रिभुवनचन्द्र गुरू को भी नमस्कार किया है। विद्वानों ने इनका समय ग्यारहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध या बारहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध माना है इनकी टीकाओं की शैली आचार्य अमृत चन्द्र से भिन्न है। प्रत्येक गाथा के पदों का शब्दार्थ स्पष्ट करते हुए वे गाथा के अभिप्राय को सरल संस्कृत में अभिव्यक्त करते हैं तथा पारिभाषिक शब्दों के अर्थ इन्होंने अच्छी तरह स्पष्ट किए हैं।

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती : आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने अभयनन्दि, वीरनन्दि, इन्द्रनन्दि और कनकनन्दि इन चार गुरूओं को स्परण किया है। ये सभी सिद्धान्त समुद्र के पारगामी थे। बाहुबलिचरित के अनुसार जब चामुण्डराय अपनी माता के साथ गोम्मटसार की मूर्ति के दर्शन के लिए पोदनपुर गए थे तो नेमिचन्द्र भी उनके साथ थे। नेमिचन्द्र आचार्य

को ही यह स्वप्न आया था कि विन्ध्यगिरि पर गोम्मटेश्वर की मूर्ति है। उसके पश्चात् ही चामुण्डराय ने वहाँ मूर्ति की स्थापना की और नेमिचन्द्र के चरणों में चामुण्डराय ने मूर्ति की पूजा के निमित्त ग्राम अर्पित किए, जिनकी आय ९६०० द्रव्य प्रमाण थी। आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती की तीन रचनायें प्राप्त हैं— १. गोम्मटसार २. लब्धिसार और ३. त्रिलोकसार। गोम्मटसार और त्रिलोकसार की रचना विक्रम सं. १०३७—४० में हुई है। नेमिचन्द्र देशियगण पुस्तकगच्छ से सम्बन्धित थे। यह कुन्द कुन्दान्वय के नन्दिसंघ की शाखा थी।

माधवचन्द्र त्रैविद्य : आचार्य नेमिचन्द्र के एक शिष्य माधवचन्द्र त्रैविद्य थे। उन्होंने अपने गुरु के द्वारा निर्मित त्रिलोकसार ग्रन्थ पर संस्कृत में टीका रची थी। उन्होंने अपनी टीकाकार प्रशस्ति में कहा है कि अपने गुरु नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती को सम्मत अथवा ग्रन्थकर्ता नेमिचन्द्र सिद्धान्तदेव के अभिप्राय का अनुसरण करने वाली कुछ गाथायें माधवचन्द्र त्रैविद्य ने भी यहाँ वहाँ रची हैं। माधवचन्द्र भी करणानुयोग के पण्डित थे। इनकी गणित शास्त्र में विशेष गति थी। इनके द्वारा सिद्ध गणित को त्रिलोकसार में निबद्ध किया गया है। और यह गाथा में प्रयुक्त माधवचंदुद्धरिया पद से जो द्विअर्थक है, स्पष्ट होता हे। गोम्मटसार जीवकाण्ड में भी योगमार्गणाधिकार में इनकें मत का निर्देश है। अतः गुरूजनों के साथ शिष्यजन भी इस ग्रन्थ रचना गोष्ठी में सम्मिलित थे।[६४]

इन्द्रनन्दि : ये ९३९ ई. में लिखी गयी ज्वाला मालिनी कल्प के रचनाकार माने जाते है। इनके द्वारा रचित श्रुतावतार ग्रन्थ भी प्राप्त होता है।

कनकनन्दि : इनके द्वारा सत्वस्थान (विस्तार सत्तरिभंगी) की रचना की गई थी।

अभयनन्दि : ये विबुधगुणनन्दि के शिष्य और वीरनन्दी के गुरू थे,

अजितसेन : नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती के एक गुरू अजितसेन थे। ये सेन संघ के आर्यसेन के शिष्य थे। ये चामुण्डराय के पारिवारिक गुरू थे। गंगराजा मारसिंह द्वितीय ने ९७४ ई. में अजित सेन गुरू के सान्निध्य में सल्लेखना ग्रहण की थी। अजितसेन ने चामुण्डराय को श्रवण बेलगोला में विन्ध्यगिरि पर बाहुबली प्रतिमा की स्थापना की प्रेरणा दी थी। वे इस प्रतिमा की स्थापना समारोह के अधिष्ठाता थे। सम्भवतः नेमिचन्द्र इनके सहायक थे।[६५]

वीरनन्दी : वीरनन्दी असाधारण विद्वान् थे, ऐसा उनकी कृति चन्द्रप्रभ

चरित के अध्ययन एवं अन्य उल्लेखों से ज्ञात होता है। चन्द्रप्रभचरित के क्रियापदों के देखने से स्पष्ट है कि वीरनन्दी का व्याकरण शास्त्र पर पूर्ण अधिकार रहा। द्वितीय सर्ग (श्लो. ४४–११०) से यह सिद्ध होता है कि वीरनन्दी जैन व जैनेतर दर्शनों के अधिकारी विद्वान् थे। तत्त्वोपप्लव दर्शन की समीक्षा के सन्दर्भ में उन्होंने जो युक्तियाँ दी हैं, वे अष्टसहस्री आदि विशिष्ट दार्शनिक ग्रन्थों में भी दृष्टि गोचर नही होतीं। अन्तिम सर्ग वीरनन्दी की सिद्धान्त मर्मज्ञता को व्यक्त करता है। चन्द्रप्रभचरित के तत्त्प्रसंगों मे चर्चित राजनीति, गजवशीकरण ओर शकुन–अपशकुन आदि विषय उनकी बहुज्ञता को प्रमाणित करने में सक्षम हैं।[६६] इनका काल विक्रम की ग्यारहवीं शती का पूर्वार्ध सिद्ध होता है।

आचार्य नरेन्द्रसेन : धर्मरत्नाकर की प्रशस्ति में धर्मसेन, शान्तिषेण, गोपसेन ओर भावसेन आचार्यों के नाम क्रम से दिए हैं। जयसेनाचार्य भावसेनाचार्य के शिष्य थे। जयसेनाचार्य ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों का उल्लेख करके धर्मरत्नाकर की प्रशस्ति समाप्त की है। इस प्रशस्ति के आगे नरेन्द्रसेनाचार्य ने अपने पूर्ववर्ती ब्रह्मसेन, वीरसेन तथा गुणसेन इन तीन और आचार्यों का उल्लेख किया है। नरेन्द्रसेन गुणसेन आचार्य के शिष्य हुए हैं। गुणसेन आचार्य के नरेन्द्र सेन के समान गुणसेन, उदयसेन ओर जससेन ऐसे अन्य तीन शिष्य थे। प्रथम गुणसेन के पट्ट पर ये द्वितीय गुणसेन आरूढ होकर आचार्यपद भूषित करने लगे।

आचार्य नरेन्द्रसेन की दो रचनायें प्राप्त होती हैं– १. सिद्धान्तसार संग्रह और २. प्रतिष्ठा दीपक। सिद्धान्तसार संग्रह में रत्नत्रय तथा जीवादि सात तत्त्वों का स्वरूप विधिवत् समझाया गया है। प्रतिष्ठासार दीपक में जिनमूर्ति, जिनमन्दिर आदि के निर्माण में तिथि, नक्षत्र, योग, आदिक का विचार किया गया है। स्थाप्य, स्थापक और स्थापना इन तीन विषयों का इसमें वर्णन है। पंचपरमेष्ठी तथा उनके पंचकल्याणक और जो जो पुण्य के हेतुभूत हैं, वे स्थाप्य हैं। यजमान इन्द्र स्थापक है। मन्त्रों से जो विधि की जाती है, उसे स्थापना कहते हैं। तीर्थकरों के पंचकल्याणक जहाँ हुए हैं, ऐसे स्थान तथा अन्य पवित्रस्थान , नदीतट, पर्वत, ग्राम, नगरादिकों के सुन्दरस्थान में जिनमन्दिर निर्माण करना चाहिए।[६७]

आचार्य नरेन्द्रसेन का काल विक्रम संवत् की १२वीं शती का मध्यभाग सिद्ध होता है।

वादीभसिंह सूरि : इनका जन्म नाम ओडयदेव, दीक्षानाम अजितसेन और

पाण्डित्योपार्जित उपाधि वादीभसिंह हैं ये पुष्पसेन मुनि के शिष्य थे। ये तर्क, व्याकरण, छन्द, काव्य, अलंकार और कोश आदि ग्रन्थों के मर्मज्ञ थे। इनके वादित्वगुण की समाज में बड़ी प्रसिद्धि थी। इनका काल ८वीं शताब्दी माना जाता है। इन्होंने छत्रचूड़ामणि ओर गद्य चिन्तामणि नामक दो काव्य ग्रन्थों का प्रणयन किया। इनमें से प्रथम रचना पद्य में और द्वितीय गद्य में है। श्रवणबेलगोल की मल्लिषेण प्रशस्ति में इनके दो शिष्यों का उल्लेख पाया जाता है– (१)शान्तिनाथ और (२)पद्मनाभ। संस्कृत गद्यकारों में जो स्थान बाणभट्ट का है, वही स्थान जैन संस्कृत गद्य लेखको में आचार्य वादीभसिंह का है। उन्होंने गद्यचिन्तामणिकाव्य लिखकर संस्कृत जैन गद्यकाव्य को उत्कृष्टता प्रदान की है।

क्षत्र चूडामणि जैसा सूक्तिकाव्य अद्वितीय है, जिसके प्रायः प्रत्येक पद्य में सूक्ति का प्रयोग किया गया है,

पद्मनन्दी : इन्होने पद्मनन्दी पञ्चविंशतिका के प्रत्येक प्रकरण में अपने नाममात्र का ही निर्देश किया है, इसके अतिरिक्त उन्होनें अपना कोई विशेष परिचय नहीं दिया । इतना अवश्य है कि उन्होंने दो स्थलों पर वीरनन्दी इस नामोल्लेख के साथ अपने गुरू के प्रतिकृतज्ञता को भाव दिखलाते हुए अतिशय भक्ति प्रकट की है। इसके अतिरिक्त नामनिर्देश के बिना उन्होंने अनेक स्थानों में गुरू रूप से उनका स्मरण करते हुए उनके प्रति अत्यधिक श्रद्धा का भाव व्यक्त किया है।

श्री पद्मनन्दी मुनि द्वारा विरचित इन कृतियों के पढ़ने से ज्ञात होता है कि वे मुनि धर्म का दृढ़ता से पालन करते थे वे मूल गूणों के परिपालन में थोड़ी सी भी शिथिलता को नहीं सह सकते थे। उनके लिए दिगम्बररत्व में विशेष अनुराग ही नहीं था, बल्कि वे उसे संयम का एक आवश्यक अंग मानते थे। प्रमाद के परिहारार्थ उन्हें एकान्तवास अधिक प्रिय था। वे अध्यात्म के विशेष प्रेमी थे।[६८] ये विक्रम सं. १०७५ के पश्चात् और १२४० के पूर्व हुए।

शाकटायन पाल्यकीर्ति : ये पणिनी से ६०० वर्ष पूर्व हुए प्रसिद्ध वैयाकरण शाकटायन से भिन्न हैं। इन्होंने स्वोपज्ञ अमोघवृति सहित शाकटायन नाम से ही इनका निर्देश किया गया है। शाकटायन का एक अन्य नाम पाल्यकीर्ति भी मिलता है। ये यापनीय संघ के आचार्य थे। वादिराज द्वारा निर्देश होने के कारण इनका समय ई. सन् १०२५ के पूर्व है। इनकी तीन रचनायें प्राप्त होती हैं–

१. अमोघ वृति सहित शाकटायन शब्दानुशासन।

२. स्त्रीमुक्ति

३. केवलिभुक्ति

महावीराचार्य : मात्र भारतीय ही नहीं अपितु विश्व इतिहास मे आपकी विशिष्ट कीर्ति आपकी बहुश्रुत कृति गणितसार संग्रह के कारण है। ज्योतिष के प्रभाव से पूर्णतः मुक्त पाठ्यपुस्तक की शैली में निबद्ध इस कृति का प्रणयन मान्यखेट के शासक राष्ट्रकूटवंशीय नृपतुंग अमोघवर्ष के राज्यकाल में संभवतः उनके ही राज्यक्षेत्र अथवा उसके समीप विहार करने वाले दि. जैन आचार्य महावीराचार्य ने ८५० ई. के लगभग किया था। आपके जन्म स्थान, जन्म वर्ष , दीक्षा गुरू, दीक्षा वर्ष, माता–पिता आदि के सन्दर्भ में इतिहास पूर्णतः मौन है।[९९]

गणितसार संग्रह गणित की अनेक विशेषताओं को अपने में समाहित किए हुए है। उसका क्षेत्रगणित व्यवहार अनेक विशिष्टताओं से परिपूर्ण है। आपने विविध प्रकार के त्रिभुजो, चतुर्भुजो, वृत आदि के क्षेत्रफल ज्ञात करने के साथ ही दीर्घवृत्त, यवाकार, मुरजाकार, पणवाकार, वज्राकार, एकनिषेध क्षेत्र, उभयनिषेध क्षेत्र, तीन एवं चार संस्पर्शी वृत्तों से आवद्ध क्षेत्र, हस्तदंत क्षेत्र का क्षेत्रफल निकालने के नियम भारतीय गणित मेंसर्वप्रथम प्रतिपादित किए है। दीर्घवृत्त के अतिरिक्त अन्य आकृतियों की तो चर्चा भी सर्वप्रथम आपने ही की। मात्र वृत्त ही नही अपितु गोलीय खण्डों (नतोदर+उन्नतोदर) के आयतन ज्ञात करने के सूत्र भी उपलब्ध हैं।[१००]

मानतुंगसूरि : सुप्रसिद्ध भक्तामर स्तोत्र के मानतुंगसूरि को कुछ इतिहासज्ञ विद्वानों ने हर्षवर्धन के समकालीन बतलाया है। सम्राट हर्ष–वर्धन का समय सातवी शताब्दी है, अतः पं. पन्नालाल साहित्याचार्य ने महापुराण की प्रस्तावना पृ. २२ में आचार्य मानतुग को ७ वीं शताब्दी का लिखा है।[१०१] भक्तामर स्तोत्र के रचयिता मूलतः ब्राहमण धर्मानुयायी और सुकवि थे। उन्हीने यह भक्तामर काव्य बनाया है।[१०२] भक्तामर स्तोत्र जैनों में अत्यधिक लोकप्रिय हैं अनेक भाई, बहिन तो प्रतिदिन भक्तामर का पाठ करके ही आहार ग्रहण करते हैं। आधुनिक हिन्दी में इसके १०० से अधिक पद्यानुवाद हो गए हैं।

महासेनाचार्य

महासेन लाट : वाटि या लाट वागड़ संघ के आचार्य थे। प्रद्युम्न चरित की कारञ्जा भण्डार में प्राप्त प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि लाट वर्गट संघ

में सिद्धान्तों के पारगामी जयसेन मुनि हुए, उनके शिष्य गुणाकर सैन। इन गुणाकरसेन के शिष्य महासेन सूरि हुए, जो राजा मुञ्ज द्वारा पूजित थे। सिन्धु राज या सिन्धुल के महामात्य पर्पट ने जिनके चरणकमलों की पूजा की थी। इन्हीं महासेन ने प्रद्युम्न चरित काव्य की रचना की और राजा के अनुचर विवेकवान् मथन ने इसे लिखकर को विदजनों को दिया।[१०३] महासेन का समय दशवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध है।

हरिषेण

हरिषेण नाम के कई आचार्य हुए। डॉ. ए. एन. उपाध्ये ने छह हरिषेण नामके ग्रन्थकारों का निर्देश किया है। बृहतकथाकोश के रचयिता इन सबसे भिन्न हैं इन्होने इस ग्रन्थ की प्रशस्ति में लिखा है–

यो बोधको भव्यकुमुद्वतीनां निःशेषराद्धान्तवचोमयूखैः।
पुन्नाटसंघाम्बर संनिवासी श्री मौनिभट्टारक पूर्णचन्द्रः।।
जैनालय व्रात विराजितान्ते चन्द्रावदातद्युतिसौधजाले।
कार्तस्वरापूर्णजनाधिवासे श्री वर्द्धमानाख्यपुरे वसन् सः।।
सारागमाहित मति विंदुषां प्रपूज्यो नाना तपोविधि विधान करो विनेयः।
तस्याभवद् गुणनिधिर्जनताभिवन्द्यः श्री शब्द पूर्व पद को हरिषेण संज्ञः।।[१०४]

इससे स्पष्ट द्योतित होता है कि इनके गुरू का नाम मौनिभट्टारक था। ये पुन्नाट संघ के आचार्य थे। उनका निवास स्थान वर्द्धमानपुर था। इनके द्वारा रचित बृहत् कथाकोश, जो कि पद्यमय है। २५०० अनुष्टुप् श्लोक प्रमाण है। हरिषेण का समय ई. सन् की १० वीं शताब्दी माना जाता है।

सोमदेवसूरि

राजशास्त्र के प्रसिद्ध ग्रन्थ नीतिवाक्यामृत के रचयिता श्री मत्सोमदेवसूरि दिगम्बर सम्प्रदाय में प्रसिद्ध देवसघ के आचार्य थे। आचार्य प्रवर के प्रमुख ग्रन्थ यशस्तिलक तथा नीतिवाक्यमृत के अध्ययन, लेमुलवाड दानपत्र तथा राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण तृतीय के ताम्रपत्र से पर्याप्त जानकारी मिलती है। यशस्तिलक की प्रशस्ति के अनुसार सोमदेव के गुरू का नाम नेमिदेव तथा नेमिदेव के गुरू का नाम यशोदेव था। सोमदेव के गुरू नेमिदेव महान् दार्शनिक थे। ओर उन्होंने शास्त्रार्थ में ६३ महावादियों को पराजित किया था।[१०५] नीतिवाक्यामृत की प्रशस्ति के अनुसार सोमदेव महेन्द्र देव भट्टारक के कनिष्ट भ्राता थे ओर उन्हें अनेक गौरंव सूचक उपाधियाँ प्राप्त थीं, जिनमें स्याद्वादाचलसिंह तार्किकचक्रवर्ती, वादीभपंचानन, वाक्कल्लोल पयोनिधि आदि प्रमुख है।[१०६]

लैमुलवाड दानपत्र से विदित होता है कि श्रीगौड़ संघ में यशोदेव नामक आचार्य हुए जो मुनिमान्य थे और जिन्हें उग्रतप के प्रभाव से जैन शासन के देवताओं का साक्षात्कार था। इन महान् बुद्धि के धारक महानुभाव के शिष्य नेमिदेव हुए, जो स्याद्वादसमुद्र के पारदर्शी थे और परवादियों के दर्परूपी वृक्षों के उच्छेदन के लिए कुठार के समान थे। जिस प्रकार खान में से अनेक रत्न निकलते हैं, उसी प्रकार उन तपोलक्ष्मीपति के बहुत से शिष्य हुए। उनमें सैकड़ों से छोटे श्री सोमदेव पण्डित हुए जो तप,शास्त्र और यश के स्थान थे। ये भगवान् सोमदेव समस्त विधाओं के दर्पण, यशोधरचरित के रचयिता, स्याद्वादोपनिषत् के कर्ता तथा अन्य सुभाषितों के भी रचयिता हैं। समस्त महासामन्तों के मस्तकों की पुष्पमालाओं से जिनके चरण सुगन्धित हैं, जिनका यशकमल सम्पूर्ण विद्वज्जनों के कानों का आभूषण है और सभी राजाओं के मस्तक जिनके चरणकमलों से सुशोभित होते हैं।[१०७] यशस्तिलक का रचनाकाल विक्रम संवत् १०६४ है। अतः सोमदेवसूरि का समय विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जा सकता है।

पद्मप्रभ मलधारिदेव

ये आचार्य कुन्दकुन्द के नियमसार की तात्पर्य वृत्ति नामक टीका के रचयिता हैं। इन्होंने अपने आपको सुकविजन रूपी कमलों के लिए सूर्य समान, पञ्चेन्द्रियों के विस्तार से रहित तथा गात्रमात्र परिग्रह कहा है। नियमसार के परमार्थ प्रतिक्रमण अधिकार के अन्त में तथा ग्रन्थ के आदि में इन्होंने श्री वीरनन्दि नामक मुनिराज को नमस्कार किया है। मद्रास प्रान्त के 'पटशिवपुरम्' ग्राम में एक स्तम्भ पर पश्चिमी चालुक्य राजा त्रिभुवनमल्ल सोमेश्वर के समय का शक सं. ११०७ का एक अभिलेख है, जबकि उसके माण्डलिक त्रिभुवनमल्ल, भोगदेवचोल्ल हेजरा नगर पर राज्य कर रहे थे। उसीमें यह लिखा है कि जब यह जैन मन्दिर बनवाया गया था, तब श्री पद्मप्रभ मलधारिदेव और उनके गुरु श्री वीरनन्दी सिद्धान्तचक्रवर्ती विद्यमान थे। अतएव इन प्रमाणों के आधार पर पद्मप्रभ मलधारिदेव का समय ईसवी सन् की १२ वीं शताब्दी सिद्ध होता है।[१०८]

इनके द्वारा रचित ६ पद्यों का पार्श्वनाथ स्तोत्र भी प्राप्त होता है।

शुभचन्द्र : शुभचन्द्र नामके अनेक आचार्य, विद्वान् और भट्टारक हुए। एक शुभचन्द्र आचार्य सागवाड़ा के पट्ट पर विक्रम संवत् १६०० (ई. सन् १५४४) में हुए हैं। इन्हें षड्भाषा कवि चक्रवर्ती की उपाधि थी। पाण्डवपुराण, स्वामिकार्तिकेयानु प्रेक्षा की संस्कृत टीका आदि अनेक ग्रन्थ इनके द्वारा बनाए

हुए हैं। ज्ञानार्णवकार के रचयिता आचार्य शुभचन्द्र का समय विक्रम संवत् की ११ वीं शताब्दी माना जाता है। ज्ञानार्णव के महात्म्य के विषय में इन्होंने लिखा है—

ज्ञानार्णवस्य माहात्म्यं चित्ते को वेत्ति तत्त्वतः।
यज्ज्ञानात्तीर्यते भव्यैर्दुस्तरोऽपि भवार्णवः।। ४२/८८

भव्य जीव जिसके ज्ञान से ही अत्यन्त कठिनता से पार करने योग्य संसार रूप समुद्र के पार हो पाते हैं, ऐसे ज्ञानार्णव ग्रन्थ का माहात्म्य यथार्थरीति से कौन जानता है?

मुनि रामसेन : रामसेन नामके अनेक व्यक्ति हुए है। मुनि रामसेन, तत्त्वानुशासन नामक ग्रन्थ के कर्ता हुए हैं। इनका समय विक्रम की १० वी शताब्दी है। ये नागसेन के शिष्य थे। इन्होंने वीरचन्द्र, शुभदेव, महेन्द्रदेव और विजयदेव से शास्त्रों का अध्ययन किया था। उनके ऊपर आचार्य कुन्दकुन्द, उमास्वाति, समन्तभद्र, पूज्यपाद, अकलंक और जिनसेन का विशेष प्रभाव पड़ा। तत्त्वानुशासन में ध्यान का विशेष विवेचन है।

माइल्लधवल : माइल्लधवल ने अपने ग्रन्थ की अन्तिम गाथाओं में आचार्य देवसेन को अपना गुरु घोषित किया है। उनकी एकमात्र कृति नयचक्र है। इस ग्रन्थ में द्रव्यसंग्रह तथा पद्नन्दि पञ्चविंशतिका के एकत्व सप्तति से कुछ उद्धरण प्रस्तुत किए गए हैं। इनका समय ११३६ और १२४३ ई. के मध्य माना जाता है।[१०६]

नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव : नेमिचन्द्र नामके अनेक आचार्य हुए हैं। एक नेमिचन्द्र तो वे हैं, जिन्होंने गोम्मटसार, त्रिलोकसार, लब्धिसार, क्षपणासार जैसे मूर्द्धन्य सिद्धान्त ग्रन्थों का प्रणयन किया है और जो सिद्धान्त चक्रवर्ती की उपाधि से विभूषित थे।

दूसरे नेमिचन्द्र, जिनका उल्लेख वसुनन्दि सिद्धान्तिदेव ने अपने उपासकाध्ययन में किया है और जिन्हें जिनागम रूप समुद्र की वेला तरंगों से धुले हुए हृदयवाला तथा सम्पूर्ण जगत में विख्यात लिखा है।

तीसरे नेमिचन्द्र वे है, जिन्होंने प्रथम नंबर पर उल्लिखित नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती के गोम्मटसार पर 'जीवतत्त्व प्रदीपिका' नामकी संस्कृत टीका, जो अभयचन्द्र की मन्दप्रबोधिका और केशववर्णी की संस्कृत मिश्रित कन्नड़ टीका 'जीवतत्त्व प्रदीपिका' इन दोनों टीकाओं के आधार से रची गई है, लिखी है।

दूसरे नेमिचन्द्र ने ही लघुद्रव्यसंग्रह और वृहद् द्रव्यसंग्रह की रचना की

है। द्रव्यसंग्रह के संस्कृत टीकाकार ब्रह्मदेव ने द्रव्यसंग्रहकार नेमिचन्द्र को 'सिद्धान्तदेव' उपाधि के साथ अपनी संस्कृत टीका के मध्य में तथा अधिकारों के अन्तिम पुष्पिका वाक्यों में उल्लिखित किया है। वसुनन्दि और उनके गुरु नेमिचन्द्र भी 'सिद्धान्तिदेव' की उपाधि से भूषित मिलते हैं। अतः असम्भव नही कि ब्रह्मदेव के अभिप्रेत नेमिचन्द्र सिद्धान्तदेव और वसुनन्दि के गुरु नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव एक ही हों।[११०]

अनन्तकीर्ति : अनन्तकीर्ति नामके अनेक विद्वान आचार्य हुए हैं। इनमें से १० अनन्तकीर्तियों का परिचय डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री ने अपने ग्रन्थ तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा में दिया है। बृहत्सर्वज्ञ सिद्धि और लघुसर्वज्ञ सिद्धि के कर्त्ता अनन्तवीर्य के वैदुष्य का प्रभाव शान्तिसूरि, अभयदेवसूरि तर्कपञ्चानन तथा प्रभाचन्द्र आदि आचार्यों पर पड़ा है। आचार्य वादिराज ने पार्श्वनाथ चरित में अनन्तकीर्ति का स्मरण निम्न प्रकार किया है—

आत्मनेवाद्वितीयेन जीव सिद्धि निबध्नता।
अनन्तकीर्तिनामुक्ति रात्रिमार्गेव लक्ष्यते।।

इनका समय विद्वानों ने ८४० से १०८२ विक्रम संवत के बीच माना है।

मल्लिषेण : ग्यारहवीं शताब्दी ईसवी मे हुए मल्लिषेण उभयभाषा कवि चक्रवर्ती के रूप में विख्यात हैं। इनकी कवि और मन्त्रवादी के रूप में विशेष प्रसिद्धि है। इनकी निम्नलिखित रचनायें प्राप्त हैं—

१. नागकुमार काव्य, २. महापुराण, ३. भैरव पद्मावती कल्प, ४. सरस्वती मन्त्र कल्प, ५. ज्वालिनीकल्प, ६. कामचाण्डालीकल्प।

महापुराण की रचना धारवाड जिले के मूलगुन्दनामक स्थान में की गयी है।

इन्द्रनन्दि : इन्द्रनन्दि नामके अनेक विद्वान् आचार्य हो गए हैं। इन्द्रनन्दि सहिता के रचयिता का नाम विशेष प्रसिद्ध है। इनके अतिरिक्त ज्वालामालिनी कल्प के रचयिता एक अन्य इन्द्रनन्दि ईसवी सन् की दशवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हो गए हैं। ये वासबनन्दि के प्रशिष्य और वप्पनन्दि के शिष्य थे।

जिनचन्द्राचार्य : 'सिद्धान्तसार' नामक ग्रन्थ के रचनाकार जिनचन्द्राचार्य की भास्करनन्दि के गुरु के रूप में पं. नाथूराम प्रेमी ने सम्भावना की है। इनका उल्लेख श्रवणबेलगोल के ५५ वें शिलालेख में किया गया है।

जिनचन्द्र नामके एक और आचार्य हो गये हैं, जो धर्म संग्रह श्रावकाचार के कर्त्ता पं. मेधावी के गुरु थे और शुभचन्द्राचार्य के शिष्य थे। ये शुभचन्द्राचार्य

पद्मनन्दि आचार्य के पट्टधर थे और पाण्डव पुराण आदि ग्रन्थों के कर्त्ता शुभचन्द्र से पहले हो गए हैं।[१११]

श्रीधरसेन : सुप्रसिद्ध दिगम्बर जैनाचार्य श्री धरसेन जैन वाङ्मय में कोश साहित्य के रचयिता के रूप में चर्चित हैं। इसका दूसरा नाम मुक्तावली कोश भी है। ये नानाशास्त्रों के पारगामी विद्वान् होने के साथ ही बड़े बड़े राजपुरुषों के द्वारा पूजित थे। विश्वलोचन कोशमें २४५३ पद्य हैं, जो संस्कृत अनुष्टप् छन्द में रचित हैं। नानार्थ कोशों में यह सबसे बड़ा कोश है। इसके कर्त्ता का समय १३५० और १५५० ई. के मध्य अनुमानित किया जाता है। श्रीधर नामके अन्य अनेक आचार्य हो गए हैं। एक श्रीधराचार्य ईसवी सन् की आठवीं शती के अन्तिम भाग या नवम शती के पूर्वार्द्ध में हुए। इनका उल्लेख भास्कराचार्य, केशव, दिवाकर, देवज्ञ आदि ने किया है। इनके द्वारा चार ग्रन्थों की रचनायें हुई—

१. गणितसारया त्रिंशतिका २. ज्योतिर्ज्ञानविधि ३. जातककतिलक और ४. बीजगणित।

श्रीधराचार्य गणित और ज्योतिष के अच्छे विद्वान् थें

अन्य आचार्य : उपर्युक्त आचार्यों के अतिरिक्त दुर्गदेवाचार्य, मुनि पद्मकीर्ति, गणधरकीर्ति, भट्टवोसरि, उग्रादित्याचार्य, भावसेन त्रैविध, नयसेन, श्रुतमुनि, माघनन्दि, वज्रनन्दि, महासेन द्वितीय, सुमतिदेव, पद्मसिंह, नयनन्दि आदि अनेक दिगम्बर आचार्य हुए, जिन्होंने विविध विषयों पर साहित्य सर्जना की।

दक्षिण भारत में दिगम्बर जैन आचार्यों ने द्रविड भाषा तमिल, तेलगू और कन्नड के उत्थान में सेवायें समर्पित कीं। तोलकाधियम तमिल भाषा के सभी व्याकरण ग्रन्थों का मूल माना जाता है। इसे विद्वानों ने जैन ग्रन्थ माना है। इसके कर्त्ता संस्कृत व्याकरण तथा साहित्य में निर्विवाद रूप से प्रवीण थे। तिरुक्कुरल एक तमिल नीतिग्रन्थ है। इसे तमिलवेद भी कहा जाता है। इसके कर्त्ता एलाचार्य कुन्दकुन्द थे। नालडियार एक संग्रह ग्रन्थ है, यह भी कुरल के समान समाहृत है। शिलप्पदिकारम् चेल के युवराज, जो कि मुनि हो गए थे, की महत्त्वपूर्ण कृति है। यह तमिल के पाँच महाकाव्यों में परिगणित है। पंचमहाकाव्यों में तीन जैन ग्रन्थ तथा दो बौद्ध ग्रन्थों की गणना होती है अवशिष्ट दो जैन महाकाव्य वैलयापति और जीवचिन्तामणि हैं। तमिल में पाँच लघु काव्य भी अतिप्रसिद्ध हैं। ये हैं—यशोधरकाव्य, चूलामणि, उदयनकथै, नागकुमारकाव्य और नीलकेशि। ये पाँचों ही जैन रचनायें हैं। इन ग्रन्थों के

अतिरिक्त अनेरिच्चारम्, पलनोलि आदि नीति ग्रन्थ, मेरुमन्दिर पुराणम्, श्री पुराणम् आदि पुराण ग्रन्थ, यप्परंगुलक्करिकै, यप्परंगुलवृत्ति, नेमिनाथम्, नानूल आदि व्याकरण ग्रन्थ, अच्चनंदिमालैं आदि ज्योतिष ग्रन्थ भी जैन साहित्यकारों की तमिल में महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं।[११२]

यहाँ बीसवीं सदी के सुप्रसिद्ध आचार्य ज्ञानसागर महाराज को हम भुला नहीं सके उनका विस्तृत परिचय इस प्रकार है।

आचार्य ज्ञानसागर

राजस्थान के सीकर जिले के राणोली ग्राम में पिता चतुर्भुज एवं माता घृतवरी देवी के यहाँ एक बालक का जन्म १८४८ विक्रम संवत् में हुआ। बालक का नाम भूरामल रखा गया। वह क्रमशः बड़ा होने लगा। विक्रम संवत् १६५६ में पिता का स्वर्गवास हो गया। भूरामल अपने भाई के साथ गया चले गए और एक सेठ की दुकान पर काम सीखने लगे, किन्तु होनहार तो दूसरी ही थी। गया में एक धार्मिक आयोजन हुआ। उस आयोजन में भाग लेने हेतु पूज्य गणेशप्रसाद वर्णीजी द्वारा स्थापित स्याद्वाद महाविद्यालय के छात्र भी गए। छात्रों को देखकर बालक भूरामल के मन में ज्ञान के प्रति तीव्र उत्कंठा जाग्रत हुई। वे अपने भाई की आज्ञा लेकर विद्याध्ययन हेतु बनारस आ गए। वहाँ उन्होने स्याद्वाद महाविद्यालय में प्रवेश ले लिया। विद्यालय में भूरामल की शैली निराली थी। अन्य छात्र जहाँ परीक्षा पास करने को महत्त्व देते थे, वहाँ भूरामल शिक्षा का उद्देश्य मात्र उपाधि प्राप्त कर लेना न मानकर ज्ञान प्राप्ति को ही सच्चा लक्ष्य मानते थे। पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री ने एक बार कहा था कि भूरामल जी सायंकाल गंगा के घाटों पर गमछे बेचकर उससे प्राप्त द्रव्य से अपना भोजन खर्च विद्यालय में जमा कराते थे और शेष से अपना अन्य खर्च चलाते थे। इस प्रकार स्वाभिमान पूर्वक विद्याध्ययन कर वे अपने गॉव राणोली आए और आजीवन ब्रह्मचर्य स्वीकार कर साहित्य सृजन में लग गए। उनके द्वारा लिखी गयी प्रमुख रचनायें निम्नलिखित हैं :

संस्कृत रचनायें : १. दयोदय २. भद्रोदय ३. सुदर्शनोदय ४. वीरोदय ५. जयोदय ६. मुनि मनोरंजन शतक ७. सम्यक्त्व सार शतक।

हिन्दी रचनायें : १. ऋषि कैसा होता है? २. देवागम स्तोत्र का पद्यानुवाद। ३. समयसार टीका ४. ऋषभावतार ५. भाग्योदय ६. गुणसुन्दर वृत्तान्त ७. कर्त्तव्य पथ प्रदर्शन ८. सचित्र विवेचन ६. मानव धर्म १०. स्वामी कुन्दकुन्द और सनातन जैन धर्म ११. पवित्र मानव जीवन १२. सरल जैन विवाह विधि । १३. तत्त्वदीपिका १४. विवेकोदय १५. अष्टपाहुड पद्यानुवाद १६. नियमसार

ग्रंथानुवाद १७. हितसम्पादक।

ईसवी सन् १९४९ विक्रम संवत् २००६ में ब्रह्मचारी भूरामल जी ने आचार्य वीरसागर जी से क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण कर ली और उनका नाम ज्ञानभूषण रखा गया। विक्रम संवत् २०१४ ईस्वी १९५७ में खानिया में उन्होंने आचार्य श्री शिवसागर जी महाराज से मुनिदीक्षा ग्रहण कर ली। अब उनका नाम ज्ञानसागर रखा गया। नसीराबाद की जैनसमाज ने फाल्गुन कृष्ण पंचमी विक्रम संवत् २०२५ शुक्रवार ७ फरवरी १९६९ के दिन आचार्य पद से अलंकृत किया। उन्होंने आचार्य विद्यासागर और मुनि श्री विवेक सागर को मुनिदीक्षा दी थी। अपने शिष्य को आचार्य पर देकर अन्त में उन्होंने सल्लोवना धारण कर ली और एक जून १९७३ को प्रातः १० बजकर ५० मिनट पर वे देहत्यागी हुए।

---

१. *विशेष जानकारी के लिए डॉ. नेमीचन्द्र शास्त्री का भगवान महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग–४ देखिए।*
२. *तिलोयपण्णत्ती १४७६–१४९२ (शोलापुर संस्करण)।*
३. *धवला ४/१/४४ पृ. १२९–१३२।*
४. *वही १/१/१ पृ. ६५–६७।*
५. *पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री : जैन धर्म पृ. ३०१–३०२।*
६. *नीतिसार ६–८।*
७. *जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश भाग–१ पृ. ३१५–३१६।*
८. *जैन शिलालेख संग्रह भाग–३, पृ. ४३ (डॉ. गुलाबचन्द चौधरी द्वारा लिखित प्रस्तावना)।*
९. *वही, भाग–४, पृ. ३५।*
१० *जैन शिलालेख संग्रह भाग–३, पृ. ४५ (प्रस्तावना)।*
११. *वही भाग–५ (डॉ. विद्याधर जोहरापुरकर द्वारा लिखित प्रस्तावना) पृ. २१।*
१२. *जैन शिलालेख संग्रह भाग–३ (प्रस्तावना) पृ. ५६–५७।*
१३. *वही भाग १ पृ. १४५।*
१४. *देशी गण Jain antiguary part I Vol-3, P. 63-66A*
१५. *जैन शिलालेख संग्रह भाग–५ (प्रस्तावना)।*
१६. *जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश भाग–१, पृ. ३१९।*
१७. *जैन शिलालेख संग्रह भाग–४, पृ. १२–१३ (प्रस्तावना)।*
१८. *वही भाग–३, पृ. ५९–६०।*
१९. *जैन शिलालेख संग्रह भाग–३ पृ. ६१।*
२०. *डॉ. विद्याधर जोहरापुरकर : भट्टारक सम्प्रदाय पृ. ४४।*
२१. *वही पृ. ४४।*
२२. *भट्टारक सम्प्रदाय पृ. ४६–४७।*

२३. जैन शिलालेख संग्रह भाग –३ (प्रस्तावना) पृ. १६२।
२४. दर्शनसार २४–२७।
२५. हरिवंश पुराण १/३२।
२६. जैनशिलोख संग्रह तृ. भाग पृ. ३७ (प्रस्तावना)।
२७. दर्शनसार ३३–३६।
२८ पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री : जैनधर्म पृ. ३०५।
२६. दर्शनसार ४०–४२
३०. जैन सिद्धान्त भास्कर भाग–२ किरण ४ पृ. २८–२६।
३१. जैन शिलालेख संग्रह भाग–२, पृ. ३४८।
३२. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री : जैनधर्म पृ. ३०२–३०३।
३३. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा भाग–२, पृ. ३१।
३४ डॉ. रमेशचन्द जैन, जैन पर्व पृ. ६६–६६।
35. The Jaina Sources of the History of India P-114.
३६. कसायपाहुड : पञ्चम भाग पृ. ३८८।
37 The Jaina Soures of the History of Ancient India P.116.
३८. कसायपाहुड सुत्त (पं. हीरालाल सिद्धान्त शास्त्री द्वारा लिखित प्रस्तावना)
३६ कसायपाहुड सुत्त (पं. हीरालाल जैन सिद्धान्तशास्त्री द्वारा लिखित प्रस्तावना, पृ. २६, २७)।
४०. मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन पृ. ४१।
४१. इति मूलाचारविवृतौ द्वादशोऽध्यायः। कुन्दकुन्दाचार्य प्रणीतमूलाचाराख्यविवृतिः। कृतिरियं वसुनन्दिनः श्री श्रमणस्य।। मूलाचार भाग–२, पृ. ३२४।
४२. मूलाचाराख्यशास्त्रं वृषभजिनवरोपज्ञमर्हत्प्रवाहादायातं कुन्दकुन्दाह्वयचरम लसच्चारणेसु प्रणीतम्।। तद् व्याख्यां वासुनन्दीमबुध विलिखनावाचनाना या मा सभक्त्या........ संशोध्याध्यैतुमहमिकृत यति कृति.......। २०५

अनेकान्त, वर्ष १३, किरण १, पृ. १८ जुलाई १६५४।

४३. आचार्य शान्तिसागर जन्म शताब्दी स्मृति ग्रन्थ पृ. ७७–७८।
४४. मूलाचारे आइरिया एवं निउणं णिरुवेंति।।
४५. मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन पृ. ४५।
४६. भगवती आराधना (पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री द्वारा लिखित प्रस्तावना) पृ. ४८।
४७. वही पृ. ४६।
४८. श्रवणेलगोल शिलालेख, नं. ५४।
४६. आगम युग का जैन दर्शन पृ. २६६–२६७।
५०. सन्मति तर्क ३/४७–४६।
५१. वही १/१०–१२।
५२. श्रीदत्तायन मस्तस्मै तपः श्रीदीप्तमूर्तये।
कण्ठीरवायितं येन प्रवादीभप्रभेदने।। आदिपुराण १/४५।
५३. आदिपुराण में प्रतिपादित भारत, पृ. ७।
५४. आदिरपुराण १/४६।

५५. डॉ. नेमिचन्द्रशास्त्री : आदिपुराण में प्रतिपादित भारत पृ. ७ी
५६. श्रवणबेलगोला शिलालेख नं. १०५ वि.सं. १३२०।
५७. नन्दिसंघ की पट्टावली।
५८. पार्श्वनाथचरित सर्ग–१, पद्य १८।
५९. श्री पूज्यपाद मुनिरप्रतिमौषधर्द्धिः। जीयात् विदेहजिनदर्शन पूतगात्रः।
यत्पादधौतजल संस्पृशं प्रभवात्। कालायसं किलतदा कनकी चकार।।
(शिलालेख १०८ शक सं. १३५५)
६०. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री : जैन न्याय पृ. २३–२४।
६१. जैन न्याय पृ. २५।
६२. परमात्म प्रकाश, दोहा २/२११।
६३. भगवान् महावीर और उनकी आचार्य परम्परा भाग–२, पृ. २४५।
६४. परमात्मप्रकाश (रायचन्द्र शास्त्रमाला) दोहा–२/२११।
६५. आसीदिन्द्र गुरोर्दिवाकर यतिः शिष्योऽस्य चार्हन्मुनिः।
स्तस्मसल्लक्ष्मण सेन सन्मुनिरद शिष्यो रविस्तु स्मृतम्।। पद्मचरित १२३/१६८
६६. नाथूराम प्रेमी : जैन साहित्य और इतिहास पृ. ८८।
६७. पद्मचरित १२३/१२८।
६८. वही १/४१–४२।
६९. वही १२३/१६७।
७०. डॉ. रमेशचन्द जैन : पद्मचरित में प्रतिपादित भारतीय संस्कृति।
७१. काव्यानुचिन्तने यस्य जटाः प्रबलवृत्तयः। अर्थान् स्मानुवदन्ती व जटाचार्य। सः नो ऽ वतात्।। आदिपुराण १/५०।
७२. आदिपुराण में प्रतिपादित भारत पृ. ८
७३. आदिपुराण १/५१।
७४. दर्शन और चिन्तन पृ. ३६५।
७५. सिद्धि विनिश्चय टीका प्र. भाग प्रस्तावना पृ. १५।
७६. बौद्ध दर्शन की शास्त्रीय समीक्षा पृ. १०–११।
७७. हरिवंश पुराण की पं. पन्नालाल साहित्याचार्य द्वारा लिखित प्रस्तावना पृ. ७।
७८. वही पृ. ८। वही पृ. ८। वहीं पृ. ८। वही पृ. ३।
७९. आदिपुराण में प्रतिपादित भारत पृ. १०।
८०. वही पृ. १०।
८१. पार्श्वाभ्युदय (डॉ. रमेशचन्द जैन द्वारा लिखित प्रस्तावना पृ. २६–२७।
८२. बौद्ध दर्शन की शास्त्रीय समीक्षा पृ. १४।
८३. प्रमेयरत्नमाला (प्रस्तावना) पृ. ४४–४५।
८४. जैन न्याय पृ. ३८।
८५. प्रेमयरत्नमाला पृ. ३–४।
८६. प्रमेयरत्नमाला (प्रस्तावना) पृ. ४०।
८७. बौद्धदर्शन की शास्त्रीय समीक्षा पृ. १५।

८८. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परमपरा (भाग–३) पृ. ६१–६२।
८६. पार्श्वाभ्युदय (प्रस्तावना पृ. ३१)
डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन : भारतीय इतिहास : एक दृष्टि, द्वि.सं. पृ. ३०२।
६०. भावसंग्रह (आचार्य देवसेन का पं. लालाराम शास्त्री द्वारा लिखित परिचय पृ. १–२)
६१. गोम्मटसार जीवकाण्ड (पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री द्वारा लिखित प्रस्तावना पृ. १०)
६२. वही (डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन द्वारा लिखित प्रधान सम्पादकीय पृ. ७)
६३. चन्द्रप्रभचरितम् (पं. अमृतलाल शास्त्री द्वारा लिखित प्रस्तावना पृ. ३०)
६४. सिद्धान्तसार संग्रह (पं. जिनदास शास्त्री फड़कुले द्वारा लिखित प्रस्तावना पृ. ८–१०)
६५. पद्मनन्दि पञ्चविंशतिका (प्रस्तावना पृ. २७)
६६. अर्हत् वचन त्रैमासिक, सितम्बर १६८८ (डा. अनुपम जैन तथा डॉ. सुरेशचन्द्र अग्रवाल का लेख, पृ. ४१)
६७. वही पृ. ४४।
६८. मिलापचन्द कटारिया, रतनलाल कटारिया : जैन निबन्ध रत्नावली पृ. ३३८।
६६. डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन : भक्तामर रहस्य की प्रस्तावना पृ. ३६।
१००. जैन साहित्य और इतिहास पृ. ४११ (द्वितीय संस्करण)
१०१. बृहत् कथा कोश : सिंघी सीरीज, प्रशस्ति पद्य ३–५।
१०२. यशस्तिलक चम्पू, आश्वास २ पृ. ४१८।
१०३. नीतिवाक्यामृत की प्रशस्ति पृ. ४०६।
१०४. नीतिवाक्यमृत की प्रशस्ति पृ. ४०६
नीतिवाक्यामृत में राजनीति पृ. १३
१०५. लैमुलवाउदापत्र, श्लोक १५–१८।
१०६. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा भाग–३ पृ. १४७।
१०७. नयचक्र, माइल्ल धवल कृत General Editional, P-6-7.
१०८. पं. दरबारी लाल कोठिया की द्रव्य संग्रह प्रस्तावना।
१०६. सिद्धान्तसारादिसंग्रह (पं. नाथूराम प्रेमी द्वारा लिखित ग्रन्थकर्ताओं का परिचय पृ.७)
११०. महावीर जयन्ती स्मारिका १६८४।

दिगम्बर प्रतिमाओं के निर्माण की परम्परा

दिगम्बर प्रतिमायें अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पञ्च परमेष्ठियों की प्राप्त होती हैं। इनमें से आचार्य, उपाध्याय तथा साधु की प्रतिमायें बहुत कम प्राप्त होती है। सिद्ध प्रतिमायें इन तीनों से अधिक संख्या में निर्मित हैं तथा अरहन्त प्रतिमायें सर्वाधिक संख्या में प्राप्त होती हैं। अरहन्तों में भी सामान्य केवली की अपेक्षा तीर्थंकर प्रतिमायें अधिक हैं।

मूर्ति निर्माण अतदाकार और तदाकार दो रूपों में प्रचलित है। प्रारम्भ में अतदाकार प्रतीकों की मान्यता प्रचलित हुई। एक बार सम्राट् भरत चक्रवर्ती भगवान ऋषभदेव के दर्शन कर कैलाशगिरि से अयोध्या वापिस आए। उस समय उनका मन भक्तिभाव से ओतप्रोत था। भगवान के दर्शन की इस घटना की स्मृति को सुरक्षित रखने के लिए उन्होंने कैलाश शिखर के आकार के घण्टे बनवाए और उन पर भगवान ऋषभदेव की मूर्ति का अंकन कराकर इन घण्टों को राजप्रसाद के दरवाजों पर लटकवा दिया। इससे प्रति समय आतेजाते भगवान ऋषभदेव के दर्शन भी होते थे और घटना की स्मृति सदैव ध्यान में रहती थी; परन्तु इससे भी सन्तुष्टि न होने पर कैलाशगिरि पर ७२ जिनालय बनवाए और उनमें रत्नों की प्रतिमायें विराजित कराईं। इतिहास में यह तदाकर प्रतीक पूजा का प्रथम प्रयास था।

भरत ने पोदनपुर में ५२५ धनुष की बाहुबलि की मूर्ति प्रतिष्ठित करायी थी। यह प्रथम सबसे विशाल प्रतिमा का उल्लेख है।[1] तीर्थंकर मूर्तियाँ केवल दो आसनों में पायी जाती हैं– १. पद्मासन और २. खड्गासन। पद्मासन अवस्था में तीर्थंकर के दायें चरण ऊपर बायें चरण नीचे होते हैं और हाथ इस क्रम में होते हैं कि बायें हाथ की हथेली दायें हाथ की हथेली से नीचे होती है। खड्गासन अवस्था में प्रतिमा सीधी, खड़ी तथा जानुपर्यन्त लम्बायमान बाहु वाली होती है। प्रारम्भ में ये प्रतिमायें बिना चिन्ह के ही बनती थीं, बाद में प्रत्येक तीर्थंकर के अलगअलग चिन्ह बनाए जाने लगे। ये चिन्ह तीर्थंकर के दायें चरण के अँगूठे में होते हैं, किन्तु जिनेन्द्र मूर्ति के सामने ही (पादपीठ पर) ये चिन्ह बना दिए जाते हैं, ताकि सहज में ही मूर्ति के माध्यम से ही तीर्थंकर की पहिचान हो सके।

तीर्थंकर	चिन्ह
१. श्री ऋषभनाथ	बैल
२. श्री अजितनाथ	हाथी
३. श्री सम्भवनाथ	घोड़ा
४. श्री अभिनन्दन नाथ	बन्दर
५. श्री सुमतिनाथ	चकवा
६. श्री पद्मप्रभ	लाल कमल
७. श्री सुपार्श्वनाथ	स्वस्तिक
८. श्री चन्द्रप्रभ	चन्द्रमा
६. श्री पुष्पदन्त	मगर
१०. श्री शीतलनाथ	कल्पवृक्ष
११. श्री श्रेयांसनाथ	गैंडा
१२. श्री वासुपुज्य	भैंसा
१३. श्री विमलनाथ	शूकर
१४. श्री अनन्तनाथ	सेही
१५. श्री धर्मनाथ	वज्रदण्ड
१६. श्री शान्तिनाथ	हरिण
१७. श्री कुन्थुनाथ	बकरा
१८. श्री अरहनाथ	मत्स्य
१६. श्री मल्लिनाथ	कलश
२०. श्री मुनिसुव्रतनाथ	कछुआ
२१. श्री नमिनाथ	नीलकमल
२२. श्री नेमिनाथ	शंख
२३. श्री पार्श्वनाथ	सर्प
२४. श्री महावीर	सिंह

समरांगण सूत्रधार के अनुसार तीर्थंकरों की प्रतिमा शास्त्रीय विन्यास की दृष्टि से आजानुबाहु, श्रीवत्स लाञ्छन, सौम्य एवं शान्त, नग्नरूप, तरुणावस्था व विशिष्ट वृक्ष से सम्बन्धित रहती थी।[2]

जैन प्रतिष्ठा ग्रन्थों और बृहत्सहिंता, मानसार, अपराहितपृच्छा, देवमूर्ति प्रकरण, रूपमण्डन आदि ग्रन्थों में जिन प्रतिमा के लक्षण बतलाए गए हैं। प्रतिष्ठा चन्द्रिका में कहा है—

शान्तं नासाग्रदृष्टिं विमलगुणगणैभ्रजिमानं प्रशस्तं
मानोन्मानं च यामे विधृतकरवरं नामपद्मासनस्थं।
व्युत्सर्गालिम्बिपाणिस्थलनिहितपदाम्भोजमानप्रकम्बु
ध्यानारूढं विदैन्यं भजतमुनिजनानंदकं जैनबिम्बं।।

जिनबिम्ब को शान्त, नासग्रदृष्टि, प्रशस्तमानोन्मानयुक्त ध्यानारूढ़ एवं किञ्चित् नम्रग्रीव बताया है। दिगम्बर जैन प्रतिमा श्रीवत्स युक्त, नखकेशविहीन, परमशान्त, वृद्धत्व और बालत्व रहित, तरुण एवं वैराग्य गुण से भूषित होती है।

सिद्ध परमेष्ठी की प्रतिमाओं में प्रातिहार्य नहीं बनाए जाते हैं। अर्हत्प्रतिमाओं में उनका होना आवश्यक है। अर्हन्त और सिद्ध दोनों की मूल प्रतिमायें बनायी तो समान जाती हैं, पर अष्ट प्रातिहार्यों के होने अथवा न होने की अवस्था में उनकी पहिचान होती है। अर्हन्त अवस्था की प्रतिमा में अष्टप्रातिहार्यों के साथ दायीं ओर यक्ष और बायीं ओर यक्षी तथा पादपीठ के नीचे जिन का लांछन भी दिखाया जाता है। तिलोयपण्णत्ती में भी सिंहासन तथा यक्षयुगल से युक्त जिन प्रतिमाओं का वर्णन किया है। ठक्कर फेरु ने तीर्थंकर प्रतिमा के आसन और परिकर का विस्तार से वर्णन किया गया है। मानसार में भी जिन प्रतिमाओं के परिकर आदि का विस्तार से वर्णन है। अपराज्ति पृच्छा में यक्ष–यक्षी, लांछन और प्रातिहार्यों की योजना का विधान है। सूत्रधार मण्डन के ग्रन्थों में जिन प्रतिमा को छत्रत्रय, अशोकद्रुम, देवदुन्दुभि, सिंहासन, धर्मचक्र आदि से युक्त बताया गया है। कुछ तीर्थंकरों की प्रतिमाओं में उनके विशिष्ट लक्षण भी दिखाए जाते है। जैसे आदिनाथ प्रतिमा जटाशेखर युक्त होती है। सुपार्श्वनाथ के मस्तक पर सर्प के पाँच फणों का छत्र तथा पार्श्वनाथ के मस्तक पर ७या इससे ज्यादा फणों का नाग छत्र होता है।[3]

वसुनन्दि आचार्य ने जिन प्रतिमा में नासाग्रनिहित, शान्त, प्रसन्न एवं माध्यस्थ दृष्टि को उत्तम बताया। वीतराग की दृष्टि न तो अत्यन्त उन्मीलित हो और न विस्फुरित हो। दृष्टि तिरछी, ऊँची या नीची न हो इसका विशेष ध्यान रखे जाने का विधान है।

आचार्यकल्प पण्डित प्रवर आशाधर जी और वर्द्धमान सूरि ने भी अनिष्टकारी, विकृतांग और जर्जर प्रतिमाओं की पूजा का निषेध किया है।

भग्न प्रतिमाओं की पूजा नही की जाती। उन्हें सम्मान के साथ विसर्जित कर दिया जाता है। मूलनायक प्रतिमा के मुख, नाक, कान, नेत्र, नाभि और कटि के भग्न हो जाने पर वह त्याज्य होती है। ऐसा वास्तुसार प्रकरण में वर्णन आया है। जिन प्रतिमाओं के अंग और प्रत्यंगों के भंग होने का फल बताया है कि नखभंग होने से शत्रुभय, अंगुली–भंग से देश में भय, अराजकता, बाहुभंग से बन्धन, नासिका नष्ट होने से कुलनाश और चरणभंग होने से द्रव्यनाश होता है। वास्तुसार ग्रन्थ का यह भी मत है कि जो प्रतिमायें सौ

वर्ष से अधिक प्राचीन हों और महापुरुषों द्वारा स्थापित की गयी हों, वे यदि विकलांग भी हो जावें तब भी पूजनीय है। उन्होंने उन प्रतिमाओं के केवल चैत्यालय में रखने योग्य कहा है, गृह में नहीं।[४]

जैनों में मूर्ति निर्माण की परम्परा बहुत प्राचीन है। हड़प्पा की खुदाई से प्राप्त अवशेषों में एक पत्थर की मूर्ति विशेष उल्लेखनीय है; क्योंकि यह मूर्ति लोहानीपुर से प्राप्त जिन प्रतिमा से बहुत साम्य रखती है। लगभग चार इंच ऊँची इस मूर्ति के दोनों हाथ और पैर तथा सिर टूट गए हैं। इसके दोनों स्कन्धों के सामने दो गोल गड्ढे बनाए गए हैं जो कि जैन प्रतिमाओं में बिल्कुल अप्राप्त हैं। मूर्ति को देखने से ऐसा लगता है कि यह कायोत्सर्ग मुद्रा में निर्मित है। विद्वान् इसे जिन प्रतिमा मानते हैं।

कलिंगराज खारवेल के शिलालेख में जिस कलिंगजिन प्रतिमा का उल्लेख मिलता है, वह प्राचीन उल्लेख है। खारवेल का समय लगभग चौथी सदी ई. पूर्व माना जाता है।

दिगम्बर जैन प्रतिमाओं का प्राचीनतम उदाहरण हमें मौर्यकाल का मिलता है। वस्तुतः इसी काल से पत्थर आदि स्थायी पदार्थों में मूर्तियाँ बनने लगीं। इस काल की केवल २ जिनमूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। ये आजकल पटना संग्रहालय में सुरक्षित है। चुनार पत्थर की बनी हुई ये दोनों ही मूर्तियाँ पूर्णतः नग्न हैं। इनका केवल धड ही अवशेष है। इनमें जो बड़ी मूर्ति है, उस पर मौर्यकालीन ओप है, जो कि इस काल की मूर्तियों की प्रमुख विशेषता है, परन्तु छोटी मूर्ति बिल्कुल सादी है, यद्यपि देखने में दोनों एक जैसी हैं। ये एक देवालय की नीव से एक ही स्तर पर कुछ मौर्यकालीन ईंटों और एक आहत सिक्के के साथ मिली हैं। काशी प्रसाद जायसवाल के अनुसार ओपयुक्त मूर्ति मौर्यकालीन है तथा बिना ओप वाली मूर्ति शुंगकालीन है।[५]

श्री वासुदेव उपाध्याय ने लिखा है— मथुरा में २४ वें तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर की एक मूर्ति मिली है जो कुमारगुप्त के समय में तैयार की गयी थी। वास्तव में मथुरा में जैन मूर्तिकला की दृष्टि से भी बहुत काम हुआ है। श्री रायकृष्णदास ने लिखा है कि मथुरा की शुंगकालीन कला मुख्यतः जैन सम्प्रदाय की है।[६]

दक्षिण भारत के अलगामलै नामक स्थान में खुदाई से जैन मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं, उनका समय ई. पू. ३००–२०० के लगभग बताया जाता है। उन मूर्तियों की सौम्याकृति द्रविड़काल में अनुपम मानी जाती है।[७]

धातुनिर्मित एक अति प्राचीन टूटी जिनप्रतिमा प्रिंस आफ वेल्स म्यूजियम बम्बई में संगृहीत है। यह जोन्धली बागर थाना, महाराष्ट्र से प्राप्त हुई है। अभिलेख के अभाव में इसकी निश्चित तिथि ज्ञात नहीं है। कला शैली के

आधार पर डा. उ.प्रे. शाह इसे ई.पू. १०० की मानते हैं। प्रस्तुत प्रतिमा नग्न और कायोत्सर्ग मुद्रा में अवस्थित है। प्रतिमा के सिर पर पाँच सर्प फणों से युक्त एक छत्र है, जिसके आधार पर इसे सुपार्श्वनाथ प्रतिमा माना जाता है।[८]

ग्वालियर दुर्ग में पद्मासन प्रतिमाओं में सर्वोत्तम प्रतिमा भगवान पार्श्वनाथ की है, जो ३५ फुट ऊँची है और ३० फीट चौड़ी है। यह संसार की पद्मासन प्रतिमाओं में सबसे विशाल प्रतिमा है। इतनी विशाल मूर्ति अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं होती। यह प्रतिमा तोमरवंश के राज्यकाल की है। इसी प्रकार, चंदेरी की चौबीसी की समता कोई दूसरी चौबीसी नहीं कर सकती है।[९]

संसार के संग्रहालयों में भारत से लाई गई अनेक प्राचीन जैन प्रतिमायें सुरक्षित हैं। इन संग्रहालयों में फ्रांस की राजधानी पेरिस का म्यूजिगिमें संग्रहालय, लन्दन का ब्रिटिश संग्रहालय, विक्टोरिया संग्रहालय तथा अलबर्ट संग्रहालय, अमेरिका का दि आर्ट इन्स्टीट्यूट ऑफ शिकागो विशेष प्रसिद्ध हैं।[१०]

जैनों ने कला के प्रकाश में कभी भी अपने उपकरणों को नहीं देखा। अजैनो ने इन्हें धार्मिक वस्तु समझा, परन्तु जैन मन्दिर और मूर्ति केवल धार्मिक उपासना के ही अंग नहीं हैं, उनमें भारतीय जनजीवन के साथ कला और सौन्दर्य के निगूढ़ तत्त्व भी सन्निहित हैं। विशुद्ध सौन्दर्य की दृष्टि से यदि जैन पुरातन अवशेषों को देखा जाय तो उनकी कल्पना, सौष्ठव और उत्प्रेरक भावनाओं के आगे नतमस्तक होना पड़ेगा।[११]

---

१. अर्हत् वचन अक्टूबर १९९१ (वर्ष ३ अंक–४) श्री रामजीत जैन एडवोकेट का लेख भारत में मूर्तियों के निर्माण की परम्परा।
२. समरांगण सूत्रधार ५०, १०
३. आचार्य श्री धर्मसागर अभिवन्दन ग्रन्थ पृ. ८१६ (ब्र. धर्मचन्द्र शास्त्री का लेख)
४. वहीं पृ. ८१६
५. Journal of Bihar Orisa research society Vol XXII P. 130-32
६. भारतीय मूर्तिकला पृ. ५६, ७. जैन धर्म पृ. २७८, ८. श्रमण, नवम्बर, दिसम्बर १९७३ श्री हरिहरसिंह का लेख, ९. अर्हत् वचन, अक्टूबर १९९१, वर्ष ३ अंक ४, १०. विशेष जानकारी के लिए डॉ. ब्रजेन्द्र शर्मा का ट्रेक्ट संसार के संग्रहालयों में जैन मूर्तियाँ देखिए। प्रकाशक ज्ञानम्, सुजागंज, भागलपुर।
११. Dr. Samresh bandyopadhyaya, Calcutta.

दिगम्बरत्व के विषय में नाथूराम प्रेमी का लेख

पहले तीर्थों पर तीर्थंकरों या सिद्धों के चरणो की पूजा होती थी और ये चरण दोनों को समान रूप से पूज्य थे। प्राचीन काल में दिगम्बर और श्वेताम्बर प्रतिमाओं में कोई भेद न था। प्रायः दोनों ही नग्न प्रतिमाओं को पूजते थे। मथुरा के कंकाली टीले में लगभग दो हजार वर्ष की प्राचीन प्रतिमायें मिली हैं, वे नग्न हैं और उन पर जो लेख हैं, वे कल्पसूत्र की स्थविरावली के अनुसार हैं। इसके सिवा १७ वीं सदी में पं. धर्मसागर उपाध्याय ने अपने प्रवचनपरीक्षा नामक ग्रन्थ में लिखा है कि गिरनार और शत्रुंजय पर एक समय दोनों साम्राज्यों में झगड़ा हुआ और उसमें शासन देवता की कृपा से दिगम्बरों का पराजय हुआ। अब इन दोनों तीर्थों पर श्वेताम्बर सम्प्रदाय का अधिकार हो गया। आगे जाकर किसी प्रकार का झगड़ा न हो, इसके लिए श्वे. संघ ने यह निश्चय किया कि अब से जो नई प्रतिमायें बनवायी जाँय, उनके पाद मूल में वस्त्र का चिन्ह बना दिया जाय। इस पर दिगम्बरो को क्रोध आ गया और उन्होंने अपनी प्रतिमाओ का नग्न बनाना शुरू कर दिया। यही कारण है कि संप्रति राजा आदि की बनवाई हुई प्रतिमाओं पर वस्त्र लांछन नहीं है और आधुनिक प्रतिमाओं पर है। इससे पूर्व की प्रतिमाओं पर वज्र लांछन भी नहीं है और स्पष्ट नग्नत्व भी नहीं है। इस कथन से यह बात अच्छी तरह सिद्ध होती है कि पूर्वोक्त विवाद के पहले दोनों प्रतिमाओं में भेद नहीं था। दोनों एकत्र होकर उपासना करते थे। उस समय तक लड़ने झगड़ने को कोई कारण न था। अब तो दोनों की प्रतिमाओं और उपासना विधि में भी बहुत अन्तर पड़ गया है।

रत्नमण्डन गणिकृत सुकृतसागर नाम के ग्रन्थ पेथड़तीर्थ यात्राद्वय प्रबन्ध में लिखा है कि प्रसिद्ध दानी पेथड़ शाह शत्रुंजय की यात्रा करने संघ सहित गिरनार पहुँचे। उनके पहले यहाँ दिगम्बर संघ आया हुआ था। उस संघ का स्वामी पूर्णचन्द्र नाम का अग्रवालवंशी धनिक था। वह देहली का रहने वाला था। उसे अलाउद्दीन शाखीनमान्य विशेषण दिया है। अर्थात् वह कोई राजमान्य पुरुष था। उसने कहा कि पर्वत पर पहले हमारा संघ चढ़ेगा; क्योंकि एक तो हम लोग पहले आए हैं, दूसरे यह तीर्थ भी हमारा है। यदि यह तीर्थ तुम्हारा है तो इसका प्रमाण दो। यदि भगवान् नेमिनाथ की प्रतिमा

पर अंचलिका और कटिसूत्र प्रकट हो जाय तो इसे तुम्हारा तीर्थ मान लेंगे। भगवान् भव्य जनों के दिए हुए आभरण सहन नहीं कर सकते, इसलिए इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह तीर्थ हमारा है। इस पर पथेडशाह बोले कि भगवान् आभरणादि सहन नहीं कर सकते, इसका कारण यह है कि उनकी कीर्ति बारह योजन तक फैली हुई है। आम के वृक्ष पर तोरण की ओर लंका में लहरों की चाह नहीं होती। जिस प्रकार फलोधी (मारवाड़) नें प्रतिमाधिष्ठित देव आभूषणापहारक हैं, उसी तरह यहाँ भी हैं। यदि यह तीर्थ तुम्हारा है तो शैवों का भी हो सकता है; क्योंकि यह पर्वत लिंगाकार है और गिरि–वारि धारक है। इस तरह वादविवाद हो रहा था कि कुछ वृद्धजनों ने आकर कहा अभी तो इस झगड़े को छोड़ दो और यात्रा को चलो। वहाँ इन्द्रमाला (फूलमाल) लेते समय इसका निर्णय हो जायगा। उस माला को जो सबसे ज्यादा धन देकर लेगा यह तीर्थ उसी का सिद्ध हो जाएगा। निदान दोनों संघ पर्वत पर गए और दोनों ने अभिषेक, पूजन, ध्वजारोपण, नृत्य, स्तुत्यादि कृत्य किए। इसके बाद जब इन्द्र माला का समय आया, तब श्वेताम्बर भगवान के दायें और दिगम्बर बायें बैठ गए। इसी से निश्चय हो गया कि कौन हारेगा और कौन जीतेगा। इन्द्रमाल की बोली बोली जाने लगी। एक दूसरे से अधिक बढते बढ़ते अन्त में श्वेताम्बरों ने ५६ धड़ी (पसेरी) सोना देकर माला लेने का प्रस्ताव किया। दिगम्बर अभी तक तो बराबर बढे जाते थे, परन्तु अब वे धबराए और सलाह करने लगे। उन्होंने संघपति से कहा—

लुण्ठितैरिव भूत्वा च फलं किं तीर्थवालने।
इमं न हि समादाय शैलेशं यास्यते गृहे।।

अर्थात् इस तरह लुटकर तीर्थ लेने से क्या लाभ? क्या इस पर्वतराज को उठाकर ले चलना है। अन्त में पूर्णचन्द्र ने कह दिया कि आप ही माला पहिन लीजिए। इससे दिगम्बर मुरझा गए और अपना सा मुँह लिए यात्रा करके नीचे उतर आए।

यह कथा यद्यपि श्वेताम्बरों की धनाढ्यता, उदारता और गिरनार पर श्वेताम्बराधिकार सिद्ध करने के मुख्य अभिप्राय से लिखी गई है, तो भी इसमें बहुत कुछ ऐतिहासिक तथ्य है और यह सिद्ध होता है कि उस समय दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों एक मन्दिर में उपासना करते थे और इन्द्रमाल की बोली दोनों के समूह के बीच बोली जाती थी। इससे यह भी मालूम होता है कि उस समय गिरनार के मूल नायक नेमिनाथ की प्रतिमा आभूषणों से सुसज्जित और कटिसूत्र तथा अंचलिका से भी लांछित नहीं थी। इसी तरह उदाहरण

के तौर पर फलौधी तीर्थ की प्रतिमा के विषय में कहा है कि वहाँ का प्रतिमाधिष्ठित देव भूषणापहारक है, से जान पड़ता है कि वहाँ भी उस समय (कम से कम रत्नमण्डनगणि के समय में) प्रतिमाओं को भूषणादि नहीं पहनाए जाते थे।

श्री रत्नमन्दिर गणिकृत उपदेश तरंगिणी (पृ. १४८) में लिखा है—

"सौराष्ट्र देश के गोमण्डल (गोंडल) निवासी धाराक नाम के संघपति थे। उनके ७ पुत्र, ७०० योद्धा, १३०० गाड़ियाँ और १३ करोड़ अशर्फियाँ थीं। वे शत्रुंजय की यात्रा करके जब गिरनार की यात्रा को गए, जो कि ५० वर्ष से दिगम्बरों के अधिकार में था, तब उन्हें खेजार नामक किलेदार से लड़ना पड़ा और उसमें उनके सातों पुत्र और योद्धा मारे गए। उसी समय उन्होंने सुना कि गोपगिरि (ग्वालियर) के राजा आम हैं और उन्हें वप्पभट्टि ने प्रतिबोधित कर रखा है, तब वे ग्वालियर आए। उस समय वप्पभट्टि का व्याख्यान हो रहा था। स्वयं राजा और आठ श्रावक बैठे सुन रहे थे। धाराक ने दिगम्बराधिकृत गिरनार तीर्थ की हालत सुनायी। गुरु ने भी तीर्थ की महिमा का वर्णन किया। इस पर आम राजा यह प्रतिज्ञा कर बैठे कि गिरनार के नेमिनाथ की बन्दना किए बिना मैं भोजन ग्रहण नहीं करूँगा। एक हजार श्रावकों ने भी यही प्रतिज्ञा की। तब राजा एक बड़े भारी संघ के साथ चल पड़े। बत्तीस उपवास करके स्तम्भ तीर्थ अर्थात् खम्भात पहुँचे। राजा का शरीर बहुत खिन्न हो गया था। यह देखकर गुरु ने अम्बिका को बुलाया और उसके द्वारा अपापमठ से एक प्रतिमा मँगवाली और उसका दर्शन करके राजा प्रतिज्ञा मुक्त हो गए। इसके बाद एक माह तक दिगम्बरों से विवाद हुआ और अन्त में अम्बिका ने 'ऊर्जिति सेलसिहरे' आदि गाथा कहकर विवाद की समाप्ति कर दी। (गाथा में यह कहा गया है कि जो स्त्रियों की मुक्ति मानता है, वही सच्चा जैन मार्ग है और उसी का यह तीर्थ है) इस तरह तीर्थ लेकर दिगम्बर श्वेताम्बरों की प्रतिमाओं में नग्नावस्था और अञ्चलिका का भेद कर दिया।

उक्त अवतरण से दो बातें मालूम होती हैं। एक तो यह कि पहले दोनों की प्रतिमाओं में कोई भेद नहीं था और दूसरी यह कि इस घटना से पहले गिरनार पर ५० वर्ष से दिगम्बरों को अधिकार था।[1]

इसी उपदेशतरंगिणी (पृ. २४६) में वस्तुपालमन्त्री के संघ का वर्णन है, जो उन्होंने सं. १२८५ में निकाला था। उसमें २४ दन्तमय देवालय, १२० काष्ठ देवालय, ४५०० गाड़ियाँ, १८०० डोलियाँ, ७०० सुखासन, ५०० पालकियाँ, ७००

आचार्य, २००० श्वेताम्बर साधु, १६०० दिगम्बर १६०० श्रीकरी (?) ४००० घोड़े २००० ऊँट और ७ लाख मनुष्य थे। यद्यपि यह वर्णन अतिशयोक्तिपूर्ण है, तो भी इससे यह मालूम होता है कि उस समय तीर्थयात्री, पूजनार्चा आदि कार्यों में दिगम्बर और श्वेताम्बरों में इतनी विभिन्नता नहीं थी, जितनी कि अब है। इसी कारण इस संघ में श्वेताम्बरों के साथ ११०० दिगम्बर भी गए थे। दोनों में आजकल के समान वैरभाव न था और दिगम्बर–श्वेताम्बरों की मूर्तियों में भी कोई अन्तर नहीं था। यदि अन्तर होता तो वस्तुपाल ने दिगम्बरों के लिए दिगम्बर देवालयों की व्यवस्था की होती और उनकी भी संख्या दी होती। जबकि दोनों के तीर्थ एक थे। एक ही तरह की मूर्तियों को पूजते थे। तब यह स्वाभाविक है कि तीर्थ यात्रा के संघ निकालने वाले दोनों को साथ लेकर चलें।

जान पड़ता है कि गिरिनार पर्वत पर दिगम्बरों और श्वेताम्बरों के बीच वह विवाद कभी न कभी हुआ अवश्य है, जिसका उल्लेख धर्म सागर उपाध्याय ने किया है, क्योंकि इसका उल्लेख दिगम्बर साहित्य में कुछ दूसरे रूप में मिलता है। नन्दिसघ की गुर्वावली में लिखा है–

पद्मनन्दी गुरुर्जातो बलात्कार गणाग्रणी।
पाषाणघटिता येन वादिता श्री सरस्वती।।३६।।
ऊर्जयन्तगिरौ तेन-गच्छः सारस्वतोभवेत्।
अतस्तस्मै मुनीन्द्राय नमः श्री पद्मनन्दिने।।३७।।

और भी कई जगह इस घटना का ज़िक्र है कि गिरनार पर दिगम्बरों और श्वेताम्बरों का शास्त्रार्थ हुआ और उसमें सरस्वती की मूर्ति में से ये शब्द निकलने से कि सत्य मार्ग दिगम्बरों का है, श्वेताम्बर पराजित हो गए। सरस्वती की मूर्ति को वाचाल करने वाले पद्मनन्दि भट्टारक थे। जिनका समय उक्त गुर्वावली में विक्रम संवत् १३८५ से १४५० लिखा है। इनके शिष्य शुभचन्द्र और प्रशिष्य जिनचन्द्र थे।

श्वेताम्बर ग्रन्थों में यही घटना इस रुप में वर्णित है कि अम्बिका देवी ने श्वेताम्बरों की जीत यह कहकर कराई कि जिस मार्ग में स्त्री को मोक्ष माना है, वही सच्चा है। जीत चाहे जिसकी हुई हो—परन्तु मालूम होता है कि उक्त विवाद हुआ था, और उसी समय से दिगम्बरों और श्वेताम्बरों में विद्वेष का बीज विशेष रूप से बोया गया, जिससे आगे चलकर बड़े–बड़े विषमय फल उत्पन्न हुए।

मुगल बादशाह अकबर के समय में हीरविजय नाम के एक सुप्रसिद्ध

साधु हुए हैं। अकबर उन्हें गुरुवत् मानता था। संस्कृत और गुजराती में उनके विषय में बीसों ग्रन्थ लिखे गए हैं। इन ग्रन्थों में लिखा है कि हीरविजय ने मथुरा से लौटते हुए गोपाचल की बावनगजी भव्याकृति मूर्ति के दर्शन किए। यह मूर्ति दिगम्बर सम्प्रदाय की है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। इससे मालूम होता है कि बादशाह अकबर के समय तक भी दोनों सम्प्रदायों में मूर्ति सम्बन्धी विरोध तीव्र नहीं था। उस समय श्वेताम्बर सम्प्रदाय के आचार्य तक नग्नमूर्तियों के दर्शन किया करते थे।

तपागच्छ के मुनि शीलविजय ने वि.सं. १७३१–३२ में दक्षिण के तमाम जैनतीर्थों की वन्दना की थी, जिसका वर्णन उन्होंने अपनी तीर्थमाला (गुजराती) में किया है। उससे मालूम होता है कि उन्होंने जैनबद्री, मूडबिद्री कारकल, हूमच पद्मवती आदि तमाम दिगम्बर तीर्थों और दूसरे मन्दिरों की भक्तिभाव से वन्दना की थी। बड़े उत्साह से वे प्रत्येक स्थान की ओर मूर्तियों की प्रशंसा करते देखे जाते हैं। इससे भी मालूम होता है कि उस समय भी श्वेताम्बर साधु नग्नमूर्तियों को हेय दृष्टि से नहीं देखते थे और उनका अपने सम्प्रदाय की मूर्तियों के ही समान आदर करते थे।

ऐसा मालूम होता है कि दिगम्बर और श्वेताम्बर प्रतिमाओं में भेद हो जाने के बाद भी बहुत समय तक दिगम्बर और श्वेताम्बरों में भाईचारा बना रहा। बहुत समय तक इस खयाल के लोग भी दोनों सम्प्रदायों में बने रहे कि एक दूसरे के धर्मकार्यों में बाधा नहीं डालनी चाहिए और दोनों को अपने–अपने विश्वास के अनुसार पूजा, अर्चना करने देना ही सज्जनता है।

शत्रुंजय और आबू पर्वतों पर श्वेताम्बर मन्दिरों के बीचों बीच और बगल में दिगम्बर मन्दिरों का अस्तित्व अब भी इस बात की साक्षी दे रहा है कि उस समय के वैभवसम्पन्न और समर्थ श्वेताम्बर भी यह नहीं चाहते थे कि इन तीर्थों पर हम ही रहें, दिगम्बर नहीं आने पावें।

गन्धार (भरोंच) एक प्रसिद्ध बन्दरगाह था। वहाँ एक पुराना दिगम्बर मन्दिर था। जब वह गिर गया और उसकी जगह नया श्वेताम्बर मन्दिर बनवाया गया तब वहाँ के श्वेताम्बर भाईयों ने दिगम्बर प्रतिमाओं को एक जुदी देवकुलिका (देवली) में स्थापित कर दिया। यह देवकुलिका अब भी विद्यमान है।

बिहारशरीफ में सन् १९०१ में एक जैन मन्दिर लेखक ने स्वयं देखा है जिसके अधिकारी श्वेताम्बर हैं। उसमें एक ओर दिगम्बर वेदिका भी है। उसमें जो मूर्तियाँ हैं, उनका दर्शन पूजन दिगम्बर भाई किया करते हैं।

बेलगाँव के दोड्ड बसदि नामक जैनमन्दिर में नेमीनाथ तीर्थंकर की एक मूर्ति है। जिसे यापनीय संघ के एक श्रावक ने शक सं. ६३५ में प्रतिष्ठित कराया था। यह मूर्ति नग्न है और इसे अब दिगम्बर श्रावक ही पूजते हैं। इससे भी अनुमान होता है कि पहले श्वेताम्बर सम्प्रदाय की प्रतिमायें भी नग्न बनाई जाती होंगी। जैन साधुओं के लिए वस्त्रधारण का सर्वथानिषेध यापनीय सम्प्रदाय में भी नहीं था। श्वेताम्बर सम्प्रदाय के समान स्त्रीमुक्ति और केवल भुक्ति को भी वह मानता था।

कुमारपाल प्रतिबोध नामक श्वेताम्बर ग्रन्थ में (जिसे सोमप्रभने वि.सं. १२४१ में रचा) खपुटाचार्य की कथा में लिखा है कि–

"पहले उसने पर्वत के समीप तारा नामक बौद्धदेवी का मन्दिर बन बाया, इस कारण इस तीर्थ को तारापुर कहते हैं। इसके बाद उसी ने फिर वहीं पर सिद्धायिका (जैनदेवी) का मन्दिर बनवाया। परन्तु कालवश उसे दिगम्बरों ने ले लिया। अब वही पर (कुमारपाल राजा कहते है) मेरे आदेश से जसदेव के पुत्र दंडाधिप अभय की देखरेख में अजित जिनेन्द्र का ऊँचा मन्दिर बनवाया गया। इससे ज्ञात होता है कि कुमारपाल राजा के समय तक समूचे तारंगा पर या कम से कम सिद्धायिका देवी के मन्दिर पर दिगम्बरों का अधिकार था[३]।

भगवती अराधना की विजियोदया टीका में एक उद्धरण आचार प्रणिधि का है और यह आचार प्रणिधि दशवैकालिक सूत्र के आठवें अध्याय का नाम है। उसमें लिखा है कि पात्र और कम्बल की प्रतिलेखना करना चाहिए कि वे निर्जन्तुक हैं या नहीं? और फिर कहा गया है कि प्रतिलेखन तो तभी की जायगी, जब पात्र कम्बलादि होगे, उनके बिना वह कैसे होगी?

सूत्रकृतांग के पुण्डरीक अध्ययन में कहा गया है कि साधु को किसी वस्त्रादि की प्राप्ति के मतलब से धर्मकथा नहीं कहनी चाहिए[४]। निशीथसूत्र के दूसरे उद्देश में भी कहा है कि जो भिक्षु वस्त्र, पात्रों को एक साथ ग्रहण करता है, उसे लघुमासिक प्रार्याश्चत्त लेना पड़ता है[५]।

शंकाकार कहता है कि इस तरह सूत्रों में जब वस्त्र ग्रहण निर्दिष्ट है, तब अचेलता कैसे बन सकती है[६]। इसके समाधान में टीकाकार कहते हैं कि आगम में अर्थात् आचारांगादि में आर्यिकाओं को तो वस्त्र की अनुज्ञा है। परन्तु भिक्षुकों को नहीं है और जो है, वह कारण की अपेक्षा है। उस भिक्षु के शरीरावयव लज्जाकर हैं और जो परीषह सहन करने में असमर्थ है, वही वस्त्र ग्रहण करता है[७]। फिर इस बात की पुष्टि में आचारांग तथा बृहत्कल्प[८] के दो उद्धरण देकर आचारांग का एक दूसरा सूत्र बतलाया है, जिसमें मरण

की अपेक्षा वस्त्रग्रहण करने का विधान है[९] और फिर उसकी टीका करते हुए लिखा है—यह जो कहा है कि हेमन्त ऋतु के समाप्त हो जाने पर परिजीर्ण उपधि को रख दे, सो इसका अर्थ यह है कि यदि शीत का कष्ट सहन न हो तो वस्त्रग्रहण कर ले और फिर ग्रीष्मकाल आ जाने पर उसे उतार दे। इसमें कारण की अपेक्षा ही ग्रहण कहा गया है। परन्तु जीर्ण को छोड़ दे। इसका मतलब यह नहीं कि दृढ़ (मजबूत) को न छोड़े। अन्यथा अचेलतावचन से विरोध आ जायेगा। वस्त्र की परिजीर्णता प्रक्षालनादि संस्कार के अभाव से कही गयी है, दृढ़ का त्याग करने के लिए नहीं[१०]। यदि ऐसा मानोगे कि संयम के लिए वस्त्र ग्रहण सिद्ध है तो यह ठीक नहीं, क्योंकि अचेलता का अर्थ है परिग्रह का त्याग और पात्र परिग्रह है, इसलिए उसका त्याग सिद्ध है अर्थात् वस्त्र–पात्र ग्रहण करना सापेक्ष है। जो उपकरण कारण की अपेक्षा ग्रहण किए जाते हैं, उनका जिस तरह ग्रहण का विधान है, उसी तरह उनका परिहरण भी अवश्य कहना चाहिए। इसलिए बहुत से सूत्रों में अर्थाधिकार की अपेक्षा जो वस्त्र–पात्र कहे हैं सो उन्हें ऐसा मानना चाहिए कि कारण सापेक्ष ही कहे गए हैं[११]। और जो भावना (आचारांग का २४ वाँ अध्ययन) में कहा है कि भगवान् महावीर ने एक वर्ष तक चीवर धारण किया और उसके बाद अचेलक हो गए सो इसमें बहुत सी विप्रतिपत्तियाँ हैं। अर्थात् बहुत से विरोध और मतभेद हैं; क्योंकि कुछ लोग कहते हैं कि उस वस्त्र को जो वीर जिन के शरीर पर लटका दिया गया था, लटका देने वाले मनुष्य ने ही उसी दिन ले लिया था। दूसरे कहते है कि वह काँटों और डालियों से उलझते–सुलझते छह मास में छिन्न भिन्न हो गया था। कुछ लोग कहते हैं कि एक वर्ष से कुछ अधिक बीत जाने पर खंडलक नामक ब्राह्मण ने उसे ले लिया था। और दूसरे कहते हैं कि जब वह हवा से उड़ गया और भगवान ने उसकी उपेक्षा की तो लटकाने वाले ने फिर उनके कन्धे पर डाल दिया। इस तरह अनेक विप्रतिपत्तियाँ होने के कारण इस बात में कोई तत्व दिखायी नहीं देता। यदि सचेल लिंग को प्रकट करने के लिए भगवान ने वस्त्र ग्रहण किया था तो फिर उसका विनाश क्यों इष्ट हुआ? उसे सदा ही धारण किए रहना था। यदि उन्हें पता था कि वह नष्ट हो जायेगा तो फिर उसका ग्रहण करना निरर्थक हुआ और यदि नहीं तो वे अज्ञानी सिद्ध हुए। यदि उन्हें चेलप्रज्ञापना वाञ्छनीय थी तो यह वचन मिथ्या हो जायेगा। कि प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर का धर्म आचेलक्य था[१२]। और जो यह कहा कि जिस तरह मैं अचेलक हूँ, उसी तरह पिछले जिन भी अचेलक होंगे, सो इसमें भी विरोध आयेगा। इसके सिवाय वीर भगवान के समान यदि अन्य तीर्थंकरों के भी वस्त्र थे तो उनका वस्त्रत्याग काल क्यों नहीं बतलाया गया। इसलिए यही कहना उचित मालूम होता है कि सब कुछ त्यागकर जब जिन स्थित

थे तब किसी ने उनके ऊपर वस्त्र डाल दिया था और वह एक तरह का उपसर्ग था[१३]।

इसके बाद कहा है कि परिषहसूत्रों में (उत्तराध्ययन में) जो शीत, दंशमशक, तृणस्पर्श परिषहों के सहन के वचन हैं, सब अचेतन के साधक हैं; क्योंकि जो सचेल या सवस्त्र हैं, उन्हें शीतादि की बाधा नहीं होती।

भगवती आराधना की विजयोदया टीका में एक और जगह कहा है कि भूत और भविष्यत्काल के सभी जिन अचेलक हैं। मेरू आदि पर्वतों की प्रतिमायें और तीर्थंकर के मार्गानुयायी गणधर तथा उनके शिष्य भी उसी तरह अचेल हैं। इस तरह अचेलता सिद्ध हुई। जिनका शरीर वस्त्र से परिवेष्टित है, !वे व्युत्सृष्ट प्रलम्वभुज और निश्चल जिन के सदृश जिन के प्रतिरूप नहीं हो सकते[१४]।

---

१. *"सुराष्ट्रायां गोमण्डलग्रामवास्तव्यः सप्तपुत्रः सप्तशतसुभटः १३ शतशकट संघः १३ कोटि स्वर्णपतिः सं. धाराकः श्री शत्रुञ्जय यात्री कृत्वा ५० वर्षावधि दिगम्बराधिष्ठितैरैवतयात्रावसरे खंगारदुर्गपसैन्यैः सह युद्धे ७ पुत्र ७ सुभटक्षये श्री वप्पभट्टि प्रतिबोधितगोपगिरौ श्री आमभूपतिं ज्ञात्वा तस्यामनृपस्य सूरिपार्श्वे व्याख्यानोपविष्टाष्ट श्राद्धैः समं सं. धाराकः समागतः। तेन दिगम्बर गृहीत तीर्थस्वरुपं कथितम्। गुरुभिस्तन्माहिमोक्तौ आमनृपेण गिरिनारनेमिवन्दनं विना भोजनाभिग्रहो गृहीतस्ततः संघश्चचाल। १ लक्षं पोष्टिकानौं लक्षंतुरंगमाणान, ७ शतानि गजानाम्, विंशतिसहस्राणि श्रावक कुलानाम्, ३२ उपवासैः स्तम्भतीर्थे प्राप्तः। राज्ञः शरीरं खिन्नम्। गुरु भिरम्बिकां प्रत्यक्षीकृत्य अपापमठात् प्रतिमैका आनीता। नृपाभिग्रहो मुत्कलो जातः। मासमेकं दिगम्बरै, सह वादः पश्चादम्बिकया, 'उर्जितसैलसिहरे' ति गाथया विवादो मानः। तीर्थं लात्वा दिगम्बर श्वेताम्बर जिनार्चानां नगनावस्थाचलिका करणेन वियेदःकृतः। इतियात्रोपदेशः।*

२. *कवि वृन्दावन ने लिखा है–*
संघसहित श्री कुन्दकुन्द गुरु वन्दन हेत गए गिरनार,
वाद परयौ तहँ संशयमति सों साखी वदी अंबिकाकार।
सत्यपंथनिर्ग्रन्थ दिगम्बर कही सुरी तहँ प्रगट पुकार,
सो गुरूदेव बसौ उर मेरे, विघन हरन मंगल करतार।।

३. *पं. नाथूराम प्रेमीः जैन साहित्य और इतिहास पृ. ४६८–४७७*
प्र. हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर (प्राइवेट) लिमिटेड, बम्बई (द्वितीय संस्करण) १९५६

४. *ण कहेज्जयो धम्मकहं तेण वत्थपत्तादिहेदुमिति।*

५. *कसिणाइं वत्थकम्लाइं जो भिक्खु पडिग्गहिदि पज्जदि मासिगं लहुगं इदि।*

६. *एवं सूत्रनिर्दिष्टे चेले अचेलकता कथं इति।*

७. *आर्यिकाणां आगमे अनुज्ञातं वस्त्रं कारणापेक्षया भिक्षूणाम्। हीयमानयोग्य शरीरावयवो दुश्चर्मा भिलम्बमान बीजो वा परीषहसहने वा अक्षमः स गृहणाति।*

८. *हिरिहेतुकं व होई देवदुगंछंति देहे जुग्गिदगे धारेज्ज सियं वत्थं परिस्सहाण च ण विहासीति।*

९. *द्वितीयमपिसूत्रं कारणमपेक्ष्य वस्त्रग्रहर्णामत्यस्य प्रसाधकं आचारांगे विद्यते अहं दुख एवं जाणेज्ज। पातिकंते हेमंते हिं सुपडिवण्णे से अथ पडिजुण्ण–मुवधिं पदिट्ठावेज्ज।*

१०. *हिमसमये शीताबाधासहैः परिग्रहण चेलं तस्मिन्निष्कान्ते ग्रीष्मे समायाते प्रतिष्ठापयेदिति कारणमपेक्ष्य ग्रहणभाख्यातम्। परिजीर्ण विशेषोपादानात् दृढानाम परित्याग इति चेत् अचेलतावचनेन विरोधः। प्रक्षालनादि संस्कार विरहात्परिजीर्णतावस्त्रस्य कथिता, न तु दृढ़स्य त्याग कथनार्थं पात्रप्रतिष्ठा सूत्रेणोक्तेति।*

११. *संयमार्थं पात्रग्रहणं सिद्धयति इति मन्यसे, नैव। अचेलता नाम परिग्रहत्यागः पात्रं च परिग्रह इति तस्यापि त्यागः सिद्ध एवेति। तस्मात्कारणापेक्षं वस्त्रपात्रग्रहणं। यदुपकरणं गृहयते कारणमपेक्ष्य तस्य ग्रहणविधिः। गृहीतस्य च परिहरणमवश्यं वक्तव्यमेव। तस्माद्वस्त्रं पात्रं चार्थाधिकारमपेक्ष्य सूत्रेषु बहुषु यदुक्तं तत्कारणमपेक्ष्य निर्दिष्टमिति ग्राहयम्।*

१२. *यच्च भावनायामुक्तं वरिस चीवरधारी तेण परमचेलगो जिणो। ति तदुक्तं विप्रतिपत्तिबहुलत्वात। कथम्? केचिद्वदन्ति तस्मिन्नेव दिनें तद्वस्त्रं वीरजिनस्य विलम्बन कारिणा गृहीतमिति। अन्यें षण्मासाच्छिन्नं तत्कण्टक शाखादिभिरिति। साधिकेन वर्षेण तद्वस्त्रं खंलक ब्राह्मणेन गृहीतमिति केचित्कथर्यान्त। केचिद्वातेन पतितमुपेक्षितु जिनेनेति। अपरे वदन्ति विलम्बनकारिणा जिनस्य स्कन्धे तदारोपितमिति। एवं विप्रतिपतिबाहुत्यान्न दृश्यते तत्त्वं। सचेललिंग प्रकटनार्थं यदि चेलग्रहणं जिनस्य कथं तद्विनाशः इष्टः। सदा तद्धारयितव्यम्। किंच यदि नश्यतीति ज्ञातं, निरर्थकं तस्य ग्रहणं, यदि न ज्ञातमज्ञानमस्य प्राप्नोति। अपि च चेलप्रज्ञापना वाञ्छिता चेत आचेलक्को धम्मो पुरिमचरिमाणं इति वचो मिथ्या भवेत्।*

१३. *यदुक्तं यथाहमचेलो तथा होउ पच्छिमो इति होक्खदिति तेनापि विरोधः। किंच जिनानामितरेषां वस्त्रत्यागकालः वीरजिनस्येव किं न निर्दिश्यते यदि वस्त्रं तेषामपि भवेत्। एवं तु युक्तं वक्तुं। सर्वत्यागं कृत्वा स्थिते जिने केचिद्वस्त्रं वस्तुं निक्षिप्तं उपसर्ग इति।*

१४. *तीर्थकरचरितं च गुणः संहनन समग्रा मुक्तिमार्ग प्रख्यापनपरा जिनाः सर्वे एवाचेला भूता भविष्यंतश्च। यथा मेर्वादि पर्वतगता प्रतिमास्तीर्थ–करमार्गानुयायिनश्च गणधरा इति तेप्यचेलास्तच्छिष्याश्च। तथैवेति सिद्धमचेलत्वम्। चेलपरिवेष्टितांगो न जिनसदृश : व्युत्सृष्ट प्रलम्बभुजो निश्चलो जिनरूपतां धत्ते। भ. आ. पृ. ६११*

पं. नाथूराम प्रेमीः जैन साहित्य और इतिहास (द्वि. संस्करण) पृ.६१–६७

परिशिष्ट-२

दिगम्बरत्व के विषय में आधुनिक विद्वानों की सम्मतियाँ

प्राचीन इतिहास के सुप्रसिद्ध आचार्य प्राच्यविद्या महार्णव श्री नगेन्द्रनाथ वसु अपने हिन्दी विश्वकोष के प्रथम भाग में लिखते हैं–

ऋषभदेव ने ही सम्भवतः लिपिविद्या के लिए लिपिकौशल का उदभावन किया था।....... ऋषभदेव ने ही सम्भवतः ब्रह्मविद्या शिक्षा की उपयोगी ब्राह्मी लिपि का प्रचार किया, हो न हो इसीलिए वह अष्टम अवतार बताये जाकर परिचित हुए।

इसी कोष के तीसरे भाग में ४४४ में पृष्ठ पर लिखा है–

भागवतोक्त २२ अवतारों में ऋषभ अष्टम हैं। इन्होंने भारतवर्षाधिपति नाभिराजा के औरस और मरूदेवी के गर्भ से जन्म ग्रहण किया था। भागवत में लिखा है कि–जन्म लेते ही ऋषभनाथ के अंग में से सब भगवत के लक्षण झलकते थे[1]। इत्यादि।

श्रीयुत तुकारामशर्मा–प्रोफेसर शिलालेख आदि, क्वीन्स कालेज बना रस ने अपने व्याख्यान में कहा था–

सबसे पहले इस भारतवर्ष में ऋषभदेव नाम के महर्षि उत्पन्न हुए। वे दयावान्, भद्रपरिणामी पहले तीर्थंकर हुए, जिन्होंने मिथ्यात्व अवस्था को देखकर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चरित्र रूपी मोक्षशास्त्र का उपदेश किया। बस, यह ही जिनदर्शन इस कल्प में हुआ। इसके पश्चात् अजितनाथ से लेकर महावीर तक तेईस तीर्थंकर अपने–अपने समय में अज्ञानी जीवों को मोहन्धकार नाश करते रहे[2]।

श्रीस्वामी विरूपाक्ष वडियर, धर्मभूषण, पं. वेदतीर्थ, विद्यानिधि, एम.ए. प्रोफेसर संस्कृत कॉलेज, इन्दौर चित्रमय जगत में लिखते हैं–

ईर्षा–द्वेष के कारण धर्मप्रचार को रोकने वाली विपत्ति के रहते हुए जैन शासन कभी पराजित न होकर सर्वत्र विजयी ही होता रहा है। अर्हन्देव साक्षात् परमेश्वर स्वरूप हैं, इसके प्रमाण भी आर्षग्रन्थों में पाए जाते हैं। अर्हत् परमेश्वर का वर्णन वेदों में भी पाया जाता है।

ऋषभदेव का नाती मरीचि प्रकृतिवादी था। और वेद उसके तत्त्वानुसार होने के कारण ही ऋग्वेद ग्रन्थों की ख्याति उसी के ज्ञान द्वारा हुई है। फलतः मरीचि ऋषि के स्तोत्र वेद, पुराण आदि ग्रन्थों में हैं और स्थान स्थान पर

जैन तीर्थंकरों का उल्लेख पाया जाता है तो कोई कारण नहीं कि हम वैदिक काल में जैन धर्म का अस्तित्व न मानें। वेदों में जैनधर्म को सिद्ध करने वाले बहुत से मन्त्र हैं। सारांश यह है कि इन सब प्रमाणों से जैन धर्म का उल्लेख हिन्दुओं के पूज्य वेद में भी मिलता है[3]।

सर विलियम हंटर साहब लिखित 'दी इण्डियन एम्पायर' (भारत राज्य) पुस्तक के २०६ वें पृष्ठ पर लिखा है—

"दक्षिणी बौद्धों के शास्त्रों में भी नग्न जैन दिगम्बरों के और भले प्रकार बौद्धों के बीच में संवाद होने की बात लिखी है।"

"जैनमित्र" के भाद्रपद कृष्ण द्वितीया वीर सं. २४३५ के (१० वाँ वर्ष १९–२० वाँ अंक) १० वें पृष्ठ पर मिस्टर वी.ल. विसराइस सी.आई.ई. के लेख का सारभाग यों प्रकाशित हुआ है—

"समय के फेर से दिगम्बर जैनियों में से एक विभाग उठखड़ा हुआ, जो इस प्रकार के कट्टर साधुपने से विरुद्ध पड़ा। इस विभाग ने अपना नाम श्वेताम्बर रखा। यह बात सत्य मालूम होती है कि अत्यन्त शिथिल श्वेताम्बरियों से कट्टर दिगम्बरी पहले के हैं।

जर्मनी के प्रख्यात विद्वान् प्रोफेसर हर्मन जैकोबी ने श्वेताम्बरीय ग्रन्थ उत्तराध्ययन का अंग्रेजी अनुवाद किया है। उसमें दूसरे व्याख्या के १३ वें पृष्ठ पर उन्होंने लिखा है कि—

जब एक नग्न साधु जमीन पर पड़ेगा, उसके शरीर को कष्ट होगा' इसके आगे उन्होने सातवें व्याख्यान के २६६ वें पृष्ठ पर लिखा है कि—

"वह जो कपड़े धोता है और संहारता है, नग्न मुनि होने से बहुत दूर[4] है।"

श्रीयुतनारायणस्वामी ऐयर वी.ए., एल.एल.बी., संयुक्त मन्त्री थियोसोफिकल सोसायटी अडयार, मद्रास ने बम्बई में तो २० से २७ जून १९१७ में "हिन्दू साधु" के विषय पर व्याख्यान दिए थे, उनमें से उन्होंने एक व्याख्यान में जो कहा था, उसका हिन्दी अनुवाद यह है—

"दिगम्बरपन साधु की सर्वोच्च अवस्था है। साधु उच्च दशा पर पहुँचने के लिए आकाश के समान नग्न हो।"

मिस्टर ई. वेस्टलेक एफ.आर. ए.आई. फोर्डिंग ब्रज ने लंदन के डेली न्यूज में १८ अप्रैल सन् १९१३ में लिखा है कि—

"इस विषय पर अभ्यास करने से मैं कह सकता हूँ कि जो.एफ. विस्कन्सन साहिब का यह कथन कि जो जातियाँ वस्त्र नहीं पहनतीं, उनका सच्चरित्र सर्व से ऊँचा होता है, यात्रियों के द्वारा पूर्वप्रमाणित है। यह सच है कि वस्त्र पहनना कला कौशल और उच्च दरजे की सभ्यता में माना जाता है। परन्तु इससे स्वास्थ्य और सचरित्र इतनी नीची दशा के रहते हैं कि कोई भी

वस्त्रधारी सभ्यजन उच्चतर दशा पर पहुँचने की आशा नहीं कर सकता।"

इण्डियन सेण्टिनरी (जुलाई १९००) पुस्तक नं. ३० में अलब्रेट बेवर द्वारा लिखित "भारत में धार्मिक इतिहास" नामक लेख में लिखा है कि—

"दिगम्बर लोग बहुत प्राचीन मालूम होते हैं; क्योंकि न केवल ऋग्वेद संहिता में इनका वर्णन 'मुनयः वातवसनाः' अर्थात् पवन ही हैं वस्त्र जिनके इस तरह आया है, अपितु सिकन्दर के समय में जो हिन्दुस्तान के जैन सूफियों का प्रसिद्ध इतिहास है, उससे भी यही प्रकट होता है।"

रेवजे स्टेवेन्सन डी.डी. प्रेसीडेण्ट रॉयल एशियाटिक सोसायटी ने ता. २० अक्टूबर सन् १८५३ को एक लेख पढ़ा था, जो कि सोसायटी के जर्नल जनवरी १८५५ में छपा है। इस लेख में बौद्धों के ग्रन्थों में आये हुए तित्थिय" (तीर्थिक) शब्द का तथा यूनानी ग्रन्थों में आए हुए जैन सूफी शब्द का अर्थ क्या है? इन दोनों शब्दों का अर्थ "दिगम्बर जैन" ही है अथवा और कुछ? इस बात पर विवेचन करते हुए आप एक स्थान पर लिखते हैं कि वे तीर्थिक अथवा जैन सूफी दिगम्बर जैन ही थे। आपके मूल लेख का अनुवाद यह है—

"इन तीर्थिकों में दो बड़ी विशेष बातें पायी जाती हैं, जो जैनियों के सबसे प्राचीन ग्रंथों और प्राचीन इतिहास से ठीक ठाक मिलती हैं। वे ये हैं कि एक तो उनमें दिगम्बर मुनियों का होना और दूसरे पशु मांस का सर्वथा निषेध। इन दोनों में से कोई बात भी प्राचीन काल के बौद्धों और ब्राह्मणों में नहीं पायी जाती[१]।

जन सूफियों के विषय में आपने लिखा है—

"क्योंकि दिगम्बर समाज प्राचीन समय से अब तक बराबर चला आ रहा है (लेख में इसकी पुष्टि के अन्य कारण भी बतलाये हैं) इससे मैं यह ही तात्पर्य निकालता हूँ कि पश्चिमी भारत में, जहाँ जैनधर्म अब भी फैला हुआ है, जो जैन सूफी यूनानियों को मिले थे, वे जैन थे, न तो वे ब्राह्मण थे और न बौद्ध तथा तक्षशिला के पास सिकन्दर को इन्हीं दिगम्बरियो का एक संघ मिला था, जिन दिगम्बरियों में से एक कालानस नामधारी फारस देश तक सिकन्दर के साथ गया था।

डॉक्टर सतीशचन्द्र विद्याभूषण एम.ए., प्रिंसिपल संस्कृत कॉलेज कलकत्ता लिखते हैं कि—

"जैनधर्म बौद्धधर्म से प्राचीन है। निर्ग्रन्थों तथा नाथपुत्र का वर्णन बौद्धों के सबसे प्राचीन पालिग्रन्थ त्रिपिटक में आया है जो ईस्वी सन् से ५०० वर्ष पहले का है।

ईस्वी सन् के १०० वर्ष पहले एक संस्कृत महायान ग्रन्थ में खास दिगम्बर शब्द भी आया है।"

एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका जिल्द २५ (ग्यारहवीं बार सन् १९११ में प्रकाशित) में इस प्रकार उल्लेख है–

"जैनियों में दो बड़े भेद हैं–एक दिगम्बर दूसरा श्वेताम्बर। श्वेताम्बर थोड़े काल से शायद बहुत करके ईसा की ५वीं शताब्दी से प्रकट हुआ है। दिगम्बर निश्चय से लगभग वे ही निर्ग्रन्थ हैं, जिनका वर्णन बोद्धों के पालि पिटकों में आया है। इस कारण ये लोग (दिगम्बर) ईसा से ६०० वर्ष पहले के तो होने ही चाहिए[६]।

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने कहा था–

नग्न अवस्था ही संसार में उत्तम मार्ग है। कपड़े पहनना मध्यम मार्ग है। लँगोटी की चाह संसार में अनेक दुःखों का कारण बन जाती है। शास्त्रों को न समझने के कारण ही हम वेशभूषा के झगड़े में फँस गए। दिगम्बर वेश अकिञ्चन्य की परकाष्ठा और अहिंसा की आधार शिला है।

---

१. सत्यार्थ दर्पण पृ. १०४
२. वही पृ. १०६
३. सत्यार्थ दर्पण पृ. १०६–१०७
४. श्वेताम्बर मत समीक्ष पृ. १७६
५. पं. अजित कुमार शास्त्रीः श्वेताम्बर मत समीक्षा पृ. १७६
६. वही पृ. १७७
७. श्वेताम्बर मत समीक्षा पृ. १७७

प्रयुक्त पत्र-पत्रिकायें एवं स्मारिकायें

१. कुन्दकुन्दवाणी :— प्रधान सम्पादक आनन्द कुमार सिंघई कुन्दकुन्द प्रकाशन ८०३ A गढ़ाताल, जबलपुर (म. प्र.)
२. अर्हतवचन :— त्रैमासिकी, प्रवेशांक सितम्बर १६८८।
३. महावीर जयन्ती :— स्मारिका, जयपुर, १६८४, १६७२, १६१३।
४. गुप्ति सन्देश :— ११ अक्टूबर १६६२।
५. The Jaina antiquary :— जैन सिद्धान्त भवन, आरा (बिहार)।
६. अनेकान्त :— प्रकाशक वीर सेवा मन्दिर २१ दरियागंज, देहली।
७. भारतवर्षीय :—भार. वर्षीय दि. जैन विद्वत् परिषद् रजत जयन्ती पत्रिका १६७३।
८. श्रमण :— पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोधसंस्थान, आई.टी.आई रोड, वाराणसी—५।
६. सन्मति वाणी :— महावीर ट्रस्ट, ६३ महात्मा गांधी मार्ग, इन्दौर।
१०. बावनगजा महामस्तकाभिषेक स्मारिका। २१ जनवरी १६६१।
प्रकाशक :— बाबूलाल पाटौदी, महामन्त्री सिद्धक्षेत्र बावनगजा पंच—कल्याणक प्रतिष्ठा एवं महामस्तकाभिषेक महोत्सव समिति।
११. पार्षद :— श्री महावीर जैन परिषद् गुवाहाटी द्वारा प्रकाशित।
१२. ऋषभसौरभ :— सम्पादक गोकुलप्रसाद जैन, श्री ऋषभदेव प्रतिष्ठान, दिल्ली।
१३. Indian Antiguaiy.
१४. जैनपथ प्रदर्शक (आगरा)
१५. Moderm review.
१६. अहिंसा वाणी :— सम्पा. वीरेन्द प्रसाद जैन, विश्व जैन मिशन, अलीगंज।
१७. वीर, सम्पादक :— राजेन्द्र कुमार, तीरगरान स्ट्रीट, मेरठ।
१८. अखिल भारतवर्षीय दि. जैन परिषद स्वर्ण जयन्ती स्मारिका।
१६. शोधादर्श :— सम्पादक ज्योति प्रसाद जैन, तीर्थंकर महावीर स्मृतिकेन्द्र लखनऊ।
२०. जैनगजट :— प्रकाशक जैन गजट कार्यालय, ऐशबाग, लखनऊ।
२१. Jaurnal of the royal asiatic society.
२२. जैन महिलादर्श (प्र. नन्दीश्वर फ्लोर मिल्स, ऐशबाग, लखनऊ।

प्रयुक्त ग्रन्थ सूची

१. दयोदय :— आचार्य ज्ञानसागर, प्र. वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, जयपुर (राजस्थान) द्वितीय संस्करण १९९४

२. पंचतन्त्र :— (अपरीक्षित कारकम्) महालक्ष्मी प्रकाशन, शहीद भगतसिंह मार्ग आगरा।

३. कादम्बरी :— मूल लेखक वाणभट्ट, साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार मेरठ द्वितीय संस्करण)।

४. जैनधर्म परिचय :- ले. डॉ. कामता प्रसाद जैन प्र.अखिल विश्वजैन मिशन, अलीगंज, एटा (तृतीय संस्करण)

५. मुद्राराक्षस :—मू. ले. विशाखादत्त, प्र. साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार,मेरठ (तृतीयावृत्ति १९६६)

६. हिन्दू सभ्यता : – डॉ राधाकुमुद मुकर्जी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली १९५५।

७. दर्शनसार :— देवसेनाचार्य, पं. नाथूराम प्रेमी द्वारा सम्पादित, जैनग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, १९२०।

८. भगवान बुद्ध :— जीवन और दर्शन धर्मानन्द कोसम्बी, लोकभारती प्रकाशन १५ ए. महात्मा गाधी मार्ग, इलाहाबाद।

९. दीर्घानकाय :— प्र. भारतीय बौद्ध शिक्षापरिषद्, बुद्धविहार, रिसालदार पार्क, लखनऊ द्वितीय संस्करण।

१०. सत्यार्थ दर्पण :— ले. पं. अजितकुमार जैन शास्त्री, प्रकाशक–मन्त्री–साहित्य विभाग, भारतवर्षीय दि. जैनसंघ, चौरासी, मथुरा।

११ आयारो :— सम्पादक विवेचक मुनि नथमल, जैनविश्वभारती, लाड़नूँ (राजस्थान)।

१२. प्राकृत साहित्य का इतिहास :—डॉ. जगदीशचन्द्र जैन, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, प्रथम संस्करण वि.सं. २०१८।

१३. तत्त्वार्थसूत्र :— टीकापं. सुखलाल संघवी, प्र. पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोधसंस्थान, वाराणसी तृतीय संस्करण का पुनर्मुद्रण (१९८५ ई.)

१४. श्वेताम्बर मत समीक्षा :— पं. अजितकुमार शास्त्री, पं. दिगम्बर जैन युवक संघ।

१५. जैन साहित्य में विकार ले. पं. बेंचरदास जैन, प्रं. दिगम्बर जैन युवक संघ ललितपुर।

१६. उत्तराध्ययन सूत्र ७ भाग :— मुनि नथमल, जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी महासभा

आगम साहित्य प्रकाशन समिति, ३ पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट कलकत्ता। प्रथम संस्करण।

१७. भद्रबाहुचरित :— रत्नकीर्ति अथवा रत्ननन्दी–प्रकाशन दि. जैन पुस्तकाल्य गांधी चौक, सूरत, चतुर्थ वीर सं. २५०६।

१८. जैनधर्म :—पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्र. भा. दि. जैन संघ, चौरासी, मथुरा, चतुर्थ संस्करण (१६६६)

१६. जैनशिलालेखसंग्रह :—प्रथम भाग, सम्पादक—श्री हीरालाल जैन, प्र. माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला, बम्बई (प्रथम संस्करण)

२०. जैन शिलालेख संग्रह :—द्वि.भाग, सम्पा. पं. विजयमूर्ति, प्रकाशक—उपर्युक्त, प. सं. विक्रम सं. २००६।

२१. जैन शिलालेख संग्रह :—तृ. भाग, सम्पा. डॉ. गुलाबचन्द्र चौधरी, प्रका. —उपर्युक्त, प्र. सं. वि. सं. २०१३।

२२. जैनशिलालेख संग्रह :—भागचार, सम्पा. डॉ. विद्याधर जोहरापुरकर, प्र. भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, वीर नि.सं. २४८१।

२३. जैनशिलालेखसंग्रह :—भाग—५, सम्पादक उपर्युक्त, प्र. भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली ई. सन् १६७१ वीर नि. सं. २४६७।

२४. भावसंग्रह :—आचार्य वामदेव विरचित, अनु डॉ. रमेशचन्द जैन, प्र. भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्।

२५. आगम और त्रिपिटक :—एक अनुशीलन—खण्ड—१ इतिहास और परम्परा मुनि श्री नगराज जी डी. लिट; कन्सेप्ट पब्लिशिगं कम्पनी नई दिल्ली प्र. सं.।

२६. आगम और त्रिपिटक :—एक अनुशील खण्ड ३ तत्व आचार व कथानुयोग मुनि श्री नगराज जी, डी. लिट. कन्सेप्ट पब्लिशिंग कम्पनी नई दिल्ली, प्र. सं.।

२७. जैन बौद्ध तत्त्वज्ञान :—ब्र. शीतल प्रसाद जी, जैनविजय प्रिंटिंग प्रेस, सूरत वीर निर्वाण संवत् २४६० प्रथमवृत्ति।

२८. आराधना कथा प्रबन्ध :—भट्टारक प्रभाचन्द्र प. आचार्य शान्तिसागर (छाणी) स्मृतिग्रन्थमाला बुढ़ाना, जिला—मुजफ्फरनगर, उ.प्र.।

२६. श्रेणिक चरित्र :—मूललेखक आचार्य शुभचन्द्र, प्रकाशक—भारतवर्षीय अनेकान्त बिद्वत् परिषद्। वीर निर्वाण संवत् २५१७।

३०. भद्रबाहुचरित्र :—मूललेखक महाकवि रइधू। सम्पादक—डॉ. राजाराम जैन प्रकाशक—दिगम्बर जैन युवकसंघ।

३१. महाभिषेक स्मारिका :—संम्पादक—लक्ष्मीचन्द्र जैन, प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, श्री वीरनिर्वाण ग्रन्थ प्रकाशन समिति, इन्दौर (म.प्र.),१६८१ ई.।

३२. आचार्य श्री वीरसागर स्मृति ग्रन्थ :—प्रकाशक ब्र. रवीन्द्र कुमार जैन, अध्यक्ष

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान, अखिल भारतवर्षीय दि. जैन युवा परिषद् हस्तिनापुर (मेरठ) उ.प्र.।

३३. प्रशान्तमूर्ति आचार्य श्री १०८ श्री शान्तिसागर महाराज (छाणी) स्मारिका प्रकाशक–आचार्य श्री १०८ शान्तिसागर महाराज (छाणी) स्मारिका शाहपुर (मुजफ्फरनगर). उ.प्र.।

३४. हे ज्ञानदीप आगम प्रणाम–ले.डॉ रमेशचन्द जैन प्राप्तिस्थान–सोनी मन्दिर ट्रस्ट, सोनीजी की नसियाँ, अजमेर (राजस्थान), द्वितीय संस्करण।

३५. आदिपुराण में प्रतिपादित भारत :–ले. डॉ. नेमिचन्द्रशास्त्री, प्रकाशक–गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला, अस्सी, वाराणसी, प्रथम संस्करण।

३६. पद्मचरित में प्रतिपदित भारतीय संस्कृति :–डॉ. रमेशचन्द जैन, भारतवर्षीय दि. जैन महासभा, प्रथम संस्करण, वीर नि. सं. २५१०।

३७. जैन पर्व :–ले.डॉ. रमेशचन्द जैन, पीयूष भारती, जैन मन्दिर के पास बिजनौर (उ.प्र.) प्रथम संस्करण।

३८. बौद्धदर्शन की शास्त्रीय समीक्षा :– डॉ. रमेशचन्द जैन, प्रकाशक–आचार्य ज्ञान सागर वागर्थ विमर्ष केन्द्र ब्यावर (राज) प्रथम संस्करण।

३९. पार्श्वाभ्युदय :–आचार्य जिनसेन, अनु. डॉ. रमेशचन्द जैन, प्रकाशक–भारतवर्षीय दि. जैन अनेकान्त विद्वत् परिषद्, प्रथम संस्करण।

४०. गोम्मटसार जीवकाण्ड :–नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती (सम्पादक–डॉ. आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये, सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री भारतीय ज्ञान पीठ प्रकाशन,

४१. भावसंग्रह :–आ. देवसेन, हिन्दी टीकाकार–पं. लालाराम शास्त्री प्रकाशक–हीरालाल माणिकलाल गांधी, अध्यक्ष–आर्यिका सुमतिमती दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, अकलूज (सोलापुर, महाराष्ट्र) विक्रम संवत् २०४४।

४२. चन्द्रप्रभचरितम् :–मूललेखक–वीरनन्दी, अनु. पं. अमृतलाल शास्त्री, जैनदर्शनाचार्य, वाराणसी, प्रकाशक–भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद् वीर निर्वाण संवत् २०४६–४७।

४३. पद्मनन्दि पञ्चविंशति :–मूललेखक–पद्मनन्दी, अनु. पं. बालचन्द्रशास्त्री, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, वी.नि.सं. २४८८।

४४. जैन निबन्ध रत्नावली :–ले. मिलापचन्द कटारिमा, रतनलाल कटारिया, श्री वीरशासन संघ, कलकत्ता, अप्रैल १९६६।

४५. बृहत्कथाकोश :–सिघी जैन ग्रन्थमाला, बम्बई

४६. नीतिवाक्यामृत में राजनीति :–डॉ एम.एल.शर्मा, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, सितम्बर १९७१।

४७. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग २, ३, ४ ले. डॉ. नेमीचन्द्रशास्त्री।

४८. अहिच्छत्र की पुरासम्पदा :—ले. डॉ. रमेशचन्द जैन, पीयूष भारती, बिजनौर, उ.प्र.।

४९. पण्डित बाबूलाल जैन जमादार अभिनन्दन ग्रन्थ, प्रकाशक— अखिल भारतवर्षीय दि. जैन शास्त्रिपरिषद्, बड़ौत, जिला—मेरठ (उ.प्र.)।

५०. आचार्य ज्ञान सागर की साहित्य साधना एवं सांगानेर जिनबिम्ब दर्शन, प्रकाशक—श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र, मन्दिर संघीजी, जैनमन्दिर रोड, सांगानेर, ३०३९०२ (जयपुर)।

५१. उड़ीसा में जैन धर्म :—डॉ. लक्ष्मीनारायण साहू, अखिल विश्व जैन मिशन, अलीगंज (एटा) प्रथम संस्करण वीर नि. सं. २४८५।

५२. विरोध परिहार :—पं. राजेन्द्र कुमार जैन।

५३. षट्खण्डागम :—आ. पुष्पदंत तथा भूतबलि

५४. पउमचरिय :— विमलसूरि, प्रकाशक—प्राकृत ग्रन्थ परिषद, वाराणसी।

५५. आदिपुराण :— जिनसेन, प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ काशी।

५६. पुरुदेव चम्पू :— अर्हद्दास, प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ काशी।

५७. जैन साहित्य का इतिहास :—पूर्व पीठिका—पं. कैलाशचन्द्रशास्त्री गणेशवर्णी दि. जैन ग्रनथमाला, वाराणसी (उ.प्र.)।

५८. जैन इतिहास :—डॉ.कामताप्रसाद जैन।

५९. ऋग्वेद (सूरत, १९५०)

६०. Indian Philosophy :—डॉ. राधाकृष्णन्।

६१. वैदिक इनडेक्स

६२. तैत्तरीय आराण्यक

६३. पद्मचन्द्र कोश

६४. भँवरीलाल बाकलीवाल स्मारिका :—सम्पादक इन्द्रलालशास्त्री विद्यालंकार प्रकाशक—श्री शान्तिवीर दि. जैन सिद्धान्त संरक्षिणी सभा १९१ कालवा देवी रोड, बम्बई (प्रथम संस्करण)।

६५. भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान :—डॉ. हीरालाल प्र. मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद्, भोपाल।

६६. ब्राह्मण तथा श्रमण संस्कृति का दार्शनिक विवेचन :— डॉ. जगदीशदत्त दीक्षित।

६७. स्वयम्भू स्तोत्र :—आचार्य समन्तभद्र।

६८. हठयोग प्रदीपिका।

६९. प्रतिष्ठा तिलक :—नेमिचन्द्र।

७०. आस्था और चिन्तन :—सम्पादक—डॉ. रमेशचन्द गुप्त, आ. देशभूषण जी महाराज अभिनन्दन ग्रन्थ समिति देहली।

७१. नाम माला :—धनञ्जय—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।

७२. प्रवचन सार :—आचार्य कुन्दकुन्द।

७३. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश :—जिनेन्द्र वर्णी, प्रकाशक—भारतीय ज्ञान पीठ, काशी।

७४. श्री सुनहरीलाल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ :—सम्पादक—डॉ लालबहादुर जैन शास्त्री आदि, प्रकाशक—श्री सुनहरी लाल जैन अभिवादन समारोह समिति।

७५. भगवदगीता :—(गीताप्रेस गोरखपुर)

७६. श्रीमद्भागवत (गीताप्रेस, गोरखपुर)

७७. विष्णुपुराण (गीताप्रेस, गोरखपुर)

७८. वायुपुराण।

७९. स्कन्द पुराण।

८०. मत्स्यपुराण।

८१. देवीभागवत।

८२. मोक्षमार्ग प्रकाशक :—पण्डितप्रवर टोडरमल, सस्ती ग्रन्थमाला, देहली।

८३. मूलाचार :—आचार्य वट्टकेर, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली।

८४. भारतीय मूर्तिकला :—रायकृष्णदास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी सं. २००६।

८५. चारित्रसार —चामुण्डराय।

८६. रयणसार :—आचार्य कुन्दकुन्द।

८७. गोतमस्वामी चरित्र :—मण्डलाचार्य श्री धर्मचन्द्र दिगम्बर जैन पुस्तकालय, सूरत।

८८. समाधितन्त्र :—आचार्य पूज्यपाद।

८९. पुराण विमर्श :—बलदेव उपाध्याय।

९०. तत्त्वार्थ वार्तिक :—भट्टअकलंक देव, भारतीय ज्ञान पीठ, काशी।

९१. जाबालोपनिषद्।

९२. मार्कण्डेय पुराण।

९३. कूर्म पुराण।

९४. वराह पुराण।

९५. अग्निपुराण।

९६. शिवपुराण।

९७. नारदीय पुराण।

९८. लिंगपुराण।

९९. मनुस्मृति :— मनु, जवाहर बुक डिपो, गुजरीबाजार, मेरठ।

१००. भारतीय संस्कृति में अहिंसा :—धर्मानन्द कोसम्बी।

१०१. बाल्मीकि रामायण :—बाल्मीकि—प्र. गीताप्रेस गोरखपुर।

१०२. विशेषावश्यक भाष्य।

१०३. कादम्बरी :—वाणभट्ट, प्रकाशक—साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ (उ.प्र.)।

१०४. हर्षचरित :—बाणभट्ट।
१०५. मुद्राराक्षस :—विशाखदत्त।
१०६. वैराग्य शतक :—भर्तृहरि।
१०७. ज्ञानार्णव :—आ. शुभचन्द्र, प्रकाशक—जीवराज जैन ग्रन्थमाला, शोलापुर।
१०८. दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि :—डॉ. कमता प्रसाद जैन, श्री रघुवर दयाल जैन स्मृति ग्रन्थमाला, दिल्ली
१०९. भगवान् गौतमबुद्ध :—भदन्त बोधानन्द महास्थविर, प्र. बुद्धविहार, लखनऊ।
११०. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री अभिनन्दनग्रन्थ।
१११. कल्पसूत्र।
११२. पंचाशक।
११३. धर्मामृत (अनगार) पं. आशाधर, प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, देहली।
११४. तत्त्वार्थसूत्र :— आचार्य गृद्धपिच्छ।
११५. sacred book of the east val. 45
११६. भगवती आराधना :—शिवार्य, प्रकाशक—जीवराज जैन ग्रन्थमाला, शोलापुर।
११७. प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन :—बासुदेव उपाध्याय।
११८. प्रमयेकमल मार्त्तण्ड :—आचार्य प्रभाचन्द्र।
११९. दर्शनसार :—आ. देवसेन।
१२०. दर्शनपाहुड :—आचार्य कुन्दकुन्द।
१२१. षड्दर्शनसमुच्चय :—हरिभद्र सूरि, प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।
१२२. जैन साहित्य और इतिहास :—नाथूराम प्रेमी।
१२३. पद्मचरित :—आचार्य रविषेण, प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ काशी।
१२४. सूत्रकृतांग।
१२५. नियमसार :—आचार्य कुन्दकुन्द।
१२६. दशवेकालिक।
१२७. आवश्यक निर्युक्ति।
१२८. अर्हत् पार्श्व और उनकी परम्परा :—डॉ. सागरमल जैन, पार्श्वनाथ विद्याश्रम वाराणसी।
१२९. चरित्त पाहुड :—आचार्य कुन्दकुन्द।
१३०. बोधपाहुड :—आचार्य कुन्दकुन्द।
१३१. मज्झिमनिकाय।
१३२. मोक्षपाहुड :—आचार्य कुन्दकुन्द।
१३३. परमात्मप्रकाश :—योगीन्दुदेव।
१३४. भावपाहुड :—आचार्य कुन्दकुन्द।
१३५. लिंग पाहुड :—आचार्य कुन्दकुन्द।
१३६. हरिवंश पुराण :—आचार्य जिनसेन, प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।

१३७. संस्कृति के चार अध्याय :—डॉ. रामधारीसिंह दिनकर।
१३८. महावग्ग।
१३६. अंगुत्तरनिकाय।
१४०. कषायपाहुड :—आचार्य गुणधर।
१४१. भारतीय इतिहास :—एक दृष्टि—डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन, प्र. भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।
१४२ संक्षिप्त जैन इतिहास :—भाग ३, खण्ड १, २, डॉ. कामताप्रसाद जैन, दि. जैन पुस्तकालय सूरत।
१४३. Epigraphia Karnataka
१४४. Medieval Jainism
१४५. चारित्र चक्रवर्ती :—सुमेरुचन्द्र दिवाकर।
१४६ श्री शान्तिसागर महामुनि का चरित्र :—पं. वंशीधर शास्त्री।
१४७. प्रशान्तमूर्ति आचार्य श्री शान्तिसागर महाराज (क्षाणी) स्मारिका।
१४८ धवला :—प्र. जीवराज जैन ग्रन्थमाला, शोलापुर।
१४६ नीतिसार :—इन्द्रनन्दी।
१५० मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन :—डॉ फूलचन्द्र प्रेमी, पार्श्वनाथ विद्याश्रम, आई.टी.आई रोड वाराणसी।
१५१ आचार्य शान्तिसागर जन्मशताब्दी स्मृति ग्रन्थ।
१५२. आगम युग का जैनदर्शन दलसुख मालवणिया।
१५३ सन्मति तर्क :—आचार्य सिद्धसेन दिवाकर।
१५४. पार्श्वनाथ चरित :—वादिराज सूरि।
१५५. जैन न्याय :—पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञान पीठ, काशी (प्रथम संस्करण)।
१५६ सिद्धिविनिश्चय टीका :—सपादक—पं. महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य।
१५७. दर्शन और चिन्तन :—पं. सुखलाल संघवी।
१५८. प्रमेयरत्नमाला अनु :—डॉ. रमेशचन्दजैन, प्रकाशक —अनेकान्तजैन विद्वत्परिषद्।
१५६ सिद्धान्तसार संग्रह :—नरेन्द्रसेनाचार्य, जीवराज जैन ग्रन्थमाला, शोलापुर।
१६०. जैन निबन्ध माला।
१६१. यशस्तिलक चम्पू :—अनुवादक पं. सुन्दरलालशास्त्री।
१६२. द्रव्य संग्रह :—सम्पा. पं दरबारी लाल कोठिया।
१६३. पंचास्तिकाय :—आचार्य कुन्दकुन्द प्र. दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़।
१६४. सूत्रपाहुड :—आचार्य कुन्दकुन्द।
१६५. गुरु गोपालदास बरैया स्मृति ग्रन्थ प्र. दि. जैनविद्वत् परिषद् सन् १६६७ ई.
१६६. महावीर स्मृति ग्रन्थ :—सम्पादक—डॉ ज्योतिप्रसाद जैन, लखनऊ।

१६७. महावीर चरित :—असग कवि।

१६८. देवगढ़ की जैनकला :—डॉ. भागचन्द भागेन्दु प्र. भारतीय ज्ञानपीठ, काशी (प्रथम सं.)

१६९. तमिलनाडु का जैन इतिहास :—पं. मल्लिनाथशास्त्री, कुन्दकुन्दभारती, नई दिल्ली।

१७०. पं. जगनहोहन लाल शास्त्री साधुवाद ग्रन्थ :—प्रकाशक—पं. जगन्मोहन लाल शास्त्री साधुवाद समिति, जैनकेन्द्र रीवाँ (म.प्र.)।

१७१. आचार्य श्री धर्मसागर महाराज अभिवन्दन ग्रन्थ,प्रकाशक श्री दि. जैन नवयुवक मण्डल, कलकत्ता (१९८१—८२)।

१७२. स्वयम्भू स्तोत्र :—आचार्य समन्तभद्र।

१७३. दिगम्बरत्व पर एक दृष्टि :—पं. सुमेरचन्द्र दिवाकर प्र. आचार्य देशभूषण मुनि संघ प्रबंधक समिति, २ सर हरिराम गोयनका स्ट्रीट, कलकत्ता—७

REFERENCES REGARDING NUDITY

F.A. Steel-India (London 1929)

P. 82-Jaina religion-extreme antiquity-one of the oldest faiths of the world-use of Swastika alone would make one hesitate to place Jainism a century or so before christ, Swastika-oldest known symbol of the world still the sign par excellence with the Jains.

P- 82 the sky clad is the most ancient of the two sections of Jains opulent people-Jains the richest community of India.

Jaina Bibleography P.
1819-1820

Richard Temple- Hindu and Non Hindu elements in Kathasarit Sagara. (Ind. Anti Vol.LVii, 1929, Bombay) P. 11 Nudity- The story of Phalabhuti On this penzer (PP. 117 ff) has a long note on nudity in magic ritual all the world over. In Somadeva's time it was a common observation of the ways of yogis, who went about habitually naked; and among the Jains it was the sect custom going back to very early days. The naked jain ascitics were called Digambara, sky clad.

Jaina Bibliography
P. 1821

Kamta Prasad Jain- (A further note on the Svetambara and Digambara sect (I.A, Vol LIX, 1930, Bombay).

P. 152 In almost all the brahmanical Sanskrit literature (List-given) Jain monks are disignated as naked recluses. Niganthas are naked, monks according to the buddhist literature (References given) P. 153- Ancient Jain images are nude.

Jaina Bibliography P. 1824

K. P. Jain- (A further note on the svetambara and Digambara sects of Jainas (I.H. Q. Vol. VI 1930)

P. 379- Nudity of the monks treated with reverence before Mahaivira as also in the vedic period. Mention of the Jain muni in Padma Purana of the tim of Raja Vena of the vedic Period. Jainas (Niganthas) described as naked monks in the buddhist literature.

P- 380 Nakedness of the Jain monk- An original practice and not a subsequent innovation started by Mahavira-Digambara

traditon holding Rsabha to be the first introducer of nudity in Jainism.

P. 381 Jain images of Pre-Christian are found at Mathura and Khandagiri Udayagiri are nude figures- Jain images of Mathura, which name the Gacchas. Ganas etc. As found in the Svetambara Kalpasutra, are also nude like those found in the Digambara Jain temples of that place.

P. 381 (N) Many a Digambara Jain temple abound with naked images assigned to early or pre-Christian eras-mention of an image of Rsabhadeva at Kunthalgiri which bears the date samvat-1919 and another of Parsvanath at Patna of Samvat 184. Kampilla, Pabhosa and other Jain temples possess naked images of pre. Christian era.

P. 382. The language of the Jain canon (Svetambara Jain Arigas) is for later than the time of the Nandas : A B. Keith.

P. 383. The installation of naked images as found in Hathigumpha inscription of 2nd century B.C. proves the antiquity of Digambaras over Svetembaras. Mention of Digambara Jain priests having audience with Alauddin and Aurangazeb and preaching Jain doctrines to them.

Jaina Bibliography P. 1824-1825

Editorial- The cult of nudity (Q.J.M.S., Vol, 24 No.-4, 1934 Bangalore)

P. 376. The earliest man went abount naked; clothing the body was probably divised for warmth and convenience. We have an article on the subject in the Journal of the Anth ropological society of Bombay (XV-3) in which Mr. R.P. Masani discusses the subject as it relates to India where the nude Jain ascetics are adored and nudity plays an important part.

Jaina Bibliography, P. 1833.

Kamta prasad Jain- The significance of the term 'Nirgrantha'. (J.U.P.H.S. Vol. 7. 1934) Allahabad.

PP. 52-58 Nirgranthas means 'Non (Nir) Possession (Granthas) and it denotes an ascetic of the Jain faith, void of all the outer possessions-even having no care for his body-passing his days in the attire of nature and keeping his mind aloof from the wordly attachment and avarice.

Buddhists describe Nirgrantha as a recluse free from bonds (Dialogues of the Buddha, Vol. II P.P. 74-75). Nirgranth in Upanisadas, Padma Purana, Vayu Purana, in Pitaka and works,

in the seventh pillar edict of Ashoka, in the copperplate on the Kadamba king Siva mragesa Varma (5th century A.D.) in the sculptures-Ayagapatta (Q. 2) two naked Jain saints : flying above on both sides of stupa-Charana munis, the paharpur copper plate of 479 A.D. records a donation to the Nirgrantha ascetics. Hicun Tsang's description on of the Nir-grantha-Leaving their bodies naked and pulling out their hair. The Gwalior inscription of 1104 A.D. mentions nirgranthanath:

Jaina Bibliography P. 1833.

S.C. Ghoshal- Rules for ascetics in Jainism & Hinduism (J.A. vol-I No. IV; Arrah 1936) PP 67-81.

Origin of Hinduism and Jainism lost in obscurity. Jenets and practices similar in all religions. Some of the practices in Jainism vehemently attacked by Hindus and Buddhists were included in their own religious doctrines.

A chelakas (Jain naked saints) and their practices described by Buddha in Arguttara Nikaya Achelaka bagga; Manosathapurani and Dandavaggo. Siva and Kali are naked Pari-vrajakas. Nudity, Nonbathing non-cleaning and spare eating common to the jains, the Buddhists and the Hindus. Rules regarding eating, sleeping, walking, movements and action in these religions, rules regarding staying in one place during the rainy season also common. Buddha allowed saints to live in Biharas. The Panchasila of the Buddhists and yamas of the Hindus are the same as five Mahavratas of the Jains.

Seeing these similarilies in the rules for ascetic, western scholars like Max Muller in Hilebert-Lectures, Buhler in his translation of Baudhayan sutra, Kern in his History of Buddhism in India and Jacobi in his introduction to the translation of the Jain sutras have come to conclusion that the originals of monastic orders of the Jainas and Buddhists are to be found in the Hindu ascetic.

Jaina Bibliography P. 1845.

A Chakravarti the aportles of bloodless Altar (Jain Ant. Vol. XI No,-I Arrah; 1945 PP. 14-19)

In the book 'Budha and Buddhism' by Arthur Lillie, worlds' epoch makers series, there is chaptor on the 'Apostles of bloodless Altar', in which he collects a number of interesting facts to show the doctrine of Ahimsa was spread beyond India towards western Asia.

Zoroaster- There were two Zoroaster, One lived in 6000 B.C. and the other in 500 B.C.. While the former was in favour of animal sacrifice and the later proclaimed bloodless sacrifice.

Pythagorians and their religious practices- They abstained from taking meat and fish and were vegetarians.

Essenism, the mystical school of Israel- some derive their name from a Greek term, which means holiness, have shown themselves pre-eminent by devotion to the service of God, not in the sacrifice of living animals, Lillie is of opinion that christianity was very much influenced by the doctrine of Ahimsa which was propouned in India and there by failed to differentiate between Buddhism and the philosophy of Gymnosophists.

Gymnosophists mean : Naked Philosophurs. It is used by the Greeks to denote Nirgranthas, the Jaina ascietics of India.

The Pythagorians, te latter Zorasters, and the Essenes, the apostles of Bloodless, altar had their inspiration from the order of the Gymnosophists which had been, in existence from the 8th century B.C. Hence lillie's thesis that christianity was influenced by the Indian ideal of Ahimsa propounded by the Gymnosophists remain true.

Jaina Bibliography P. 1881

Banarsi Das Jain : Jainism in Punjab (Sarupa Bharati, the Dr. Lakshman Sarup memorial volume) Hoshiarpur 1954. P. 242 Von le cog's (Die Buddistische spaetantike in Mittal asien III, Die Wandmabruen, Berlin, 1924 Plate IV P. 30) identifying as a digambara Tirthankara, a human figure painted on a wall in chinese Turkistan, and N.C. Mehtas supporting it (in his studies in Indian painting) and C.J. Shah's reproduction of the statement (In his book Jainism in N. India) refutation of these decause the painting depicts a headless naked male standing tiptoe with the right leg brought in front of the left.

Jaina Bibliography P. 1900-1901

C.F. Oldham- The sun and the serpent, London, 1905. PP. 172-181. Both Buddhist and Jain systems closely connected with the sun and serpent. Each of these forms of religion arose or found their chief supporters, amongst solar tribes who had come but little under Brahmanical influence. The Purana version that Buddhism and Jainism originated amongst the A suras-origin-Legend ancient as later sects of white robed Jains not mentioned. Jain devotees called yati term Siddha for the defied asceticcs

Jains in existence before Buddha. All the twenty four Tirthankaras, or deified an chorities of the Jains, were Kshatrias, and all but two were Solar race of Iksvaku Close connection as such with the sun and serpent. The last of the Tirthankaras was vardhamana or Mahavira, who was a contemporary of Sakya Buddha. He was related by marriage to Bimbisara Raja of Magadha. By permission of his elder brother, Vardhaman became an ascetic, he went naked, After twelve years he became a Jina or Tirthankara; after his death, he became a Siddha Parsa, who preceded Mahavira was a son of the Raja of Benaras. He is represented with the hoods of a seven headed Naga expanded over his head-Sculptured representations of Naga at Jaina temples.

Jaina Bibliography P. 1452.

J.G.R. Forloug- Faiths of man; Encyclopedia of religions, 3 volumes, London 1906.

The Jains are followers of Mahavira (or Vardhaman) the contemporary of Gautama Buddha. They included Digambaras and Svetambaras. Yati, ascetics are naked and laity (Sravakas or disciples) are clothed. The Jain scripturese include 45 agamas in Jain dialect. They aim at Nirvana. (Enchclop. Brit)

Jaina Bibliography P. 1453.

Histoire de la Vic de Hiouen- Throng et de ses voyages done l 'Inde par HOEL-LI et. Yen Thsong, traduite du chinois par stanislas julien. Paris, 1853.

P. 224 Customs of the Nirgranthas. "They leave their bodies naked and make it a virtue remove their hairs. Their skin is all cleft and their feet are hard and cracked. One would say of these rotten trees which are near the rivers.

Jaina Bibliography.

Memories sur les contress occidentales. Par Hiouen thsang, traduits du chinois par stanisals Julien. 2 volumes.

Paris 1857-1858.

In some passages, Hiouen Thsang speaks of the heretic monks who go naked, that is to say of the Jains. These passages are the following :

Vol I

P. 41- In the realm of Kapisa. one finds some heretics who go naked.

P. 354- In the realm of Varanasi, some heretics "preserve a tuft of hairs on the top of the head, go naked and have not any

kind of dress.

P. 384- The heretics who go naked "have a large crowed of partisans at Vaisali."

Volume II

P. 27- Many of the naked heretics inhabit the mount Vipula and give themselves upto the most hard austerities.

P. 42- A Naked heretic resided in the neighbourhood of Rajagriha who excelled in the art of divination. At last Hiouen Thsang gives the description of numerous naked heretics in the following realms.

P. 75- Pundravardhana, P. 82- Samatata

P. 93- Kalinga, P. 116- Culya, P 119- Dravida, P. 121- Malkuta

SHRI RAJ KRISHAN JAIN MEMORIAL LECTURE SERIES

1. *Lectures on Jain Ethical Traditions and Its Relevance* 40.00
by Dr. G.C. Pande,
Vice-Chancellor, Rajasthan University, Jaipur
2. *Some Thoughts on Science and Religion* 40.00
by Dr. Kothari
Ex-Chairman, University Grants Commission and
Chancellor, Jawahar Lal Nehru University, New Delhi
3. *Yoga, Meditation and Mysticism in Jainism* 40.00
By Justice T.K. Tukol,
Ex-Vice Chancellor, Bangalore University Bangalore
4. *Jaina Logic* 40.00
By Dr. T.G. Kalghatgi,
Former Head of Department of Jainology & Prakrit,
Mysore University, Mysore.
5. *Lectures on Shravakachara,* 50.00
Its Significance and Relevance Today
By Dr. B.K. Khadabadi Ex-Head, Jainology chair,
Karnataka University, Dharwad
6. *Lectures on Jain Society Through the Ages* 40.00
By Dr. Vilas A. Sangave,
Shivaji University, Kolhapur
7. *Lectures on "Correlation of the Ages of "Bhagavan Mahaveera and Bhagavan Gautama The Budha"* 75.00
By Dr. M.D. Vasantha Raj,
University of Mysore, and Madras
8. *Lectures on Jain Theory of Knowledge* Under Print
By Dr. Mohan Lal Mehra,
Deptt. of Philosophy, Pune University, Pune.
9. *Lectures on the place of Jaina-* Under Print
Philosophy in Indian Thought
By Dr. Nath Mal Tatia,
Director Jain Vishva Bharati, Ladnun
10. *Lecture on "A brief Historical Survey of Jainism and its Contributions to Indian Culture"* Under Print
By. Dr. K.C. Jain
Vikram University, Ujjain

अहिंसा मन्दिर के प्रकाशन

१. **भक्ति-गुच्छक** — ८ रुपये
(स्तोत्र, पाठ और पूजा आदि का अपूर्व संग्रह) पृष्ठ ६३१

२. **अध्यात्म-तरंगिणी** — ६ रुपये
रचयिता, आचार्य सोमदेव, संस्कृत–टीकाकार आ. गणधरकीर्ति
हिन्दी–टीकाकार —पं० पन्नालाल साहित्याचार्य

३. **युगवीर-भारती** — ४ रुपये
पं० जुगलकिशोर मुख्तार की कविताओं का संग्रह

४. **भगवान महावीर** —डा० रमादेवी जैन — ४ रुपये

५. **हरिवंश-कथा** — २५ रुपये
मूल लेखक : आचार्य जिनसेन, रुपान्तरकार : श्री माईदयाल जैन
पृष्ठ संख्या ३४० सजिल्द

६. **प्रद्युमन चरित्र** —(बाल संस्करण) —श्रीमती पद्मा जैन — ३ रुपये

७. **हरिवंश कथा** —(बाल संस्करण) —श्रीमती पद्मा जैन — ३ रुपये

८. **तन से लिपटी बेल** (उपन्यास) —श्री आनन्द प्रकाश जैन — १५ रुपये

९. **पुराने घाट नई सीढ़ियां**
डा. नेमिचन्द जैन, ज्योतिषाचार्य पी.एच.डी., डी०लिट् — १२ रुपये

१०. **नित्य नियम पूजन, चतुर्विंशति पाठ तीर्थक्षेत्र-पूजन व स्तोत्र संग्रह** —श्री वृन्दावन जी कृत — ३० रुपये

११. **सिद्ध चक्र विधान** —श्री सन्तलाल जी कृत — ३० रुपये

१२. **भारतीय धर्म और अहिंसा** — ५२ रुपये
—सिद्धांताचार्य पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, वाराणसी

१३. **जैन दर्शन व न्याय** —डा. दरबारी लाल कोठिया — २५ रुपये

१४. **समयसार** — १५० रुपये
—कुन्दकुन्दाचार्य कृत
"श्री राजकृष्ण जैन" द्वारा गाथाओं के अंग्रेंजी रूपान्तर सहित।

१५. **दिगम्बरत्व की खोज** —डा. रमेश चन्द्र जैन — १०० रुपये

१६. **नियमसार** — प्रेस में
आचार्य कुन्दकुन्द कृत "श्री राजकृष्ण जैन" द्वारा अंग्रेजी रूपान्तर सहित।
(उद्भव एवं विकास तथा एक परिशीलन)

फोन : 3267200

अहिंसा मन्दिर, 1, दरियागंज,
अंसारी रोड, नई दिल्ली–2
अन्य केन्द्र : हरिद्वार, कुरुक्षेत्र व पिलानी
(श्री राजकृष्ण जैन चेरिटेबल ट्रस्ट द्वारा संचालित)